१

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य

तृतीय खण्ड

रुद्रग्रन्थि-भेद

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य

श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी महाराज

कृत

(श्री दुर्गासप्तशती की आध्यात्मिक व्याख्या)

तृतीय खण्ड

रुद्रग्रन्थि-भेद

मातृ चरणाश्रित

श्री योगेश्वर बंद्योपाध्याय

द्वारा प्रकाशित

द्वितीय संसकरण :

साधन-समर कार्य्यालय

२०१ वि, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,

कलकत्ता—७

१०४ तम सत्याब्द १९८६

[मूल्य ३५ रुपये

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्व्वधी साक्षिभूतम्,
भावतीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

गुरो! बहुरूपधारी नारायण मूर्ति अपनी सेवा के लिये यह आयोजन आप ही का है अपनी सेवा से आप परितृप्त हों। एक बार यह जड़त्व का स्वांग परित्याग कर चैतन्य-प्राणमय स्वरूप में प्रकाशित हूजिये। जगत से जड़ता का तम दूर हो जाय। सेवक की आशा पूर्ण हो।



गुरोर्मध्ये स्थिता माता मातृमध्ये स्थितो गुरुः ।
गुरुर्म्माता नमस्तेऽस्तु मातृगुरुं नमाम्यहम् ॥

मातृ-स्नेह

पश्यन्तु सर्व्वे अमृतस्वरूपम् ।
गच्छन्तु सर्व्वे अमृतं निधानम् ॥

हे आनन्दमय सन्तानगण ! तुम सत्य के मधुमय आवाहनसे प्रबुद्ध हुये हो। प्राणोंके अमृतमय-स्पर्शसे पुलक रोमाञ्चित शरीर से उत्थित हुये हो। अब आओ, मेरी आनन्दमय सत्ता प्रत्यक्ष करो। देखो, मैं मधुमय, मैं आनन्दमय, मैं अमृत, मैं अभय, मैं नित्य-मुक्त हूं। देखो निरवच्छिन्न आनन्दही मेरा स्वरूप है। देखो, एकमात्र पूर्ण आनन्दमय सत्ता व्यतीत कहींभी कुछभी नहीं है। दृश्यरूपसे जगतरूपसे अनात्मरूपसे जो कुछ प्रतिभात हो रहा है, आनन्द ही उसका निमित्त, आनन्दही उसका उपादान है। अमृतमय मैं ही सर्वत्र दृश्य, द्रष्टा और दर्शनरूपसे प्रकाश पा रहा हूँ। देखो, शोक, दुःख, मोह, अभाव, आर्त्तनाद, इन सबके भीतर भी मैं-नित्यानन्दमय पुरुष नित्यही आनन्द प्रवाह ढाल रहा हूँ।

जो इस अभय अमृतस्वरूप 'मैं' के चरणों में अपनी पृथकसत्ता को पूर्णरूपसे ढालने में समर्थ हुये हैं, वे ही मुझे (मैं को) समझेंगे, वे ही मुझे (मैं को) देखेंगे, एवं वेही मुझ में मिल जावेंगे। सत्यका आवाहन जिनके कानो में पहुँचा है, प्राण का स्पर्श जिनको सञ्जीवित किया है, आओ सो द्रुतपद से अग्रसर होओ, यह देखो, तुम्हारे ही लिये आनन्द मय मातृवक्ष उन्मुक्त हो रहा है। आओ, देखो आत्मभोला होओ ! प्रवेश करो ! मिल जाओ !

यहाँपर 'मैं'-वाक्य मनके अतीत-सत्तामात्र निर्विशेष केवल आनन्द स्वरूप है; यहाँपर जीव नहीं, जगत नहीं, दृश्य नहीं, कभी थाभी नहीं, कभी रहेगा भी नहीं,अथच अभाव कहने को कुछ भी नहीं, केवल पूर्ण। पूर्ण ! पूर्ण !

फिर देखो—मैं बहुत्व के सृष्टि-स्थिति प्रलयलीला के आनन्दरसमें मग्न सर्व्वज्ञ सर्व्वभूताधीवास परमेश हूं। और थोड़ी दृष्टि प्रसारित करो देखो,—वही मैं, वही पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण आनन्दमय मैं ही फिर अल्पज्ञान और अल्प आनन्द लेकर —अज्ञान और निरानन्द लेकर, किस प्रकार जीवत्व का अभिनय कर रहा हूँ ! इन त्रिविध स्वरूपों में मुझे पाकर जो धन्य होंगे, कृतकृत्य होंगे सो एकबार सत्यदृष्टि से मेरी तरफ देखकर समस्वर से बोल उठेंगे—"अयमात्मा सर्व्वेषां भूतानां मधु, अस्य आत्मनः सर्व्वाणि भूतानि मधु।" फिर मेरी विश्वमूर्ति की ओर देख कर उच्च कण्ठ से बोलो—"इदं सत्यं सर्व्वेषां भूतानां मधु, अस्य सत्यस्य सर्व्वाणि भूतानि मधु।"

पुत्रगण ! तुम सत्यमें और प्राणमें चेतन्य में प्रतिष्ठित हुये हो, अब आनन्द में प्रतिष्ठित होओ। माता-पुत्र-सम्बन्ध-बिहीन "एकमेवा-द्वितीयम्" तत्वमें उपनीत होओ। "अयमस्मि" बोलकर साध्यसाधनाके परपारमें चले जाओ। श्रीगुरुका मङ्गलमय आशीर्वाद सफल हो !

उत्तर चरित।

ऋषिच्छन्दः—उपोद्घात

उत्तरचरितस्य रुद्रऋषिर्महासरस्वती देवता
अनुष्टुप् छन्दोभीमाशक्तिर्भ्रामरीबीजं
सूर्यस्तत्त्वं सामवेदस्वरूपं
महासरस्वती प्रीत्यर्थं जपे विनियोगः ॥

उत्तरचरित – शुम्भवध। रुद्र हैं इसके ऋषि। रुद्र–प्रलय के देवता हैं। यावतीय जगद्भाव अर्थात् यावतीय खण्डज्ञान एक अखण्ड ज्ञानसमुद्र में वा विज्ञानमय महेश्वर में विलीन होता है। जीवत्व की शेष ग्रन्थि वा अस्मितारूप शुम्भासुर अखण्ड ज्ञान में ही निःशेषरूपसे विलय प्राप्त होता है। इसीसे प्रलय के देवता रुद्र इस उत्तरचरित के ऋषि हैं। महासरस्वती हैं इसकी देवता – ज्ञानमयी पराप्रकृति की शुभ्रासत्त्वगुणमयी सरस्वती मूर्त्ति का आश्रय करके ही विशुद्ध-बोध-स्वरूप आत्मसत्ताका अवबोध और जीवभाव का सम्यक् अवसान होता है, इसीसे महासरस्वती इस चरित्र की देवता हैं। इसका छन्दः अनुष्टुप्। माके इस उत्तर चरित में, जो साधक अवगाहन करते हैं, उनका प्राणप्रवाह वा प्राणायाम अनुष्टुप् नामक वैदिक प्रशान्त छन्दके अनुरूप स्पन्दनविशिष्ट होता है।

भीमाशक्ति - भयङ्करी प्रलयकारिणी महाशक्ति के अङ्कमें ही जीवत्वका अवसान होता है; इसीसे भीमा इसकी शक्ति हैं।

भ्रामरीबीज असंख्य षट्पद परिवृत मूर्त्ति का नाम है। भ्रामरी, ये अरुणाख्य असुरको निहत करती है। यह भीमा और भ्रामरीतत्व इसी चरित में आगे यथास्थान में व्याख्यात होगा।

सूर्य है इसका तत्व सूर्य शब्द का अर्थ है प्रकाशस्वरूप वस्तु ज्ञान। जिस विमलबोध के उदयसे अनादिकाल का अज्ञान-तिमिर दूरीभूत होता है, वह बोध ही इस उत्तमचरित का तत्व वा प्रतिपाद्य विषय है। सामवेद समस्वरूप ब्रह्म अर्थात् साम्यावस्थाही तत्वज्ञान का स्वरूप है। महासरस्वती ज्ञानमयी देवी की प्रीति के निमित्त ही इस चरित का विनियोग है।

साधन समर

वा

देवी माहात्म्य

तृतीय खण्ड

रुद्रग्रन्थि भेद—शुम्भवध

ऋषिरुवाच ।

पुरा शुम्भनिशुम्भाख्यामसुराभ्यां शचीपतेः ।
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च हृता मदबलाश्रयात् ॥१॥

अनुवाद। ऋषिबोले प्राचीन समय में शुम्भ और निशुम्भ नामक असुर दोनों ने मद और बल के प्रभाव से शचीपति का त्रिलोक एवं यज्ञभाग हरण कर लिया था।

व्याख्या। महिषासुर निहत हो चुका है। साधक के सञ्चित कर्मसंस्कार के कारण जो चित्तविक्षेप था सो निवृत्त हो गया है। कामनाका, विषयवासनाका उत्पीड़न अब नहीं है, भविष्यत में फिर उत्पीड़न आ सकेगा ऐसी आशंका भी अब नहीं है। प्राणमय ग्रन्थिका उच्छेद हो गया है। साधक अब भलीभाँति समझ चूका है कि अन्तर में जो प्राणरूप से उपलब्ध होती है बाहर में वही व्यक्त विश्वरूप में

उद्भासित है ! जिधर को दृष्टि डालता है लक्ष्य करता हैं, उस तरफ ही परिपूर्ण प्राणमय सत्ता विभिन्न नाम से और विभिन्न आकार से प्रकाशित हो रही है। जड़त्वबोध प्रायः अपनीत हो चुका है नाश हो चुका है। एकमात्र परम प्रियतम प्राण या चैतन्य व्यतीत और कहीं भी कुछ नहीं है। साधारण दृष्टि से जो जड़रूपसे प्रतिभात होता है, वह वास्तव में जड़ नहीं है, यह बात अब वाक्यमात्र में अर्थात् वाचनिक ज्ञान में ही समाप्त नहीं है। गुरुपदिष्ट उपाय से विश्वमय प्राणप्रष्ठिारूप साधना की सहायता से जड़ाप्रकृति अब चिन्मयी मातृ-मूर्त्तिरूप से प्रत्यक्षीभूता है। जीव मात्र ही जो मातृ अङ्कस्थित नग्न शिशु हैं यह बात विचार की सहायता से, युक्ति की सहायता से समझने नहीं होती ।स्मरणमात्र से ही प्राणमय मातृरूप उद्भासित होता है। अब भय नाम की कोई वस्तु नहीं है। विश्वमय मातृकर्त्तृत्व दर्शन से जीव-कर्त्तृत्वबोध प्राय अस्तमित हो चुका है। साधक ने अब सर्वविध संसारचिन्ता से निष्कृति लाभ (छुटकारा) पाकर स्वस्ति की निश्वास लेने का सुयोग पाया है। अहो ! बहु जन्मार्जित सुकृति और अहेतुक अपरिसीम श्रीगुरुकृपा ही जीवको साधकको इस प्रकार की शान्तिमय अवस्था में पहुंचाती है। किन्तु अभी भी प्रबल प्रारब्ध संस्कार समूह नाश नहीं हुए। "अनिच्छान्नपि बलादिव नियोजितः" न मालूम कौन एक अखेय महती शक्ति की प्रबल अनुप्रेरणा से नितान्त अनिच्छा रहते भी कर्मका आरम्भ हो ही जाता है। साधक अच्छी तरह जानता हैं कि, "न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजतिप्रभूः" तबभी कर्त्तृत्वबोध क्षणभर के लिये आकर पहूंच जाता है, और सारे ज्ञानको मानो आच्छन्न कर डालता है। इसको छोड़कर भी यह है कि जिस मातृअङ्क लाभ वा परमात्मस्वरूप में अवस्थान करने लिये इतना प्रयास, इतने जन्म-जन्मान्तरव्यापी सुखदुःख के घात-प्रतिघात खाये हैं; किन्तु कहाँ ? ठीक वह वस्तुतो अभीभी उद्भासित हुई नहीं ! इस अवस्था में साधक सोचता है कि सब पा लिया, सब समझ लिया, तब भी न मालूम किसका अभाव

है जिसके नहीं पानेसे जीवन की यथार्थ परिपूर्णता नहीं होती, वह वस्तुतो अभीभी पूर्णरूपसे उद्भासित नही हुई ? जिसको समझा अथवा नहीं समझा कुछभी नहीं कहा जाता, जिसको जाना है अथवा नहीं जाना, निश्चय करके नहीं कहा जाता, कहाँ ? वह वस्तुतो अभीभी पूर्ण-रूपसे उद्भासित नहीं हुई। जिसकी बात कहते समय उपनिषद् के ऋषि ने प्रशान्तकण्ठसे कहा है—"नो न वेदेति वेद च" जो कहता है मैंने उसे जाना है वह उसे नहीं जानता,कारण—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जो स्वयं विज्ञाता है, उसको किस प्रकारसे वा किसके द्वारा जानोगे ? और जो कहते हैं—"मैं उसे नहीं जानता" वह भी उसके स्वरूप सम्बन्ध मे अनभिज्ञ ही हैं। अरे जो हमारी 'मैं' (मैं की मैं) बनी बैठी हैं, उनको नहीं जानता कहना मिथ्या कहना होगा। तब वह कौन है ? जिनको जानता हूं, नहीं कहा जा सकता और नहीं जानता यह भी नहीं कहा जा सकता, कौन हैं वे ? वह जितने ही अवाङ्मनोगम्य हों, जितने भी भावातीत हों, जितने भी दुरधिगम्य हों, किन्तु तबभी उनको चाहता हूं। वही चाहिये। हाँ सत्य ही क्या वह मिल सकते हैं ? हाँ सत्य ही मिल सकते हैं।

जब तक इस पाने न पाने जानने न जानने का धाँधाँ सम्यक विदूरित नहीं होता, तबतक साधक के हृदय की दीनता किसी प्रकार भी समूल दूरीभूत नहीं होती, अन्ततः होनी उचित नहीं, अथवा हो ही नहीं सकती। कारण जीव ब्रह्म से आया है, सुतरां जबतक पुनराय वह ब्रह्मत्व में उपनीत नहीं हो सकेगा, तबतक यह अतृप्ति दूर हो ही नहीं सकती। अतृप्ति ही तो हमारी माकी गतिमूर्ति है। मा इसी गतिमूर्ति से प्रति जीव के हृदय में नित्य ब्राज करती हैं। तभी तो हम दिन पर दिन ज्ञान से वा अज्ञान से माकी ओर अग्रसर हो सकते हैं। इस अतृप्ति के प्रभाव से ही भविष्यत् और सञ्चित कर्मों के क्षय होने पर भी,दुरपनेय प्रारब्ध संस्कार के क्षय न होने पर्य्यन्त जीव किसी प्रकार भी स्थिर नहीं हो सकता। प्रारब्ध जो है, वह दुःख नहीं है, वह तो आनन्द ही का लीला विलास मात्र है, इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि

नहीं होने तक प्रारब्ध संस्कार दुःखदायक ही बोध होता रहता है। य ही रुद्रग्रन्थि वा ज्ञानमय ग्रन्थि है। आगे यह सब बातें स्पष्टरूपसे कही जावेंगी।

यह विश्व आनन्दधातु है। आनन्द ही इसका उपादान और आनन्द ही निमित्त एवं आनन्द ही इसका गम्य वा लक्ष्य है; ऐसी उपलब्धि साधक को अभीभी नहीं हुई है। सत्य-प्रतिष्ठाके बल से सत् का सन्धान मिला है, प्राणप्रतिष्ठा के फलसे चित् का सन्धान मिला है, अब आनन्द में प्रतिष्ठित हो सकने से ही परम आकांक्षित मनुष्य जीवन की चरम चरितार्थता प्राप्त होगी।

विज्ञानमय क्षेत्रमें से यह विश्व, मात्र बोधस्वरूप उद्भासित होने लगता है। यह बोध जो है, आत्माही है ऐसी अनुभूति जबतक प्रकाशित नहीं होती तबतक ही यह बोधस्वरूपवस्तु ऐसा मालूम होता है मानो निरस है, आनन्दहीन है। वास्तव में वह रसहीन शुष्क बोधमात्र नहीं है, वह तो सत्य सत्यही आनन्दमय है, चिद्वस्तु ही तो आनन्दघन आत्मा है, यह समझ सकने से ही जीवकी रुद्रग्रन्थि वा ज्ञानमय ग्रन्थिका भेद होता है। उस समय फिर जीव प्रारब्धभोग करता हुआभी उसको दुःखदाहक मनमें नहीं समझता, ऐसा मालूम होता है कि विश्व आनन्द द्वारा ही गठित है, स्थूल देह मानों आनन्दमय परमाणुओं की समष्टि हैं, ऐसाही मालूम होने लगता है। इस अवस्था में जीवकी प्रत्येक चिन्ता, प्रत्येक कार्य प्रति निःश्वास तक आनन्दमय आत्माही का स्फुरण है इस प्रकार की अनुभूति होने लगती है।

जीव किस प्रकार इस तत्व में, इस आनन्दमय क्षेत्रमें उपनीत हो सकता है, उसीको विज्ञानमय गुरु महर्षि मेधस शुम्भ निशुम्भ वध के प्रसङ्ग में जीवात्मरूपी सुरथ को सुनाते हैं वा दिखा दे रहे हैं। पूर्ववर्त्ती अध्याय में महिषासुर वध के शेष में "तच्छृणुष्वमयाख्यात यथावत कथयामिते" कहकर ऋषिने परवर्ती रहस्य वा उत्तम चरित्र के वर्णन करने का आभास दिया था, अब उसी प्रतिश्रुत विषय का आरम्भ किया है। इसी से अध्याय के प्रथम में ही "ऋषिरुवाच" कहा गया है।

गुरु शिष्य सम्बन्ध ठीक एसा ही होता है। जबतक शिष्य यथार्थ आनन्दमय स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तबतक गुरु शिष्य को प्रश्न करने का भी अवसर नहीं देते। जब अधिकारी होता है; जब उपयुक्त समय आ जाता है, तब बिना जिज्ञासा के शिष्य के हृदय के समस्त संशय स्वयं ही निराश कर देते हैं। देखा जाता है कि अनेक शिष्य शास्त्रोक्त अधिकारी होने के पहिले ही गुरु को प्रश्न के ऊपर प्रश्न कर के हैरान कर डालते हैं, जिससे मानो एकही दिन में सारे संशय दूर कर लेंगे। किन्तु सो नहीं हो सकता। यह प्राणों की वस्तु है। यह गुह्यतम रहस्य है। सुदुर्लभ है, सुतर्रां मात्र उपदेश से वा केवल पुस्तक पढ़ने से कभी भी आत्मवस्तु लाभ नहीं होती।

अरे, सन्तान को कौन समय भूख लगती है, एवं किस प्रकार का खाद्य किस सन्तान को उपयोगी होगा यह सन्तान की अपेक्षा मा ही अच्छी तरह समझ सकती हैं। मातृ रूपी गुरु के ऊपर कर्तव्य निर्धारण का भार न देकर यदि कोई स्वयं ही उस दायित्व को ग्रहण करता है तो अभिमान तो रह ही गया। और अभिमान रहते गुरु कृपा की उपलब्धि होती नहीं, गुरुकृपा व्यतीत मोक्षलाभ एकान्त असम्भव है।

देखो, साधक-प्रवर अर्जुन—स्वयं श्री कृष्ण जिनके गुरु, सो गीता का विभूति योग पर्य्यन्त उपदेश पाकर भी हाथ जोड़कर कहते हैं—"हे योगेश्वर! हे प्रभो यदि आप मुझे विश्वरूप दर्शन के योग्य समझें तो अपना वह अव्यय स्वरूप दया करके एकवार मुझे दिखाइये।" कैसा सुन्दर भाव है। जरा सोचो तो कितना निरभिमान, कितनी नम्रता कितना श्रद्धावान का भाव अर्जुन के इस बाक्य में उथल रहा है? शिष्य जब ठीक इसी प्रकार अपना आत्म कर्तव्य-बोध पूर्णरूप से श्रीगुरु के चरणों में अर्पण करने को समर्थ होता है, तब ही देखा जाता है—फिर उसे कुछ भी पूछना नहीं पड़ता—गुरु स्वयं ही जिस समय जो आवश्यक समझते हैं; वह समझा देते हैं। शिष्य को कुछ भी करना नहीं होता, श्रीगुरु स्वयं ही शिष्य को जो करणीय है वह करा लेते हैं। सुतरां अधीरता किंवा हठकारिता के वशवर्ती होकर उच्चस्तरीय

साधन क्षेत्र में प्रवेश करने से फल प्राप्ति में कुछ विलम्ब होगा ही इसमें विचित्रता ही क्या है ? किन्तु यह और बात है—

यह शुम्भ वध या मा का उत्तम चरित्र अतिशय गहन और विचित्रता पूर्ण है, उच्चाधिकारी व्यतीत निर्मल बुद्धि व्यतीत इस रहस्य में प्रवेश करना कठिन समस्या ही जान पड़ता है। इसिलिये आओ साधक, हम सबसे पहले अपने एकान्त आश्रय मातृ चरणों में प्रणत होकर मा से कृपाभिक्षा करें। वह हमारी बुद्धिवृत्ति को सम्यक् निर्मल कर देंगी, तभी हम इस अपूर्व रहस्य को यथार्थ हृदयङ्गम कर सकेंगे।

मा ! सुना है गुरु कृपा, शास्त्र कृपा और आत्म कृपा, बिना इन तीन कृपाओं से कोई भी मोक्ष राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। और इन त्रिविध कृपा रूप से एकमात्र तुमही आविर्भूत होती हो। तुमही गुरु, तुमही शास्त्र, और तुम्हीं कृपा हो ! शास्त्रवाक्य समूह जड़ लिपि मात्र नहीं हैं, वे प्राणमय चैतन्यमय हैं। नित्य चैतन्यमयी मा, तुमही तो शास्त्रवाक्य रूप से प्रकटित होकर हम जैसे अज्ञानान्ध जीवों के नेत्र ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा उन्मीलत किया करती हो। यह जानकर ही मा-तुम्हारी करुणा को स्मरण कर रहा हूँ। करुणा ही तुम्हारी मूर्ति है, तुम संतान वत्सला जननी हो। तुम्हीं दुर्गम परमात्मतत्व में उपनीत करो। जबतक तुम जीव को विशेष रूप से शास्त्र वाक्य समूह का चैतन्यमयत्व उपलब्धि करने की योग्यता प्रदान नहीं करती, तबतक बहुशास्त्र अध्ययन करने पर भी जीव का अज्ञान दूर नहीं होता। इसलिये मा तुम धी रूप से उद्भासित होकर हमको इस गहन तत्व में अवगाहन करने की सामर्थ्य प्रदान करो जिससे हम समस्त संशयों के अज्ञान के उसपार चले जायें। मा मा, मा !

शुम्भ—अस्मिता। शोभार्थक शुन्भधातु से शुम्भ शब्द निष्पन्न हुआ है। यह विचित्र विश्व, यह स्त्री पुत्रादि-संसार, यह धन-यश ख्याति, यह स्थूल-सूक्ष्मदेह, ये सभी एक अस्मिता में ही अवस्थित हैं। जागतिक पदार्थ समूह इस अस्मिता का ही एक-एक व्यूह मात्र है। अस्मिता क्या

है ? अस्मि शब्द के उत्तर, भावार्थ में ता प्रत्यय करने से अस्मिता शब्द निष्पन्न होता है। अहं वा "मैं, मैं" इस भाव का ही नाम है अस्मिता। जीव जो कुछ करता है, जो कुछ सोचता है, उस प्रत्येक ही के साथ अहं वा मैं भाव एकान्त (निश्चयात्मक) विजड़ित रहता है, इस अहं भाव के ऊपर ही यह संसार या विश्व ब्रह्माण्ड अवस्थित है। याद रखना यह देहात्म बोध का अहंकार स्वरूप में वा अहं नहीं है। यह विज्ञानमय कोष का अहं वा मैंत्व है। साधक जब बुद्धि में वा विज्ञानमय कोष में मैंत्व को ले जाने में समर्थ होता है, अर्थात् मैं वा अहं कहने से साधारण लोगों को जैसे स्थुल देह वा मांसपिण्ड याद आ जाता है, साधक जब उसी प्रकार मैं वा अहं कहते मात्र अपने विज्ञानमय मैं वा अहं को पकड़ सकता है अर्थात् देहात्म बोध की तरह विज्ञानात्मबोध सुदृढ़ होता है, तबही इस अस्मिता का स्वरूप उपलब्धि योग्य होता है। साधन-समर के प्रथम और द्वितीय खण्ड में जिस स्थान में जाने के लिये, जिस केन्द्र में अवस्थान करने के लिये साधकगण वारंवार उपदिष्ट हुए हैं, वह क्षेत्र जब उनके आयत्तीभूत होता है, अर्थात् इच्छा मात्र से ही विज्ञान में अवस्थान करने को समर्थ होते हैं, तबही वे इस अस्मिता का सन्धान पाते हैं। अस्मिता का स्वरूप और भी स्पष्ट रूप से कहते हैं।

पातञ्जल दर्शन में कहा गया है—दृक्शक्ति पुरुष एवं दर्शनशक्ति बुद्धि। इन दोनों में जो अभिन्नत्व प्रतीति है, उसीका नाम है अस्मिता। अर्थात् जब बुद्धि ही आत्मा रूप से प्रतिभात होती है, तब उसे अस्मिता कहते हैं। यह भी एक प्रकार का क्लेश है। अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष एवं अभिनिवेश, इन पांच तरह के क्लेशों में से ही यह एक है। साधारण भाषा में बुद्धि एवं आत्मा की जो अभिन्नत्व प्रतिति है, वह ही अस्मिता नामक क्लेश है, यह ही देवी माहात्म्य की भाषा में महासुर शुम्भ है। विषय, इन्द्रिय एवं मन, ये सभी बुद्धि पर्यवसाना हैं (बुद्धि तक हैं), रूपरसादि इन्द्रियग्राह्य वस्तु समूह चक्षु

आदि इन्द्रियगण, एवं मन, इनका जो कुछ भी चाञ्चल्य वा क्रिया शक्ति है, वे सभी बुद्धि में जाकर परिसमाप्त होते हैं। यह बुद्धि और अस्मिता अभिन्न हैं, निश्चयात्मिका वृत्ति और अहं वा मैंत्व बोध सम्पूर्ण अभिन्न पदार्थ हैं। निश्चयत्व एवं अहं वा मैंत्व प्रतीति में कोई विशेष भेद नहीं है। फलगत वा कार्यगत विभिन्नता को लक्ष्य करके ही बुद्धि और अस्मितारूप विभिन्नता प्रतीत होती है। साधकगण सत्य और प्राणप्रतिष्ठा के फल से जब इस बुद्धि तत्व में आत्मबोध को उपसंहृत करके (ले जा करके) कुछ काल तक ठहरने में समर्थ होते हैं, उस समय कुछ दिनों तक इस बुद्धि वा अस्मिता को ही आत्मा कह कर समझते हैं—बोध करते हैं। यद्यपि मातृचरणाश्रित साधकों को यह भ्रान्ति वा विपर्य्ययज्ञान खूब ज्यादे दिनों तक नहीं रहता, मा स्वयं ही इस सूक्ष्मतम क्लेशरूपी महासुर को निधन करके अपना यथार्थ स्वरूप उद्भासित कर देती हैं, तथापि जबतक वह शुभ सुयोग उपस्थित नहीं होता तब तक साधक को यहाँ पर भी खूब उत्पीड़ित होना होता है। अवश्य इस उत्पीड़न को बाहर में कोई नहीं समझ वा लक्ष्य कर सकता, मात्र साधक ही अपने प्राणों में इस अस्मिता क्लेश का स्वरूप उपलब्धि करता हुआ खूब व्यथित होता रहता है। इस अस्मिता क्षेत्र में उपनीत होने पर साधक को मालूम पड़ता है कि सब मिल गया, समझ लिया वा जान लिया, बहुजन्मव्यापी जन्ममृत्यु का जो धँधाँ था वह सब कट गया! साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अपने को कुछ विशिष्टता भी प्राप्त हुई है। यह ठीक है, किन्तु जहाँ पर जाने से सर्व कहने का कुछ नहीं रहता, समस्त क्लेश हमेशा के लिये विदूरित हो जाते हैं, अज्ञान हमेशा के लिये विदूरित विलीन हो जाता है, कहाँ, उस स्थान में तो अभी भी नहीं पहुँच पाया ? वह तो हमारी मा की स्नेह-शीतल गोदी है, वही तो हमारा सर्वभावातीत त्रिगुण रहित आनन्दमय मातृवक्ष है, वही हमारा सर्वभयनाशक अमृतमय अभयपद है, जहाँ पर एकबार जाने से यह जगत का धन्धा (ढकोसला) हमेशा के लिए अवसित होता है—जुदा हो जाता है।

जगत कहने, जीव कहने, मैं वा अहं कहने कुछ भी नहीं रहता, कभी किंवा रहेगा, ऐसी धारणा भी था नहीं की जाती, वही तो हमारी मा का हृदय है—वक्षस्थल है। ओः! वह कैसा सुखमय, मधुमय, आनन्दमय, रसमय स्थान है! वह मैं वर्जित मैं है! साधक तुम जबतक वहाँ नहीं जा सकोगे, जब तक इस जगतसत्ता के उस पार त्रिगुणातीत मातृवक्ष में अपने व्यष्टि (खण्ड) अहं वा मैं को हमेशा के लिये नहीं मिला सकोगे, तबकत सारे ब्रह्माण्ड का कर्त्तृत्व, सृष्टि-स्थिति प्रलय की शक्ति एवं सर्वज्ञता प्रभृति ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी तुम्हारे हृदय की अतृप्ति नहीं मिटेगी, हृदय शीतल नहीं होगा, क्लेश का अवसान नहीं होगा। तबतक तुमको इच्छा से हो चाहे अनिच्छा से हो असुर अत्याचार सहन करना ही होगा।

अच्छा, जो हो, ब्रह्म और विष्णु ग्रन्थिभेद के प्रसङ्ग में साधक को जिस स्थान में उपनीत होने के लिये विशेष भाव से संकेत किया गया है, जिस मैंत्व को पाने के लिये उपदेश दिया गया है, यहाँ पर इस उत्तम चरित में किन्तु वह ही असुर रूप से वर्णित है, इसको भी निधन करना होगा। प्रथम जो उपादेय रूप से साध्य रूप से उपदिष्ट हुआ था, यहाँ पर वह ही हेय रूप से, वर्जनीय रूप से व्याख्यात होगा (कहा जायगा)। साधना में ऐसा ही होता है। आज जो एकान्त आश्रयनीय है, कुछ दिन के बाद वही सर्वथा वर्जनीय हो जाता है। और यदि दिन-दिन इस प्रकार वर्जन का भाव ही न आवे, तो फिर साधना ही क्या? सर्वत्व का त्याग एकत्व का लाभ यही तो साधन है। जब तक उस अद्वैत तत्व में उपनीत नहीं हो सकोगे, तब तक इच्छा से ही हो अनिच्छा से ही हो वर्जन होगा ही। मातृचरणों में सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकारी सन्तानगणों को ऐसा वर्जन, हठकारिता-पूर्वक इच्छा पूर्वक नहीं करना होता, मा की कृपा से अपने आप ही होता रहता है। अच्छा जो हो, क्रम से यह अस्मिता वा महासुर शुम्भ का स्वरूप और भी विशद रूप से वर्णित होगा, एवं तब इसको समझने में और सुविधा होगी।

निशुम्भ—ममता। "मेरा मेरा" इस भाव का ही नाम है ममता। साधारणतः ममता कहने से जो समझा जाता है, यह किन्तु सो ममता नहीं है। यह विज्ञानमय कोष की ममता है। उस सूक्ष्मतत्व में जो ममत्व बोध जागृत होता है, वही निशुम्भ है। जिन्होंने विज्ञानमय कोष का सन्धान नहीं पाया है, वे लोग इस ममता का स्वरूप ठीक-ठीक शायद नहीं समझ सकेंगे, कारण मात्र मस्तिष्क धर्म से समझने से यह कुछ भी समझ में नहीं आ सकेगा। इसकी तो उपलब्धि है। "मेरा ज्ञान" "मेरा बोध कहने से जिस ममता का आभास पाय जाता है, यह वही है। अस्मिता जिस प्रकार अहं वा मैं की सूक्ष्मतम अवस्था है, ममता भी उसी तरह का एक सूक्ष्मतम भाव विशेष है! ये परस्पर सहोदर (भाई) हैं। जहां अस्मिता है, वही है ममता। इसीसे शुम्भ और निशुम्भ उभय का प्रायः एकत्र ही उल्लेख पाय जाता है।

शचीपति-मायोपहित चैतन्य। यद्यपि साधारणतः शचीपति शब्द से देवराज इन्द्र ही माने जाते हैं, तथापि यहां पर यह शब्द ब्रह्म वा परमात्मा के ही बोधक रूप से उक्त हुआ है। श्रुति भी कहती है—"इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" इन्द्र अर्थात् ब्रह्म माया द्वारा बहुरूप हुए। शची शब्द का अर्थ है माया ; उसके पति अर्थात् मायोपहित चैतन्य। मन्त्र में शचीपति शब्द का प्रयोग न करके इन्द्र शब्द का प्रयोग करने से तो फिर मातोपहित ब्रह्म न होकर निर्गुण ब्रह्म समझा जाता, इसी आशंका से ही महर्षि मेधसने इस स्थानपर शचीपति शब्द का प्रयोग किया है। शचीपति शब्द से सांख्य की भाषा में महत्तत्व प्रतिविम्बित पुरुष, भगवद्गीता की भाषा में अक्षर पुरुष एवं वेदान्तकी भाषा में कूटस्थ चैतन्य जाना जाता है। शचीपति शब्द का इस प्रकार अर्थ करने से अनेकों के मन में संशय आ सकता है कि यह काल्पनिक अर्थ मात्र है। किन्तु उपरोक्त श्रुति प्रमाण से ही देखा जाता है कि इन्द्र शब्द ब्रह्म वाचक है। श्रुति ने अनेक स्थलों पर ब्रह्म की जगह में इन्द्र

शब्द का प्रयोग किया है। इसे छोड़ कर भी "शचीपतेः त्रैलोक्यम्" शचीपति का त्रिलोक, कहने से उसका अर्थ देवराज किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ; क्योंकि देवराज इन्द्र तो त्रिलोक पति नहीं, मात्र स्वर्गाधिपति हैं। त्रिलोक पति तो स्वयं परमेश्वर हैं। त्रिलोक शब्द का यथार्थ तात्पर्य है त्रिविध प्रकाश। स्थुल, सूक्ष्म, कारण, इन त्रिविध प्रकाशों को ही त्रिलोक कहते हैं। और इन त्रिविध प्रकाशों के अधीश्वर एक मात्र मायोपहित चैतन्य वा सगुण ब्रह्म व्यतीत और कोई हो ही नहीं सकते।

अच्छा जो हो, मन्त्र में देखा जाता है—शुम्भ निशुम्भ उभय ही असुर अर्थात् सुर भाव के विरोधी हैं—"मदबलाश्रयात्" मद एवं बल के सहारे से सची पति का त्रिलोक एवं यावतीय यज्ञ भाग हरण कर लिये थे। मद—गर्व—बल—सामर्थ्य। अस्मिता और ममता का धर्म ही है मद वा गर्व। यह मुझमें ही अवस्थान कर रहा है, ऐसा गर्व भाव शुम्भ निशुम्भ को होना खूब ही स्वाभाविक है। फिर बल वा सामर्थ्य—जो यह जान ले कि मैं ही इस सारे जगत का धर्त्ता, पाता, संहर्त्ता हूं, उसकी फिर सामर्थ्य कितनी होगी इसकी कहने की क्या आवश्यकता है।

अब शचीपति के त्रिलोक और यज्ञ भाग हरण की बात समझ लेने से ही प्रथम मन्त्र का अर्थ एक प्रकार से हृदयङ्गम हो जायगा। प्रसङ्ग थोड़ा कठिन है, इसलिये उसकी और थोड़ी आलोचना की जाती है। स्थूल सूक्ष्म-कारणात्मक त्रिलोक का यथार्थ अधिपति शचीपति अर्थात् मायोपहित चैतन्य है, अस्मिता नहीं। अस्मिता तो बुद्धितत्व है, इसलिये वह भी दृश्य, जड़ वा मायिक है। चैतन्य की ही सत्ता से उसकी सत्ता है। नहीं तो अस्मिता नामक और कोई पृथक सत्ता ही नहीं वा रह भी नहीं सकती। किन्तु अस्मिता असुर है। वह अपने को सर्वमय कर्त्तारूप से देखता है। मुझमें ही तो सारा जगत अवस्थित है, मैं ही तो सर्व भाव का एक मात्र अधिष्ठाता हूँ। मेरे भी कोई एक जन-

प्रकाशक हैं इस बात को वह किसी प्रकार विचारता भी नहीं वा मानने को राजी भी नहीं होता। इसलिये अज्ञानवशतः त्रिलोक का आधिपत्य स्वयं ग्रहण कर लेता है। केवल यही नहीं यज्ञभाग भी हरण कर लेता है। इस विचित्र ब्रह्माण्ड-यज्ञागार में कर्मरूप से प्रतिनियत जो कुछ भी अनुष्ठित होता है, उन सब कर्मों को एवं उसके फल को वह अपने में ही देखता है। "मय्येव सकलं जातं मयि सर्व प्रतिष्ठितम्. मयि सर्वं लयं याति" कहकर सारे जगत की उत्पत्ति, स्थिति, लय; लावतीय कर्म और उनके फल अपने में ही देखता है; किन्तु वह नहीं समझ सकता कि इस "मयि" शब्द से मैं वर्जितअद्वयज्ञान-स्वरूप आत्मरूपी मैं को लक्ष्य किया गया है। मैं कहने से वा अहं कहने से यथार्थ रूप से जिसे समझना चाहिये उस परमात्मा को परित्याग करके. अर्थात् परमात्मस्वरूप परिगृहीत न होने के कारण; अस्मिताही आत्मरूप से प्रतिभासित होने लगती है। यह ही शुम्भ असुर का यथार्थ रहस्य है। यज्ञभाग शब्द का अर्थ—हविः वा अमृत है। भाष्यकार श्री शंकराचार्यजी ने उपनिषत् के भाष्य में "लोकाः कर्म्मसुचामृतम्" इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में अमृत शब्द का अर्थ किया है "कर्मफल"। यावतीय कर्मफलरूप यज्ञभाग वा अमृत अस्मितारूप असुर अपने में ही अवस्थित देखता है। इसीसे मंत्र में "त्रैलोक्यंयज्ञभागश्च हृताः" कहा गया है। परवर्ती मंत्र में यह और भी स्पष्ट होगा।



तावेव सूर्यतां तद्वदधिकारं तथैन्दवम् ।
कौबेरमथ याम्यञ्च चक्राते वरुणस्य च ॥ २ ॥
तावेव पवनर्द्धिञ्च चक्रतुर्वह्नि कर्म च ॥ ३ ॥

अनुबाद। उन दोनों असुरोंने सूर्य, चन्द्र कुवेर, यम, वरुण पवन एवं अग्नि का आधिपत्य अपने ही अधिकार में कर लिया था।

व्याख्या। साधक जव अस्मिता में उपनीत होता है, तब देखता है, अच्छी तरह उपलब्धि कर सकता है – सूर्य चन्द्र, यम, वरुण प्रभृति देवतावर्ग मेरे। मैंके) ही विशेष विशेष प्रकाश मात्र हैं (देवतातत्व द्वितिय खण्ड में विशद रूपसे वर्णित हो चुका है), विषय ग्रहण के द्वारस्वरूप इन्द्रियवर्ग एवं तदधिष्ठित चैतन्यबृन्द, सवही अस्मिता के एक एक व्यूह मात्र हैं। वाह्यपदार्थों में सत्य और प्राणप्रतिष्ठा करते करते ऐसी एक सत्ता में साधक आ उपस्थित होता है, जहां से फिर रूप रसादि विषय, किंवा चक्षु आदि इन्द्रिय अथवा स्मृति, कल्पना निश्चयादि बृत्ति समूह को फिर मैं वा अहं से पृथक किसी पदार्थ को नहीं समझता। यह सव तो मेरे ही विभिन्न प्रकाशमात्र है। ये दूरवर्त्ती सूर्य चन्द्र प्रभृति ज्योतिष्कमण्डल पर्य्यन्त मुझ (मैं) में ही अवस्थित हैं; ये स्त्री पुत्र आत्मीय स्वजन, यह स्थुल देह, सव ही तो मेरी सत्ता से सत्तावान हैं। मैं ही इस बहुरूपसे आत्म प्रकाश कर रहा हूं। मैं इन सबको बोध करता हूँ (जानता हूँ) इसीसे तो वह हैं। मेरे बोध व्यतीत तों इन सवका कोई अस्तित्व नहीं है। सुतरां मैं ही उनका प्रभु, धाता और संहर्ता हूँ। वह सुकृतिके बलसे, कठोर साधना के फलसे, साधक इस प्रकार के ईश्वर क्षेत्र में उपस्थित हों जाता है, किन्तु हाय! वह भी असुरभाव वा अज्ञानमात्र है; कारण समग्र जगत जिससे जात है, जिससे परिधृत (ठहरा हुआ) एवं जिसमें लीन होता है, वह वस्तु मैं नहीं, अस्मिता नहीं, आत्मा— हमारो मा हैं। अस्मिताभी दृश्य मात्र है वह भी आत्माकी ही सत्ता

से सत्ताज्ञान है, किन्तु वह यथार्थ सत्ता की ओर लक्ष्य न करके, अपने को ही जगत कर्त्ता मान बैठता है—इसीसे तो वह असुर है। यह अवस्था क्षणिक विज्ञान वादकी अवस्था के साथ कुछ अंश में तुल्य जान पड़ती है। विज्ञानवादीगण कहते हैं—"जगत कहकर, दृश्य कहकर या भोग्यकहकर पृथक कुछ भी नहीं है, हमारा क्षणपरिणामी विज्ञान समूह ही इस परिदृश्यमान विश्वरूप से प्रतिभात हो रहा है।"

जो भी हो,साधक जब तक ठीक "मैं" वस्तु को नहीं पकड़ सकता, तब तक यह भ्रान्ति अवश्यम्भावी है। अधिकांश साधकों को ही ऐसा होता है।

सुनो और भी खुलासा कहते हैं—मैं शब्दके दो अर्थ हैं। एक वाच्यार्थ,अपर लक्ष्यार्थ। मैं कहने से, बोधमय विज्ञानमय सर्वभावों के साथ एकान्त अन्वित (जड़ित) जो मैं लक्षित होता है, वही मैं का वाच्यार्थ है। हम जाग्रत स्वप्न सुषुप्त अवस्था में जो कुछ करते वा सोचते भावते हैं, उस प्रत्येक के साथ मैं मैं भाव प्रकाश पाता है? सर्व भावों के सहित अन्वित अर्थात् एकान्त मिला हुआ यह जो मैं है, वही मैं शब्दका वाच्यार्थ है। आशङ्का हो सकती है कि, सुषुप्त अवस्था में तो हम कुछ भी नहीं करते, कुछ सोचते भी नहीं हैं। सुतरां तब तो मैंत्व बोध भी नहीं रहता। वास्तव में सो नहीं, सुषुप्त अवस्थामें भी "हम कुछ नहीं जानते" ऐसा सोचते हैं। सुतरां तब भी "मैं अज्ञान" ऐसा भाव रहता है। जो भी हो, इन तीनों अवस्था में सर्वभावों के साथ एकान्त अन्वित जो मैं पाया है, वह ही मैं शब्दका वाच्यार्थ है।

मैं का और एक अर्थ है उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। वह सर्वभावों के अतीत है। सर्वभावों के सहित उसका कोई सम्बन्ध है, था वा रहेगा, ऐसी प्रतीतिभी नहीं होती। यह जो भावातीत, वाक्य मनके अगोचर आत्मरूपी मैं है, उसे इस सर्वभावों के साथ विजड़ित मैं ही समझा देता है। सुतरां मैं कहने से यह विशुद्ध बोधस्वरूप परमात्मा वस्तु ही लक्षित होती है। याद रखना—यह जो मैंत्व प्रतीति है, वह भी

वहाँ नहीं है, कारण जहाँ पर तुम नहीं वह नहीं, अर्थात्दृश्य वा ज्ञेय बस्तु का सम्पूर्ण अभाव है, वहाँपर जो अवशिष्ट रहता है, वह स्वरूपतः मैं होने पर भी, मैं शब्द का प्रयोग वहाँ पर किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। इसीलिये पूर्वमें मैं बर्जित कह कर आत्मवस्तुकी व्याख्या की है।

आओ, एक दृष्टान्त के द्वारा हम इस बिषय को और भी सरल भाव से समझनेकी चेष्टा करें। एकजन कहता है, "अङ्गुल्यग्रे-करिशतम्" अर्थात् अंगुली के अग्रभाग में एक शत हस्ती हैं। इस स्थान पर अंगुली के अग्रभाग में एक शत हस्ती का रहना सर्वथा असम्भव है इसीलिए अंगुली निर्देशित भूखण्ड (पृत्वी) पर हस्ती के अवस्थान की प्रतीति होती है। ठीक इसी प्रकार मैं शब्द प्रतिपाद्य आपात प्रतीयमान अस्मिता रूप बस्तु, यथार्थ आत्मा नहीं है। आत्मा जो हैं वह तो उसकी भी प्रकाशक है। यह न समझ कर साधक जब अस्तिमा को ही आत्मा कह कर समझ बैठता है, तब ही वह शुम्भ नामक असुर रूपसे आत्ममहत्व-आत्मबिभूति-समूह अपहरण कर बैठता है। उस अवस्था में साधक जानता है—आत्मातो निर्गुण है, सर्वधर्म विवर्जित है, उसको प्राप्त करना न करना दोनों ही तुल्य है किन्तु यह जो अस्मिता है यही तो ईश्वर है, यावतीय ईश्वरधर्म यहीं परतो प्रतिभात होते हैं, सुतरां सर्वभावातीत जड़वत, प्रतीयमान आत्मा के सन्धान से क्या फल होगा? इस प्रकार के अज्ञान द्वारा असुर-भावके द्वारा साधक प्रतारित होता है (ठगा जाता है)। हुआ तो कभी अस्मिता को छोड़ कर, निर्गुण आत्मतत्व की उपलब्धि करने के लिये अवधान प्रयोग करने में यत्न करके भावातीत स्वरूप का थोड़ा अस्फुट सन्धान भी पाता है। तब इस अस्फूट जड़वत बोध को ही बाक्य-मन के अतीत ब्रह्म स्वरूप कह कर समझ लेता है, एवं समझता है कि अब और मुझे समझने और देखने को कुछ भी बाकी नहीं है! किन्तु हाय ? तब भी साधक ठीक नहीं जानपाता कि यह भी असुरभाव मात्र है।

पूर्व-पूर्व अध्यायों में जो विज्ञानमय कोष वा बुद्धितत्व को सर्वतो-भावसे आश्रयणीय कह कर उल्लेख किया गया है, यहां पर महर्षि मेधस उसी को असुर रूप से परिव्यक्त कर रहे हैं। निशुम्भ प्रभृति परिकरवृन्द सहित यह महासुर शुम्भ निहत होने ही से जीवत्व का यथार्थ अवसान होता है—जीवमहीरुह (महान वृक्ष) की शेष मूल विच्छिन्न होती है। इस विज्ञानग्रन्थि का भेद कर सकने से ही जीव आनन्द निकेतन में उपनीत होता है। एकमात्र गुरुकृपा वा आत्मकृपा व्यतीत और किसी भी साधना के बल से इस विज्ञानग्रन्थि का भेद हो सकता है, (ऐसा यदि कोई कहे सो) हमारी तो समझ में नहीं आता। सर्वविध साधना यहाँ पर तो केवल मा के करुणकटाक्ष वा तीव्र स्नेहाकर्षण पर प्रतिष्ठित है।

अब हम शुम्भासुर के देवाधिपत्य अपहरण के विषय की आलोचना करेंगे। मन्त्र में कहा गया है—सूर्य, चन्द्र, कुवेर, यम, वरुण एवं अग्नि प्रभृति देवतावृन्दों का आधिपत्य शुम्भ कर्त्तृक अपहरण किया गया था। पूर्व में कहा जा चुका है, चैतन्य को जो विशेष-विशेष भाव है वह ही देवता नाम से परिचित हैं वा जाने जाते हैं। किन्तु यहां पर जब अस्मिता ही आत्मरूपसे वा ईश्वररूपसे परिग्रहीत है, तो देवताओं की अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठत चैतन्य अथवा क्षित्यादि पञ्चभूताधिष्ठित चैतन्यबृन्द का स्व स्व चिद्भाव अस्मिता कर्त्तृक तिरस्कृत वा आच्छन्न रहता है। देवगण स्वकीय चिद्भाव से विच्युत होकर सर्वतोभावसे जड़ और दृश्य अस्मिता के अंशरूपसे प्रतिभात होते रहते हैं।

मानलो सूर्यये— प्राणों के अधिपति देवता हैं, आत्माके जिस अंश में प्राणमय विशिष्टबोध प्रकाश पाता है, वह ही सूर्य का सूर्यदेव हैं। आत्मा का यह विशिष्टबोध ही सूर्य का सूर्यत्व है। शुम्भ—अस्मिताने उस आत्मबोध को सर्वतोभाव से तिरस्कृत कर रक्खा है। सुतरां सूर्य-देवभी स्वकीय अधिकारसे विच्युत हो पड़े हैं। अन्यान्य देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना होगा। एकान्त जड़ अस्मिता जब अपने को ही आत्मा वा चैतन्य कह कर मान बैठता है, तब प्राण मन

प्रभृति के अधिष्ठाता चैतन्यरूपी सूर्यं चन्द्रादि देवताबृन्द जड़त्व द्वारा मोहित हो पड़ते हैं। शुम्भ कर्त्तृक देवताओं के आधिपत्य हरण का यही है तात्पर्य।

ततो देवा विनिर्द्धूता भ्रष्टराज्याः पराजिताः ।
हृताधिकारास्त्रिदशास्ताभ्यां सर्व्वे निराकृताः ।
महासुराभ्यां तां देवीं संस्मरन्त्यपराजिताम ॥ ४ ॥
तयास्माकं वरो दत्तो यथापत्सु स्मृताखिलाः ।
भवतां नाशयिष्यामि तत्क्षणात् परमापदः ॥ ५ ॥

अनुबाद। इसके बाद उन दोनों महासुरों द्वारा बिताड़ित राज्यभ्रष्ट पराजित एवं सर्वतोभावसे निर्जित त्रिदशबृन्द (देवता) स्व स्व अधिकारों से विच्युत होकर अपराजिता देवीको स्मरण करने लगे। (क्योंकि महिषासुरयुद्धान्त में) उन्हीं अपराजिता देवी ने उनको वर दिया था कि, तुम पर जब कोई बिपद आवेगी, तब मुझको स्मरण करते ही तुम्हारी अखिल बिपत्तियों को बिनाश करूंगी।

व्याख्या। शुम्भ निशुम्भ के अत्याचार से देवताबृन्द उत्पीड़ित पराजित, भ्रष्टराज्य, भयकम्पित एवं अधिकारबिहीन हो गए थे। पूर्व में कहचुका हूं, देवता चैतन्य की ही विशिष्ट अभिव्यक्तिमात्र है। चैतन्य—चितिशक्ति वा मा है। देवतागण जानते हैं कि हम सर्वतोभाव से मातृ अङ्कमें वा चैतन्य में प्रतिष्ठित हैं। स्व स्व विशिष्टतामात्र अबलम्बन करके चितिक्षेत्रमें वा स्वर्गराज्यमें अवस्थान करना ही देवतागणों की प्रकृति है, किन्तु इस समय अस्मिताने अपने को आत्मा कह कर समझ लिया है, सुतरां देवतागण जब स्व स्व अधिकार की ओर दृष्टि डालते हैं, देखते हैं कि, वे चैतन्यके विशिष्ट भावसे प्रका-

शित न हो सकने से अस्मिता के विशेष व्यूह रूपसे प्रतिभात हो रहे हैं। वास्तव में अस्मिता तो चिद्‌वस्तु नहीं है, सुतरां वह देवताओं की चिद्‌वस्तु का आस्वाद प्रदान नहीं कर सकती। जिस अमृतरस को पान करके अमरनामसे परिचित हैं, वह अमृत इस समय जड़ अस्मिता द्वारा तिरस्कृत है; इसलिये वे देवता होते हुये भी स्वर्गराज्य वा चित्‌क्षेत्र से बिताड़ित हैं।

और थोड़ा खुलासा कहते हैं—यह देखो, हमारे दर्शन श्रवणादि जो कोई भी इंद्रिय व्यापार निष्पन्न होते हैं, सब के साथ ही अहं भाव प्रकट होता है। इस अहं वा मैं रूपी शुम्भासुर को परित्याग करके इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवर्ग क्षणकालके लिये भी स्वतन्त्र भावसे अवस्थान करने में समर्थ नहीं होते।

देखो साधक! तुम जहाँ भी जैसी अवस्था में ही क्यों न हो, वहीं पर तुम्हारे प्रति, तुम्हारे इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवर्ग के प्रति मैं वा अहं रूपीशुम्भासुर का कितना असहनीय सूक्ष्म अत्याचार है? "एकमात्र मा व्यतीत और कहीं भी कुछ भी नहीं है" इसे सहस्रबार समझ लेने पर भी, क्या मालूम, कहाँ से हृदय में यह मैं वा अहं प्रकाशित हो उठता है; उस समय मा और मैं वा अहं, इन दोनों के बीच में एक दुश्छेद्य व्यावधान परिलक्षित होता है। तुम ध्यान धारणा ही करो किंवा समाहित अवस्था में ही रहो, तुम्हारा यह सूक्ष्म मैं वा अहं निर्मल मातृवक्षसे तुमको अनेक दूर रख देता है। तुम शत चेष्टाओं से भी उस व्यवधान को दूर नहीं कर सकते हो। यह अत्याचार केवल आज ही नहीं है, कौन अनादिकाल से तुम्हारे हृदय-सिंहासन पर इसी अस्मितारूपी शुम्भासुर ने अधिष्ठित होकर तुमको आत्मराज्यसे बिताड़ित कर दिया है, इसका सन्धान कौन करे? यह अत्याचार जीव-हृदयमें चिरकालसे ही वर्तमान है, तब हाँ जितने दिनों तक मधुकैटभ, महिषासुर अर्थात् कामना, बासना किंवा काम क्रोधादि रिपुदल के अत्याचार दूर करने में व्यस्त रहता है, तब तक तो फिर इस

ओर को लक्ष्य करने का अवसर ही नहीं पाता, सामर्थ्य भी नहीं रहती। देवताबृन्द तो केवल मधुकैटभ और महिषासुर के अत्याचार से ही उत्पीड़ित हैं, अब तक साधक ने यही समझा था; किन्तु अब मा की कृपा से श्रीगुरुके अहैतुक आशीर्वाद से बहिः शत्रु के वा स्थूल इन्द्रियादिके अत्याचार प्रशमित हुए हैं, स्वरूप की ओर देखने को सामर्थ्य आई है, इसीसे प्रशान्त चित्तसे एकबार अपनी वर्त्तमान अवस्था पर्य्यवेक्षण करने का सुयोग आ उपस्थित हुआ है।

इस समय देवताबृन्दने स्व स्व अधिकार के प्रति दृष्टिपात करके समझ पाया है--कि हम अब तक जिन असुरभावों द्वारा उत्पीड़ित हुऐ थे, सो तो अति स्थूल थे, किन्तु अब देखते हैं, कि यह और भी सूक्ष्मतर उपद्रव है, यह तो बुद्धि वा अस्मिता का अत्याचार हैं। अस्मिता कर्त्तृक हमारा यथार्थ अधिकार छीन लिया गया है, हम सर्वतोभावसे आत्मा वा अखण्ड चितशक्ति के आश्रयमें अवस्थित हैं, किन्तु हाय! अब यह क्या देख रहे हैं जड़ मैंत्व ही इस समय हमारा एकान्त आश्रितरूपसे प्रतिभात हो रहा है। इसको अपेक्षा और क्या शोचनीय अवस्था हो सकती है?

वास्तव में यह सूक्ष्म मैंत्व बड़ी भयानक वस्तु हैं। "मरियाऊ ना मरे हाय ये कैसा वैरी।" (मरते मरते भी नहीं मरता)।

प्रथम जो स्थूल देहाभिमान के ऊपर प्रतिष्ठित जो मैंत्व वा स्थूल अहङ्कार है, वह श्रीगुरुके चरणों में प्रणति वा सम्यक् शरणागति की सहायता से शीर्ण हो जाता है। तब यह मनोमय देह वा सूक्ष्म शरीर में प्रतिष्ठित होता है। इस अवस्था में नाना तरह के साधन भजनादि अनुष्ठित होते रहते है; फिर "मैं भगवत् साधना में निरत हूँ" "मैं एकजन साधक हूँ" इस प्रकार अहं बोध परिपुष्ट हो उठता है। यदि कई श्रीगुरुकी अहैतुकी कृपावश साधकके अतुलनीय साहस व प्रभाव से वहाँ से भी उसे विताड़ित किया जाता है, किन्तु तब भी देखा जाता है कि, वे—वही मैं वा अहं महाशय यथा पूर्वभाव से ही

कर और भी पूर्वापेक्षा ज्यादा शक्तिमान होकर, बुद्धिक्षेत्र का आश्रय करके बैठे हैं, यही हैं महासुर शुम्भ। इसको निधन करना बड़ाही दुरूह कार्य है।

पहिले जिस बुद्धि या विज्ञान का अवलम्बन करके साधन चलता था, बाद में देखा जाता है, वह भी मैत्वके दोष से दुष्ट (दूषित) है। साधकने प्रथम से ही शिक्षा पाई है—"मैं नहीं जाने से मा नहीं आती," इसीसे तो प्राणपण से मैत्व को बिताड़ित करने में यत्नवान होता है। पहिले स्थूल देहमें से खदेड़ाना आरम्भ करता है, क्रम से वहीं इन्द्रिय और मनकी गण्डी पार करता हुआ बुद्धि क्षेत्र में आ खड़ा होता है। यहाँ पर आकर साधक देख पाता है—कि यह विज्ञानमय कोषका मैत्व महान्, बिशाल, प्रायः ईश्वरतुल्य है—यावतीय देवाधिकार इसीके करतलगत हैं। इसको बिताड़ित करना सहजसाध्य नहीं। अथच इस मैत्व द्वारा ही आत्मराज्य पूर्णरूपसे तिरस्कृत है। सीधी-बात यह जो बुद्धि विज्ञानबस्तु है सो भी जड़ वा दृश्यमात्र है, यह अनुभव प्रथम प्रविष्ट साधको को प्राप्त नहीं होता, जिनका बिष्णुग्रन्थि भेद हो चुका है, मात्र वही बुद्धि का जड़त्व अनुभव करने में समर्थ होते हैं। अच्छा जो भी हो, इस अवस्था में साधक के इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवर्ग निरुपाय होकर कातर प्राणों से अपराजिता देवी को—स्नेहमयी माको स्मरण करने लगते हैं। जिनको स्मरण करने से फिर कभी भी किसी के द्वारा पराजित नहीं होने होता, उनका स्मरण करते हैं।

एकदिन तो इन्हीं माँने ही हमारा दुर्ज्जय दैत्य महिषासुरके हाथ से परित्राण किया था, सुतरां इस बार भी इस अत्याचार से परित्राण के लिये उनके शरणागत होने से, वे निश्चय ही हमारा इस शुम्भासुर के हाथ से परित्राण करेंगी। केवल इतना ही नहीं, हमारी यही अपराजिता-मा स्नेहपरवश होकर पहिले बोली थी, न वही वर दिया था—जब कभी भी तुम पर कोई आपद उपस्थित हो, तब ही मुझको स्मरण करना, मैं तुम्हारी अखिल परमापदों का विनाश करूंगी। तो फिर हमको भय क्या? साधक! आओ हम भी देवगणों की तरह

माँ के लिये रोयेंगे। हमारे उस कातर क्रन्दन से निश्चय ही माँ के हृदय में स्नेहधारा का बाढ़ आयेगा, स्नेहविह्वला माँ वाक्यमन के अतीत क्षेत्र से अवतीर्ण होकर अवश्य ही हमें इस दुर्जय मैत्व के हाथ से उद्धार करेंगी। हम माँ के लिये रोएंगे और मां आएंगी। माँ ने पहले ही हमारी विपद की जानकारी पाई थी, इस लिये इस विपत की सूचना उन्होंने दी थी। हमारी विपत्ति आयेगी अर्थात् हमारी परम उन्नत अवस्था आपद की उलझन में गिर पड़ेगी, हम परमात्म-स्वरूप से दूर रहेंगे—यह जानकर ही माँ ने हमें उस विपत से उद्धार करने को आश्वासन दिया था। सुतराम् आओ हम सब समाहित चित्त से मां का स्मरण करने की चेष्टा करें।

—:o:—

इति कृत्वा मतिन्देवा हिमवन्तं नगेश्वरम्।
जग्मु स्तत्र ततो देवीं विष्णुमायां प्रतुष्टुवुः ॥ ६ ॥

अनुवाद। देवगण पूर्वोक्त रूप तय करके नगाधिपति हिमालय गये और वहाँ देवी विष्णुमाया की स्तुति करने लगे।

व्याख्या। देवगणों के हिमालय गमन का आध्यात्मिक रहस्य है देहात्मबोध में अवतरण करना। हिमालय है देहात्मबोध। (द्वितीय खंड में इस विषय की आलोचना की गई है।) सूक्ष्म विज्ञानमय कोष में असुर का अत्याचार उपलब्धि करके देवगण स्थूल देहात्मबोध में अवतीर्ण हुए। देहात्मबोध में अवतीर्ण न होने से मां की विशेष आराधना अर्थात् स्तुति नहीं की जाती है। स्तुति वागिन्द्रिय का कार्य है। सुतराम् विना स्थूल देहात्मबोध से स्तुति आदि विशेष उपासना नहीं हो सकती है।

यहाँ एक बात है-स्थूल देह ही कर्मक्षेत्र है। जितने कर्म हैं, वे स्थूल देह के आधार से ही निष्पन्न होते हैं। इस लिये यह स्थूल देह धर्म क्षेत्र या कुरुक्षेत्र है। सूक्ष्म देह से कोई कर्म नहीं चलता, चल नहीं सकता। सुतराम् इस स्थूलदेह से ही कर्म की सहायता से ऐसी

तीव्र गति अवलम्बन करनी चाहिये कि जिससे सूक्ष्मक्षेत्र को अतिक्रम करके विशुद्ध बोधस्वरूप परमात्मक्षेत्र में साधक पहुंच सके। स्थूलम देहात्मबोध में विचरण करते हुए जो नैष्कर्म का भाण दिखलाते हैं, वे आध्यात्मिक ऊर्ध्वगति से अवश्य ही बंचित होते हैं।

अब देखो देवगणों को भी अपराजिता का स्मरण अर्थात् माँ की मंगल स्तुति पाठ करने को स्थूल देहबोध में अवतीर्ण होना पड़ा। स्तवही सर्वश्रेष्ठ साधना है—यह सत्य पहले द्वितीय खंड में शक्रादि स्तुति के बारे में व्याख्यात हुआ है। विष्णुमाया शब्द का अर्थ-पीछे मिलेगा।

—:o:—

देवा ऊचुः

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥७॥

अनुवाद। देवगण बोले—देवी को प्रणाम। महादेवी शिवा को भद्रा प्रकृति को प्रणाम। हम यंयत होकर उनको [अवांगमनोगम्याको] प्रणाम करते हैं।

व्याख्या—देवगणों ने माँ का स्तव आरम्भ करते ही सर्वप्रथम "नमः" कह कर मैंत्व बोध को सर्वतोभाव से विनत कर दिया। हम सभी थोड़ा बहुत प्रणाम करते हैं। हिन्दूघर की सन्तान, हम बचपन से ही प्रणाम में अभ्यस्त हैं। पहले माता-पिता प्रभृति गुरुजनों को क्रम से देव-विग्रह देवायतन प्रभृति को प्रणाम करने की शिक्षा पाई, है। करकपाल-संयोग अथवा पृथ्वी से मस्तक स्पर्शरूप अनुष्ठान, किंवा समग्र देह भूमि पर निपातित कर लेने से ही समझते हैं कि प्रणाम कार्यसिद्ध हो गया। वास्तव में प्रणाम कार्य क्या ऐसा ही है? प्रणाम कार्य कितने उच्च विज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित है, इस तत्व की क्या हमने कभी आलोचना करके देखी है? मैंत्व [अहंत्व] का उन्नत शिर अवनत करने के लिए, प्रणाम जैसा सहज उपाय और कुछ है, हम

तो नहीं जानते। हमारे देहात्म बोध का गर्व्वित मस्तक किसी भी तरह अवनत नहीं होता, इसीसे तो हम दिवा-रात्रि संसार का दास होकर, रोग, शोक, अनुताप से दरिद्रता से प्रपीड़ित हो रहे हैं। प्रणाम-रहस्य भूल जाने से ही आज इस देश के लोग सबके पदतल में विलुण्ठित हैं। जो प्रणाम करना जानते हैं, वे कभी भी मनुष्य के दरवाजे पर मस्तक अवनत नहीं करते, "भिक्षां देहि" कहते हुए भिक्षा की झोली कन्धे पर लेकर मनुष्य के द्वार पर नहीं जाते।

प्रकृति रूपसे अवनत होने का नाम है प्रणाम। 'मैं वा अहं' कहकर जो अज्ञान का बोझा है उसे लेकर ज्ञान के गर्व से हम शिर उन्नत करते हैं, इसी मैंत्व बोध को इसी अज्ञान के भार को ज्ञान के समीपमें सम्यक रूप से अवनत करने का नाम ही यथार्थ प्रणाम है। इसी अज्ञान और उसके साथ पूर्णरूप से बिजड़ित अक्षमता, दीनता, दुर्बलताओं को जो व्यक्ति ज्ञानमय सर्व्व नियन्ता के चरणों में अवनत नहीं कर सकता, उसका प्रणाम ही नहीं होता। इसीलिए स्वयं भगवान ने कहा है—"तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"। प्रणिपात परिप्रश्न एवं सेवा, इन त्रिविध उपायों से तत्वदर्शी महापुरुषों के निकट तत्व ज्ञान ग्रहण करना होता है। सबसे प्रथम ही है प्रणिपात। अहं कर्त्तृत्व ज्ञान को प्रकृष्ट रूपसे निपातित करने का नाम ही यथार्थ प्रणिपात है। जब तक यह न हो तब तक ऐसा जानो कि अभी भी प्रणाम की शिक्षा नहीं हुई। इसीसे कहता हूं, साधक! ब्रह्मविद्या की आलोचना, जगत् तत्व विश्लेषण, आत्मसाक्षात् कार लाभ प्रभृति बड़ी बड़ी बातों को उच्चारण करने के पहले, कुछ दिन केवल प्रणाम करने का अभ्यास करो। समुदय-जीवन व्यापी कठोर साधना के फल से यदि एक बार भी प्रणाम कर सके, ज्यादा नहीं, जीवन में मात्र एक बार, एक क्षणके लिए भी यदि प्रणाम कर सकोगे, तो जीवन सफलता मय होगा- मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य सिद्ध होगा। किन्तु कहाँ सकते हो क्या? चाहे कितनी ही मस्तक अवनत करने की चेष्टा करो, मैंत्व का उच्च शिर किसी तरह भी अवनत नहीं होना चाहता। चेष्टा

करो। इस विश्व के क्षुद्रतम कीटाणु से लेकर ईश्वर पर्य्यन्त सभी तुम्हारे गुरु हैं, सभी तुम्हारी माँ हैं, सभी तुम्हारे पूज्य हैं। इसी प्रकार सहस्र भाव से सहस्रशीर्ष से माँ को प्रणाम करते रहो। भय नहीं! प्रणाम करने में तुमको दीन-हीन कङ्गाल नहीं सोचना होगा, वरं जगत्पति को इस प्रकार प्रणाम कर सकने से, फिर किसी दिन किसी के पास मस्तक अवनत नहीं करना होगा। केवल जगत्पति को प्रणाम नहीं करते हो तभी तो मनुष्य के द्वारा पर, विषयों के द्वार पर कपाल ठोंकना पड़ता है, अथच अभाव बोध विदूरित नहीं होता।

अच्छा! जो हो! प्रणाम करने से, जीव किस प्रकार उन्नति लाभ करता है, इसे थोड़ा धीर चित्त से सोचने से ही समझ सकोगे। जिस क्षण तुम किसी को प्रणाम करते हो, (अवश्य श्रद्धा भक्ति के साथ प्रणाम की ही बात यहाँ पर कही जा रही है, केवल सज्जनता-रक्षा की खातिर से जो प्रणाम किया जाता है उसकी आलोचना यहाँ पर नहीं है) ठीक उसी समय तुम्हारे ही अन्तर एक गुरुत्वभाव जाग उठता है। "जिनको प्रणाम कर रहा हूँ, वे मुझसे श्रेयतर हैं।" इस प्रकार का एक श्रेष्ठत्वभाव अन्तर में एक तरफ जाग उठता है; और साथ ही साथ दूसरी ओर स्वापकर्ष बोध अर्थात् "मैं उनकी अपेक्षा अपकृष्ट हूं" इस प्रकार का एक भाव अन्तर में विकास पाता है। फलतः होता क्या है? देखो साधक, प्रणाम करने में तुम ही लाभान्वित होते हो, तुम्हारे चित्त में एक तरफ श्रेष्ठत्वभाव प्रकाश पाता है, और दूसरी ओर अहंबोध थोड़ा अवनत होता है। इस प्रकार जिनको तुम प्रणाम करते हो, तुम्हारे उस प्रणाम के द्वारा उनका विशेष कुछ लाभ हो वा न हो, पर तुम तदपेक्षा अधिक लाभान्वित होते हो, यह सुनिश्चित है। कारण, इस प्रकार प्रणाम करते करते चित्त उन्नतभाव से परिपूर्ण हो जाता है और अहंकाररूपी शत्रु निपातित होता है।

प्रसङ्गवश यहाँ एक बात और कह देता हूं—आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाभिमानी में से कोई-कोई ऐसा समझते हैं, कि किसी मनुष्य को गुरु कह कर—ईश्वर कह कर प्रणाम करना मूर्खता मात्र है। हाय!

वे नहीं जानते—"जो यथार्थ ही ईश्वर लाभ के प्रयासी हैं, उनको किसी न किसी मनुष्य-शरीर को गुरु वा ईश्वर रूप से परिग्रह करना ही होगा। एवँ प्रत्यक्ष ईश्वर बोध से प्रणाम करके पूजा करते हुए मैंत्व बोध को अवनत करना ही होगा।" आध्यात्मिक राज्य में विचरण करने का यही प्रथम प्रवेश-द्वार है। वर्ण-परिचय काल में बालकगण जिस प्रकार शिक्षक महाशय के उपदेशों को निर्विचार रूप से मान लेते हैं, उसी प्रकार आत्मराज्य में विचरणेच्छु साधक निश्चय ही किसी मनुष्य देह को ही निर्विचार ईश्वर रूप स्वीकार कर लें, एवं उनके चरणों में अनादिजन्मसञ्चित स्वकीय मैंत्व के महाभार को सम्यक रूप से अर्पण करने के लिये प्रति नियत चेष्टा करें। यही भगवत् लाभ का एक मात्र उपाय है। श्रुति कहती है, "आचार्यवान् पुरुषो वेद" जिन्होंने गुरु-लाभ किया है, वे ही आत्मा को जान सकते हैं। और यहाँ पर ऐसा कहना भी आवश्यक है कि, किसी तत्त्वदर्शी पुरुष के पास से कोई विषिष्ट उपदेश वा दीक्षा ग्रहण करने ही से गुरू लाभ नहीं होता। गुरु में ईश्वरत्व बोध एवं "ये ही हमारे सर्वापेक्षा प्रिय और वाञ्छनीय वस्तु है", ऐसा भाव जिन के प्राणों में सर्वदा जाग्रत रहता है, वे ही यथार्थ सद्गुरु लाभ से धन्य होते हैं। सच ही जिन्होंने सद्गुरु लाभ किये हैं, उनको फिर कोई भय वा दुश्चिन्ता नहीं रहती, वा रह नहीं सकती। ऐसे गुरु लाभ करने के लिये सबसे पहले पूर्वोक्त प्रकार से प्रणति शिक्षा बहुत ही आवश्यक है।

जिनका प्रणाम जितना सत्य, जिनका प्रणाम जितनी सरलतामय, जिनका प्रणाम जितनी कृत्रिमता हीन होता है वे उतने ही सहज भाव से और उतने ही शीघ्र अभीष्टलाभ करके चरितार्थ होते हैं। यही प्रणाम का रहस्य है; ऐसे ही प्रणाम का माहात्म्य है। इसी से कहता हूँ साधक, तुम खूब बड़ी बड़ी तत्त्व कथा सुनने के पूर्व, केवल सरल प्राणों से प्रणाम करने का अभ्यास करो, अपना मैंत्वभार श्री गुरु के चरणों में अर्पण करने को चेष्टित होओ, तम्हारा जीवन निश्चय ही आनन्दमय होगा।

अच्छा जो हो, अब आओ, हम भी देवतागणों की तरह "नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः" बोलते हुए मा की स्तुति मङ्गल पाठ के साथ ही साथ आत्माभिमान बोध मातृ चरणों में उपहार देने का प्रयास करें।

नमो देव्यै—देवी को प्रणाम। जो द्योतनशीला हैं, जो क्रीड़ा शीला—सृष्टि स्थिति प्रलय लीला के अभिनय में निरता हैं, जो जीव जगदाकार से विश्व मूर्त्ति में सतत प्रकाशिता हैं, उन्हीं नित्या स्वप्रकाश स्वरूपा माँ की स्थूल मूर्त्ति को प्रणाम। महादेव्यै शिवायै सततं नमः—महादेवी शिवा को सतत प्रणाम। इस प्रकट विश्वमूर्त्ति की अपेक्षा जो सूक्ष्म हैं, जिस अनिर्देश्य सूक्ष्म महती शक्ति से यह जगत् प्रकाशित और अवस्थित है; उन शिवा कङ्गलमयी महादेवी माँ को सर्वदा प्रणाम।

स्थूल मूर्त्ति को प्रणाम करने के लिये करकपालादि संयोगरूप वाह्यानुष्ठान आवश्यक है, सुतरां सतत प्रणाम सम्भव—नहीं। किन्तु माँ की जो सूक्ष्स जगदाधार मूर्त्ति है, उस मूर्त्ति को सभी जीव जाने या बिना जाने में बिना चेष्टा के सर्व्वदा ही प्रणाम करते रहते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं में जीव जो कुछ अनुष्ठान करता है, उसके द्वारा एकमात्र उन्हीं महती शक्ति की ही पूजा वा प्रणाम निष्पन्न होता है, सो वे सतत प्रणाय योग्या हैं। आज हम उन नित्य-प्रणाम-योग्या मङ्गलमयी महादेवी के चरणों में ज्ञानतः प्रणत होते हैं। माँ! तुम हमारा प्रेणाम ग्रहण करो।

नमः प्रकृत्यै भद्रायै। भद्रा—मङ्गलमयी प्रकृति को प्रणाम। पूर्वोक्त स्थुल सूक्ष्म की जो कारण हैं, वे मूल प्रकृति रूपिणी जननी ही भद्रा सन्तानों की मङ्गल विधायिनी है। जीव उन्हीं की कृपा से प्रकृति के उस पार, स्थूल सूक्ष्म के अतीत क्षेत्र में, मुक्ति के महा प्राङ्गण में उपनीत होते हैं। इन भद्रा प्रकृति को सतत प्रणाम नहीं किया जाता; कारण ये अव्यक्ता हैं, कदाचित् कोई भाग्यवान् साधक इनका सन्धान पाकर इनके चरणों में अवनत हो सकते हैं।

नियताः प्रणताः स्म ताम्—हम नियत होकर उनको प्रणाम करते हैं। इन्द्रियवृत्ति समूह को सम्यक नियमित अर्थात् संयत करके, जो तत्पदगम्या— वाक्य और मन के अगोचर हैं उनको प्रणाम करते हैं। वह क्या हैं, सो भाषा द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकतीं, मन में धारणा भी नहीं की जा सकतीं, बुद्धि द्वारा भी सम्यक परिग्रह नहीं की जा सकतीं। स्थूल सूक्ष्म और कारण से अतीत 'उनको' जो अज्ञेया, ज्ञस्वरूपा, नित्य-सत्य-स्वरूपा जननी को हम प्रणाम करते हैं।

इस मन्त्र में देखा जाता है देवतागण पहिले 'नमो देव्यै' कह कर माँ की स्थूल मूर्त्ति को प्रणाम करते हैं, 'महादेव्यै' शिवायै सततं नमः' कह कर मा के सूक्ष्म स्वरूप को प्रणाम करते हैं, "नमः प्रकृत्यै भद्रायै" कह कर कारण रूपिणीं माँ को प्रणाम करते हुए, 'नियताः प्रणताः स्म ताम्' वाक्य से स्थूल सूक्ष्म और कारणातीत एक मात्र तत्पदगम्या निर्गुण स्वरूपा को प्रणाम करते हैं। इन्द्रिय-वृत्ति समूह सम्यक नियमित नहीं होने से, उस निरञ्जन सत्ता का किञ्चिन्मात्र आभास भी नहीं मिलता, इसी से उनको प्रणाम करने के लिये इन्द्रिय समूह को नियमित कर लेना होता है, तभी मन्त्र में 'नियताः' पद प्रयुक्त हुआ है।

यह अध्याय प्रणति प्रधान है। केवल प्रणाम, केवल प्रणाम। साधक आओ हम भी ठीक इसी तरह भूयोभूयः प्रणाम करने का अभ्यास करें, हमारा जीवन धन्य होगा।

—❀—

रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्य्यै धात्र्यै नमो नमः।
ज्योत्स्नायै चेन्दु रूपिण्यै सुखायै सततं नमः ॥८॥

अनुवाद। रौद्रा को प्रणम। नित्या गौरी धात्री को पुनः पुनः प्रणाम। ज्योत्स्ना और इन्दु रूपिणी माँ को एवं सुख स्वरूपा को सतत प्रणाम।

व्याख्या: रौद्रा—रुद्र शक्ति संहारिणी महा शक्ति। पूर्व मन्त्रोक्त

त्रिगुणातीता मायातीता तत्पदगम्या निरञ्जना माँ को हम प्रणाम करने जब जाते हैं तो बेशी क्षण अवस्थान नहीं कर सकते, क्षण भर में फिर जगद्भाव में उतर आना होता है। उस निरञ्जन क्षेत्र से जगद्भाव में अवतरण करने के समय में माँ की रौद्रा या संहारिणी तामसी मूर्त्ति की बात ही पहिले याद आती है, कारण इस संहारिणी शक्ति को आश्रय करके ही जगदतीत सत्ता में उपनीत होना होता है। इसीलिये देवतागण इस मन्त्र में पहले 'रौद्रायै नमः' कह कर प्रलयकारिणी रुद्रशक्ति को प्रणाम कर रहे हैं। अर्थात् प्रलय कुक्षिगत सर्वभावों के अन्तराल में जिस वस्तु की उपलब्धि होती है, वह नित्या है। उसका ह्रास, बृद्धि, क्षय, उदय, कुछ भी नहीं। फिर इसी नित्या वस्तु में शुभ्र सत्वगुण का आभास होने लगता है। वह स्वरूप अतीव रमणीय है। इसीसे माँ यहाँ पर गौरी नामसे परिचिता हैं। उसके बाद ही सर्व जगद् विधृतिभाव प्रकट होता है। इसी से माँ यहाँ पर धात्री हैं। इस प्रकार धात्री पर्यन्त को प्रणाम करके ज्योत्सना और इन्दु रूपिणी माँ को प्रणाम किया गया है। इन्दु है मन, और ज्योत्स्ना, उसकी व्याप्ति वा दिक्सत्ता, अर्थात सर्वतः उद्भासित विषय समूह। (मन और विषय जो अभिन्न हैं, सो पूर्व में कहा जा चुका है।) इस प्रकार सर्वत्र सर्व भावों के भीतर होकर जो, माँ को, आत्मा को प्रणाम करने वा दर्शन करनेमें समर्थ हैं, उनके सामने सभी अवस्थाओं के ही भीतर होकर माँ की सुखमयी मूर्त्ति का विकास होता है; इसी से सुखायै सततं नमः।

'यो वै भूमा तत् सुखम्' जो महान् है, वही सुख है। माँ जब मनोरूप से दिक काल रूप से विषय रूप से अपने को कल्पना करती हैं, अर्थात् इन्दु रूप से ज्योत्स्ना रूप से प्रकाशित होती हैं, तब ही उनका सुखस्वरूप विशेष भाव से प्रकटित होता है। महत्व की उपलब्धि ही सुख है। पक्षान्तर में जो अणु भी नहीं, महत् भी नहीं, वह परमार्थतः सुख स्वरूप होने पर भी, वह सुख विशिष्ट भाव से भोग्य नहीं, कारण, वहाँ पर भोग्य-भोक्तृ भाव नहीं रहता। इसलिये

विशिष्ट भाव से सुख का भोग करने के लिए महत्व की उपलब्धि चाहिये। मा जब विराट मनोरूप से अपने की कल्पना करती हैं, दूसरी तरह से जीव जब ईश्वरत्व में उपनीत होता है, तब ही जीव इस महत् स्वरूप वा भूमा सुख का आस्वाद पाता है। और साधारण जीव, विषय भोगों में रहकर, इन्द्रिय भोग्य पदार्थ समूहों के बीच में रहकर अति अल्प मात्र सुख का आभास पाता है। सुतरां जाने अजाने में सव सुख की ही खोज में हैं, इसी से सब जीव सतत इनको ही प्रणाम करते हैं। इस तत्व को लक्ष्य करके ही देवतागणों ने सुखायै सततं नमः कहकर प्रणाम किया हैं ऐसे भी अर्थ किया जा सकता है।

अच्छा! जो हो, साधकगण भी ठीक पूर्वोक्त भाव से ही स्तर स्तर में मां की उपलब्धि पाते हैं, प्रथमतः स्थूल विश्व रूप से, फिर सूक्ष्म में महती शक्ति रूप से, उसके बाद अव्यक्त बीज वा कारण रूप से सर्व शेष में गुणातीत वा निरञ्जन स्वरूप से। और गुणातीत स्वरूप में साधकगण कैसे अवतरण करते है, वह भी इस मन्त्र में प्रकट है। गुणातीत रूप से प्रथम रोद्रा वा संहारिणी शक्ति में अवतरण करते हैं। साथ ही साथ नित्यत्व की उपलब्धि और सत्वगुण का उद्बोध होता है (यही गौरी मूर्ति है)। क्रम से जगद्बीज के विधृति भाव से (यह धात्री मूर्ति है), फिर मन और विषय में (यह ही इन्दु और ज्योत्स्ना रूप है) अर्थात जगद्भाव में उतर आते हैं। उस समय क्या जगद्भाव में, क्या जगदतीत भाव में सर्वत्र अखण्ड सुख मय सत्ता का सन्धान पाकर अन्दर-बाहर में, व्यक्त अव्यक्त में स्थूल सूक्ष्म में सर्वत्र आनन्दमय सत्ता प्रत्यक्ष करते हुए, सुखायै सततं नमः कहकर साधक धन्य होते है।

जीव! मनुष्य! तुम सब समय सुख का अन्वेषण कर रहे हो, काम काञ्चन व्यतीत सुख नहीं, इस भ्रान्त सिद्धांत में स्थिर विश्वासवान् होकर तृषित मृग की तरह सुख की आशा में दौड़ रहे हो। काम काञ्चन की सेवा और सञ्चय करने में कितने क्षत विक्षत होते

हो, किन्तु क्या सुख पाया है ? नहीं, नहीं पाया। अभी भी सुख नामक वस्तु ही नहीं समझ सके। अरे आगे सुख स्वरूपा को देखो; तब फिर केवल कामिनी कांचन ही में क्यों, धूलि भरी मुष्टि में भी अतुल सुख का आस्वाद पाओगे। और कब तक भ्रान्ति के वश में रहोगे ? आओ सुख का सन्धान लो यथार्थ सुखी होओगे। तुम भी आनन्द से देवतागणों की तरह बोल सकोगे "सुखायै सततं नमः। देखो, देवतागण स्वर्गभ्रष्ट, पराजित, हृतसर्वस्व है ; तब भी कह रहे हैं—"सुखायै सततं नमः"। तुम भी ऐसे ही हो जाओगे। समस्त ब्रह्माण्ड ध्वंस होनेपर भी कहोगे—"सुखायै सततं नमः"। और समस्त ब्रह्मांड का कर्तृत्व पाने पर भी कहोगे—"सुखायै सततं नमः"। कारण सुख भिन्न तो कहीं भी कुछ नहीं है। जिसको असुख कह कर समझ रहे हो, वह भी तो सुख मात्र ही है, इसे नहीं समझ सकते हो तभी तो असुख के भय से पलायमान् होकर, सुख कहां है, कहते हुए, अन्धे की तरह धावित हो रहे हो। आओ, सुख का सन्धान मिलेगा, नित्य सुख, अपरिणामी सुख, जिसके भोग में वितृष्णा नहीं अथच पूर्ण परितृप्ति है। तुम चाहते हो, क्या ?

कल्याण्यै प्रणता वृद्ध्यै सिद्ध्यै कूर्म्मो नमोनमः।
नैर्ऋत्यै भूभृतां लक्ष्म्यै सर्व्वाण्यै ते नमोनमः ॥६॥

अनुवाद। कल्याणी को प्रणाम, वृद्धि और सिद्धि रूपिणी मां को प्रणाम। मां तुम नैर्ऋती, भूभृत्गणों की लक्ष्मी और सर्व्वाणी हो तुमको पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

व्याख्या। कल्याणी—मंगलदायिनी। सुखमयी मां को एक बार प्रणाम कर सकने से, फिर अकल्याण नामक कुछ नहीं रहता, तब तो साधक जिधर दृष्टिपात करता है, केवल कल्याण मात्र ही देखता है। माँ जिसके सामने कल्याणी मूर्ति से नित्य प्रकटिता है, उसको वृद्धि अर्थात् अभ्युदय, सिद्धि अर्थात् सफलता एवं अभीष्ट पूरण अवश्यम्भावी हैं। इस प्रकार, क्या संसार क्षेत्र में, क्या साधन राज्य

में, सर्वत्र ही वृद्धि और सिद्धि रूप से मातृप्रकाश होता रहता है। तभी तो साधक उनको प्रणाम बिना किये नहीं रह सकता। साधारण मनुष्यों की जब जागतिक अभ्युदय अथवा अभीष्ट सिद्धि होती है, तब वे लक्ष्य नहीं करते अथवा लक्ष्य कर नहीं सकते कि, एकमात्र मां ही इस वृद्धि सिद्धि प्रभृति रूपसे आविर्भूता होती हैं, इसी से, वे इन सब अभ्युदयों से अल्पकाल में ही बञ्चित हो जाते हैं। अर्थात मां तब सन्तान को ज्ञानालोक प्रदान करने के लिए धीरे धीरे सन्तान को सामने प्रतिकूल शासनमयी मूर्ति से आविर्भूता होती रहती हैं। उस समय माँ का नाम होता नैऋ‌ती—राक्षसी। मां जब सन्तान को राक्षसी प्रकृति रूप से गोद ले बैठती है, तब ही उसकी कार्य प्रणाली आचार व्यवहार राक्षसोचित होने लगते हैं। राक्षसी मूर्ति मां की गोद में अवस्थित सन्तानों की स्थूल विषय भोगों की आकांक्षा निवृत्त नहीं होती। मात्र आहार निद्रा भय प्रभृति पशु-वृत्तियों का अनुशीलन करने में ही वे परम तृप्ति पाते है। गीता में भी लिखा हुआ है—मनुष्यदेह-आश्रित मेरी जो अवज्ञा करते हैं, वे राक्षसी और आसुरी प्रकृति प्राप्त करते हैं"। इसी से हम देखते हैं, एक तरफ जैसे मां की कल्याणी मूर्ति प्रकटित होकर मनुष्यों को वृद्धि सिद्धि सफलता प्रदान करती है, दूसरी ओर वैसे ही नैऋ‌तीमूर्ति से प्रकटित होकर मनुष्यों को राक्षस रूप में परिणत करती है। अनिर्वचनीय हो माँ तुम, एक मात्र तुम में ही ऐसे परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का युगपत् (एक साथ) अवस्थान सम्भव है। माँ, तुमको पुनः पुनः प्रणाम।

भूभृतां लक्ष्म्यै—अनेकों ने भूभृतलक्ष्मी शब्द का अर्थ राजलक्ष्मी किया है, उनके साथ हमारा कोई विरोध नहीं कारण राजश्री रूप से भी तो एक मात्र मां ही प्रकटित होती हैं। मां! किन्तु हम तुम्हारी कृपा से भूभृतलक्ष्मी शब्द का अर्थ और भी देख रहे हैं। भू शब्द का अर्थ है क्षितितत्व, भृत् शब्द का अर्थ है धारणकारी। जो क्षिति तत्व को धारण करता है, अर्थात् क्षिति तत्व पर्यन्त मैंत्व (अहंत्व) बोध के साथ जकड़ के रखता है वही है भूभृत सुतरां भूभृत् शब्द

का अर्थ है जड़देहाभिमानी जीव—उसकी लक्ष्मी अर्थात् तदधिष्ठातृ चैतन्य। लक्ष्मी शब्द का अर्थ है शोभा व सम्पत्। चिद् वस्तु ही यथार्थ शोभा है। जब तक जीवदेह में चैतन्य सत्ता की अभिव्यक्ति रहती है, तब तक ही वह शोभाविशिष्ट रूप से प्रतीयमान होता है। पक्षान्तर में देखो, शव देह को नाना रूप बसन-भूषण द्वारा सज्जित करने पर भी वह शोभामय नहीं होता। इसी से, जीवित मनुष्यों के नाम के पूर्व लक्ष्मी शब्द वाचक श्री शब्द प्रयुक्त करते है। इस हेतु ही कहता था—मा! तुम जड़त्वाभिमानी जीवों के निकट चैतन्य रूप से प्राण रूप से लक्ष्मी रूप से आत्म प्रकाश करती हो। हें माँ! यह ही तुम्हारी भूभृत् लक्ष्मी मूर्ति है। फिर सर्व्वाणी वा प्रलय के देवता शिव की शक्ति रूप से भी तुम ही सब को प्रलयकाल में ग्रहण करती हो। माँ, इस प्रकार एक ओर तुम भूभृत् लक्ष्मी अर्थात जीव चैतन्य रूप से आत्म प्रकाश करके कितने शत जन्म परिग्रह करती हो, और सर्व्वाणी रूप से सबको मृत्यु के कराल कवल में प्रेरण करती हो। मा! एक ओर हैं तुम्हारी कल्याणीमूर्ति; वृद्धि-सिद्धिदायिनी, दूसरी ओर हैं तुम्हारी नैर्ऋती मूर्त्ति, जन्म मृत्युरूप संसार धर्म्म रूपिणी। तुम्हारी इन परस्पर एकान्त विरुद्ध मूर्त्तिद्वय को प्रणाम!

इस मन्त्रस्थ 'ते' पद का अर्थ है तुमको। सम्मुख मा को नहीं देखने से "तुम" शब्द का व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसी से आशंका होती है, जो सत्य प्रतिष्ठ नहीं, वे इन सब तत्वों को समझ सकेंगे क्या?

दुर्गायै दुर्गपारायै सारायै सर्वकारिण्यै।
ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः ॥१०॥

अनुवाद। दुर्गा, दुर्गापारा, सारा सर्व्वकारणी, ख्याति, कृष्णा—एवं धूम्रा को सतत प्रणाम।

व्याख्या। माँ तुम दुर्गा, दुर्ज्ञेयतत्त्व स्वरूपा हो, कारण जब तक ज्ञातृज्ञेयादि बोध रहता है, तब तक तुम्हारे असली स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। तुम दुर्गापारा हो। दुर्ग से इस संसार से तुम ही पार करती हो। जबतक सर्वभावातीता तुमको सम्पूर्ण रूप से आश्रय न किया जाय, तब तक इस दुर्गम संसार से किसी प्रकार भी परित्राण नहीं पाया जाता। और इस संसार क्षेत्र में सर्वभावों के भीतर होकर तुम्हारा जो स्वरूप प्रकटित हो उठता है; वह चंचलतामय परिवर्तनशील है; सुतरां असार है। किन्तु मा तुम सारा स्थिरांश रुपिणी हो। इतना बड़ा वैचित्र्मय यह चञ्चल जगत जिस स्थिर सत्ता के ऊपर प्रतिष्ठित है; सो भी तुम्हीं हो। इसी से माँ, तुम सारा अर्थात् नित्या हो। सच्चिदानन्द रुपिणी माँ तुम सर्वकारिणी हो। इस जगत के सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप सर्वभाव से तुम ही प्रकाशित हो, इसी से सर्वकारिणी बोलते ही एक मात्र तुम्हारी ही परमेश्वरी मूर्ति की बात याद आ जाती है। जो कहते हैं, चितिशक्ति रूपिणी तुम स्वरूपतः निर्गुणा हो, सुतरां तुम कभी भी सर्वकारिणी नहीं हो सकतीं, माया वा प्रकृति ही सर्वकारिणी है, वे माया को वा प्रकृति को तुमसे सम्पूर्णतः पृथक कर डालते हैं। कार्यतः अद्वितीयत्व भंग हो जाता है। यद्यपि माया को सत्ताहीन अनिर्वचनीय अज्ञान स्वरूप कहकर अद्वितीयत्व रक्षा करने की चेष्टा की जाती है, यह ठीक है, किन्तु उसी से क्या सब निःसंशय हो सकते हैं? वर्तमान जगत् युक्ति का अन्वेषी है। जो युक्ति और तर्क की सहायता से स्वीकार नहीं किया जाता, ऐसा विषय वेद वाक्य होने पर भी इस युग में वह सादर परिगृहीत नहीं होता। इसी से अपनी इस परिछिन्न बुद्धि की मापशलाका द्वारा, आज तुम को समझने की चेष्टा करुंगा। हे माँ, पूर्व (द्वितीय खण्ड में) कह चुका हूं कि तुम्हारी बातों की आलोचना करके ही, तुमको समझ लूँगा, अथवा औरों को समझा सकूंगा, ऐसी धृष्टता की आशा कभी भी नहीं करता। तुमको पाना—समझ सकना, यह तुम्हारी कृपा व्यतीत और किसी

तरह से नहीं होता, हो ही नहीं सकता। (सोई जानै जाहि देहु जनाई, जानत तूमहिं तुम्है हवै जाई)। तो फिर क्यों आलोचना करता हूँ ? एक परम लाभ है, अन्ततः जिह्वा की जड़ता, बुद्धि की मलिनता तो दूर होगी ही।

आओ साधक! अब हम अपनी मां को थोड़ा समझने की चेष्टा करें। माँ क्या वस्तू हैं। एक मात्र आनन्द ही माँ का स्वरुप है। श्रुति कहती है—"आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान्नबिभेति कुतश्चन' आनन्द ही ब्रह्म का स्वरुप हैं। आनन्द वस्तु का अनुभव जीव मात्र को ही थोड़ा बहुत है। जगत में काम्य विषय अधिकार में आने से क्षणकाल को एक आनन्दभाव हृदय में झलक उठता है। एक बार इसी भाव को स्मरण करने की चेष्टा करो। यह क्षणिक आनन्द का आभास है "जन्य आनन्द",—अर्थात् विषय-इन्द्रिय संयाग जनित एक प्रकार का चित्त विकार मात्र। विषयानन्द तो स्वरुपानन्द का ही आभास मात्र है। यह बात प्रथम और द्वितोय खण्ड में विशेष भाव से व्याख्यात हो चुकी है। अच्छा जो हो। यदि तुमको एक ऐसी अवस्था में ले जाया जाय, जहाँ पर किसी तरह का विषय संस्पर्श नहीं, कोई चिन्ता नहीं, भावना नहीं, त्याग नहीं, ग्रहण नहीं, दर्शन श्रवणादि कार्य नहीं, अथच केवल आनन्द ही है, तब जिस स्वरुप में उपनीत होओगे वही मा का स्वरुप समझ लो। अब धीर भाव से अग्रसर होने को चेष्टा करो। आनन्द एक प्रकार का अनुभव वा बोध है। जब हमारा बोध मात्र आनन्द स्वरूप से प्रकाश तव ही हम आनन्द वस्तू की उपलब्धि कर सकते हैं। यह केवल अनूभवानन्द स्वरुप है। इस केवलानन्द स्वरूप वस्तु में किसी प्रकार का भेद नहीं पाया जाता। अर्थात् उसको और कोई सजातीय आनन्द नामक वस्तु नहीं। इस आनन्द का बिजातीय कोई कुछ है वा हो सकता है ऐसी भी कोई उपलब्धि वहां पर उदबुद्ध नहीं होती फिर उसमें स्वगत भेद भी नहीं, अर्थात् उसमें किसी प्रकार का अंगाङ्गीभाव अथवा भोक्तृ-भोग्यादि भाव भी नहीं। केवल आनन्द !

केवल आनन्द ! विशुद्धानन्द। इसको ही श्रुति ने "एकमेवाद्वितीयम्" कहा है। इस आनन्द का ही दूसरा नाम प्रेम वा रस है। वेद समूह इसी को "रसो वै सः कहकर निर्देशित करते है। यहां पर प्रेम प्रेमिक और प्रेम का आधार कहने को कोई भेद नहीं है। रसिक, रस, और रस्य कहने को कोई विभिन्नता नही, केवल प्रेम, केवल रस। भाषा द्वारा क्या प्रकाश करू ? अरे वह तो भाषा से परे हैं। कैसे समझाऊँ। वह तो समझने से परे हैं। किन्तु तब भी समझने की चेष्टा करनी होती है। आवहमान काल से ही इस प्रकार समझने समझाने की चेष्टा चल रही है और चलेगी। वेदसमूहने इसे "अशब्दमस्पर्श-मरूपमव्ययम्" "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादि नेति नेति मुखसे सम-झानेको को न जाने कितनी चेष्टा की है। जान रक्खो, यही हमारी मां का निर्गुण स्वरूप है। यहाँ पर एक मात्र आनन्द व्यतीत और कोई तरह की विशिष्टिता वा भावरञ्जना नही, इसी से हमारी मां यहाँ पर नित्या शुद्धा निरञ्जना है।

इस निर्गुन निरंजन स्वरुप के ऊपर ही माँ के द्विविध महत्त्व प्रकाश पाते हैं। एक ईश्वरत्व अन्य जीवत्य। इन दोनों में हम प्रथम माँ के ईश्वरत्व रूप महत्व की आलोचना करेंगे। उपनिषत् कहती है "आनन्दाद्धयेव खल्विमानी भूतान्नी जायन्ते" इत्यादी। आनन्द से ही इस भूत समूह की उत्पत्ति, आनन्द में ही उसका अवस्थान एवं एक मात्र आनन्द ही जीवों का प्रलय स्थान है। यहाँ पर एक संशय उपस्थित होता है—पूर्व में जिस आनन्द को केवलानन्द वा सर्वभाव वर्जित निर्गुण कहा गया है। और यहाँ अब जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय का हेतु स्वरूप आनन्द, ये दोनों ही आनन्द एक हैं अथवा विभिन्न ? इस आशंका के उत्तर में एक दल कहता है कि तुम, जिसको निर्गुण आनन्द कहते हो वह वाक्य मात्र है, कारण आनन्द कभी भी निर्गुन नहीं हो सकता। निर्गुण शब्द का अर्थ निर्दिशेष गुण है। और आनन्द एक गुण वा धर्म विशेष है, वह सूर्य रश्मि की तरह सूर्य से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। और एक दल कहता है—

आनन्द ह्लादिनी शक्ति है। जिनकी यह शक्ति है वे ही (अर्थात् जो यह ह्लादिनीशक्तिमान् हैं वे ही) ईश्वर हैं। सुतरां केवल आनन्द कभी भी ईश्वर नहीं हो सकता इत्यादी। इसप्रकार के बहु मतवाद प्रचलित हैं। इन सब विभिन्न मतो की मीमांसा अति सहज हैं। जो, जो बोलते हैं, उसी को सत्य कहकर मान लें तो फिर कोई गोल ही न रहे, कारण ब्रह्मवस्तु क्या नहीं, सो तो कहा नहीं जाता। ब्रह्म पूर्ण है, उनमें किसी प्रकार की अभाव कल्पना नहीं है, सुतराँ अनके सम्बन्ध में जो, जोही बोले, वही सत्य है। जिसके निकट ब्रह्म जिस रूप जिस भाव से प्रकाश पाते हैं, उसके मुखसे उसी प्रकार की ही भाषा निकलती है। यहाँ तक कि, यदि कोई कहे – ब्रह्म नही है, सो भी सत्य है; कारण, वहाँ पर वे इसी "नास्ति" रूप से ही प्रतिभात हो रहे हैं। कोई किसी प्रकार से उनको अस्वीकार नहीं कर सकता, यह ही ब्रह्म का विशेषत्व है। वे—केवल इसी प्रकार अशक्य-प्रतिशेध हो, सो नहीं और फिर आलोक अन्धकार, ज्ञान अज्ञान, विद्या अविधा, सगुण निगु'ण, सुख-दुख इत्यादी परस्पर अत्यन्त विरूद्ध धर्म समूहों के भी एक मात्र आधार हैं, ये विरूद्ध धर्म समूह एक मात्र ब्रह्म में ही युगपत् (एक साथ) अवस्थित है। इस विषय में और भी विशेषत्व यह है कि, पूर्वोक्त अत्यन्त विरूद्ध धर्म समूह ब्रह्म रूप आधार में प्रतिनियत प्रकाश पाने पर भी, उनके निरञ्जन स्वरूप का कुछ भी व्याघात नही होता। केवलानन्द रूप ब्रह्म स्वकीय निरञ्जन स्वरूप को सर्वथा अक्षुन्न रखते हुए भी युगपत् ईश्वर और जीव रूपसे प्रकटित हो सकते हैं, यही है, ब्रह्म का ब्रह्मत्व ?

यह निर्गुण आनन्द स्वरूप वस्तु किस प्रकार ईश्वर वा सगुण सम्पन्न होकर प्रकाश पाते हैं, अब हम उसे समझने की चेष्टा करेंगे। अच्छा, यह जो निर्गुण आनन्द है, उसमें अनुभव नामक कुछ भी नहीं वा नहीं रह सकता, यह कह सकते हो क्या ? आनन्द है, अथच अनुभव शक्ति नहीं, ऐसा होता है क्या ? यदि कहो निर्गुण वस्तु में ऐसी एक शक्ति स्वीकार करने से ही तो आनन्द में स्वगत भेद हो

जाता है एवं द्वैतापत्ति होती है। ना, सो नहीं होता। आनन्द जब स्वयं स्व को प्रकाश वा अनुभव करते है, अर्थात् एकमात्र आनन्दवस्तु ही जब निजे निज को भोग करते हैं, तब यह जो भोग्य भोक्त्रादि रूप भेद हैं, सो किसी तरह भी प्रतीति योग्य नहीं होता। सुतराँ उस अवस्था में इस विशुद्ध आनन्द स्वरूप वस्तु में भोग्य भोक्ता प्रभृति भाव कुछ भी नहीं, यह निःसंशय रूपसे कहा जा सकता है।

और एक बात, यद्यपि इसमें कोई संशय रहे तथापि अभी स्वीकार कर लो, मान लो कि निर्गुण विशुद्ध आनन्द नामक एक वस्तु है, उसमें कोई प्रकार का भेद नहीं। आचार्य शंकर को भी इस निर्गुन सगुण के सामञ्जस्य करनेमें, एक "अनिर्वचनीय" शब्द कहना पड़ा है। इस अनिर्वचनीय के अर्थ हीं है 'स्वीकार कर लेना'। और महाप्रभू गौराङ्गदेव ने भी 'अचिन्त्य भेदाभेद' वाक्य कहकर, इसको स्वीकार कर लेना ही, प्रकारान्तर से व्यक्त किया है। हाँ तब यह बात सत्य है कि यदि अभी इसे स्वीकार कर ले सको एवं शास्त्र और गुरु उपदिष्ट उपाय से उनको पाने की इच्छा करो, तो उनकी कृपा से एक दिन निश्चय ही समझ सकोगे कि आनन्द वस्तु निर्गुन हो सकती है! प्रथम और द्वितीय खण्ड में कहा गया है—'अखण्ड ज्ञान' और 'असीम शक्ति' ये अभिन्न वस्तु हैं। ज्ञान ही शक्ति अथवा शक्ति ही ज्ञान, जो इस बात को ठीक नहीं समझ सकते हैं किंवा जिन्होंने अनुशीलन की सहायता से थोड़ा भी अनुभव नहीं किया है, वे इस आनन्द तत्व को क्या ठीक ठीक समझ सकेंगे ?

अच्छा, पूर्व में विशुद्ध ज्ञान से जो समझा गया, वह मात्र ज्ञान ही नही है, अब उसे आनन्द कह कर समझने की चेष्टा करो। चिद्वस्तु केवल चित् नहीं, आनन्द ही उसका स्वरूप है। आनन्द कहने से ही आनन्द का अनुभव और सत्ता एकान्तभाव से प्रतीति गोचर होने लगती है। इस अनुभव ही का नाम है चित् एवं सत्ता ही है सत्। सुतरां आनन्द शब्द का अर्थ करने ही से सत् चित् और आनन्द वस्तु पाई जाती है। ये तीन वस्तुएँ वास्तव में तीन नहीं, एक ही है।

सत्ता, चैतन्य और आनन्द एक ही वस्तु के तीन नाम हैं। यह पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है। यह आनन्द जहाँ पर स्वरूप में अवस्थित है अर्थात विशुद्ध है, वहाँ पर भी उसमें चित् वा अनुभव शक्ति एवं सत्ता हैं। जिस अनुभव शक्ति वा चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं रहने से आनन्द जो हैं, इसकी प्रतीत नहीं होती, वही अनुभव शक्ति जब विशेष विशेष भाव से प्रकाश पाने लगती है; तब उसके उभय पार्श्व में कर्त्ता और कर्म रूप दो भाव भी विशेष भाव से परिलक्षित होते हैं। अर्थात अनुभव, अनुभव का कर्त्ता एवं अनुभाव्य विषय, ये तीन भाव प्रस्फुटित हो उठते है। आनन्द वस्तु में इस प्रकार त्रिविधभाव प्रकाश पाने पर भी स्वरुपतः कोई भी भेद नहीं होता। एक आनन्द वस्तु ही स्वयं स्व को अनुभव करती है। अर्थात आनन्द जहाँ पर आनन्द को विशेष भाव से अनुभव करते है वहाँ पर ही अद्वितीय वस्तु में स्वगत भेद परिलक्षित होता है। वह ही सत्त्व, रजः और तमोगुण नाम से आख्यात होता हैं। सत् चिदानन्द के प्रथम स्पन्दन में सत् वा सत्वगुण अर्थात् आनन्द का भोक्तृ भाव द्विबीय स्पन्दन में चित् वा रजोगुण अर्थात् आनन्द की अनुभवशक्ति एवं तृतीय स्पन्दन में आनन्द वा तमोगुण अर्थात् अनुभाव्य आनन्द रूप भोग्यभाव प्रकाश पाता हैं। याद रक्खो, इस प्रकार की विशिष्टता प्रकाश पाने पर भी विशुद्ध आनन्दस्वरूप किन्तु विशुद्ध ही है।

उनका नाम दो 'मैं' (अहं)। ना, मैं भी नहीं कहा जाता, आत्मा बोलो। पञ्चदशीकार कहते हैं,—"इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।" यह ज्ञानस्वरूप आत्मा परम-प्रेम का आस्पद है। परम प्रेमास्पद है इसी से आत्मा आनन्द स्वरूप है। जो परम प्रेमास्पद हैं जिनको सबसे ज्यादा प्यार करते हैं, जिनकी प्रीति साधन के लिए इस जीवत्व का निगड़ अनादि काल से बहन कर रहे हैं, जिनकी रक्षा के लिये समग्र पृथ्वी त्याग कर सकते हैं, (आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्) वह आत्मा कितना आनन्दधन स्वरूप है, उसे भाषा के द्वारा कैसे समझाउंगा?

अच्छा जो हो, आत्मा जब पूर्वोक्तवत् विशेष भाव से आप ही अपने को अनुभव करती हैं, तभी वे सगुण आख्या से अभिहित होती हैं, इसे दार्शनिकगणों की भाषा में विकार, परिणाम, विवर्त्त, भ्रान्ति, कल्पना, अध्यास, जो इच्छा हो कह सकते हो; हानि नहीं। केवल जान लो— सगुण, निर्गुण दोनों ही सत्य हैं एवं निर्गुण वस्तु इस प्रकार ही सगुण होती हैं। असल बात यह हैं कि, सहस्र बार सगुण होने पर भी निर्गुणत्व में विन्दु मात्र भी विकार उपस्थित नहीं होता, वह तो यथा पूर्व ही अक्षुन्न रहता है! रूई जब सूत्र वस्त्र प्रभृति नाम ओर आकार में परिणत होती है, तब भी उसके तूलात्व का कुछ भी व्यत्यय नहीं होता। सुवर्ण जब बड़ा कुण्डलादि के नाम और आकार से आकारित होता है, तब सुवर्णत्व उसका अक्षुन्न ही रहता है। जल जब समुद्र नदी जलाशय प्रभृति विभिन्न नाम और आकार से आकारित होता है, तब उसके जलत्व की विन्दु मात्र भी अन्यथा नहीं होती। सर्प जब कुण्डलित होता है, तब कुण्डल नाम से अभिहीत होने पर भी सर्प सर्प ही रहता है कुन्डल नहीं हो जाता! शुक्ति जब रजत आकार से प्रतीयमान होती है, तब भी वह शुक्ति (सीपी) ही रहती है, रजत नहीं हो जाती। आकाश जब घटमठादि विशेषण विशिष्ट होता है, तब भी आकाश निर्विशेष ही रहता है।

अब देखो—आनन्द वस्तु जब आप ही अपने को विशेष रुप से अनुभव वा दर्शन करती हैं, तभी वे हैं सगुण। वेदान्त इसको ही माया का अध्यास कहते हैं। सांख्य इसे प्रकृति का सम्बन्ध कहते हैं। किन्तु उपनिषद् ने इस सगुण स्वरूप को भी आत्मा वा ब्रह्म शब्द से ही निर्देश किया है। और यह जो सगुण आनन्द है, उसमें बहुत्व का अनुभव भी प्रकाश पाता है। क्यों पाता हैं, कैसे पाता है। ऐसा प्रश्न मत करो लीला वा इच्छा समझ लो। मैं आनन्द स्वरुप हूं। एक रुप से अपने को भोग करके–अनुभव करके जो आनन्द पाता हूँ। उसको बहुधा विभक्त करके भोग करुंगा, जब मैं (अहं) की ऐसी इच्छा प्रकाश पाते है, तभी मैं (अहं) की ईश्वर आख्या होती है।

"एकोहं बहुस्याम्' ऐसे अनुभव वा बोध का ही नाम है ईश्वर। एक ही आनन्द स्वरूप आत्मा में जब बहुभाव की उत्पत्ति स्थिति और लय होती है, तब ही आत्मा को ईश्वर कह सकते हो। तो क्या फिर ब्रह्म आनन्दहीन है? नहीं तो बहुत्व भोग करके आनन्द लाभ क्यों करें? ना, सो नहीं, ब्रह्म वस्तु स्वरूपतः ही आनन्द हैं, उनमें आनन्द का अभाव किसी भी काल में नहीं तब हाँ, उनमें एकत्व-अद्वितीत्व जैसे सत्य और स्वाभाविक हैं, बहुत्व वा ईश्वरत्व भी जगदर्शन काल में तैसे ही सत्य और स्वाभाविक हैं। जगदतीत अवस्था में जैसे ब्रह्म निर्गुण हैं, जगद्दर्शन काल में तैसे ही वे सगुण है। वे गुणातीत एवं गुणमय है—एकाधार में ये उभय भाव ही युगपत् बिद्यमान हैं। अथच एकके द्वारा दूसरे की कोई हानि वा परिवर्तन नहीं होता। अच्छा जो हो, पूर्वोक्त रुप से परम प्रेमास्पद आनन्दमय आत्मा जब स्वयं स्वको बहुधा विभक्त करके भोग करती हैं, तब ही वे है ईश्वर। इस बात की याद रखने से आत्मा का ईश्वरत्वरूप महत्व क्या है, उसे समझ सकोगे।

आत्मा का और एक महत्व है—जीवत्व। "तत्वमसि" प्रभृति महावाक्य एवं "सर्व खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्व्वं, स एवं सर्व्वं पुरुष एवेदं सर्व्वं, यदिदं किञ्च तत् सत्यम्" इत्यादी श्रुति वाक्य द्वारा जीव जो ब्रह्मसे सम्पूर्ण अभिन्न पदार्थ है, यह प्रतिपादित हुआ है। जीव क्या है? यह जो ईश्वरानन्द अर्थात् बहुधा प्रकाशमान समष्टि आनन्द है, उन्हीं का व्यष्टि रूप—उन्हीं बहु का जो प्रत्येक है, वही है जीव। सुतरां जीव भी स्वरूपतः आनन्द ही है। यहाँ पर फिर पूर्व कथित जल तुला प्रभृति दृष्टान्त को स्मरण करो। जैसे समुद्रस्थ जलकी तरङ्गमाला जल व्यतीत और कुछ नहीं, सूत्र निर्मित वस्त्र समूह तुला (रूई) भिन्न और कुछ नहीं, ठीक इसी प्रकार जीव अर्थात् विभिन्न नाम और रूपों का समूह स्वरूपतः आनन्द व्यतीत और कुछ नहीं। ऐसे ही चतुर्विध भूतग्राम—जठायुज, अण्डज; स्वेदज एवं उद्भिज प्राणियों का समूह ईश्वरानन्द से ही उत्पन्न, ईश्वरानन्द में

ही स्थित एवं ईश्वरानन्द में ही इनका अवसान है, (समुद्र तरङ्गवत्) सुतराँ आनन्द ही जीव का स्वरूप है। अब सोचो—आत्मा मा हमारी केवलानन्दमयी, और सर्वकारिणी ईश्वरानन्दमयी, और सर्वरूपिणी जीवानन्दमयी कैसे हैं।

साधक! इस प्रकार लक्ष्य करो—धीरे धीरे तुम कहाँ पर अवस्थित हुए हो। प्रथम खण्ड में जिनको केवल सत् वा सत्य रूप से समझा था, द्वितीय खण्ड में उन्हीं को प्राण वा चिद् रूप से जाना। और अब यहाँ पर देख रहे हो—जो—प्राण है, सोई परम प्रेमास्पद परम आनन्द स्वरूप आत्मा हैं। तुम आनन्द से ही आये हो, तुम्हारा प्रत्येक इङ्गित आनन्दमय है, देखो—तुम्हारी देह के परमाणुसमूह आनन्द व्यतीत और कुछ नहीं, आनन्द ही तुम्हारा उपादान, आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप, आनन्द में हो तुम अवस्थित हो। देखो—अपने चतुर्दिक में, ऊर्ध्व, नीचे, सर्वत्र आनन्द व्यतीत और कुछ नहीं। देखो – तुम्हारे अन्तर की प्रत्येक चिन्ता आनन्दमय, देखो—तुम्हारा जन्म मृत्यु आनन्दमय। देखो तुम्हारा रोग शोक आनन्दमय, देखो—तुम्हारा दुःख दरिद्रता आनन्दमय। देखो—तुम्हारे सामने यह जो वृक्ष खड़ा है, वह आनन्द द्वारा गठित,—एक घन आनन्द सत्ता वृक्ष के आकारसे आकारित हो रही है। जड़ प्रस्तरखण्ड में देखो-तुम्हारा ही आनन्दमय आत्मा, जड़ प्रस्तर आकार से प्रतिभात हो रही है। ये स्त्री पुत्र आत्मीय स्वजनगण जिनको तुम अपने से प्रथक सत्ता विशिष्ट कह कर माना करते हो; देखो – वह तुम्हारी ही बहुत्व विषयक आनन्दमयी घन सत्ता हैं। तुम्हारे ही आनन्द का उल्लास समूह मूर्तिमान रूपसे प्रतिभात हो रहे हैं। इस प्रकार जिधर दृष्टिपात करोगे, जिस किसी इन्द्रिय के द्वारा जो कुछ ग्रहण करोगे, वह आनन्दमय ही है। क्षित्यादि पञ्चभूत शब्दादि पञ्च विषय चन्द्र सूर्यादि ज्योतिष्क मण्डली, तुम्हारी ही परम प्रेमास्पद परमानन्द मय आत्मा के भिन्न अन्य कुछ नहीं। अरे इस आनन्दमय आत्म-स्वरूप के आस्वाद बिना पाये, तुम्हारा जीवन असम्पूर्ण रह जायगा।

अरे तुम आनन्द समुद्र में डूबे हुए हो, दिवारात्रि आनन्द ही की सेवा कर रहे हो अथच "कहाँ है आनन्द', कहकर अन्धे की तरह अन्वेषण कर रहे हो। एक बार देखो मेरी (मैं की) ओर, देखोगे तुमको आनन्द का अभाव किसी भी काल में नहीं है, न था, न रहेगा। जिस क्षण में तुम आनन्दमय मुझे (मैं को) पाओगे, उसी क्षणमें ही तुम्हारे सामने यह संसार आनन्दमय रूपसे प्रतिभाषित होगा। और तभी से तुम्हारी इस विशिष्टभाव के जगदभोग की वासना सम्यक अन्तर्हित हो जावेगी।

आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप है, इसे ठीक ठीक समझ सकने से (जान लेने से) फिर क्या काम्य वस्तु संग्रह किंवा भोग करके आनन्द का सन्धान लेना होता है ? कभी नहीं। तब तो स्वभावतः ही तुममें वैराग्य आवेगा। 'आनन्दमय मैं ही तो सर्वत्र विषयाकार से प्रतिमात हूँ' इसे ठीक ठीक जान लेने से, फिर त्याग वा ग्रहण नामक कुछ नहीं रहता। तब तो निर्विचार से विषयानन्द में विचरण करने की सामर्थ्य हो जाती हैं। गीता का वह वाक्य याद करो— 'रागद्वेष विमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'। जो हो, हम आनन्द तत्व की आलोचना करते करते प्रस्तावित विषय से अनेक दूर आ पड़े हैं। आओ। फिर हम देवतागणों के सुर में सुर मिला कर, 'सारायं सर्व कारिण्यै नमः' कहकर आनन्दमयी माँ के चरणों में प्रणत हों। आत्मा आनन्दमयी मा हमारी सारा अर्थात् निर्गुण चैतन्य रूपिणी होकर भी सर्व कारणी रूपसे ईश्वरी मूर्ति में प्रकटित होती हैं।

'ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः—यशः प्रतिष्ठा आदि व्यतीत ख्याति शब्द का और भी एक अर्थ होता हैं—विवेक ख्याति। प्रकृति-पुरूष वा जड़ चैतन्य की पृथकत्व विषयक जो सुदृढ़ प्रतीति है, सांख्य दर्शनने उसे विवेक-ख्याति कहा है। आपात दृष्टि से (साधारण दृष्टि से) जान पड़ता है – सांख्यकार ने प्रकृति को जड़

कहकर ही उल्लेख किया है। वास्तव में प्रकृति जड़ नहीं है, चैतन्य की जड़त्व प्रतीति मात्र है। जड़त्व भी एक प्रकार के बोध व्यतीत और कुछ नहीं है। बोध वस्तु जड़ नहीं, चेतन है; केवल चेतन ही नहीं, आनन्द ही उसका स्वरूप है। निर्गुण आनन्द वस्तु किस प्रकार सगुण भावापन्न होती है, अर्थात् सत्व रजः तमोगुणमय होकर प्रकाश पाती है, सो विशेष भाव से कहा जा चूका है। गुणत्रय ही प्रकृति का स्वरूप है। आनन्द ही जो त्रिगुण आकार से आकारित है, इसकी सम्यक रूप से उपलब्धि होने का ही नाम प्रकृति-पुरुष-तत्व विवेक वा विवेक-ख्याति है।

माँ। इस ख्याति रूप से तुम ही तो आत्म-प्रकाश करती हो। विशुद्ध आनन्दमय पुरुष तुम जब अपने को विशेष भाव से अनुभव करने लगती हो, तब ही तुम्हारा नाम होता है प्रकृति। इस प्रकृति पुरुष तत्व की यथार्थ उपलब्धि रूप से भी तुम ही हो। इस उपलब्धि का नाम ख्याति वा विवेकख्याति है। माँ, विवेकख्याति रूपिणी तुमको प्रणाम। फिर इस ख्याति के बिपरीत अज्ञानमयी कृष्णा मूर्ति से भी तुम्हीं हो। जहाँ पर देखते हैं—किसी भी प्रकार से बोध का विकाश नहीं होता, शत साधना से भी अनुभव नहीं प्रकाश पाता, केवलानन्द स्वरूप आत्मबोध प्रकटित नहीं होता, वहाँ पर ही समझते हैं—मा; तुम्ही अपनी अज्ञानमयी कृष्णामूर्ति से विराज रही हो। माँ तुम्हारी इस अज्ञानमयीकृष्णामूर्ति को प्रणाम (और इन दोनों के मध्यवर्ती ख्याति और कृष्णामूर्ति के अन्तरालवर्ती तुम्हारी और एक मूर्ति है, उसका नाम है 'धूम्रा'। इस धूम्रामूर्ति में ज्ञान का ईषत् आभासयुक्त अज्ञान रूप प्रकाश पाता है। जब देखते हैं, माँ तुम्हारी कोई-कोई सन्तान वेदादि शास्त्र प्रतिपाद्य तुम्हारे स्वरूप के व्याख्यानों में निपुण है, सगुण निर्गुणादि तत्व विश्लेषण में दक्ष हैं, मोक्ष शास्त्र के अध्ययन अध्यापन में पटु हैं, अथच तुम्हारे इस आनन्दमय स्वरूप के अनुभव से एकान्त वंचित हैं, तभी समझ में आता है—मां, तुम धूम्रामूर्ति से ज्ञान की ईषद आभासयुक्त ज्ञानमयी

मूर्ति से उनको अंक में धारणा करती हो, तुम्हारी अपूर्व धूम्रामूर्ति को हम प्रणाम करते हैं।

फिर दूसरी ओर होकर भी देखते हैं—माँ ! तुमने सब समय ख्याति, कृष्णा और धूम्रामूर्ति से सभी जीवों को अंक में धारण कर रक्खा है। हम जब विषय ग्रहण करते हैं तब तुम्हारी तीन मूर्तियाँ विशेष भाव से प्रकटित होती हैं। 'मैं यह जानता हूँ' यह ही विषय ग्रहण का स्वरूप है। इन तीनों में यह ख्यातिमुर्ति है, "जानता हूं'–धूम्रामूर्ति एवं "यह' कृष्णामूर्ति है। ऐसे ही सर्वत्र है। प्रकाश क्रिया और स्थिति रूप से मा ? तुम्हारी यह त्रिमुर्ति सर्वत्र प्रतिभात हो रही है। हम भक्ति के साथ तुम्हारी इन मूर्तित्रय को प्रणाम करते हैं।

—०—

अति सौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै कृत्यै नमो नमः ॥११॥

अनुवाद। अति सौम्या और अति रौद्रा को प्रणाम। एतद् उभय के अतीत तत् शब्द लक्षित वाक्य मन के अतीत स्वरूप को प्रणाम। जगत् प्रतिष्ठा रूपिणी माँ को एवं कृति देवी को बार बार प्रणाम।

व्याख्या। मा, इसके पूर्व ख्याति और कृष्णा रुप से तुम्हारी अत्यन्त विरुद्ध दो मूर्तियाँ देखी हैं। वे ही अब इस स्थलमें अति सौम्या एवं अति रौद्रा नाम से परिचित होकर देवताओं द्वारा अभिष्टुत हो रही है। हे माँ! एक ओर जैसे तुम अति सौम्या--स्नेहमयी आनन्दमयी, दयामयी, मातृमूर्ति हो, दूसरी ओर वैसे ही अति रौद्रा– भयंकरी कृष्णामूर्ति से नित्य प्रकटिता हो। मा, इस परिदृश्यमान् स्थूल जगत् में भी हम तूम्हारी इन उभय मूर्तियों की लीला प्राय ही देखते हैं। क्या देखते हैं—एक ओर तुम दुर्भिक्ष, महामारी, जलप्लावन प्रभृति रुप से अति रौद्रा मर्ति से, अपनी ही सन्तानों को

अवर्णनीय दुःख-कष्ट में निपतित करती हो, और दुसरी ओर दयारूप से सहस्र सहस्र जीवों के हृदय में आविर्भूत होकर अति सौम्या स्नेहमयी मातृमूर्ति से सहाय सम्भार वहन करके उनके दुःख को दूर करने के लिये उपस्थित होती हो।

हे मां, जिधर देखते हैं, उधर ही तुम्हारी भयंकरी मूर्ति के साथ ही साथ करुणामयी मातृमूर्ति देखते हैं। सन्तानों की नास्तिकता द्वारा उच्छृंखल आचरणों से व्यथित होकर, माँ! एक ओर जैसे शासन रूप से—दण्ड रूप से प्रकाशित होती हो, और फिर दूसरी ओर तभी व्यथाहारिणी मूर्ति से आत्म प्रकाश करके सन्तानों के अश्रु स्वहस्तों से पोंछ देती हो। यही है मातृत्व! विश्वमय तुम्हारी यह मातृलीला सर्वत्र सुप्रकट है।

जीव! तुम कहाँ पर माँ को अन्वेषण करने जाते हो। मां को देखने के लिये क्या साधन भजन योग तपस्या करोगे। और इतना कष्ट करके मां को देखने जाने से मातृनाम कलंकित होता है। जिधर को दृष्टिपात करोगे, उधर ही तो मातृमुर्ति उद्भाषित हैं। एक आत्म सम्वेदन है,—"योहि पश्यति नात्मानं दृष्टि सम्पात मात्रतः। कदापि नेक्षितूं शक्यो दृक्सहस्रधरोऽपि सः॥" जो नेत्र फेकते मात्र ही मां को नहीं देख पाते हैं, हजार नेत्र होने पर भी वे कभी भी मां को नहीं देख सकेंगे। सत्य ही मां इतनी सरल और सहज हैं। जीव! सत्य ही यदि इस प्रकार देवताओं की तरह मां को सर्वत्र देखो, एवं यथार्थ ही भक्ति प्रणत हो सको, तो ही मां के निर्विशेष स्वरूप का आभास पाओगे एवं तब ही देवताओं के सुर में सुर मिलाकर बोल सकोगे—"तस्यै नमो नमः"। वाक्य और मन के अतीत केवलानन्द स्वरूप को प्रणाम। आपत्ति मत करना—अति रौद्रा मूर्ति में फिर आनन्द कहां? थोड़ा चक्षुष्मान् होने से ही देखोगे—आनद कहाँ है। अरे आनन्द ही तो सत्ता है। आनन्द वस्तु ही तो सुख दुःखादि आकार से प्रकाश पा रही है। अच्छा जीव की ओर से देखो। जीव जब होता है, उस समय उस रोने में भी एक प्रकार आनन्द का आभास

पाता है, इसी से रोता है। दुःख दारिद्रता में भी आनन्द का आभास पाता है, इसी से दुःख भोग करता है। ये सब बातें "शोक शान्ति" नामक पुस्तक में विशेष भाव से कही गई है। याद रक्खो, जीवों की हँसी में जैसे आनन्दमय सत्ता की अभिव्यक्ति है, रोने में भी ठीक उसी तरह है। तब हाँ रोने के भीतर जो आनन्द है उसे देखने वा समझने के लिये कुछ योगचक्षू वा मातृकृपा की आवश्यकता हैं। किन्तु वह और बात हैं—

मांके इस सौम्य, रौद्र एवं भावातीत स्वरूप को समझने के लिये किस भाव से कौन कौन स्तरों के भीतर होकर आने होता है, वह ही मन्त्र के अपरांश में उक्त हुआ है—'नमो जगत प्रतिष्ठायै देव्यौ कृत्यै नमो नमः। प्रतिष्ठा शब्द का अर्थ है आश्रय, जगत् की प्रतिष्ठा अर्थात निमित्त एवं उपादान रूप से जो आनन्दमय चैतन्य सत्ता है, प्रथम उसे प्रणाम करने होता हैं, समझने होता है उपलब्धि करने होता है। उसके बाद कृति देवी को अर्थात जो क्रिया शक्ति अखण्ड आनन्द वस्तु को इस खण्ड जगदाकार में आकारित करती है, उसकी ओर लक्ष्य करने होता है। आओ, हम भी "नमो जगत प्रतिष्ठायै" कहकर अभिन्न निमित्तोपादन कारण रूपिणी माँ को प्रणाम करें। बाद में 'देव्यै कृत्यै नमो नमः' कह कर कृति देवी को--उन्हीं सृष्टि स्थिति प्रलयंकरी महती क्रिया शक्ति के चरणों में भूयोभूयः प्रणत हों।

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥१२॥

अनुवाद। जो देवी सर्व भूतो में विष्णुमाया नाम से परिचिता हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। विष्णुमाया--जगव्यापिनी महती शक्ति। देवी शब्द का अर्थ है द्योतनशीला स्वप्रकाश स्वरूपा महती चिति शक्ति। पूर्व में जो अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय आनन्दमय स्वरूप की बात कही

गई है, वे जब सर्वभूताकार से आकारित होती है, सर्वभूत रूप से आत्म प्रकाश करती हैं, इक्षण करती है, बोध करती हैं, अनुभव करती हैं, तब ही वे बिष्णुमाया नाम से परिचित होती हैं। वे ही विष्णु माया मां हमारी, जो स्थूल में सर्वभूत रूप से आधिभौतिक मूर्त्ति से प्रकटिता हैं, उनको प्रणाम। अनन्तर वे ही विष्णुमाया माँ हमारी जो सूक्ष्म में—आधिदैविक मूर्ति से महती शक्ति रूप में प्रकटिता हैं, उनको प्रणाम। उसके बाद मां की जो मूर्त्ति स्थूल सूक्ष्म के अतीत हैं, उस कारण रूपिणी विष्णुमाया मूर्त्ति को प्रणाम! अवशेष में स्थूल सूक्ष्म कारण से भी अतीत वाक्यमन के अगोचर तत्पदलक्षित मां को लक्ष्य करके नमोनमः कहते हुए पुनः प्रणाम करते हैं।

अब यहाँ से इस स्तुति के प्रत्येक मन्त्र में ही तीन बार 'नमस्तस्यै' शब्द है। एतद्‌भिन्न एक "नमोनमः" पद का भी प्रयोग है। प्रथमे नमस्तस्यै पद के द्वारा स्थूल का प्रणाम अभिव्यक्त हुआ है, अर्थात मां के आधिभौतिक स्थूल रूप को अवलम्बन करके ही प्रथम प्रणाम किया गया है। और इस स्थल में प्रणाम रूप कार्य भी कायिक और वाचनिक रूप से स्थूल में ही प्रकाश्य होता है। उसके बाद द्वितीय नमस्तस्यै, यह माँ के सूक्ष्म स्वरूप को लक्ष्य करके उक्त हुआ है। जो सूक्ष्म चैतन्य-शक्ति स्थूल में आकार विशिष्ट नाम और आकार लेकर अभिव्यक्त होती हैं, उनको लक्ष्य करके-उपलब्धि करके जो प्रणाम किया जाता है, वही प्रणाम की द्वितीय वा सूक्ष्य अवस्था है। इसको मानसिक प्रणाम कहते है। इसके बाद है तृतीय नमस्तस्यै, यह है कारण-स्वरूप का प्रणाम। जिस आदि कारण से सूक्ष्म और स्थुल दोनों ही प्रकटित होते हैं, हमारी मा के उसी कारण स्वरूप को लक्ष्य करके, उपलब्धि करके जो प्रणाम किया जाता है, वही है तृतीय प्रणाम। यह प्रणाम कारण शरीर में ही अभिव्यक्त होता है। यद्यपि कारण स्वरूप बुद्धितत्व के भी ऊपर अवस्थित है, तथापि यह प्रणाम उसी विज्ञानातीत कारण को लक्ष्य करके बुद्धितत्व में ही अभिव्यक्त होता है। इसीसे इसको बोद्ध प्रणाम कहा जाता है।

'नमो नमः' यह चतुर्थ प्रणाम है। यह स्थुल सूक्ष्म और कारण के अतीत विशुद्ध बोधमय क्षेत्र में वा परम प्रियतम परमात्मा में ही प्रकटित होता हैं। यद्यपि यहां पर प्रणम्य, प्रणाम और प्रणामकर्त्ता कहने को त्रिविध स्फुरण नहीं हैं, तथापि जो प्रथम से ही शरणागत भाव के साधक है, वह इस अद्वैत क्षेत्र में उपस्थित होने के समय में भी 'नमोनमः' कह कर, केवल शरणागत भाव की सहायता से ही परम प्रेमास्पद परमानन्द स्वरुप परमात्मा में आत्महारा हो जाते हैं। अपने पृथकत्व को खो देते हैं, मिल जाते हैं! यह ही चतुर्थ अवस्था वा चतुर्थ प्रणाम है।

इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म और कारण एवं कारणातीत अर्थात तुरीय, इन चार अवस्थाओं के प्रति विशेष भाव से लक्ष्य करके जो प्रणाम करने में समर्थ हैं, वह ही यथार्थ देवता हैं। शुम्भ निशुम्भ असुर द्वय के अत्याचार से उत्पीड़ित देवतावृन्द इसी प्रकार के भाव से प्रणाम कर सके थे इस लिये ही हमारी मां ने रणक्षेत्र में अवतीर्ण होकर असुर कुल को ध्वंस करके उन्हें निःशङ्क किया था। साधक! तुम भी इसी प्रकार करने का अभ्यास करो। स्थूल सूक्ष्म कारण एवं कारणातीत स्वरूप की तरफ लक्ष्य करके प्रणाम करने में अभ्यस्त होओ। साधन शक्ति इसी लक्ष्य से परिचालित करो, तुम भी देवतागणों की तरह सर्वबिध आसुरिक अत्याचार से विमुक्त होओगे।

पुराणादि शास्त्र में मुक्ति के चार स्तर वर्णित हुये हैं। यथा— सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, एवं सायुज्य। जड़त्व को भेद करके चैतन्य लोक में उपनीत होना ही सालोक्य है। जिस समष्टि चैतन्य में वह अवस्थित है, उसके समीपस्थ होना ही सामीप्य है। जिस सूक्ष्म कारण रूप केन्द्र से वह प्रकाशित हैं, वहाँ पर उपनीत होने का नाम ही सारूप्य हैं। यहां पर उपस्थित होने से ही साधक तत् स्वरुप हो जाता है, इसीसे इस अवस्था का नाम सारूप्य है। यहाँ पर भी विशिष्टता रहती है। इसके बाद सायुज्य है। इस अवस्था में फिर

कोई भी विशिष्ठता नहीं रहती, जीव निर्विशेष चैतन्य स्वरुप में उपनीत होता है। इसीका नाम है निर्वाण। साधक! तुम्हारी दैनन्दिन साधना के भीतर भी इन चार अवस्थाओं के प्रति यह लक्ष्य रहे। चारों प्रणामों में चारों स्वरुपों की तरफ विशेष भाव से लक्ष्य रखने के लिये संकेत किया गया है। जो सम्पूर्ण चारों अवस्था के प्रति लक्ष्य रखने में असमर्थ हो, वह अन्ततः दो वा तीन की तरफ ही विशेष लक्ष्य रखने की चेष्टा करे यही यथार्थ साधना है! प्रति दिन ही अल्पाधिक मुक्ति का आस्वाद लेना चाहिए एवं इस प्रकार करने से ही जीवन्मुक्ति का आस्वाद मिलता है। किन्तु वह और बात है।

परवर्ती मन्त्रों में इस नमस्तस्यै अंश की फिर व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं होगी। श्रीमान पाठक उसे सहज में ही समझ सकेंगे। यद्यपि सप्तशती मन्त्र विभाग में इन मंत्रों का शेष अंश अर्थात 'नमस्तस्यै नमोनमः' यह अंश एक पृथक मन्त्र रूप से निर्दिष्ट हुआ है, तथापि शेष का 'नमोनमः' अंश तृतीय नमस्तस्यै से पृथक करके चतुर्थ प्रणाम रूप से व्याख्या करने से कुछ भी हानि नहीं हुई। तृतीय प्रणाम कारण भाव को लक्ष्य करके विहित हुआ है। कोई भी साधक कारण स्वरूप में उपनीत हो सकने से, उसके लिये कारणातीत क्षेत्र में प्रवेश करना अनायास-साध्य हो जाता है, इसी से कारण को प्रणाम करते करते ही नमोनमः कह कर कारणातीत क्षेत्र में उपनीत होने की बात कही गई है।

—o—

या देवी सर्वभुतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ १३॥

अनुवाद। जो देवी सर्व भूतों में चेतना नाम से अभिहिता हैं उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारम्बार प्रणाम।

व्याख्या। चेतना स्थुल में नाम रूप के आकार से परिव्यक्त है, सूक्ष्म में प्राणशक्ति रूप से एवं कारणमें अव्यक्त बीज रूप से अवस्थित है। स्थूलाभिमानी चैतन्य विश्व, सूक्ष्माभिमानी चैतन्य तैजस एवं कारणाभिमानी चैतन्य प्राज्ञनाम से परिचित हैं।

चैतन्य रूपिणी मा! तुम विश्व चैतन्य नाम से इस परिदृश्यमान विश्व रूप में नाम और आकार परिग्रहपूर्वक प्रतिनियत प्रकटित हो रही हो। तुम्हारी इस आधिभौतिक चेतनामयी मूर्ति को हम कायिक और वाचनिक प्रणाम करते हैं। फिर तैजस चेतन नाम से तुम्हारी जो महती शक्ति इस प्रकट विश्व के सृष्टिस्थितिलय-कार्य में निरत है तुम्हारी उस सूक्ष्म आधिदैविक-चेतना रूपिणी शक्तिमयी मूर्ति को हम मानसिक प्रणाम करते हैं। अनन्तर प्राज्ञचेतना नाम से जो इस स्थूल और सूक्ष्म के बीज रूप से कारण रूप से नित्य अवस्थित है, तुम्हारी उस आध्यात्मिक चेतना रूपिणी अव्यक्त कारण मूर्ति को बुद्धि की सहायता से प्रणाम करते हैं। सर्व शेष में इस स्थूल सूक्ष्म और कारण के अतीत विशुद्ध चैतन्य स्वरूप अवाङ्मनोगोचर तुम्हारे उस नित्य निरञ्जन स्वरूप की तरफ लक्ष्य रखकर 'नमोनमः' कहते कहते परम प्रेमास्पद प्रियतम मधुमय आत्म स्वरूपमें मिल जाएँ।

साधक! अब तुम भी देखो, तुम्हारी चेतना रूपसे जो अन्दर में प्रतिनियत प्रकाश पा रही हैं—वे ही तो माँ हैं। जिनकी हमेशा अवज्ञा करते हो—देखो, सर्व भूतों में चेतना रूप से अवस्थित उसी माँ को लक्ष्य करके ही देवतागण प्रणाम करते हैं। तुम भी देवताओं के स्वर में स्वर मिलाकर, आत्म चैतन्य की तरफ विशेष भाव से लक्ष्य रख कर "नमस्तस्यै" कह कर साष्टांग प्रणाम करो। कायिक और वाचनिक प्रणाम सार्थक हो। यह हृदयानुभूत चैतन्य ही तो स्थूल देह रूप से देहात्म बोध रूपसे प्रतिभाषित हो रहा है। यह जान कर प्रथम प्रणाम करो। फिर जो चेतना सर्वभावोंकी अधिष्ठात्री रूप से अवस्थित हैं, उनको उन सर्वव्यापिनी चिन्मयी मां का अनुभव करके बोध करके प्रत्यक्ष करके "नमस्तस्यै" कह कर, द्वितीय प्रणाम

वा मानसिक प्रणाम करो। अनन्तर अव्यक्त कारण रूपिणी चेतना की ओर लक्ष्य करके, जहां पर यह बहु-वैचित्र्य बहुनाम रूप कुछ भी व्याकृत नहीं हुआ है, उसी अति सूक्ष्म अवस्था के प्रति लक्ष्य रख कर तृतीय प्रणाम वा बौद्ध प्रणाम करो। इसी प्रकार अवस्थाओं के प्रति लक्ष्य रखते रखते ही मां की कृपा से कारणातीत स्वरूप का सन्धान पाओगे, तब उस अज्ञेय निरंजन सत्ता की ओर लक्ष्य रख कर 'नमो-नमः' कहते कहते मधुमय परमात्मा सत्ता में मिल जाओ।

—०—

या देवी सर्वभुतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥१४॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में बुद्धि रूप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारम्बार प्रणाम है।

व्याख्या। "या देवी" शब्द का बार-बार अर्थ करना निष्प्रयोजन है। 'जो' कहने से वाक्य मन के अतीत अथच सत्य स्वरूप वस्तु ही समझ में आती है। जिनकी सत्ता से, जिनके प्रकाश सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशय वा अविश्वास नहीं है, रह नहीं सकता, जो हैं तभी यह जगत् है, मैं हूँ, वह कैसे हैं ? यह ठीक ठीक प्रकाश नहीं किया जाता, इसी से 'या देवी' एवं 'तस्यै' यह परोक्ष वाचक शब्द-द्वय मंत्र में प्रयुक्त हुये हैं। और 'सर्व भूतेषु' शब्द बोलने के समय साधक अपनी तरफ विशेष रूप से लक्ष्य रखना न भूलें। यह सब बातें बारम्बार कहना वृथा है।

मां ! तुम बुद्धि रूपिणी हो। व्यष्टि बुद्धि रूप से प्रति जीव में, समष्टि बुद्धि रूप से महत्तत्व रूप में एवं बुद्धि के बीज रूप से अव्यक्त क्षेत्र में तुम्हीं अवस्थित हो। तुम्हारे इस त्रिविध स्वरूप को कायिक वाचनिक मानसिक और बौद्ध प्रणाम करते हैं। फिर तुम्हारी निरञ्जन सत्ता, जहां पर बुद्धि कहने को कुछ नहीं, अथच बुद्धि जिस

में अवस्थित है, जो बुद्धि के प्रकाशक हैं, वही तो तुम्हारा निरञ्जन स्वरूप है, वही हमारा भी यथार्थ स्वरूप है। 'नमोनमः' कह कर बारम्बार उसे प्रणाम करते हैं। माँ, तुम हमारा प्रणाम ग्रहण करो। हम आत्मस्वरूप में उपनीत होवें।

साधक! तुम भी इस मन्त्र को पढ़ कर सबसे प्रथम अपनी बुद्धि को प्रणाम करो। यही बुद्धि रूप से ही तो मां हैं ब्राह्मणगण "धियो योनः प्रचोदयात्', कह कर जिस "धी' शक्ति को प्राप्त करने के लिये त्रिसन्ध्या में गायत्री मंत्र से प्रार्थना करते हैं—देखो यही धी रूप से ही माँ हैं। उनको ठीक ठीक प्रणाम कर सकने से ही, जिस महती बुद्धि में तुम्हारी व्यष्टि बुद्धि अवस्थिता है, उनका अर्थात् महदात्मा का सन्धान पावोगे। उनको द्वितीय प्रणाम करो। फिर इस व्यष्टि और समष्टि उभय बुद्धि का जो अव्यक्त वीज है, जो मूला प्रकृति नाम से जानी जाती हैं, उनको प्रणाम करते करते निरञ्जन स्वरूप में चले जाओ, उसी भावातीत त्रिगुण रहित गुरु स्वरूप में वा आत्म स्वरूप में मिल जाओ। 'नमोनमः' कहने के साथ साथ अहं भाव (मैंत्व) का भारी बोझा हमेशा के लिये विलय प्राप्त हो।

—o—

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥१५॥

अनुवाद। जो देवी सर्व भूतों में निद्रा रूपसे अवस्थिता हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम उनको बार-बार प्रणाम है।

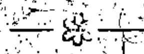
व्याख्या। माँ तुम निद्रा रूपिणी हो। हमारे यावतीय इंद्रिय व्यापार एवं अन्तःकरण वृत्ति जब सम्यक् निरुद्ध रहती है, तब ज्ञान मयी मा तुम 'कुछ भी नहीं जानती' रूप अज्ञान को हृदय पर रखकर अवस्थान करती हो, यह ही तो तुम्हारी निद्रा मूर्ति का स्वरूप है। सर्वभाव के निरोध विषयक बोध रूप से तुम्हीं तो प्रकाशित होती हो।

इसी से पातंजल दर्शन ने तुम्हारी इस मूर्ति को अभाव प्रत्यायलम्बना वृत्ति रुप से निर्देश किया है। वास्तविक ही तो तुम जब अभाव मात्र की प्रत्यय रुपिणी होकर आत्म प्रकाश करती हो तब ही हम तुम्हारी स्नेहमयी, प्रेममयी, रसमयी, मधुमयी, सुषुप्ति मूर्ति की गोद में सम्यक आलिङ्गित होकर इन्द्रियव्यापार-जनित कर्मक्लान्ति से विश्राम लाभ करते हैं—परमातृप्ती प्राप्त होते हैं। अरे इतना स्नेह तुम्हारे हृदय में! तुम्हारी आदर की सन्तान हम जब इस दुःखमय त्रितापमय जगत में विचरण करते करते क्लान्त अवसन्न हो पड़ते हैं, तब ही तुम निद्रा मूर्ति से हमको हृदय से लगा लेती हो, तुम्हारे उस सुहागभरे स्नेहमय आलिङ्गन के अमृतमय स्पर्श से हम सब ज्वाला समस्त विक्षेप सारी चञ्चलता बिलकुल भूल जाते हैं। अरे मातृ अन्वेषी साधक वृन्द, तुम हमारी माँ को खोजने के लिये कहाँ दौड़े जा रहे हो? यह देखो, देवी माहात्म्य के ऋषि माँ को हमारे कितने निकट लाये हैं, प्रतिदिन माँ को हम निद्रा रुप से पाते रहते हैं। माँ तो हमारी स्व (अपनी) है, इन सबको प्राप्त होते हैं इसीसे निद्रा का एक नाम स्वपिति है। जिनको एक बार स्पर्श करने से समस्त ज्वाला के हाथ से परित्राण पाया जाता है, वे माँ प्रतिदिन ही तो आकर स्नेह के पीड़न से हमको चिपटा लेती है।*

---

*धन्य जगत की मातु परिश्रम दुःख संहारिणी।
धन्य भवानी मोद प्रदा धनि जगहित कारिणी॥
धन्य दिवस अरु रैंणि केरि, मंगलमय अनन्तर।
धनि शरीर आरोग्य कारिणि तन-ताप हारिणि वर॥ १॥
तुम बिन जग की सकल सम्पदा व्यर्थ ही दीखत।
प्रातकेर सुख जनक दृश्य भावै तुम बिन क्षत॥
सुखी दुखी तस राव रंक जेहि अंक समाई।
एकदि भांति जनात भेद सबं जात नसाई॥ २॥
धन्य मीच लघु भगिनी जगत पोषनि अरु घालनि।

आओ मां हमारी, आओ सुषुप्ति रूपिणी जननी हमारी, तुम्हारे चरणों में प्रणत होवें—नमस्तस्यै। हमारे कायिक और वाचनिक रूप से स्थूल के प्रणाम को ग्रहण करो। फिर तुम्हारी कृपा से दृष्टि प्रसारित करके देखते हैं—एक महती समष्टि निद्रा मूर्ति ने सर्व भूतों को (प्राणियों को) अङ्कमें धारण कर रक्खा है। वही तो मा, तुम्हारी सुषुप्ति रूपी ईश्वरी मूर्ति है, जिस महती अज्ञान मूर्ति से समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर अवस्थान करती हो। माँ? तुम्हारी उस महती मूर्ति को प्रणाम करते हैं। हे मां, तुम्हारी इस मूर्ति को देखकर शरीर और इन्द्रियां स्तब्ध हो जाती है। क्या ही घन! कितनी निविड़ वह कृष्णा सुषुप्ति मूर्ति है! "नमस्तस्यै" तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम। अनन्तर इस व्यष्टि और समष्टि निद्रा का जो कारण है उस सुषुप्ति बीज रूपिणी अव्यक्त कारण मूर्ति को तृतीय वार प्रणाम करके निद्रातीत निरञ्जन स्वरूप के उद्देश्य से चले जाय, जहां पर निद्रा करने को कुछ नहीं है, अथच जिसकी सत्ता से निद्रा की सत्ता है, जो निद्रा का प्रकाशक हैं, वही सो नित्य जागरणमय नित्य बोधमय तुम्हारा निरञ्जन स्वरूप है, उसे "नमो नमः" कह कर भूयो भूयः प्रणाम करते है। हे मा! हमारा प्रणाम सफल हो।



सौतिन चिन्ता केर सदा जीवन-तरु पालनि॥
तुम सहर्ष हिय वास करत हौ दारिद्र गेहा।
नृप महलन ढिग जात कवो नहिं सहित सनेहा॥ ३॥
कृषि वल बिनय विनीत सुनत तुम आनंद पावत।
भूपालन के दर्प हाँके तुहि कबो न भावत॥
श्रमित जनन के नन मातु निज कर दै ढांकति।
दुखिमन के दुःख दुखित तोष हिय झोंकड़ि झांकति।४।
(साहित्य सौरभ से उद्धृत—अनुवादक)

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१६॥

अनुवाद—जो देवी सर्व भूतों में क्षुधा रूप से अवस्थित हैं उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारम्बार प्रणाम है।

व्याख्या—माँ ! तुम क्षुधा रूप से—भोजनेच्छा रूप से सर्वभूतों में विद्यमान हो। हमारे स्थूल शरीर का रस रक्तादि धातु क्षय के अपचय(कमी) के कारण जो अवसाद उपस्थित होता है उस अवसाद को दूर करने के लिए आहार ग्रहण करने की जो आवश्यकता बोध होती है, वह ही तो मां तुम्हारी क्षुधामूर्ति है। केवल स्थूल शरीर में अन्नमय कोष में ही यह बुभुक्षा मूर्त्ति का प्रकाश होता है। सो नहीं प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष में भी तुम्हारी इस क्षुधा मूर्ति की अभिव्यक्ति प्रतिनियत हम देखते हैं सुतरां हमारे इन पञ्चकोषों की ही बुभक्षा वा आहार की इच्छा है। प्राणमय कोष का आहार जीवनी शक्ति, मनोमय कोष का आहार चिन्ता, विज्ञान मय कोष का आहार ज्ञान एवं आनन्दमय कोष का आहार प्रतिहर्ष इत्यादि। माँ इसी तरह क्षुधा मूर्ति से पञ्च कोष के आहार ग्रहण की इच्छा रूप से प्रकाशित होती हो इसी से हम प्रतिदिन जन्म जन्मान्तर इन क्षुधा निवृत्ति के बहाने से ज्ञान से वा अज्ञान से तुम्हारी ही ओर अग्रसर हो रहे हैं। धन्य है तुम्हारे इस अपूर्व आकर्षणमय क्षुधा स्वरूप की अभिव्यक्ति। हे मां! प्रथम हम अपनी उस नित्य अनुभूता (जानी हुई) अन्न बुभक्षा अर्थात तुम्हारी स्थूल व्यष्टि क्षुधा मूर्ति को नमस्तस्यै कहकर प्रणाम करते है। फिर तुम्हारी ही कृपा से दृष्टि प्रसारित करके देखते हैं। तुम समग्र ब्रह्माण्ड व्यापिनी एक महती क्षुधामयी मूर्ति हो, जो सर्व जीवों में व्यष्टि रूप से अवस्थित हैं उन्हीं की समष्टि अखण्ड बुभुक्षा मूर्ते तुम्हारी यह मूर्ति जो केवल पूर्वोक्त पञ्चविध आहार ग्रहण करके ही परितृप्त हो, सो नहीं। अरे, यह समग्र विश्व ही तो तुम्हारी उस

महती क्षुधा मूर्ति के तृप्ति विधान के लिए अन्न रूप से—आहार रूप से अवस्थित है। कौन अनादि काल से तुम विश्वग्रासिनी क्षुधा मूर्ति से प्रकट हो रहो हो, उसे तुम्हारे बिना और कौन कहेगा?

माँ! हम तुम्हारे चरणों में प्रणाम करते हैं। हे मां, सुना है—कि तुम्हारी इस क्षुधा मूर्ति के चरणों में सत्य सत्य जो प्रणत हो सकता हैं, उसकी भव क्षुधा हमेशा के लिये विदूरित हो जाती है। मां। हम कितने काल से कितने जन्म जन्मान्तर से इस जगत का भोग कर रहे है, कितने शोक दुःख के घात प्रतिघात के भीतर होकर आ रहे हैं, तब भी तो माँ,—हमारी इस विषय क्षुधा की निवृत्ति नहीं होता! माँ, एक बार तुम हमारी इस क्षुधा को मिटा दो। तुम तो मां हो। सन्तान की क्षुधा को समझ कर आहार देना ही तो मातृत्व है। सन्तान खिलौने के खेलों में व्यस्त है, क्षुधा की बात ही याद नहीं। मां स्वयं ही आकर आहार देकर क्षुधा की निवृत्ति कर देती हैं। यही न है मातृत्व? अब आओ माँ, हमारी क्षुधा दूर करो। और अब मैं अन्न का अन्वेषण नहीं कर सकता, मां! कितने काल से केवल अन्वेषण ही कर रहा हूँ। आहार नहीं कर सकता, इसी से क्षुधा भी निवृत्त नहीं होती, किन्तु इस बार जब समझ सका हूँ कि यह क्षुधा मूर्ति से भी तुम हो, तो हमारी यह क्षुधा तुमको ही दूर करना होगी। हे मां, सन्तान क्षुधा की ज्वाला से छट् फट् करती देखकर भी क्या तुम अन्नपूर्णा होकर चुप बैठी रहोगी? सो क्या होगा मां! तुम अन्नपूर्णा, और हम क्षुधित पुत्र! यह दृश्य किस प्रकार सहन करोगी? आओ माँ, इस बार प्रणाम ग्रहण करके हमारे क्षुधानल को हमेशा के लिए बुझा दो। क्षुधा रूपी मां हमारी, इतने दिनो तक तुमको मां कहकर नहीं पहचान सके, कितने अवज्ञा की है, घृणा के कुटिल कटाक्ष से जर्जरित किया है, किन्तु अब नहीं—आज तुमको मां कहकर पहिचाना है। आओ मां, सन्तान के स्थूल सूक्ष्म कारण के प्रणाम को ग्रहण करो। सन्तान धन्य हो। फिर हम 'नमो नमः' कहते कहते तुम्हारे निरञ्जन स्वरूप में चले जावें! जहां

पर क्षुधा कहने को कुछ नहीं, आहार कहने को कुछ नहीं; अथवा जिनकी सत्ता से क्षुधा की सत्ता है, जो क्षुधा का प्रकाशक हैं, जिनको पाने से सारी क्षुधा हमेशा के लिये शान्त हो जाती है, वही तो माँ तुम्हारा निरञ्जन स्वरूप है ! माँ, तुम हमारा शेष प्रणाम ग्रहण करो। तुम्हारे मातृत्व के उज्ज्वल गौरव-प्रकाश से जगत प्रकाशित हो। कोटि-कोटि जीव माँ मां कहकर तुम्हारी ही तरफ अग्रसर हों।

—o—

या देवी सर्वभुतेषु छाया रूपेणसंस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥१७॥

अनुवाद—जो देवी सर्वभूतों में छाया रूप से अवस्थिता है;उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारम्बार प्रणाम है।

व्याख्या—छाया शब्द का अर्थ है जीव। उपनिषद कहती हैं—'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।' आचार्य शङ्कर ने व्याख्या करने में छाया शब्द का जीवात्मा अर्थ ही किया है। छाया की तीन अवस्था है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। देह भेद से छाया के भी यह त्रिविध भेद कल्पित होते हैं। छाया प्रतिबिम्ब ! चित् प्रतिबिम्ब ही जीव है। स्थूल देह में जो छाया वा चित् प्रतिबिम्ब है वह छाया की स्थूल मूर्ति हैं। सूक्ष्म देह में (पञ्च ज्ञानकर्मेन्द्रियं, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि इस सप्तादशात्मक शरीर में) जो छाया है वा चित् प्रतिबिम्ब है, वह छाया की सूक्ष्म मूर्ति है। इसी प्रकार कारण शरीरमें अविद्या का जो चित् प्रतिबिम्ब है, सो छाया की कारण मूर्ति है। इन तीनों मूर्ति को प्रणाम करने के लिये ही मन्त्र में विशेष भाव से तीन बार प्रणाम का उल्लेख है। और चतुर्थ प्रणाम छायातीत स्वरूप को लक्ष्य करके कहा गया है।

छाया सम्बन्ध में यहाँ पर एक बात कहनी जरूरी है। साधारण छाया जैसे प्रकाश की आवरक (पर्दा) होती है, यह जीव छाया भी

मानो तैसे ही परमात्म स्वरूप का आच्छादक होती है। इस आवरण को दूर करने ही के लिये इतना प्रणाम, इतना शरणागत भाव है। प्रणाम करते करते ही मिथ्याभिमान दूरीभूत होता है। अभिमान दूर होने से ही, छाया का अर्थात् जीवाभिमान का फिर एक पृथक् सत्ता विशिष्ट वस्तु कहकर अनुभव नहीं होता। प्रतिबिम्ब की तो कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, बिम्ब की सत्ता से ही तो प्रतिबिम्ब की सत्ता है, यह तभी ठीक ठीक उपलब्धि की जा सकती है। एक मात्र आत्मा ही है, इसकी उपलब्धि करने का अति सहज उपाय सर्वभूतों में छाया दर्शन है। जिनका बुद्धितत्व सम्यक् उन्मेषित हो गया है, वह इस सजीव जगत को यथार्थ ही छाया रूप से प्रत्यक्ष करते रहते हैं। दर्पण में प्रतिबिम्बित महानगरी की तरह यह नाम रूप विशिष्ट स्थूल विश्व यथार्थ ही छायावत् प्रतीयमान होता रहता है। आधुनिक वेदान्तवादी गण मिथ्या भ्रान्ति किंवा अध्याय कहकर इस छाया को उड़ा देने की कितनी ही चेष्टा क्यों न करे जब तक उनकी स्थूलदेह है उतने दिन सहस्र चेष्टा से भी सहस्र बार मिथ्या कहने पर भी यह दूरीभूत नहीं होगी।

गीता में भगवान ने कहा है—'ईश्वर सर्वभूतों के हृदय देश में अवस्थान पूर्वक जीवगणों को यन्त्र की तरह परिचालित करते हैं।' जीव छाया मात्र है, सो इस भगवद्वाक्य द्वारा भी विशेष भाव से प्रमाणित होता हैं। किसी स्वच्छ दर्पण के सामने खड़े होकर जैसे भाव से अङ्ग भङ्गी करोगे, दर्पण प्रतिबिम्बित मूर्ति भी ठीक उसी तरह के भाव से अङ्ग भङ्गी करेगी। जीव रूपी चित प्रतिबिम्ब भी उसी तरह हृदयावस्थित ईश्वर कर्त्तृक परिचालित होकर विभिन्न भावों का अभिनय किया करता है! एक गीत में भी सुना है—'तुमि जेमन बलाओ, तेमन बलि, तुमि जेमन हासाओ, तेमन हासि', (तुम जैसे बुलाते हो तैसे ही बोलता हू, तुम जैसे हँसाते हो तैसे हँसता हू) बात खूब ही सत्य है।

यहा पर आशंका हो सकती है—जीव यदि ईश्वर का प्रतिबिम्ब

ही है, अर्थात जीवानुष्ठित कर्म समूह यदि ईश्वर कर्तृक ही सम्यक भाव से नियमित हैं; तो फिर धर्माधर्म, पाप-पुण्य नाम का कोई विचार नहीं रह सकता। हां, सत्य ही जो ऐसे ज्ञान में जा पहुंचे हैं, जो अपने को परमेश्वर की छाया मात्र उपलब्धि कर सकते हैं, उनके लिए यथार्थ हो पाप पुण्य नामका कुछ भी नहीं रहता। किन्तु इस प्रकार के दर्शन वा अनुभूति लाभके पहले अर्थात अहं कर्तृत्वाभिमान विद्यमान रहते धर्माधर्म का विचार रहेगा ही। सहस्र बार नहीं कहने पर भी अन्दर में पाप पुण्य का संस्कार प्रकट होगा ही। किन्तु वह और बात है—

किन्तु हम जानते हैं मां तुम ही हमारी बिम्ब हो और तुम ही प्रतिबिम्ब हो। तुम ही परमात्म रूप से बिम्ब होकर बुद्धि में चिच्छाया सम्पात करके स्वयं जीव वा छाया सजी हुई हो। इसी से देवतागणों की तरह हम भी तुम्हारे इस छाया स्वरुप को प्रणाम करते है। मां तुम स्वयं चिन्मयी हो, इसी से प्रतिच्छाया जिसमें संक्रामित होती है, वह भी चैतन्यमय हो उठता है। जड़ वस्तु की छाया जड़ वस्तु पर निपतित होने से, उसमें चेतनवत् व्यवहार नहीं होता, यह ठीक है, किन्तु चेतन्यरूपिणी मां तुम्हारी छाया सम्पात से जड़ देह, जड़ बुद्धि, जड़ इन्द्रिय, सभी चैतन्मय हो उठती हैं।

मां, तुम स्वयं मैं वा अहं रुपिणी, ही; इसी से तुम्हारी छाया पड़ते ही यह जड़ देह, प्रभृति भी 'मैं वा अह' कहकर अभिमान करती है। मां प्रथम नमस्तस्यै कहकर अपनी व्यष्टि बुद्धि में प्रतिबिम्बित तुम्हारी छाया मूर्ति को प्रणाम करता हूं। क्रम से समष्टि वा महत में जो छाया मूर्ति है जिसको शास्त्रकारों ने हिरण्यगर्भ कहकर व्याख्या दी है, उस महती छायामूर्ति को द्वितीय प्रणाम करते हुए कारण क्षेत्र में जाते हैं। वहां पर तुम्हारी अव्यक्त छाया को पुनः नमस्तस्यै कहकर प्रणम करता हूँ। सर्व शेष में उस निरञ्जन क्षेत्र में, जहां पर छाया नामक कुछ भी नहीं है अथवा जिसकी सत्ता से छाया को सत्ता है, जो छाया के प्रकाशक हैं. उनके उद्देश्य से नमोनमः

कहकर बारम्बार प्रणत होता हूँ, छाया वा माया हमेशा के लिये विलीन हो जाय।

—o—

या देवी सर्वभुतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ १८ ॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में शक्ति रूप से अवस्थिता है, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारंबार प्रणाम है।

व्याख्या—मां! शक्ति कहने से सबसे प्रथम अपनी देह की तरफ ही लक्ष्य होता है। थोड़े धीर भाव से चिन्तन करने से ही अच्छी तरह प्रतीति होती है कि—यह देह शक्ति व्यतीत और कुछ नहीं है। दृक् शक्ति, श्रवण शक्ति, प्रभृति इन्द्रिय शक्ति को देखते देखते, क्रम से रक्त मांस के पिण्डमय इस स्थूल अंश की तरफ लक्ष्य पड़ता है, तब देखते हैं कि अणु परमाणु एक अज्ञेय धृति शक्ति द्वारा परिधृत होकर देह आकार से प्रतियमान हो रहे हैं। फिर अणुओं की तरफ लक्ष्य करने से देखने में आता है—अणुसमूह भी वास्तविक जीवाणु वा शक्ति व्यूह व्यतीत अन्य कुछ नहीं है। इस प्रकार यह स्थूल देह कुछ एक शक्तियों की समष्टि रूप से प्रतीत होने लगती है। मां, पहिले तुम्हारी इस स्थूल शक्ति मूर्ति को प्रणाम करते है।

हे मां, आधुनिक जड़वादीगण तुम्हारी इस स्थूलाकार से प्रकाशित शक्ति मूर्ति को जड़ रूप से ही प्रत्यक्ष करते हैं। सर्वभूतों में, स्थूल देह में, भौतिक पदार्थों में, प्रकाश ताप में, तड़ित चन्द्र में, सूर्य में सर्वत्र जो शक्ति रूप का प्रकाश देखने में आता है, वह तुम्हारी ही जड़नामीय, चिन्मयी इच्छाशक्ति मात्र है, इसे वे नहीं विचारते। शक्ति चेतना व्यतीत अन्य कुछ नहीं है, इसे वह स्वीकार नहीं कर सकते। मां, तुम उनके ज्ञान चक्षु उन्मीलित कर दो। भूत और

भौतिक पदार्थ समूह जो कुछ हैं वे चैतन्यमय शक्ति का प्रवाह मात्र है यह उनको हृदयंगम करा दो।

यह क्या माँ! शक्ति तो कुछेक नहीं! दृक् शक्ति, श्रवण शक्ति प्रभृति शक्ति समूह के प्रत्येक को अब तो पृथक नहीं मालूम पड़ती? एक ही महती शक्ति विभिन्न नाम से और विभिन्न आकार से प्रकाशित होकर विभिन्न कार्यों को सम्पादन कर रही है। यह जो केवल स्व स्व देह वा कोई एक विशेष पदार्थ में ही प्रतीति होती हो सो नहीं, अनन्त विश्व कहने से हमारी क्षुद्र बुद्धि जहां तक प्रसारता प्राप्त कर सके, उसके भीतर जो कुछ है, उस सबको अब तो पदार्थ नहीं कहा जाता न मन में आता ही है। यह तो एक अद्वितीय महती शक्ति है। आहा! कितना विशालता? कितना महत्व? मन, बुद्धि तो स्तब्ध हुई जाती है। माँ! यह जो सर्वभूत रूप से अनन्त ब्रह्माण्ड रूप से प्रकाशिता एक अद्वितीया शक्ति है; जिसकी तरफ विशेष भाव से लक्ष्य करने से, सृष्टि स्थिति लय रूप त्रिविध स्पन्दन मात्र परिलक्षित हो रहा है, सो समष्टि रूपिणी महा शक्तिरूपणी माँ तुम्हीं हो। अरे इस दुरधिगम्य महाशक्ति सिन्धु की ही एक एक तरङ्ग विभिन्न जीव जगत् आकार से उदित हो उठती है, और क्षण काल के बाद ही बिलीन हो जाती है। तुम्हारी इस ईश्वरी शक्ति मूर्ति के चरणों में हम पूर्ण भाव से प्रणत होते हैं। मां महाशक्ति। तुम हमारा प्रणाम ग्रहण करो।

फिर व्यष्टि और समष्टि का जो बीज है, जिस अव्यक्त क्षेत्र से इस महाशक्ति का विकास है, उस महाकारण रूपिणी शक्ति मूर्ति को प्रणाम करते करते निरञ्जन स्वरूप में जा पहूंचते है। जहां पर शक्ति नामक कुछ भी प्रतीति नहीं होती, अथवा जिनके न रहने से शक्ति की सत्ता ही नहीं रहती, इस शक्ति रूप से प्रकट होकर भी जिनके स्वरूप में कुछ भी व्यत्यय नहीं होता; वाक्य मन के अतीत उस स्वरूप की ओर लक्ष्य करके 'नमो नमः' कहकर बारंबार प्रणाम करते हैं।

हे माँ, सुना है—तुम्हारी कोई कोई ज्ञानी सन्तान मा क्या तुम्हारे परमात्म स्वरूप को शक्ति हीन कहकर व्याख्या करते है एवं नाना तरह से युक्ति तर्क की सहायता से उसी को प्रतिष्ठा करने का प्रयास करते हैं। तुम कृपावश होकर उनके निकट अपना आत्मस्वरूप उन्मेषित करो। वह भी देखें—परमात्मा शक्ति हीन, रसहीन, आनन्द हीन एक जड़वत् वस्तु नहीं हैं। वह सर्वशक्ति के आधार है, वह रसमय, वह आनन्दमय हैं।

या देवी सर्वभूतेषु तृष्णारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥१६॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में तृष्णा रूप से अवस्थिता है, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम उनको बारंबार प्रणाम।

व्याख्या। माँ! तृष्णा—पिपासा वा जलपानेच्छा रूप से तुम्हीं सर्व भूतों में सतत प्रकाशिता हो। इस सर्वभूतों की तृष्णाका विषय स्मरण करते ही सर्वाग्र अपनी ही तृष्णा के प्रति लक्ष्य पड़ता है। माँ तुम जो केवल जलपानेच्छा रूपिणी तृष्णा हो सो नहीं, यह जो अतृप्त आकांक्षा रूप से भी हृदय के अन्दर तुम्ही तो नित्य जाग्रता हो रही हो। कितने जन्मो से तुम्हारी इस तृष्णा मूर्ति को परितृप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं किन्तु नहीं कर सके। अरे, समग्र ब्रह्मांड का आधिपत्य पाने पर भी तो इस तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती। अब तक यह तृष्णा भी तुम ही हो, नही जानते थे, इसी से मां कहकर आदर भी नहीं किया, किन्तु आज तुम्हारी ही कृपा से देख रहे है कि हमारे अन्दर तृष्णा रूप से, आकुल आकांक्षा रूप से तुम्हारी ही नियत प्रकाश है। आओ मां तृष्णा रूपिणी, अतृप्त-आकांक्षा रूपिणी, नित्य तरुण हमारी आशा, हृदय भरा भरोसा हमारी, आओ तुमको एक सत्य का प्रणाम करके समस्त तृष्णा से उस पार चले जायेंगे।

हे माँ, इसी प्रकार तुम्हारी व्यष्टि-तृष्णा मूर्ति देखते-देखते सर्वभूतों

में विराजित समष्टि तृष्णा की तरफ लक्ष्य जा पड़ता है। ऊः वह कैसी महती! इस जगत में जिधर दृष्टिपात करते हैं उसी तरफ तो मां तुम्हारी लालसामयी मूर्ति देखते हैं! यह क्या मां? सर्बभूतों को यह कैसी मूर्ति से ले रक्खा है? यही तो मां तुम्हारी ईश्वरी मूर्ति, है! जिस महती तृष्णा का विन्दु मात्र पाकर जीव उन्मत्त होता है, आत्म विस्मृत होता है, कितने काल से लेकर जन्म मृत्यु का पेषण सह्य करता है, वह समष्टि-तृष्णामयी मूर्ति तुम ही हो! मां, जिस तृष्णा रूप से प्रकट होने के लिए, एक अद्वितीया आनन्दमय स्वरूप से इस बहुत्व की लीलामें आत्मनियोग तुमने किया है, तुम्हारे उस महती तृष्णा के स्वरूपको हम कैसे हृदयंगम करे? समझे वा न समझें— नमस्तस्यै! आओ मां! प्रणाम करे। हमारे सामने अब विषय तृष्णा मूर्ति से आत्म प्रकाश मत करना। रसमयी मां! केवल तुमको प्राप्त करने की प्रबल पिपासा रूप से प्रकाशित होओ, हमको धन्य कर दो

फिर जिस अव्यक्त कारण से यह महती तृष्णा प्रादुर्भूत होती है, वहां पर भी तुमको प्रणाम। अवशेष में तुम्हारे तृष्णातीत, भावातीत निर्मल बोधमात्र स्वरूप के उद्देश्य से 'नमोनमः' कहकर असंख्य प्रणाम करते हैं। वहां पर तृष्णा नामक कुछ नहीं रहता, उन्हीं की सत्ता से तृष्णा की सत्ता है, तृष्णा रूप से प्रकाशित होने पर भी उनमें विन्दु मात्र विकार वा मलिनता नही होती। वही तो मां तुम्हारा निरञ्जन स्वरूप है, चलो मां वहीं पर हमको ले चलो।

—०—

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥२०॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में क्षमा रूप से अवस्थिता हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारंबार प्रणाम है।

व्याख्या। मां प्रति जीव हृदय में अल्पाधिक परिमाण में क्षमा रूप से तुम ही अधिष्ठिता हो। दूसरों के द्वारा उत्पीड़ित होकर, उसके

प्रतिकार करने की सामर्थ्य होने पर भी, उस अपकार को निःशब्द सह्य करने की सामर्थ्य ही क्षमा हैं।

किसी प्रियजन के द्वारा उत्पीड़ित होने पर जैसे हम उस उत्पीड़न को अनायास ही सह्य कर सकते हैं, ठीक उसी तरह जब सर्व प्रकार परापकार सह्य करने की सामर्थ्य आ जाय, तब ही समझ सकेंगे—तुम क्षमा मूर्ति से हमको गोदी में लेकर बैठी हो। जिस प्रवृत्ति के उदय होने से हममें यह परापकार सहिष्णूता उदित हो उठे, वही तुम्हारी क्षमा मूर्ति है। माँ, तुम्हारी इस व्यष्टि क्षमा मूर्ति को प्रणाम हे माँ, तुम्हारी इस क्षमा मूर्ति के प्रकाश होने से ही हम यथार्थ शान्ति प्राप्त कर सकेंगे।

फिर जब इस क्षमामूर्ति का सर्वभुत परिव्यापक समष्टि स्वरूप बोध में प्रकट हो उठता है तो आह्लाद से, उत्साह से, हृदय में सतगुण साहस का सञ्चार होता है। मां, वह विश्व व्यापिनी क्षमा मूर्ति भी तुम्हारी ही है। तुमको कोटि प्रणाम। तुम मां हो। क्षमा ही तुम्हारी मूर्त्ति है। जहाँ पर अपराध नामक कुछ नहीं है, जहां पर अन्याय नामक कुछ नही है, जहाँ पर स्वेच्छाचारिता ही स्नेह का वहिर्विकास है, वही क्षमामयी मूर्ति तुम हो। अन्य जीवनों की बात छोड़ कर, केवल वर्त्तमान जीवन की तरफ लक्ष्य करने से भी देखते है, तुम्हारी कितनी अवहेलना की है—करते हैं, तुम्हारा नीरव, सत्य आदेश, तुम्हारे अव्यक्त आशीर्वाद की कितनी उपेक्षा की है करते हैं, किन्तु माँ, तुमने तो एक दिन के लिये भी हमारे प्रति विरक्ति का कटाक्षपात नहीं किया! तुम चिर हास्यमयी, चिर क्षमामयी हो माँ निर्निमेष नयनों से केवल हमारे मुख की तरफ देख रही हो, कब हमारी यह भूल टूटेगी, कब हम तुम्हारी बात सुनेंगे, कब सत्य सत्य ही तुमको माँ कहकर पुकार उठेंगे। माँ, तुम क्षमामयी मूर्त्ति से इस जीव-जगत् को अनादि काल से हृदय पर लिये हुए हो, तभी तो हम हैं, नहीं तो ऐसे अकृतज्ञ जीव-जगत् का अस्तित्व ही न रहता। जो

जीव-जगत मां की सत्ता ही स्वीकार नहीं कर सकता, वही जीव-जगत वर्त्तमान है। यही तुम्हारी क्षमामूर्ति का अपूर्व निदर्शन है। तुम्हारी इस समष्टि क्षमामयी मूर्ति को असंख्य प्रणाम।

फिर क्षमा के बीज रूपिणी अव्यक्त कारुण्य मूर्ति को तृतीय प्रणाम करके निरञ्जन क्षेत्र में जा पहुचे। जहां पर क्षमा की अथवा अक्षमा नाम का कुछ नहीं है, जिसकी सत्ता से क्षमा की सत्ता है, क्षमा रूप से प्रकटित होते हुए भी जिनकी निगुर्ण सत्ता का बिंदुमात्र भी अन्यथा नहीं होता, न हुआ, उसी गुणातीत मूर्ति को भूयोभूयः प्रणाम करते हैं।

——

या देवी सर्वभुतेषु जातिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ २१॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतोंमें जाति रूप से अवस्थिता है, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारंबार प्रणाम है।

व्याख्या। माँ, जो नित्य होते हुए भी बहु पदार्थों में समवेत हैं वही तो तुम्हारी जाति मूर्ति है। जन्म से ही जाति की अभिव्यक्ति होती है। ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व प्रभृति जातिरुप से, अथवा मनुष्यत्व देवत्व, पशुत्व प्रभृति जातिरूप से तुमने ही तो समस्त जीवों को अङ्क में धारण कर रक्खा है! अल्प वयस्क बालक मातृगोदी में उपविष्ट होकर जैसे "मैं माँ का बेटा हूं" कहकर अभिमान करता है, ठीक उसी तरह इस जगत् में जब कोई, "मैं ब्राह्मण हूं" "मैं क्षत्रिय हूं" इत्यादि रूप से किंवा "मै मनुष्य हूं" "मै देवता हूं" इत्यादि रूप से आत्म परिचय प्रदान करता है, तब देखते हैं— माँ, तुमने ही जाति मूर्ति से उसे गोदी में धारण किया है। माँ, तुम्हारी इस व्यष्टि जाति मूर्ति को प्रणाम।

हे माँ, तुम्हारी जो सब सन्तती वर्त्तमान में जातिभेद उठा देनेका

प्रबल प्रयास कर रही हैं, वे नहीं जानती कि जाति रूप से तुम्हारा ही विकाश है। नित्या तुम हो, तुम्हारी यह जाति मूर्ति भी नित्या ही है, जब तक जीव जगत् है, सृष्टि है, तब तक जातिभेद रहेगा ही। शतचेष्टा से भी वह विनष्ट नहीं हो सकेगा। तब हाँ, काल भेद से अवस्था भेद से, देश भेद से जाति भेद का रूपान्तर हो सकता है। माँ, तुम कह दो, तुम समझा दो—जाति स्वरुप नित्य है, उसका विलय जगत् में हो नहीं सकता।

जो हो माँ, तुम्हारी इस व्यष्टि जाति मूर्ति को प्रणाम करने से समष्टि महति जाति स्वरूप को तरफ दृष्टि पड़ती है। तब देखते हैं—व्यष्टि जाति समूह उसी अद्वितीय जाति की तरङ्ग मात्र है, तुम्हारी उस सर्वभूत-महेश्वर रूपिणी महती जातिमूर्ति को प्रणाम। अनन्तर इन दोनों के बीज रूपिणी कारण स्वरूपा जाति मूर्ति को प्रणाम। प्रलय काल में सारे ब्रह्माण्ड का विलय हो अवश्य जाता है, किन्तु बीज रूप से जो जाति रह जाती है। वह ही तुम्हारी जाति रूपिणी कारण मूर्ति है। सर्व शेष में जहां पर जाति नहीं, मूर्ति नहीं, प्रलय नहीं, अथच जिसमें ये सब अवस्थित हैं, जाति रूप से आत्म प्रकाश करके भी जिसमें विन्दु मात्र विकार वा परिणाम नहीं होता, उसी वाक्य-मन के अतीत स्वरूप को लक्ष्य करके बारंबार प्रणाम करते हैं। मां, तुम हमारा प्रणाम ग्रहण करो!

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥२२॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में लज्जा रूप से अवस्थिता हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको बारंबार प्रणाम।

व्याख्या। मां तुम प्रति जीव हृदय में लज्जामूर्ति से आत्म-प्रकाश करती हो, तभी तो तुम्हारे सन्तान वृन्द अनेक समय निन्दित

कार्य के अनुष्ठान से विरत हो जाते हैं। अरे, सोचने से भी देह रोमाञ्चित हो उठती है, यदि जीव हृदय में तुम्हारी इस लज्जामूर्त्ति की अभिव्यक्ति न होती, तो यह जगत् यथार्थ ही पशु राज्य में परिणित हो जाता। एक तरफ जैसे तुमने अतुलनीया क्षमामूर्त्ति से जीव को स्वेच्छाचारिता का सुयोग दिया है, दूसरी तरफ तैसे ही लज्जा मूर्त्ति से उसको उच्छृङ्खलता से संयत कर रही हो। धन्य है तुम्हारी कृपा! माँ तुम्हारी इस व्यष्टि लज्जा मूर्त्ति को प्रणाम। अनन्तर जब इसी लज्जा को ईश्वरी मूर्त्ति से विश्व व्यापिनीमूर्त्ति से सर्वभूतों में विराजिता समष्टि लज्जा स्वरूप से देखते हैं, तब मालूम होता है कि माँ! तुम ही संयम की मूर्त्ति धर के सहस्र बाहु से स्वेच्छाचारी जीव-सन्तानों को वक्षस्थल में खींच रही हो। इस लज्जा मूर्त्ति के भीतर होके ही तुम्हारा मातृभाव पूर्ण भाव से अभिव्यक्त और स्नेह की पराकाष्ठा पूर्ण भाव से प्रदर्शित हो रही है। माँ, तुम्हारी इस समष्टि लज्जा मूर्त्ति को प्रणाम। अत:पर इस स्थूल सूक्ष्म वा व्यष्टि समष्टि लज्जामूर्त्ति का जो बीज वा कारण है, उसे तृतीय प्रणाम करते हैं।

यहां पर एक बात विशेष भाव से हमको याद करने योग्य है कि, यद्यपि माँ तुम इस लज्जामूर्त्ति से सर्वभूतो को संयत करके रखती हो यदि कोई सन्तान प्रवृत्ति के वश होकर कोई निन्दनीय कर्म करता है, तो वह सर्वसाधारण के सामने गोपन रखने की सतत चेष्टा करता है, किन्तु माँ तुम्हारे पास किसी की कुछ लज्जा नहीं है। तुम्हारे पास कोई भी बात गोपन करने की इच्छा नहीं होती। जो बात जगत् के किसी को नहीं कही जा सकती, जो सभी के सामने एकान्त गोपनीय है, वह बात भी निर्विचार से, अकपट हृदय से तुम्हारे पास खोल कर कही जा सकती है। तुम स्वयं लज्जा रूपिणी हो; किन्तु सन्तान तुम्हारे पास आने में, तुम्हारे पास प्राणो की गुप्त बात खोलकर कहने में कुछ भी लज्जा वा संकोच बोध नहीं करता, यह ही तुम्हारा विशेषत्व है। माँ, और एक बात सत्य ही कहता हूं, हम सबसे ज्यादा

तुमको ही प्रेम करते हैं। यह ही उसका वहिर्लक्षण है। कितने ही संसारमुग्ध क्यो न हो, स्त्री, पुत्र, धन, यश प्रभृति को कितना ही प्रेम क्यो न करें, तुमको किन्तु, सबों से ही ज्यादा प्रेम करते हैं माँ। नहीं तो तुम्हारे पास कोई भी बात गुप्त क्यों नहीं कर सकते हैं, अथवा गुप्त करने की इच्छा क्यों नहीं होती? माँ तुम ही तो हमारी प्रियतम वस्तु हो, जब तक जीव यह बात ठीक ठीक नहीं समझ सकता, तब तक ही संसार के मोह में आच्छन्न रहता है और जिस दिन से तुम दया करके जीव हृदय में यह तत्व उद्भावित कर देती हो, उस दिन से ही उसकी संसाराशक्ति कमने लगती है, किन्तु वह और बात है।

जहाँ पर लज्जा नहीं, संकोच नहीं, स्वेच्छाचारिता नहीं, संयम नहीं अथच जिनकी सत्ता से इन सब की सत्ता है, और इन स्वरूपों से प्रकाशित होने पर भी जिनके स्वरूप में कुछ भी व्यत्यय नहीं होता उन्हीं "एकमेवाद्वितीयम्" तत्व रूपिणी माँ तुमको पुनः पुनः प्रणाम। और एक बात यहां पर कहना आवश्यक जान पड़ता है— अनेक शिष्य अपनी अपनी दुर्बलताओं को स्व स्व गुरुदेव के पास प्रकाश करने में लज्जा वोध करते हैं। यह उन्नति का अन्तराय है। शास्त्र में है—गुरु के पास लज्जा न करे, निःसंकोच से समस्त पाप, समस्त दुर्बलता प्रकाश करे। जब तक ऐसी इच्छा नहीं जगे, तब तक समझने होगा कि या तो गुरु लाभ यथार्थ भाव से हुआ नहीं अथवा गुरु में ईश्वर बुद्धि का अभाव है। अच्छा जो हो, हम अब स्थूल सूक्ष्म कारण के अतीत स्वरूप को नमो नमः कह कर चतुर्थ प्रणाम करते हैं।

या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ २३॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में शान्ति रूप से अवस्थिता हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। मां, यद्यपि विषय संभोग में यथार्थ शान्ति नहीं है, शान्ति का आभास मात्र है, यद्यपि चित्त का पूर्ण प्रशान्त भाव नहीं आने से शान्ति का संधान ही नहीं मिलता, तथापि इस विषय संग्रह और संभोगजनित अस्वाभाविक चित्त विक्षेप के भीतर होकर जो कणा-मात्र शान्ति कदाचित् हमारे हृदय को क्षणकाल के लिए पवित्र करके चली जाती है, वह शान्ति मूर्त्ति तुम्हारी है। सर्वभूतों में ही तुम्हारी इस मूर्त्ति का अल्पाधिक विकाश देखने में आता है; वह ही तुम्हारी व्यष्टि-शान्ति मूर्त्ति है। हे माँ, तुम जब शान्तिमयी मूर्त्ति से हमको गोद में लेकर बैठती हो, तभी तो हम शान्ति का स्वरूप अनुभव करने में समर्थ होते हैं, यद्यपि क्षणकाल मात्र, तथापि वह ही अपूर्व है। मां, तुम्हारे जो सन्तान शान्ति की आशा से बाहर में दौड़ कर घुमते हैं; उनको समझा दो—शान्ति बाहर में नहीं अन्दर में है। आओ मां शान्तिरूपिणी तुमको प्रणाम करें। फिर चलो मा, देखें—जहां पर तुम्हारी महती शान्तिमूर्त्ति है, जहा पर जाने से एक अन्तिम शान्ति व्यतीत और कुछ भी नहीं पाया जाता, जहां पर जाने से यह संसार-ताप-सन्तप्त वक्षःस्थल हमेशा के लिये शीतल हो जावे, चलो माँ चलो, एक बार वहाँ पर जायें। वह क्या मधुमयी अवस्था है! आः! वह जो अनिर्वचनीय है। केवल शान्ति! केवल शान्ति!! शोक नहीं, ताप नहीं, ज्वाला नहीं केवल हृदयभरी शान्ति। उस शान्ति समुद्र को पकड़ रखने लायक सामर्थ्य इस क्षुद्र वक्षः में नहीं है।

माँ, तुम्हारी उस समष्टि महती शान्ति मूर्त्ति को असंख्य प्रणाम। तुम हमको क्षणकाल के लिए अपनी इस महती शान्ति मूर्त्ति के अङ्क-च्युत मत करना। जब तक विषय भोगों की आसक्ति विदूरित नहीं होती, तब तक तुम्हारी इस अनिर्वचनीय केवल शान्ति मूर्त्ति का सन्धान नहीं पाया जाता। तुम्हारी इस महती शान्ति मूर्त्ति को प्रणाम करते करते हम क्रम से ऐसे एक अव्यक्त क्षेत्र में उपस्थित होते हैं, जहां पर शान्ति का ऐसा महत्व, ऐसी व्यापकता किंवा विशिष्टता

नहीं केवल अव्यक्त रूप में शान्ति का बीज अवस्थित है, जिसमें से यह व्यष्टि समष्टि शान्ति मूर्ति उदय हो उठती है, हे मां तुम्हारी उस कारण रूपिणी शान्ति मूर्त्ति को तृतीय प्रणाम। फिर जहाँ पर कुछ नहीं, अथच किसी का अभाव भी नहीं, जहां पर शान्ति कहने को विशेष कुछ समझ में नहीं आता, अथच अशान्ति का भी लेशमात्र नहीं हैं, वहीं तो तुम्हारा त्रिगुणातीत वाक्य मन के अगोचर निरञ्जन स्वरूप है, उसको लक्ष्य करके नमोनमः कहकर पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। तुम हमको नित्य शान्तिमय अवस्था में ले चलो।

—०—

या देवी सर्वभुतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥२४॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में श्रद्धा रूप से अवस्थिता है, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। मां, श्रद्धा कहने से प्रथम ही तुम्हारी व्यष्टि श्रद्धामूर्ति की तरफ दृष्टि पड़ती है। यद्यपि गुरु और वेदान्त वाक्यमें दृढ़ प्रत्यय ही श्रद्धा नाम से प्रकट है तथापि, निरुक्तकार यास्कर ने श्रद्धाकी जो निरुक्ति की है वह भी जान लेना खूब ही आवश्यक है। "श्रतः सत्यम् धीयत् इति श्रद्धा" जो प्रत्यय अर्थात् जो प्रतीति नियत सत्य को धारण करके रखती है, वह ही यथार्थ श्रद्धा पद वाच्य है। मां जिसको तुम इस कल्पित माया के बन्धन से मुक्त करती हो, उसके हृदय में सबसे प्रथम ही तुम्हारी श्रद्धा मूर्ति का आविर्भाव होता है। वह गुरु वाक्य में, वेदान्त वाक्य में दृढ़ विश्वासवान् होता है, सत्य की प्रतिष्ठा ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य होता है, यह सब बहिर्लक्षण देखकर ही हम समझ सकते हैं— मां, तुम ऐसे जीव के हृदय में श्रद्धा मूर्ति से प्रकटित हुई हो। अल्प हो, ज्यादा हो, सभी जीवों के हृदय में व्यष्टि श्रद्धा मूर्तिसे तुम सब समय ही प्रकाशित हो रही हो।

माँ तुमको प्रणाम। गीता में उक्त है—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं"। श्रद्धा आत्म स्वरुप ज्ञान की अकाट्य पूर्ववर्ती अवस्था है। जब तक श्रद्धा प्राप्त न हो तब तक ज्ञान राज्य में प्रवेश करने की आशा वृथा है। श्रद्धा और निश्चय ज्ञान प्रायः एक ही बात है। संशय रहते निश्चय ज्ञान नहीं होता, इसीलिए समझना चाहिए जब तक संशय है, तब तक हमारी मां श्रद्धा मूर्ति से प्रकाशित नहीं हुई हैं। श्रद्धा एकबार प्राप्त होने से वह नष्ट नहीं होती। साधारणतः मालूम पड़ता है—हम और किसी वस्तु वा व्यक्ति को श्रद्धा करते हैं वास्तविक सो नहीं। श्रद्धा हमारे ज्ञान की ही एक अपूर्व अवस्था है, वह सत्य रूप से निःसंशय रूप से प्रकाश पाती है। जो कुछ साधन भजन हैं इस श्रद्धा की प्राप्ति के लिए ही अनुष्ठित होते रहते हैं! जिनको श्रद्धा प्राप्ति हुई है वह धन्य हैं। अच्छा जो हो, माँ तुम्हारी व्यष्टि श्रद्धा मूर्त्ति को प्रणाम करते करते समष्टि श्रद्धा मूर्त्ति की तरफ लक्ष्य करने पर देखते हैं सुबि-शाल शुभ्र आकाश रूप से निस्तरङ्ग महोदधीकल्पा महती श्रद्धा मूर्त्ति में यह विश्व प्रपञ्च अवस्थित है। तुम्हारी इस माहेश्वरी श्रद्धा मूर्त्ति के अङ्क में ही समग्र जीव जगत् परिशोभित है! माँ! तुम्हारी इस समष्टि ईश्वरी श्रद्धामूर्त्ति के चरणों में प्रणाम।

अनन्तर इस व्यष्टि समष्टि श्रद्धा का जो बीज है, उस अव्यक्त कारण रूपिणी श्रद्धा को "नमस्तस्यै" कह कर तृतीय प्रणाम करके, शेष में गुणातीत स्वरूप में जा पहुँचते हैं। जहाँ पर श्रद्धा किंबा अश्रद्धा नामक कुछ नहीं है, जिनकी सत्ता से श्रद्धा की सत्ता है, श्रद्धा रूप से प्रकाशित होने पर भी जिनके स्वरूप में कुछ विकृति नहीं हुई, उन्हें लक्ष्य करके; नमो नमः कहकर पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। हे माँ, तुम हमारे हृदय में श्रद्धा मूर्त्ति से प्रकटित होओ। हम ज्ञान लाभ करके धन्य हों।

———

या देवी सर्वभुतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥२५॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में कान्ति रूपसे अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। मां, कान्ति वा सौन्दर्य रूप से तुम ही सर्वत्र सर्व वस्तुओं में नित्य उद्‌भासिता हो। जीव कितना ही कुत्सित वा कदा-कार क्यों न हो, प्रत्येक में ही कान्ति नामक एक पदार्थ है। प्रत्येक मनुष्य ही इस कान्ति का कुछेक अंश उपलब्धि कर सकते है। तद्भिन्न पुष्प में पद्म में, चन्द्र में, शिशु एवं कामिनी के मुख मण्डल में एक न मालूम क्या चीज है, जिसको देखते ही हमारा चित्त प्रफुल्ल होता है, वह भी मां, तुम्हारी इस कान्ति मूर्त्ति की अभिव्यक्ति है। जब तक तुम जीव देह में चेतना रूप से अधिष्टिता रहती हो तब तक तुम्हारी यह कान्ति मूर्त्ति विशेष भाव से प्रत्यक्ष होती रहती है। केवल प्राणी ही की देह में नहीं वृक्ष, लता, पर्वत नद-नदी ग्रह, नक्षत्र सर्वत्र ही तुम्हारी इस विशिष्ट कान्ति मूर्त्ति का विकाश देखने में आता है। मां, यही तुम्हारी इस कान्ति मूर्त्ति की अभिव्यक्ति है। जब तक तुम जीव देह में चेतना रूप से अधिष्ठिता रहती हो तब तक तुम्हारी यह कान्ति मूर्त्ति विशेष भाव से प्रत्यक्ष होती रहती है। केवल प्राणी ही की देह में नहीं, वृक्ष, लता, पर्वत, नद-नदी, ग्रह, नक्षत्र सर्वत्र ही तुम्हारी इस विशिष्ट कान्ति मूर्त्ति का विकाश देखने में आता है। माँ, यही तुम्हारी कान्ति मूर्त्ति का व्यष्टि रूप है। ऐसे व्यष्टि कान्ति रूपिणी तुमको प्रणाम।

क्रम से व्यष्टि वस्तु को छोड़ कर, जब सर्वभूत महेश्वरी महती कान्ति मूर्त्ति की तरफ लक्ष्य पड़ता है, तभी यह समग्र जगत् कान्ति मय, सौन्दर्यमय सुतरां मधुमय हो उठता है। हे माँ, उस समय इस क्षुद्र बुद्धि की धारणा शक्ति जितनी दूर तक प्रसारित होती है, वहाँ तक केवल कमनीय कान्ति आकाशवत्, सर्वतः प्रसृत, रूपहीन, कमनीय

रूप देखकर, उपलब्धि करके, भोग करके हम कैसे हो पड़ते हैं। हे माँ यह हमारा मैंत्व (अहंत्व) कान्ति समुद्रमें डूब जाता है। उस अरूप-रूप सागरमें डुब करके मैत्व (अहंता) कैसा अनिर्वचनीय भावमय हो पड़ता है, वह कैसे प्रकाश करु ? अरे जिस रूप को देखकर ब्रजा-ङ्गनागण मुग्ध होकर दौड़ पड़ती थीं, जिस रूप को देखकर गाभीदल अर्द्ध भुक्त तृण परित्याग करके तुम्हारी तरफ निर्निमेष नेत्रों से देखती रह जाती थीं, जिस रूप को देखकर जड़ यमुना प्राणमयी होकर उल्टी बहने लगती, अहा ! यह वही रूप है वही रूप। यह यथार्थ ही कुल का बाँध तोड़ देने वाला रूप है। मनप्राणहर रूप है। एक बार यह कमनीय कान्ति जिसके नेत्रपथ में पड़ जाती है, इस संसार में— ब्रह्माण्ड में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसके लिये उस लोभनीय कान्ति की स्मृति से वह विच्युत हो सके। मां, उस विश्व व्यापिणी अनन्त सौन्दर्यमयी तुम्हारी कान्तिमूर्त्ति को प्रणाम !

अनन्तर जिस अव्यक्त बीज में से इस व्यष्टि समष्टि कान्ति का प्रादुर्भाव होता हैं, उस कारण रूपिणी कान्ति मूर्त्ति को प्रणाम। अव-शेष में तुम्हारे निरञ्जन स्वरूप को लक्ष्य करके नमोनमः कहकर बार बार प्रणाम करते हैं। जहां पर कान्ति कहने को कुछ नहीं, अथच कान्ति जिनके प्रकाश से प्रकाशित है, कान्ति रूप से प्रकाशित होते हुऐ भी जिनके अव्यय स्वरूप की विन्दु मात्र भी विकृति नहीं ईहु उस परम कमनीय परम प्रेमास्पद परमात्म स्वरूप को पुनः पुनः प्रणाम।

या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२६॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में लक्ष्मी रूपसे अवस्थिता हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। प्रथम कहा जा चुका है-लक्ष्मी शब्द का अर्थ है प्राण, जीव देह में जब तक प्राण रहते हैं, तब तक ही वह लक्ष्मी वा श्री युक्त

रहता है। लक्ष्मी शब्द का अर्थ है शोभा सम्पत्-सौन्दर्य; जो कुछ भी कहो प्राण ही इन सबों के एकमात्र आधार हैं।

हे मां, सर्वभूतों में तुम ही प्राण रूप से लक्ष्मी मूर्त्ति से विराजित हो रही हो। इन्द्रियग्राह्य नहीं होने पर भी यह मूर्त्ति हमारे नित्य अनुभव योग्य ही तो रहती है। जीवित व्यक्ति कभी भी प्राणों का अभाव अनुभव नहीं करता। यह जो प्रति जीव का सब समय अनुभव योग्य प्राण स्वरूप है, यह ही तो मां तुम्हारी व्यष्टि लक्ष्मी मूर्त्ति है। आओ प्राण रूपिणी मां' तुम्हारे चरणों में असंख्य प्रणाम करें। साधक! तुम अपने शरीर में प्राण रूप से जिसको सब समय उपलब्धि करते हो, वह ही माँ की व्यष्टि लक्ष्मी मूर्ति है। पहले इन व्यष्टि प्राणरूपिणी मां को 'नमस्तस्यै' कहकर प्रणाम करो। फिर विश्वव्यापी महाप्राण रूप से अवस्थित समष्टि प्राणमयी मातृमूर्ति दर्शन करो। देखो एक ही प्राण समुद्र की विभिन्न तरङ्गें जीव रूप से फूट निकलती हैं। बहुत दिनों से इनकी अवज्ञा करते आ रहे हो, आज से फिर अवज्ञा मत करना, आज सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ 'नमस्तस्यै' कहकर प्रणाम करते हुए, अपने यह क्षुद्र प्राण उन्हीं महाप्राण समुद्र में डाल दो, तुम्हारे जीवत्व का अवसान हो जाय। अनन्तर इन व्यष्टि समष्टि प्राणों का जो केन्द्र है, उसी सूक्ष्म कारण रूपिणी अव्यक्त प्राण सत्ता को प्रणाम करके निरञ्जन क्षेत्र में उपनीत होकर नमोनमः कहते कहते आत्म विस्मृत (आत्म भोला) हो जाओ आत्म लाभ करो।

या देवी सर्वभुतेषु वृत्ति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१६॥

अनुवाद। जो देवी सर्व भूतों में वृत्ति रूप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। वृत्ति शब्द का अर्थ जीविका अथवा चित्तवृत्ति है। अव्यक्त चैतन्य जब कभी किसी का आश्रय करके वर्तमानवत् प्रका-

शित होते हैं, अर्थात् व्यक्त भावापन्न होते हैं, तभी वह वृत्ति नाम से परिचित होते हैं। जीविका रूप वृत्ति भी चैतन्य की इस विशिष्ट अभिव्यक्ति को छोड़कर और कुछ नहीं है।

मां; हम सब समय तुम्हारे इस वृत्ति स्वरूप की उपलब्धि किया करते हैं। क्या इन्द्रिय वृत्ति, क्या अन्तःकरण वृत्ति, सभी रूपों से तुम नित्य प्रकाशित हो। एक दिन भी तुम्हारी इस मूर्ति का आदर नहीं किया, एक दिन भी इसे मां कह कर नहीं जाना, आज तुमने कृपा करके आत्म प्रकाश किया है, वृत्ति रूप से जो तुम ही प्रकाशित हो, उसकी उपलब्धि करने की योग्यता तुमने दी है, आज उसी चिर अकृतज्ञता का प्रायश्चित्त करने को "नमस्तस्यै" कह कर एक क्षुद्र प्रणाम कर रहा हूँ। व्यष्टि वृत्ति रूपिणी मां तुम हमारा प्रणाम ग्रहण करो।

फिर समष्टि की तरफ—सूक्ष्म की तरफ लक्ष्य करने से देखते हैं, विश्वमय एक अखण्ड वृत्ति नामक वस्तु ही हैं। सृष्टि स्थिति और प्रलय रूप से प्रकाशित उसी महती वृत्तिरूपिणी, ईश्वरी मूर्ति का ही एक-एक स्फुरण प्रति जीव के भीतर होकर भिन्न-भिन्न वृत्ति रूप से प्रकाशित हो रहा है। ऐसी महती वृत्ति रूपिणी ईश्वरी मा तुम्हारे चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम !

अनन्तर जिस सूक्ष्मतम अव्यक्त कारण से इस व्यष्टि समष्टि प्रकाश हैं एवं जिस केन्द्र में पुनराय इनका विलय होता है, मा ! तुम्हारी उसी अव्यक्त कारण मूर्ति को प्रणाम करके, सर्वशेष में निरञ्ज-नतव में प्रविष्ट होते हैं। जहां पर वृत्ति नामक कुछ नहीं, केवल विशुद्ध चित् है, जहां पर उपस्थित होने से सर्व वृत्तियां सम्यक विलय प्राप्त होती हैं, उसी गुणातीत स्वरूप को नमोनमः कहते हुए प्रणाम करते हैं ! मा। कब तुम हमारा यह प्रणाम सर्वतोभाव से ग्रहण करोगी ? वृत्ति रूपिणी मा हमारी, तुम जब स्थूल सूक्ष्म और कारण स्वरूप परित्याग करके विशुद्ध बोधाकारा अर्थात् ब्रह्माकारा मूर्ति से आत्म प्रकाश करोगी, तभी हमारा यह प्रणाम सार्थक होगा।

या देवी सर्वभूतेषु स्मृति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२८॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतो में स्मृति रुप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या—हे मा, वृत्ति के बाद ही तुम्हारी स्मृति मूर्ति उद्भासित होती है; कारण, प्रथम वृत्ति रूप से जो भाव प्रकाशित होता है, बाद में वह ही संस्कार रूप से रह जाता है। वही सञ्चितभाव जब पुनराय चित्तक्षेत्र में उद्बुद्ध हो उठता है, तभी वह स्मृति नाम से परिचित होता है। मा, स्मृति रूप से ही तो तुमने जन्म जन्मान्तर सञ्चित विन्दु विन्दु ज्ञानसमष्टि को धारण किया है। एक एक मृत्यु के साथ ही यदी उस जन्म का लब्ध ज्ञान विस्मृत हो जाता, तो फिर हमको पूर्ण ज्ञान प्राप्ति की आशा ही नहीं रहती, मुक्ति का आस्वाद नहीं मिलता, अनन्तकाल अज्ञान नरक में पच्यमान् होने होता; किन्तु स्नेहमयी मा हमारी। तुम इस अनादि अज्ञान से हमको मुक्त करने के लिये स्मृति रूप से प्रति जीव हृदय में नित्य विद्यमान् रहती हो, इसीसे हम स्मृति रूपिणी तुम्हारी स्नेहमयी गोदी में अवस्थान करके जन्मों के ऊपर जन्म लेकर केवल ज्ञानराशि ही सञ्चय कर रहे हैं। उसी के फल से एक दिन "अहं ब्रह्मास्मि" रूप चरम स्मृति में पहुँचेंगे। जीवत्व का धंधा हमेशा के लिये अवसित हो जावेगा। आओ व्यष्टि स्मृति रूपिणी केवल मेरी मा। आओ तुम्हें प्रणाम करूँ। फिर तुम्हारी ही कृपा से तुम्हारी उस सर्वभूत महेश्वरी समष्टि-स्मृति के पास पहुँच कर देखते हैं— एक महती स्मृति मूर्ति, इस ब्राह्माण्ड को धारण किये हुए हैं। सर्व भूतों में जो बिभिन्न स्मृति का विकाश दिखाई देता है, वह इस समष्टि-स्मृति-समुद्र की ही भिन्न भिन्न तरंग मात्र है। मा। तुम्हारी इस ईश्वरी स्मृति मूर्ति को प्रणाम। अनन्तर सर्वस्मृति-बीज रूपिणी अव्यक्त कारणमूर्ति को प्रणाम करके निरञ्जन स्वरूप में जा पहुँचें। जब हमारी जीवत्व स्मृति विलुप्त होकर, "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी

स्मृति अविच्छिन्न भाव से जाग्रत रहेंगी, तभी हम तुम्हारे निर्गुण स्वरूप का सन्धान पाएंगे जहाँ पर स्मृति नामक कुछ नहीं। जिसकी सत्ता से स्मृति की सत्ता है स्मृति रूप से प्रकाशित हुए भी जिनके निर्गुणत्व में बिन्दु मात्र व्याघात नहीं होता, उनको पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

या देवी सर्वभूतेषु दयारुपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२६॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में दया रुप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। मा, जीवों का दुःख देख कर, उस दुःख को दूर करने के लिये जो इच्छा जागती है, वह ही तुम्हारी दया मूर्ति हैं। प्रत्येक जीव हृदय में ही अल्पाधिक परिमाण से तुम्हारी इस व्यष्टि-दया मूर्ति का विकाश देखा जाता है। मा! तुम्हारी इस मूर्ति को हम प्रणाम करते हैं। हे मा, अपनी प्रियतम सन्तति को कह दो - जब वह किसी के दुःख से दुःखित होकर कुछ दान करने को उद्यत हो, अथवा अन्य किसी प्रकार उपकार करने की चेष्टा करे, उस समय वह "दुःखी के प्रति मैंने दया की" "दूसरों का उपकार किया" इस प्रकार के ज्ञान से दान वा उपकार न करे, कारण उपकार अन्य का नहीं किया जाता, वास्तविक उपकार निज का ही होता है। जब कोई अन्धा, खञ्ज अथवा दरिद्र आर्त व्यक्ति कुछ प्राप्ति की आशा से किसी से प्रार्थना करता है, तब कार्यतः उसका कातर भाव देख कर दाता के हृदय में दया वृत्ति का उद्बोध होता है, उस समय संसार के धन्धों में दाता व्यस्त था, हठात् इस प्रकार किसी दरिद्र वा विकलांग व्यक्ति का कातर भाव दर्शन करने से उनके हृदय में दया का उद्रेक हुआ। यह जो दया, यह तुम्हारी ही मूर्ति है। तुम ही तो मा दया मूर्ति से उस समय उसके हृदय में आविर्भूत हुई हो! दाता यदि इसे

ठीक ठीक समझ सके एवं "नमस्तस्यै" कह कर तुमको प्रणाम कर सके, तो वह निश्चय ही दरिद्र के प्रति कृतज्ञ हो पड़ेगा। जिस दरिद्रने दाता को दया रूपिणी मातृमूर्ति दिखा दी, उसके प्रति कृतज्ञ बिना हुआ दाता रह सकता है क्या ? उस कृतज्ञता ही के प्रतिदान स्वरूप जो कुछ दान किया जाता है, जो लाभ हुआ है उसकी तुलना में वह अकिञ्चित्कर होगा ही; सुतरां इस प्रकार दान के फल से ग्रहीता जितना उपकृत होते हैं, दाता को तदपेक्षा सहस्र गुणे उपकार प्राप्त हो जाते हैं। दया सात्विकी वृत्ति है। इसका जितना ज्यादा अनुशीलन होता है, मनुष्य उतना ही सुखी होती है। जो व्यक्ति हमको इस सात्विकी वृत्ति के अनुशीलन का सुयोग कर देता हैं, वह चाहे कितना ही दीन दरिद्र क्यों न हो, हम उसके द्वारा विशेषभाव से उपकृत हुए हैं, इस विषय में कुछ भी संशय नहीं। उस दान के प्रतिदान स्वरूप कितना ही अधिक दान क्यों न किया जाय, लब्ध उपकार की तुलना में वह अति सामान्य मात्र ही होता है।

साधक ! तुम दरिद्र को दान करते समय देखना—एक तरफ मा स्वयं दरिद्र मूर्ति परिग्रह पूर्वक सम्मुख में उपस्थित होकर कातर भाव से कुछ प्रार्थना कर रही हैं, दूसरी तरफ वह कातर भाव ही तुम्हारे हृदय में मा की दया मूर्ति से आविर्भाव का हेतु हो रहा है। तुम विषय चिन्ता में व्यस्त थे, मुहूर्त्त भर में ही उस विषय चिन्ता को दूरीभूत करके जिसने तुमको दया रूपिणी मातृमूर्ति दिखा दी, तुम उससे कितने ऋणी हो ! अपना सर्वस्व देने पर भी उसका प्रतिदान होगा क्या ? इस भाव से दान वा उपकार कर सकने से ही, दान की सार्थकता होगी। याद रखना—जब कभी भी तुम्हारे अन्दर दूसरों का दुःख दूर करने की इच्छा आविर्भूत हो, उस समय उस इच्छा को चित्त को एक सामान्य वृत्ति मात्र कह कर उपेक्षा मत करना; उसको ही प्रत्यक्ष मा कह कर समझ लेना। देवताओं की तरह तुम भी उनके चरणों में—इन दया रूपिणी माँ के चरणों में असंख्य प्रणिपात करना, परमानन्द पाओगे।

अब हम दया की व्यष्टि मूर्ति का परित्याग करके समष्टि मूर्ति के समीपस्थ होंगे। उस मूर्ति के समीपस्थ होने से विश्व में जिधर दृष्टिपात करो उधर दया व्यतीत और कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। ये अगणित जीववृन्द इस दया मूर्ति के ही वक्षस्थल पर अवस्थित हैं। जन्म मृत्यु जीवनयात्रा शोक-सुख प्रभृति सर्वावस्थाओं में जीव एकमात्र महती दया के वक्षस्थल पर ही अवस्थित है। अरे! जिउ दया का दान हमारे प्राण हैं जो दया करके, स्नेह करके हमको प्राण नामक वस्तु दे सकती हैं, उस दया की सीमा कहाँ-कहाँ हैं, यह कौन कह सकता हैं? मां तुम्हारी इस महती ईश्वर दया मूर्ति को शत शत प्रणाम। जो तुम्हारी इस दया मूर्ति को न देखकर रोग से, शोक से, दरिद्रता से उत्पीड़ित होकर तुम्हारी निष्ठुरता ही देख पाते हैं; वे निश्चय ही अन्धे हैं। सुनो, एक सत्य घटना बोलता हूं :—

किसी गभीर अरण्य में एक मुसलमान गलित कुष्ठ रोगग्रस्त होकर पड़ा था। उसके सारे शरीर में घाव, उसमें असंख्य कृमि, दुर्गन्ध से कोई पास नहीं जा सकता था। एक जन दूर सम्पर्कीय कुटुम्बी दिनान्त में कुछ आहार्य अति कष्ट से उसके मुख के पास रख जाता था। उसके द्वारा ही किसी तरह से वह जीवित था। उसकी जैसी अवस्था थी, ऊससे मृत्यु ही उसको एकान्त वाञ्छनीय और शान्तिप्रद जान पड़ती थी, ऐसी ही तरह से वह दिनपात करता था। दैवात एक फकीर उस स्थान पर उपस्थित होकर उसकी वर्तमान दुर्दशा देख कर दयार्द्र चित्त से बोले हाय! परमेश्वर कैसा निष्ठुर हैं! वह तुमको कितना कष्ट दे रहे हैं। तुम्हारे शरीर में ऐसा थोड़ा भी स्थान नहीं है, जो अक्षत हो। ओफ! कितना कष्ट तुम भोग रहे हो! यह सुनकर रोगी सरल हास्यमुख से बोला : "नहीं फकीर साहब, तुम खुदा को निष्ठुर मत कहना, वह तो परम दयामय हैं। यह देखो—मेरा कण्ठ अभी भी अक्षत है, अभी भी मैं प्राण भर के उनके गुण कीर्तन और नाम गान कर सकता हूं, धन्य है ऊनकी

दया को, जिनकी कृपा से मैं ऐसी शोचनीय अवस्था में पड़ कर भी उनका पवित्र नाम उच्चारण करके अपने को धन्य समझ रहा हूं।" इस प्रकार के उत्तर से सन्तुष्ट होकर फकीर ने अचिरात् (शीघ्र ही) उसे रोग मुक्त कर दिया।

सत्य ही इसी प्रकार जो सर्वावस्था में भगवान् की दया व्यतीत निष्ठुरता की बात चित्त में भी नहीं लाते, वे कभी भी किसी भी दुःख से ही एकान्त क्लिष्ट वा उत्पीड़ित नहीं होते, हो ही नहीं सकते। किन्तु, वह और बात है। मा! इस विश्व में जिधर को देखते हैं, उधर ही तुम्हारी घनीभूत दया मूर्ति देखते हैं। प्रत्येक पदार्थ, प्रति जीव घनीभूत दया के बिकाश व्यतीत और कुछ नहीं है। पूर्व में जो तुमको क्षमा रूप से देखते आ रहे हैं, वह इस दया मूर्ति का ही अन्यतम विकाश मात्र है। इस प्रकार जिस असीम दया-समुद्र में हम नियत अवस्थित हैं, तुम्हारी उसी परमेश्वरी महती दया मूर्ति के चरणों में असंख्य प्रणाम। फिर जिस अव्यक्त-केन्द्र से इस व्यष्टि-समष्टि दया का स्फुरण होता है, इस कारण रुपिणी दया मूर्ति को प्रणाम करके एकदम निरंजन क्षेत्र में चले जाहों। जहाँ पर दया कहने को कुछ नहीं, जिनकी सत्ता से दया की सत्ता है, जो दया रूप से प्रकाशित होकर भी नित्य अक्षुण्ण हैं, उनको नमोनमः बोल कर पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

या देवी सर्वभूतेषु तुष्टिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ ३०॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में तुष्टि रुप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। मा तुम तुष्टि रुपिणी हो। इष्ट प्राप्ति किंवा अनिष्ट निवृत्ति से क्षणभर के लिये अन्तःकरण में जिस भाव का उदय होता

है, वह ही तुम्हारी तुष्टिमूर्ति है। व्यष्टि रूप से प्रति जीव में तुम इस मूर्ति से विराजमान हो। तुमको प्रणाम। फिर जब तुम्हारी समष्टि-तुष्टि मूर्ति की तरफ दृष्टिपात करते हैं, तब देखते हैं—विश्वमय एक अखण्ड तुष्टि समुद्र है। जीवगण उसी के बीच में इतस्ततः विचरण कर रहे हैं। शोकार्त्त का कातर क्रन्दन, रोगार्त्त की रोगयन्त्रणा, क्षुधार्थ की क्षुधा की ज्वाला, इन सबों में भी तुम्हारी तुष्टि अवाधित भाव से ही विराजित है। जीव यदि रोकरके भी तुष्टि का सन्धान नहीं पाता, तो रोता नहीं। जान के या विना जाने में सब जीव ही तुष्टि की पूजा करते हैं, तुष्टि की सेवा करते हैं, तुष्टि की ही सन्धान में असंख्य जन्म मृत्यु के पेषण सह्य करते हैं। मा, तुम्हारी इस महती परमेश्वरी तुष्टिमूर्ति को प्रणाम, प्रणाम। हे मा, गीता शास्त्र में तुमने कहा है,—जो व्यक्ति "सतत संतुष्ट है" वह ही तुम्हारा प्रिय भक्त है। किन्तु मा जिसने तुम्हारी इस महती सर्व व्यापिनी तुष्टिमूर्ति का सन्धान नहीं पाया, वह क्या सतत सन्तुष्ट रह सकता है? इस जगत में प्रायः सर्वत्र ही एक तुष्टि का अभाव परि-लक्षित हो रहा है. उसका एकमात्र हेतु है प्रारब्ध कर्मफल की अपेक्षा ज्यादा वा अन्य प्रकार फल प्राप्त करने की इच्छा, एवं जब जो फल प्राप्त होगा, उसके पूर्व ही उस फल प्राप्ति के लिये व्याकुलता। ये दो ही जितनी अतृप्ति है उसके मूल हैं। प्रारब्ध में जो है, उसका अन्यथा हो नहीं सकता! एवं जो समय जिस फल के पाने के लिये निर्दिष्ट हैं, उसके पूर्व वह किसी प्रकार भी नहीं मिल सकता। इसे यदि मनुष्य समझ सके तो फिर किसी भी अवस्था में मनुष्य को तुष्टि का अभाव न हो, हो ही नहीं, सकता। हे मा, तुम जब तक जीव हृदय में अतृप्ति रूप से प्रकाशित रहती हो, तब तक जीव कैसे तृप्ति का तुष्टि का सन्धान पावेगा? इसीसे कहता हूँ मा, तू अपना तुष्टि स्वरूप प्रकाशित करके जीव की पूर्वोक्तरूप मिथ्या दुराशा जनित अतृप्ति दूर कर दे, यह दुःखमय जगत तेरी तुष्टिमूर्ति में अवस्थान करके धन्य हो। हमारा यह व्यष्टि समष्टि प्रणाम सार्थक हो! फिर

हम कारण तत्त्व में प्रवेश करें। जिस अव्यक्त क्षेत्र में से इस तुष्टि का आविर्भाव है, तुम्हारी उस कारण मूर्ति को प्रणाम करते हुए निरंजन सत्ता में जा पहुंचे, जहाँ पर तुष्टि अतुष्टि कुछ नहीं, जिसकी सत्ता से तुष्टि की सत्ता है, तुष्टिरूप से प्रकाशित होते हुए भी जिनके स्वरूप में कोई विकार नहीं होता, उनको लक्ष्य करके नमो नमः कहकर पुनः पुनः प्रणाम करें।

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥३१॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में मातृरूप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। हे मा मातृरूपिणी, तुमको प्रणाम। तुम समस्त जीवों को बीजरूप से गर्भ में धारण करती हो फिर उन्हें व्यक्त अवस्था में लाने के लिये तपः क्लेश वा इच्छाशक्ति का प्रयोग करती हो। तब जीव नाम से एक पृथक सत्ता परिलक्षित होती है, इस प्रकार अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में लाकर अर्थात् गर्भ में से प्रसव करके, स्तन्य दान से, खण्ड खण्ड विषय ज्ञान की सहायता से परिपुष्ट करती रहती हो। असंख्य जन्म मृत्यु के भीतर होकर तुम स्नेहमयी मा निर्निमेष नयनों से सन्तान के मुख की ओर देखती रहती हो। जीवों की, सन्तानों की, मिथ्या मैं वा अहंत्व की कल्पित अभाव-आकांक्षा को पूरण करती रहती हो। इसी प्रकार ज्ञान-स्तन्य से परिपुष्ट सन्तान क्रम से मातृसत्ता में विश्वासवान् होता है, जीव कर्तृत्व भूल जाता है, सर्वतोभाव से तुमको ही जकर के पकड़ता है, अपने को खो डालता है। तब तुम ही उसको फिर अपने में मिलाकर माता पुत्र सम्बन्धहीन एक अज्ञेय तत्व में पहूंचाती हो। मा, यह ही तुम्हारी सुप्रकट मातृमूर्ति है! इस प्रकार तुम्हारे स्थूल सूक्ष्म कारण

और निरञ्जन स्वरूप में तुम्हारे मातृत्व की सम्यक् अभिव्यक्ति देखकर, हमारी आत्मा मा ! तुम्हारे चरणों में पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। साधक ! ऐसी अभयवाणी कहीं देखी है क्या ? गीता की वह अभय वाणी याद है ? "अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।" वहाँ पर भी भजन करने का उपदेश है। और यहाँ पर इस देवी-महात्म्य में हम क्या देखते हैं ? देवतागण मा का स्तव करते करते ऐसी एक बात बोलने लगे, जो और कहीं भी इतने स्पष्ट भाव से नहीं पाई जाती। "आत्मा ही हमारी मा है" इससे बड़ी आश्वासन वाणी और क्या हो सकती है ? मैं जिस किसी भी अवस्था में क्यों न रहूं, अपनी मा की ही गोदी में हूँ। जबतक मैं अपने को एक पृथक जीव रूप से समझूंगा, जबतक मैं सर्वत्व में बहुत्व में मुग्ध रहूंगा, तबतक भी मैं मा की ही गोद में हूँ। धन्य हूँ मैं ! धन्य है मेरा जीवन ! मेरा अब अन्वेषण करने को कुछ नहीं, मेरा और अभाव नाम का कुछ नहीं। अरे, मैं तो अपनी मा की गोदी में हूँ। केवल मैं ही नहीं—सर्वभूत, यह जगत्, यह ब्रह्माण्ड, सभी माकी गोद में हैं ! अरे ! तुम सब माया कहो, जड़ा प्रकृति कहो, मिथ्या कहकर उड़ा दो, क्षति नहीं, मैं जानता हूँ—मै मा की गोद में हूँ, यह ब्रह्माण्ड मा की गोद में है। और जहाँ पर मैं नहीं ब्रह्माण्ड नहीं, वहाँ पर भी मा हैं, अव्यक्तरूप से कारणरूप से। और फिर ? फिर क्या है, सो कैसे करके कहूँ। उसे तो भावना में भी नहीं लाया जाता। तब हाँ—"अस्ति अस्ति अस्ति" "आनन्द आनन्द आनन्द" इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके, उनको तो समझा नहीं, उनको तो पाया नहीं, उसे ही पुनः पुनः प्रकाश करते रहते हैं।

मा, स्थूल में वा व्यष्टि में तुम केवल मेरी ही हो, सूक्ष्म में वा समष्टि में तुम हमारी मा सबों की—विश्व की मा हो, कारण में तुम हमारी एवं विश्व की गर्भधारिणी मा हो, और तुरीय में मैं तू एवं विश्वनामक कोई भेद ही नहीं, वहाँ पर तो तुम केवल मा-आत्मा-ब्रह्म हो। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, कारण में एवं कारणातीत स्वरूप में

तुमको नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमोनमः कहकर प्रणाम करते हैं। तुम हमारा प्रणाम ग्रहण करो।

या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥३२॥

अनुवाद। जो देवी सर्वभूतों में भ्रान्ति रूप से अवस्थित हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या। ऐसी सत्यवाणी शायद और किसी शास्त्र किंवा कोई दर्शनकारने प्रचार करने का साहस नहीं किया। देवी माहात्म्य का और सब अंश परित्याग करके मात्र इन दो मन्त्रों (मातृ रूप एवं भ्रान्ति रूप) ने जगत में जो सत्य और सामर्थ्य आनयन की हैं, वास्तविक ही वे अतुलनीय हैं। भ्रान्ति कहकर जिसे उड़ा देना चाहते हो, उस भ्रान्ति रूप से ही तो मा हैं! अरे, मेरा मात्र एक मुख एक लेखनी, एक मन है, फिर ये सब भी अतिशय क्षुद्र हैं, इतना क्षुद्र साधन लेकर, ये दो मन्त्र जगत् को क्या दे गए हैं, सो किस प्रकार व्याख्या करूँ। क्या यह देवी माहात्म्य ग्रंथ भारत के प्रति गृह में पठित होता है, सो इन दो मन्त्रों का तात्पर्य हृदयङ्गम होने ही से अच्छी तरह समझ में आ जाता है। दुर्बलों का ऐसा बल, हताशों का ऐसा आश्रय, ऐसी अभय वाणी जीवों के रोम रोम में इस-प्रकार से और किसी ने अंकित कहीं की हैं या नहीं, सो तो जानता नहीं। वेद में उपनिषद् में जो सत्य, भाषा के आवरण में प्रच्छन्न है, देवी माहात्म्य में वही उद्घाटित हुआ है।

सुनो, भ्रान्ति भी कैसे मा हैं--तुम अपना वह प्रसिद्ध दृष्टान्त ही लो। रज्जु में सर्प भ्रान्ति की तरह निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म में जगत् भ्रान्ति हो रही है। अच्छा ठीक है, रज्जु जैसे कभी भी सर्प नहीं, किंवा रज्जुमें जैसे किसी काल में भी सर्प नहीं, ठीक उसी तरह ब्रह्म जगत् नहीं किंवा ब्रह्म में किसी काल में भी जगत् नहीं है। यहाँ

पर यदि पूछें, भ्रान्ति किसकी ? तदुत्तर में कहोगे—यह जो तुम पूछ रहे हो, उसकी। ब्रह्म में भ्रान्ति नहीं है, वह तो निर्मल चित् स्वरूप हैं, जीव ही भ्रान्त है। अच्छा, रज्जु तो जड़ पदार्थ है, उसमें जब सर्प का अध्यास होता है, तब भी रज्जु में तो सर्प ज्ञान नहीं है। यह खूब ठीक है. किन्तु विचार कर देखें—रज्जु यदि चेतन अर्थात् बोध स्वरूप वस्तु हो, तब तो यह जो सर्प का अध्यास है, वह भी उस बोध में प्रतिभात होता न क्या ? निश्चय ही होता; कारण बोध के सामने जो रखोगे, वह ही प्रकटित होने लगेगा. यह ही बोध का स्वरूप है। सुतरां रज्जु स्थानीय ब्रह्म का चिद् रूपत्व निवन्धन उसमें जो सर्प-स्थानीय जगत् का अध्यास होता है, बह भी ब्रह्म के ही प्रकाश से प्रकाशित होता रहता है, और वास्तविक मनुष्य मात्र का अनुभव भी वैसा ही है। आधुनिक कोई कोई मायावादी इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं—ब्रह्म का मात्र अस्तित्व-अंश एवं माया का जड़त्व अंश इन दोनों का ही अध्यास होता है। अच्छा, उनकी बात स्वीकार करके ही पूछते हैं—चैतन्य शून्य अस्तित्व का भान होता है क्या ? कभी भी नहीं होता। अस्तित्व एवं चैतन्य अभिन्न वस्तु है। सुतरां जगत् रूप से जो दिखाई देता है, उसको सहस्रवार भ्रान्ति कहने पर भी यह भ्रान्ति ब्रह्म की है—अर्थात् चैतन्य के ही प्रकाश से प्रकाशित है। ब्रह्म में किसी न किसी अवस्था में जो कुछ प्रकाशित होता है, वह ब्रह्म व्यतीत और कुछ नहीं, अतएव भ्रान्ति भी ब्रह्म है। जाने दो, यह सब विचार की बातें हैं, ये सब मस्तिष्क धर्म के विचार हैं। आचार्य भाष्यकार ने जिस भाव से वा जिस अवस्था में पहुंच कर जगत को मिथ्या कहकर समझाने की चेष्टा की है, उसका यथार्थ स्वरुप उपलब्धि न कर सकने से, किसी किसी मायावादी के हाथ में पड़कर आचार्य की वह अनाक्षिप्त दिग्विजयी वाणी भी आज कल आक्षेप योग्य हो पड़ी हैं, यह ही आक्षेप का विषय हैं। हम भगवान् भाष्यकार को असंख्य प्रणाम करते हैं। वे यथार्थ ही जगद्गुरू रूप से आविर्भूत हुए थे।

अच्छा जो हो, हम जानते हैं मा ! जबतक जगत् है, देह है, तबतक तुम्हारी यह भ्रान्ति मूर्ति अनिर्वचनीय रहेगी ही। अरे, भ्रान्ति नहीं होने से तो यह अचिन्तनीय जगत् खेला ही नहीं रहता। ज्ञानमयी तुम भ्रान्तिमयी होकर ही तो यह अचिन्तनीय जगत् लीला सम्पादन कर रही हो, हम भ्रान्ति को भ्रान्ति कह कर के ही उड़ा देना चाहते हैं, इसी से तो भ्रान्ति के हाथ से परित्राण नहीं पाते। हे मा, यह जो दिन रात तुमको भूलकर, अपने को भूलकर, विनश्वर विषय लेकर मत्त रहते हैं, यह जो भूल; यह जो भ्रान्ति, यह भी तो तुम्ही हो। जबतक तुम भ्रान्ति रूप से आत्म प्रकाश करती रहोगी; तबतक किसी की सामार्थ्य नहीं कि तुम्हारा यथार्थ स्वरूप प्रकाशित करे। और जिस दिन तुम अपना आत्म स्वरूप प्रकटित करोगी, उस दिन तुम्हारी यह भ्रान्ति मूर्ति ही हमारा जगत्-ज्ञान, भेद ज्ञान भुला देगी। भ्रान्ति नहीं होने से अरे कैसे जगत् भुलेंगे ? यह जो खेला धूला, यह जो मलिनता, यह जो तुम में हम में एक अच्छेद्य व्यवधान है, आशा है—यह सब एक दिन तुम भ्रान्त रूप से मिटा दोगी। मा, तुम जब हृदय में भ्रान्ति मूर्ति से नियत ही (सब समय) अवस्थान कर रही हो, तो एक दिन तुम्हारी ही कृपा से निश्चय ही सब भुलकर सब छोड़कर मात्र तुमको वा अपने को पा लूँगा। मा, कब तक, उस दिन में कितनी देर है ?

प्रतिदिन ही तो मा, तुम तीनों अवस्था में विशेष भाव से भ्रान्ति मूर्ति से प्रकटित होती हो, उसे हम देखते हुए भी नहीं देखते। जाग्रत अवस्था में जो कुछ "मैं" और "मेरा" है, स्वप्नराज्य में प्रवेश करने का समय उस सब को तो भुल जाते हैं। वहाँ पर जाकर नया जगत नया "मैं,मेरा" लेकर विचरण करते हैं। और जब सुषुप्ति में प्रवेश करते हैं, उस समय इस जाग्रत और स्वप्न राज्य की सारी बातें भुल जाते हैं, तब एक मैं—उलङ्ग(नङ्गा) मैं वा कहाँ, कहीं पर किस अव्यक्त क्षेत्र में चला जाता हूं। इस प्रकार भ्रान्ति मूर्ति से प्रत्यह ही तुम दर्शन देती हो मा ! इसीसे आशा है, इसी से बड़ी आशा से छाती

बाँधकर के बैठा हूँ, एक दिन सब भुलकर तुम को पाऊँगा। इस समय जैसे तुम को भुलकर सब लेकर—जगद्भाव लेकर व्यस्त हूँ, ठीक तैसे ही एक दिन जगत भुलकर केवल तुमको ही लेकर रहूंगा—तुम्हें लेकर रहूँगा।

हे प्रियतम साधकवृन्द, तुम मा को खोजने के लिये कहाँ दौड़ते हो? यही तो मा! देखो—यह हैं मा। तुम्हारे ही हृदय के अन्दर भ्रान्ति रूप से अज्ञान रूप से प्रति नियत प्रकाशित हो रही है, जागरण से स्वप्न में, स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से जागरण में इन सब अवस्थाओं के भीतर हो तो मा को प्रत्यक्ष कर रहे हो, भोग कर रहे हो। उसे भ्रान्ति कहकर तुच्छ कहकर उड़ा मत देना। मा कहकर आदर करो, सरलप्राण शिशु की तरह मा कहकर पुकारो, आत्म निवेदन करो, भ्रान्ति मूर्ति ही आत्म मूर्ति से प्रकटित होकर तुमको समस्त भ्रान्ति के पार ले जावेगी।

वेदान्त मत से भ्रम दो प्रकार है। संवादी और विसंवादी। जो भ्रम अभिलषित वस्तु प्राप्ति में बाधक नहीं होता उसे संवादी भ्रम कहते हैं। जैसे मणिप्रभा देखकर यदि किसी को मणि का भ्रम हो, तो इस प्रभा के लक्ष्य से धावित होने से भी वह परिणाम में मणि ही पाने में समर्थ होता है। संवादी भ्रम का यही दृष्टान्त है। और जबा पुष्प में पद्मराग मणिभ्रम के वशवर्त्ती होकर यदि कोई पद्मराग मणि के अन्वेषण को जाय तो उसे कभी भी पद्मराग मणि प्राप्त नहीं होती, जबा पुष्प ही प्राप्त होता है। यह ही विसंवादी भ्रम का दृष्टान्त है। इस जगत् को ब्रह्म रूप से दर्शन भ्रम होने से भी, यह भ्रम ही जीव को ब्रह्मत्व में पहुँचा देता है, कारण यह संवादी भ्रम है। न मालूम किस अज्ञेय कारण से बहुत दिनों से जगत् में विसंवादी भ्रम चला आ रहा है। मा हमारी विसंवादी भ्रान्ति मूर्ति से प्रकटित होकर, बहुत दिन यावत् जीव जगत् को अभिष्ट वस्तु से दूर रखती थीं किन्तु अब मा के हृदय में स्नेह की बाढ़ आ गई है, अब मा हमारी अभिष्ट वस्तु प्राप्ति के पक्ष में पूर्ण रूप से अनुकूल

संवादी-भ्रान्ति मूर्ति से आविर्भूत हो रही हैं। इसलिये ही यह आयोजन है, इसलिए ही आज सत्य प्रतिष्ठा की विजयध्वनि विसंबादी भ्रान्ति को विदूरित करके, निद्रित देश को जाग्रत करके, धीरे धीरे भ्रान्ति के उस पार में—सत्य के समीप में ले जाने के लिए चेष्टा कर रही है। किन्तु-वह और बात है—

भ्रान्तिरूपिणी मा! तुम्हारे चरणों में प्रणत हो सकने से ही हमारी भ्रान्ति दूर होगी। हम जो नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा हैं, सो समझ सकेंगे; इसी से तुम्हारे व्यष्टि रुप को प्रथम प्रणाम करता हूँ। हमारे प्रत्येक के अन्दर में जो तुम्हारी विशिष्ट भ्रान्ति मूर्त्ति मौजूद हैं, जिसके प्रभाव से हम तुमको भुल जाते हैं, तुम्हारी उस मूर्त्ति के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम, मा पुनः पुनः प्रणाम। फिर तुम्हारी परमेश्वरी समष्टि भ्रान्ति मूर्त्ति को प्रणाम करके, अव्यक्त क्षेत्र में पहुँचते हैं। वहाँ पर भ्रान्ति के वीज रुप को प्रणाम करके, झट निरञ्जन क्षेत्र में चले जायं। जहाँ पर भ्रान्ति नामक कुछ नहीं, जिसके आश्रय से भ्रान्ति अवस्थित है, भ्रान्ति रुप से प्रकाश पाते हुए भी जो स्वयं भ्रान्त नहीं होतीं, तुम्हारे उसी विशुद्ध बोधमय स्वरुप को लक्ष्य करके असंख्य प्रणाम करते हैं। तुम हमारी भ्रान्ति दूर करो।

————

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्ति देव्यै नमोनमः॥ ३३॥

अनुवाद—जो सर्व जीवों में इन्द्रिय और भुत समूह की अधिष्ठात्री रुप से परिव्याप्त हो रही हैं, उन व्याप्ति देवी को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

व्याख्या—चक्षु आदि इन्द्रियवर्ग के अधिष्ठात्री रुप से एवं क्षितिअप् प्रभृति भुताधिष्ठात्री रुप से एकमात्र मा का ही प्रकाश है। यद्यपि विभिन्न इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता विभिन्न नाम से जाने

जाते हैं, तथापि वे एक ही चैतन्य रूप से साधक के पास उद्‌भासित होते रहते हैं। प्रसंग क्रम से यहाँ पर इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता-वर्ग का नाम कहा जाता हैं : श्रोत्र के दिक्, त्वक् के वायु, चक्षु के सूर्य, रसना के वरुण, घ्राण के अश्विनी कुमार, वाक् के अग्नि, पाणि के इन्द्र, पाद के विष्णु, पायु के मैत्र, उपस्थ के प्रजापति, मन के चन्द्र, बुद्धि के अच्युत, अहंकार के चतुर्मुख एवं चित्त के शङ्कर। जो चैतन्य शक्ति श्रोत्रादि इन्द्रिय रुप से प्रकाश पाती है वह ही पूर्वोक्त दिक् प्रभृति संज्ञाओं से अभिहित—(परिचित) होती है। इसी प्रकार जो चैतन्य शक्ति क्षित्यादि पञ्चभूत रूप से आत्म प्रकाश करती है, वह ही भुताधिष्ठात्री देवता है। यद्यपि ये भुत और इन्द्रियों के अधिष्ठान चैतन्य विभिन्न उपाधियों के साथ सम्बन्ध विशिष्ट होकर विभिन्न नाम से परिचित होते हैं, तथापि वस्तुत. वे एक अखण्ड चैतन्य सत्ता को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं है। यह ही हमारी मा की व्याप्ति मूर्त्ति वा सर्वब्यापिनी चिन्मयी मूर्त्ति हैं।

मा ! इस बिश्व में जिधर को देखते हैं, उधर ही तुम्हारी यह महती ईश्वरी व्याप्ति मूर्त्ति देखने में आती है। एक अखण्ड धन चैतन्य सत्ता समग्र विश्व में व्याप्त हो रही है। हम उसी के गर्भ में जात स्थित और लीन होते हैं। मा, जो साधक तुम्हारी इस व्याप्ति मूर्त्ति को निरन्तर देखते हैं, उनके प्राणों का सङ्कोच, हृदय की संकीर्णता निश्चय ही दूरीभुत हो जाती है। आत्म प्राणों का महान् प्रसार देख लेने से सभी के प्राणों का प्रसार हो जाता है। यह ही तुम्हारी व्याप्ति मूर्त्ति के दर्शन की विशेष सार्थकता है। मा, तुम्हारे चरणों में असंख्य प्रणाम।

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—जो चिति शक्ति रूप से इस समग्र ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त हैं, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको प्रणाम, उनको पुनः पुनः प्रणाम।

व्याख्या—इससे पूर्व जो चेतना रूप से मा को प्रणाम किया गया है, वह है विशिष्ट चेतना, अर्थात् इन्द्रियादि करण वर्ग द्वारा जो चैतन्य अनूभूत होता है वह। और इस मन्त्र में निर्गुण चैतन्यको लक्ष्य करके चिति शब्द का प्रयोग हुआ है। चिति शब्द से सांख्य का पुरुष, वेदान्त का ब्रह्म उपनिषद् का आत्मा और हमारी मा को समझना होगा। यहाँ पर एक आशंका हो सकती है कि, चिति यदि निर्गुणा हो तो "एतद्व्याप्यस्थिता जगत्" यह वाक्य किस प्रकार संतग होगा ? जगद्व्यापित्व धर्म रहने से "चितिका" निर्गुणत्व कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका उत्तर देने से पहले कह देना उचित होगा कि, चिति वस्तु शक्तिमात्र है। पातञ्जल दर्शन में भी इसको समझाने के लिये "चितिशक्ति" इस शब्द का प्रयोग किया है। पक्षान्तर से यद्यपि सांख्य शास्त्र में जड़ा प्रकृति के परिणाम का हेतु समझाने के लिए पुरुष को सान्निध्य मात्र में उपकारक कहा है, तथापि कार्यतः इस निर्गुण पुरुष को शक्ति स्वरुप ही कहा गया है। धीमान् पाठक विवेचना करके देखेंगे—जिसके सान्निध्य वशातः जड़ा प्रकृति चेतनवत् क्रियाशील होती है; वह वस्तु शक्ति न होकर और कुछ हो सकती है क्या ? अच्छा अब वेदान्त शास्त्र देखें, वहाँ पर भी "जन्माद्यस्ययतः" कह कर चिद् वस्तु को शक्ति रूपत्व ही किया गया है। जगत् मिथ्या हो, सृष्टि कल्पनामात्र हो, उसका आश्रय तो ब्रह्म है ! जो अन्य को आश्रय दे सकता है अथवा अन्य का आश्रय स्वरुप होता है, सो शक्ति भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। कह सकते हो आत्म वस्तु यदि यथार्थतः शक्ति स्वरुप ही हो, तो उसका निर्गुणत्व नहीं रहता। उसके उत्तर में कहना होगा—जब चिद्वस्तु में किसी प्रकार की क्रियाशीलता लक्ष्य नहीं होती; तभी उसको निर्गुण कहा जाता है। यदि कहो—जिसमें किसी प्रकार की क्रिया का विकास नहीं; उसको

शक्ति कैसे कहा जायगा, कारण क्रियाशीलता ही शक्तिका स्वरूप है। सत्य, निर्गुण स्वरूप में भी अव्यक्त भाव से सूक्ष्मतम क्रियाशक्ति रहती है। ब्रह्म निर्गुण अवस्था में भी स्वप्रकाश अर्थात् आप ही अपने को प्रकाश करते हैं वा आप ही आत्मरस सम्भोग करते हैं। यह भी शक्ति भिन्न और कुछ भी नहीं है। और इसका कहना ही क्या है कि अनुभव सम्पन्न साधकगण जब तक बुद्धि के भीतर होकर परमात्मा की उपलब्धि करते हैं वा करने की चेष्टा करते हैं, तब तक आत्मा बुद्धि के प्रकाशक रूप से शक्ति का ही परिचय प्रदान करती है। जो हो, हम जानते हैं आत्मा शक्तिमात्र है। जड़ जगत् में शक्ति से शक्तिमान् पृथक अवश्य देखा जाता है, किन्तु आत्म क्षेत्र में शक्ति और शक्तिमान् सम्पूर्ण अभिन्न वस्तु है। केवल भाषा में विभिन्नता का परिचय मात्र दिया जाता है, सुतराँ इस चिति शक्ति का और कोई आश्रयान्तर आवश्यक नहीं होता। यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेने से, किसी श्रुति वाक्य, किसी दर्शन, किसी पुराण किंवा अन्य किसी शास्त्र के साथ विरोध उपस्थित नहीं होता। वरं निःसंदिग्ध रूप से युगपत् (एक साथ) सगुण निर्गुण का विरोध मीमांसा हो जाता है। कैसे निर्गुण स्वरूप से जगत् की सृष्टि होती है, ये सब आशंकाऐं भी अति सहज में दूर हो जाती हैं। और कोई शक्तिहीन एक अवस्था है, इसे यदि प्रमाण करना चाहते हो, तो उसे निर्गुण के भी ऊपर स्थान दो। सो वाक्य और मन के अतीत है, सुतराँ उसके स्वरूप की व्याख्या करने में वेद-वेदान्त सभी मूक हैं। तब हाँ, एक-मेवाद्वितीयम् प्रभृति शब्द से किंवा नेति-नेति मुख से जिसे प्रकटित करने की चेष्टा की जाती है, वह भी किन्तु इसी निर्गुण पर्यन्त है, सुतराँ स्वीकार करो, वाक्य मन के अगोचर एक सत्ता है, सो निर्गुण भी नहीं, सगुण भी नहीं। उस अज्ञेय तत्व के दो तरह के महत्व वा विकाश देखे जाते हैं। एक निर्गुण, दूसरा सगुण। सगुण स्वरूप के फिर दो तरह महत्व देखे जाते है—एक ईश्वरत्व और दूसरा जीवत्व।

स्वरूपतः निर्गुण चिति शक्ति कैसे सगुण भावापन्न होती है,

एवं सगुण भाव से प्रकाशित होने पर भी उसके निर्गुण में कोई बाधा नहीं होती, यह तत्व पूर्व में आनन्द तत्व की व्याख्या में विशेष भाव से कहा जा चुका है। इस स्थान पर उसकी पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। जगत् जो एक शक्ति मात्र है, यह सर्ववादी सम्मत है। नाम आकार और व्यवहारगत अनन्त वैचित्र्य होने पर भी चक्षुष्मान् व्यक्ति इसको एकमात्र शक्ति व्यतीत और कुछ भी नहीं देखते हैं। जो व्यक्ति जल वस्तु को विशेष रूप से जानता है, सो बरफ देखने पर भी उसको जल व्यतीत और कुछ नहीं समझता (नहीं मानता) कुण्डल दर्शन में जैसे स्वर्ण व्यतीत अन्य किसी वस्तु की प्रतीत नहीं होती, किंवा घट दर्शन में जैसे मृत्तिका के सिवा और कुछ भी लक्षित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार यह बहु नामरूपात्मक जगत् प्रपञ्च चक्षुष्मान् व्यक्ति के सामने एक अखण्ड चिति शक्ति रूप से प्रतिभात होता रहता है। यह विश्व चिति शक्ति द्वारा गठित एवं चिति शक्ति में ही अवस्थित है। चिति वस्तु बोध व्यतीत और कुछ नहीं है। बोध एवं आनन्द अभिन्न है, सुतरां जगत् आनन्दमय है। अनेक बार कह चुका हूं, फिर कहता हूं— आनन्द द्वारा ही यह जगत् गठित, आनन्द में ही स्थिति और आनन्द में ही इसका लय है। केवल दर्शन का तारतम्य है। मा की कृपा से ज्ञानचक्षु खुल जाने से सभी देखते हैं—यह जगत् आनन्दमय है।

अच्छा जो हो, मा ! जो तुम स्थूल में व्यष्टि चिति शक्ति रूप से नाम रूप विशिष्ट होकर प्रकाश पा रही हो, तुम्हारी उस मूर्त्ति को प्रणाम। फिर जो तुम महती चिति शक्ति रूप से जगत् की सृष्टि-स्थितिलय रूप से प्रकाश पा रही हो तुम्हारी उस चिन्मयी ईश्वरी मूर्ति को प्रणाम। अनन्तर स्थूल सूक्ष्म के अतीत अव्यक्त कारण रूपिणी चिति शक्ति को प्रणाम। सर्व शेष में वाक्य मन के अतीत, निरञ्जन स्वरूप को लक्ष्य करके नमोनमः कहकर प्रणाम करते हैं। मा हमारा प्रणाम सार्थक हो।

साधक ! एक बार नेत्र खोलकर देखो—मा हमारी चिति रूप से इस समग्र जगत् में परिव्याप्त हो रही हैं, मा को छोड़ कर कहीं भी कुछ भी नहीं। जो देखते हो, जो भावते (सोचते) हो, सभी हमारी चिति रूपिणी मा हैं।

स्तुता सुरैः पूर्व्वमभीष्ट संश्रयात्
तथा सुरेन्द्रेण दिनेषु सेविता।
करोतु सा नः शुभ हेतुरीश्वरी
शुभानि भद्राण्यभिहन्तुः चापदः ॥३५॥
या साम्प्रतञ्चोद्धत—दैत्यतापितै—
रस्माभिरीशाच सुरैर्नमस्यते।
या च स्मृता तत्क्षणमेव हन्ति नः
सर्व्वापदो भक्तिविनम्र मूर्त्तिभिः ॥३६॥

अनुवाद—इससे पूर्व (महिषासुर वध प्रसंग में) इन्द्र प्रभृति देवतावृन्द ने अभीष्ट प्राप्ति की आशा से जिस देवी का स्तव किया था एवं अनेक दिन जिसकी सेवा (अर्चना) की थी, वर्त्तमान में मदगर्व्वित असुर कर्त्तृक उत्पीड़ित हम (देवतावृन्द) भक्ति-विनीत—शरीर से परमेश्वरी को यह प्रणाम कर रहे हैं, और जिसका स्मरण करने से, तत्क्षणात् हमारी समस्त आपद् दूर कर देती है, वही शुभ हेतुस्वरूपा परमेश्वरी हमारा मंगल विधान करें एवं समस्त आपद् विनाश करें।

व्याख्या—साधक देखो, देवताओं का विश्वास कितना प्रगाढ़ है ! "या च स्मृता तत्क्षणमेव हन्ति नः सर्व्वापदः"—जिनको स्मरण करने से तत्क्षणात् वह हमारी समस्त आपद् दूर कर देती है। सत्य ही ऐसा विश्वास रहने से, जीव कभी भी विपद् से मुह्यमान् नहीं

होता, किंकर्त्तव्य विमूढ़ नहीं होता। "हमारी सर्वशक्तिमयी मा है" ऐसा विश्वास सुदृढ़ होने से, जीव कितना ही विपदापन्न क्यों न हो, अन्दर अन्दर में ऐसा ही एक विश्वास और भरोसा रखता है कि, उसके फल से विपद्समूह अकिंचित्कर हो जाते हैं। जो हमारी आत्मा हैं, जो हमारे मैंत्व का प्रकाशक है, एक बात में जिन्होंने हम को सुख-दुःख अनुभव करने के लिये प्राण दान किये हैं, उनको यथार्थ स्मरण कर सकने से जो, तत्क्षणात् समस्त विपद् दूरीभूत हो जावेगी, इसमें फिर विचित्रता ही क्या ? किन्तु यही एक बात है—"भक्ति-विनम्र-मूर्त्तिभिः" भक्ति के प्रभाव से मूर्ति नत हो जाय; अर्थात् मैंत्व (अहंत्व) बोध सम्यक् अवनत होना आवश्यक है। जितने परिमाण में मैंत्व (अहंत्व बोध विनम्र होवेगा, देहात्म बोध शिथिल होगा, उसी परिमाण में मा हमारी ईशा अर्थात् ईश्वरी मूर्ति से प्रकटिता होंगी, यह ध्रुव सत्य है। जीव यदि सत्य सत्य ही मा की ईश्वरी मूर्ति की उपलब्धि कर सके, तो उसकी जीवभावीय आपद् विपत् अति अल्प ही क्षण में दूरीभूत हो जाय।

इस प्रकार के दृष्टान्त अनेकों ने ही देखे हैं कि, घोर विपद्ग्रस्त व्यक्ति कातर प्राणों से भगवान् को स्मरण करके विपद् से मुक्त हुए हैं। अनेक दुरारोग्य व्याधिग्रस्त लोग भगवान् के चरणों में आत्म समर्पण करके रोगमुक्त हो जाते हैं। इस सब का मूल रहस्य यही है कि—इसी भक्ति विनम्र मूर्ति से प्रणाम के फल से जीवभावीय मैंत्व (अहंत्व) क्षीण होता है, एवं ईश्वर भावीय मैंत्व (अहंत्व) का विकास हो जाता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को स्मरण कर सकने से ही अल्पाधिक परिमाण से ऐसी शक्ति जीव शरीर में संक्रामित होती है। उसीके फल से जीव की सारी विपद् कट जाती है। स्वप्न में वा देव मन्दिर में हत्या देने के फल से जो औषधादि प्राप्त होती है, उसका भी रहस्य यही है।

"सर्व्वापदः" शब्द का और एक विशेष अर्थ है। सर्व्व ही आपद है अर्थात्, जब तक सर्वत्व की—बहुत्व की प्रतीति रहती है, तब तक

ही साधक आपद् ग्रस्त है। इसी सर्वरूप आपद् से मुक्त होने के लिये सभी को भक्ति-विनम्र-मूर्त्ति से ईश्वरीय चरणों में सम्यक् प्रणत होना खूब ही आवश्यक है। जब तक सर्वत्व का विलय एवं एकत्व की प्रतीति न हो, तब तक जीव मा के स्वरूप सम्बन्ध में अनभिज्ञ हो रह जाता है। गीता में स्वयं भगवान् ने भी सर्व धर्म परित्याग पूर्वक एक अखण्ड वस्तु के शरणागत होने के लिये विशेष भाव से उपदेश दिये हैं। एकमात्र शरणागत भाव से अर्थात् भक्ति-विनम्र मूर्त्ति से प्रणाम द्वारा ही वह सुलभ हो जाता है।

इसके पूर्व मधुकैटभ-बध प्रसङ्ग में ब्रह्मस्तोत्र एवं महिषासुर वधावसान में शक्रादि स्तोत्र व्याख्यात हुये हैं; उन दोनों स्तोत्रों की अपेक्षा इस स्तोत्र का विशेषत्व अनेक है। पूर्वोक्त स्तोत्रद्वय में मातृ महत्व मातृ करुणा मा की सर्वशक्तिमत्ता प्रभृति वर्णित हुई हैं। और यह स्तोत्र प्रणति प्रधान है यहाँ पर मा को बिलकुल क्षुधा तृष्णा निद्रा भ्रान्ति प्रभृति सर्व भावों के भीतर होकर दर्शन एवं पुनः पुनः प्रणाम किया गया है। जितने परिमाण में ज्ञान का विकाश होता जाता है, उतने ही परिमाणों में जीव समझ सकता है कि, "मैं" एक दुरपनेय अज्ञान मात्र हूँ, सुतरां इस अज्ञान से मुक्त होने के लिये सत् असत् जो कुछ उपस्थित होता है, साधक उसीको मातृ बोध से दर्शन करता रहता है एवं मैंत्व को उनके चरणों में अवनत करने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार जो साधक ज्ञान के जितने उच्च स्तर में आरोहण करता है, वह उतना ही अवनत हो पड़ता है। ज्ञान लाभ होने का माने ही है अज्ञान कितना ज्यादा है, उसे समझ सकना। अज्ञान का स्वरूप समझ सकने से, उसको ज्ञान के चरणों में फिर अवनत करने में किसी तरह का संकोच वा द्विधा उपस्थित नहीं होती। इसीसे देवतागण पुनः पुनः प्रणाम करके अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग सुगम कर रहे हैं। इसके बाद शुम्भ वध के अवसान में हम जो नारायणी स्तुति पावेंगे, वह भी इसी प्रकार प्रणति प्रधान है। प्रणति ही साधन का रहस्य है। भक्ति पूर्वक प्रणत हो सकने से ही सब

लाभ होता है। देवतागण मातृवक्षः स्थित ज्ञानस्तन्य-परिपुष्ट सन्तान हैं, इसीलिये वे सर्वतोभाव से प्रणत हैं। और हम देहात्म बोध विशिष्ट जीव हैं—क्षुद्रादपि क्षुद्रतम कीटाणु हैं; किन्तु हमारा मस्तक किसी भी तरह अवनत होना नहीं चाहता। हम अपने इस मिथ्या मैंत्व (अहंता) को जितना ही गौरव देना चाहते हैं, उतना ही उसे अपमानित किया जाता है, यह बात किसी प्रकार भी नहीं समझ सकते। यह मैंत्व (अहंत्व) यदि ईश्वरी के चरणों में अवनत हो जाय तो उसीसे ईश्वरीय गौरव लाभ होता है। इसे नहीं समझते हैं इसीसे तो हमारी इतनी दुर्दशा है। अभी भी इस देश के ब्राह्मणगणों को स्वधर्मनिष्ठ हिन्दू-सन्तानगण दर्शन मात्र ही मस्तक अवनत करके प्रणाम करते हैं। क्यों करते हैं? एक दिन यही ब्राह्मण अपने मैंत्व (अहंत्व) को विश्वेश्वरी के चरणतल में यथार्थ ही अवनत कर सके थे; उसीके फल से आज पर्य्यन्त भी उन्हीं के कुलसम्भूत सन्तानें समग्र हिन्दू जाति से प्रणाम पाती हैं। अरे! यह बात याद करने से भी नेत्र अश्रुपूर्ण होते हैं! मातृचरणों में प्रणत ब्राह्मण एक दिन ऐसे ही वीर्यवान् और शक्तिमान् थे, कि विष्णु वक्ष में पदाघात करने में भी विन्दुमात्र विचलित नहीं हुए। मातृ सत्ता में ऐसे ही विश्वासवान् थे कि, वे विष्णुत्व पर्य्यन्त अतिशय तुच्छ समझते थे। और आज उन्हीं के वंशधरगण—किन्तु हाय, वह और बात है।

इस स्तोत्र में मा की जिन सब मूर्त्तियों का उल्लेख है, इस स्थल में संक्षेप में एक बार उसकी आलोचना करें। देवताओं ने स्तव करना आरम्भ करके प्रथम ही सर्व भूतों में अवस्थिता मा की विष्णु माया मूर्त्ति को प्रणाम किया। क्रम से—चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति; लक्ष्मी, वृत्ति, दया, तुष्टि, मातृ और भ्रान्ति रूप से अवस्थिता मा को प्रत्यक्ष करके पुनः पुनः प्रणाम किया। साधक! तुम भी इन सब रूपों से प्रतिनियत ही मा को प्रत्यक्ष करते हो। किन्तु सत्य ही ये वही मा हैं, यह विश्वास नहीं कर सकते हो। अविश्वास है इसी से उनके

चरणों में प्रणत होने में समर्थ नहीं होते। प्रणाम करने पर भी सत्य प्रणाम नहीं कर पाते। इसी से मातृ प्रसन्नता वा मातृ कृपा की उपलब्धि से दूर पड़े हो। यह जो चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा प्रभृति रूपों से मा तुम्हारे ही भीतर प्रतिनियत प्रकाशित हो रही हैं, उन्हीं को लक्ष्य करके प्रणाम करो। प्रथम खण्ड में जो सत्य प्रतिष्ठा की बात कही गयी है, वह द्वितीय खण्ड में उपदिष्ट प्राण प्रतिष्ठा के फल से प्राणमय होकर, यहाँ पर आकर (तृतीय खण्ड में) प्रत्यक्ष आनन्द स्वरूप से उद्भासित हुई है। एक अखण्ड आनन्दमय बोध वा अनुभव ही तो पूर्वोक्त बुद्धि, निद्रा प्रभृति रूपों से हमको स्नेहालिङ्गन से आबद्ध किये हुए हैं, यह समझ सकने ही से अज्ञान दूर होता है— रुद्रग्रन्थि अर्थात् ज्ञानमयग्रन्थि भेद होता है।

पूर्वोक्त प्रणाम समूह केवल प्रणाम ही नहीं है, वह उच्च स्तर की साधना है। जैसे भाव से प्रणाम करने का इङ्गित किया गया है, वैसे ही भाव से स्थूल सूक्ष्म कारण एवं कारणातीत अर्थात् व्यष्टि समष्टि अव्यक्त एवं निरञ्जन सत्ता की तरफ लक्ष्य रखते हुए प्रणाम कर सकने से ही ज्ञान की संकीर्णता विदूरित होती है। यह ही तत्त्व ज्ञान है।

पहले द्वितीय खण्ड में क्षिति अप् तेजः प्रभृति तत्वों को प्राण रूप से उपलब्धि करने का उपदेश दिया गया है। यहाँ पर साधना और थोड़ी सूक्ष्म में अग्रसर हुई है, इसी से प्रत्येक वृत्ति को ले लेकर प्रणति की सहायता से अखण्ड बोध समुद्र में अवगाहन करने का उपाय ववर्णित हुआ है। जिस अखण्ड आनन्द अर्थात् आनन्दमय अनुभूति की बात "सारायै सर्व्वकारिण्यै" मन्त्र की व्याख्या में कही गयी है, वह अनुभूति ही व्यष्टि बुद्धि निद्रा प्रभृति रूप से प्रकाशित है, यह जान कर उपलब्धि करके प्रणाम करने होता है। अर्थात् प्रथम "नमस्तस्यै" मन्त्र का तात्पर्य यही है– स्वस्व व्यष्टि प्रकृति की वृत्तियों को आनन्द स्व रूप से उपलब्धि करना फिर इसी व्यष्टि वृत्तियों को सूक्ष्म में समष्टि तत्व में लेकर, अर्थात् ईश्वरत्व में उपनीत होकर

द्वितीय प्रणाम करने होता है। ईश्वरत्व की महत्व की उपलब्धि ही इस द्वितीय "नमस्तस्यै" मन्त्र का रहस्य है। फिर कारण वा अव्यक्त क्षेत्र का सन्धान एवं सर्व शेष में सर्वभावातीत स्वरूप के प्रति लक्ष्य; यह ही तृतीय एवं चतुर्थ प्रणाम का रहस्य है। ठीक इसी प्रकार प्रणाम कर सकने से ही, इस स्तव की सार्थकता होती है। अनुभूतिहीन साधकों के सामने यह प्रहेलिकासा हो सकता है, किन्तु जिन्होंने श्री गुरु कृपा से अनुभूति का सन्धान पाया है, उनके लिये यह तत्व सम्पूर्ण उपादेय होगा। इस विषय में कोई संशय नहीं।

ऋषिरुवाच।

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्व्वती।

स्नातुमभ्याययौ तोये जान्हव्या नृपनन्दन ॥३७॥

अनुवाद—ऋषि ने कहा—हे नृपनन्दन! देवतागण जब इस प्रकार स्तव कर रहे थे, उसी समय पार्व्वती देवी जान्हवी जल में स्नान करने के लिये वहाँ पर उपस्थित हुईं।

व्याख्या—देवताओं का स्तव शेष हुआ है। इसी से फिर यहाँ पर "ऋषिरुवाच" वाक्य का प्रयोग हुआ है। महर्षि मेघस् ने यहाँ पर महाराज सुरथ को नृपनन्दन बोल कर सम्बोधन किया। "नॄन् पति इति नृपः" जो मनुष्य कुल का रक्षक वा पालक हैं, वही नृप है। साधक महापुरूषगण ही यथार्थ नृप शब्द वाच्य है। जगत् में बीच-बीच में सुरथ की तरह साधक महापुरुषों का आविर्भाव होता है तभी तो मनुष्य समाज स्थिर है [ठहरा हुआ है]। धर्मप्राण ब्रह्मनिष्ठ आदर्श साधकगण ही विराट मनुष्य जाति का मेरुदण्ड हैं। इनके ही आदर्श से अनुप्राणित होकर अभी भी मनुष्य सत्य की ओर, धर्म की ओर लालच नेत्रों से लक्ष्य रखे हुए हैं। नहीं तो मनुष्य समाज अब तक पशु समाज में परिणत हो जाता। जिस देश में साधकों की

संख्या जितनी कम होगी, उस देश के लोग उतने ही स्थूल में आसक्त होंगे, उतने ही देहात्म बुद्धि विशिष्ट होंगे; सुतरां उतना ही ज्यादा पशुधर्मी होंगे। जाने दो, वह और बात है। जो इस जगत् में सत्य की ज्योति रेखा दिखा जाते हैं, लोक स्थिति की रक्षा करते हैं, वे ही यथार्थ में नृप वा नर-रक्षक हैं। अभी भी पश्चिम भारतीय लोग साधु महापुरुषों को नृप शब्द का समानार्थबोधक महाराज शब्द से परिचित कराते हैं। जो फिर उन नृपगणों के अर्थात् साधक महापुरुषों का भी आनन्द वर्द्धन करते हैं वे ही नृपनन्दन हैं। यहाँ पर महर्षि मेधस् आनन्द तत्व के विश्लेषण करने को उद्यत हैं; इसीसे सुरथ को भी नृपनन्दन अर्थात् साधकानन्दवर्द्धक कह कर सम्बोधन कर रहे हैं। देवतागण जब पूर्वोक्त रूप से मा का स्तव कर रहे थे, उसी समय मा हमारी पार्व्वती मूर्त्ति से जान्हवी जल में स्नान करने के लिये वहाँ पर उपस्थित हुईं। स्तवादि पाठकाल में सत्य सम्वेदन युक्त देवताओं के हृदय में सात्विक भाव का उदय हुआ था, उसके फल से चित्त आर्द्र और आंखों में प्रेमाश्रु प्रवाह हुआ था, वह ही जान्हवी तोय है। पुनः पुनः मातृनामस्मरण, सर्वतोभाव से मातृ विभूति दर्शन, कातरकण्ठ से मा मा बोल कर रोदन, एवं बारम्वार भक्ति विनम्र मूर्त्ति से प्रणाम, इन सब कर्मों का जो अवश्यम्भावी फल है, सोही पूत जान्हवी वारि है। उसमें ही स्नान करने के लिये अर्थात् अभिषिक्त होने के लिये ही मा आकर उपस्थित हुईं। यथार्थ ही सन्तान जब आकुल प्राणों से मा मा बोल कर पुकारती है, तब ऐसे ही मा हमारी सन्तान का दुःख दूर करने के लिये उपस्थित होती हैं। सन्तान के भक्तिपूर्ण अश्रु, वह बड़े ही पवित्र हैं! वह स्वर्ग गङ्गा की निर्मल बारि है, इस जल के व्यतीत हमारी मा का स्नान वा अभिषेक नहीं होता। त्रिताप-सन्तप्त सन्तानों के आकुल आर्त्तनाद से विक्षोभित मातृ वक्ष को शान्त शीतल करने के लिये, अकपट प्रेमाश्रु ही का प्रयोजन है। आज देवतागण स्तव की सहायता से सो संग्रह कर सके हैं, इसी से मा हमारी आचिरात् अविर्भूत हुईं।

पार्वती मूर्त्ति से मातृ आविर्भाव। प्रथम देवतागण स्तव करने के लिये हिमालय वा स्थूल देहाभिमान में अवतीर्ण हुए थे, इसी से तो मा हमारी पार्वती मूर्त्ति से स्थूल में ही प्रकटित हुई। अर्थात् इस स्थूल विश्व में ही विशेष भाव से मातृ-आविर्भाव—आनन्दमय मातृ सत्ता प्रकटित हो उठी। देवताओं ने देखा—परिदृश्यमान विश्व केवल जड़ पदार्थ नहीं है, यह तो आनन्दमयी मातृ मूर्त्ति है। जगत् के प्रति परमाणु आनन्द ही की अभिव्यक्ति है। वही आनन्दमय परमाणु-पुञ्ज फिर आनन्दमयी धृति शक्ति कर्तृक गठित होकर, जगत् आकार से दृश्य हो रहे हैं। पदार्थ पदार्थ नहीं, आनन्दमयघन सत्ता है। पर्वत पर्वत नहीं, पार्वती की आनन्दघन मूर्त्ति है। रूप-रसादि इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुनिचय आनन्दमय आत्मसत्ता व्यतीत और कुछ नहीं। ऊपर-नीचे, दाहिने बामे सम्मुखे पश्चाद्भागे जिधर ही नजर पड़ती है, जहां तक बोध प्रसारित होता है, सर्वत्र एक घन आनन्दमय सत्ता मात्र है, देवतागणों ने ऐसी अनुभूति में आकर अपने को धन्य और कृतार्थ माना, एव अचिरात् उनकी आशा अब पूर्ण होगी, सो भी निःसंशय से समझ सके।

साऽब्रवीत् तान् सुरान् सुभ्रु र्भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का। ३८॥

अनुवाद—उन शुभ्र देवी ने देवताओं से कहा, आपलोग किसकी स्तुति कर रहे हैं ?

व्याख्या—ठीक मानो 'भोरी' लड़की है! कुछ भी नहीं जानती! पूछने लगी "आप लोग किसकी स्तुति कर रहे हैं ?" मा हमारी ठीक ऐसी ही हैं। सरल शिशु गौरी कन्या उमा मा हमारी ठीक ऐसी ही हैं। सन्तान विपद् में पड़ कर, असुर अत्याचार से पीड़ित होकर, व्याकुल प्राणों से कितनी व्यस्तता के साथ माँ को पुकार रही हैं, किन्तु मा हमारी के प्रशान्त सरल निर्मल मुखपर

किसी तरह की व्याकुलता का चिन्ह मात्र भी नहीं। मानो कुछ हुआ ही नहीं ! इसीसे तो धीरे सीधे मुख से पूछने लगीं—क्या हुआ है ? अरे, हो सकता है तुम इन बातों में कवित्व के लक्षण देखने लगोगे वास्तव में सो नहीं है। इसमें कवित्व का लेशमात्र भी नहीं। सत्य ही वह आत्मक्षेत्र धीर, स्तब्ध, शान्त है। कोई तरह का वैषयिक स्पन्दन वहां पर नहीं पहुंचता। "बुद्धि पर्य्यवसाना विषयाः" विषय समूह बुद्धि में ही जाकर पर्य्यवसित होते हैं। वे बुद्धि के परपार उस आनन्दमय आत्मक्षेत्र में नहीं जा सकते। जहाँ पर जड़ वस्तु तक आनन्दमय अनुभव सत्ता रूप से उद्भासित होने लगती है, वहाँ पर फिर वैषयिक स्पन्दन कैसे रहेगा ? वास्तविक ही तो वहा पर कुछ भी नहीं हुआ। सभी अवस्थाओं के भीतर होकर तो हमारी नित्या निर्मला अव्याकुला स्थिरा मा हैं। इसीसे मा हमारी का पूर्वोक्त रूपसे प्रश्न है—"क्या हुआ है, बाबा, तुम किसकी स्तुति कर रहे हो ?"

शरीरकोषतश्चास्याः समुद्भूताब्रवीच्छिवा।
स्तोत्रं ममैतत् क्रियते शुम्भ दैत्यनिराकृतैः।
देवैः समेतैः समरे निशुम्भेन पराजितैः ॥३९॥

अनुवाद—उनके (पार्वतीके) शरीर-कोष में से शिवा-मङ्गलमयी एक देवी मूर्त्ति समुद्भूत होकर कहने लगी—शुम्भ दैत्य कर्तृक निर्जित एवं निशुम्भ कर्त्तृक समर में पराजित देवतावर्ग समवेत होकर मेरी ही स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या—पार्व्वती के शरीर कोष में से एक शिवा-मङ्गलमयी मूर्त्ति आविर्भूत हुई। देवतागणों ने स्तव करते करते जिस आनन्द-मयी पार्व्वती मूर्त्ति का आविर्भाव देखा था, उन्हीं के शरीर कोष में से इन शिवा देवी का आविर्भाव है। स्थूल शिव का अवलम्बन

करके आनन्दमयी पार्वती मूर्ति का प्रकाश होता है, यह पहिले कहा जा चुका है। यही आनन्दघन सत्ता जब स्थूल पदार्थ परित्याग करके आत्म प्रकाश करती हैं, तभी उसको शरीर कोष परित्याग पूर्वक शिवा मूर्त्ति से आविर्भूत हुई कहा जाता हैं। जिस आनन्द का आश्रय करके यह विश्व प्रकाशित है उसी निर्गुण गुणभोक्ता गुण के प्रकाशक अधिष्ठान-स्वरूप को ही यहाँ पर शिवा मूर्त्ति कहा गया है। येही इस उत्तम चरित की देवता सरस्वती— वाग भव बीज स्वरूपा गौरी मूर्ति हैं। सरस्वती नाम से कोई यहाँ पर वीणापाणि-मूर्ति न समझें। "सरस्वान् सागरोऽर्णवः", सरस्वान् शब्द का अर्थ—अर्णव अर्थात् कारण है। अर्णव शब्द से जो कारण समुद्र समझा जाता है, वह ऋग्वेदीय सृष्टि तत्व विषयक मन्त्र में भी कहा गया है। उसी सरस्वान् की जो शक्ति है, वही सरस्वती हैं। जो शक्ति कारण रूप से प्रकटित होती है, उसीको सरस्वती कहते हैं। इस उत्तम चरित्र में ही जीव-जगत् का यथार्थ कारण स्वरूप परमेश्वर के साथ चरम मिलन अर्थात् अभिन्नता व्याख्यात होगी, ऋषि छन्दः वा उपोद्घात सूत्र में भी यह कहा गया है। सो ये ही सरस्वती- ज्ञानमयी मूर्त्ति हैं। इन्हीं के अङ्क में सर्वभाव विलय प्राप्त होते हैं। अच्छा जो हो पार्वती के शरीर कोष से विनिर्गता ये देवी ही शीघ्र ही शुम्भ-निशुम्भ प्रभृति असुरों को निहित करके "एकैवाहं" रूप से अद्वय रूप में प्रतिष्ठित होंगी। अभी से उसको सूचना हो रही है। ये अबतक शरीरकोष का आश्रय किये हुए थीं— अर्थात् स्थूल में जड़ाकार से पार्वती मूर्ति में प्रकाश पा रही थीं; किन्तु आज देवताओं के स्तोत्र से— कातर प्रार्थना से, करूणा से, स्नेह से उद्वेलित होकर शरीरकोष परित्याग पूर्वक— जड़त्व का सम्बन्ध परित्याग पूर्वक विशुद्धा चितिशक्ति रूप से प्रकटित हो गईं।

वे चिन्मयी स्वप्रकाश स्वरूपा हैं। सर्वभाव उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं; उनके सामने अपरिज्ञात कुछ भी नहीं हैं; इसीसे उन्होंने स्वयं ही देवतावृन्दों की उपासना का हेतु एवं स्वरूप वर्णना किया।

'स्तोत्रं ममैतत् क्रियते शुम्भ दैत्यनिराकृतैः शुम्भ दैत्य कर्त्तृक निर्जित देवतावृन्द मेरा ही स्तव कर रहे हैं।" सत्य ही ऐसा ही हैं। एकमात्र मुझ (मैं) को छोड़कर कहीं कुछ भी जब नहीं है, तो ज्ञान से वा अज्ञान से जो कोई जो कुछ भी करें मेरी [मैं की] ही पूजा करते हैं। गीता के राजगुह्ययोग में भगवान् ने जो बात कही है, (अहं ही सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च) यहाँ पर इस देवी महात्म्य में उसी की कार्यकरी अवस्था प्रकाश पा रही है। इसी से तो मा हमारी "स्तोत्रं ममैतत् क्रियते" कहकर यथार्थ स्वरूप उद्भासित कर रही हैं। गीता में अन्य देवता की पूजा के बहाने से भी मेरी [मैं की] अविधि पूर्वक पूजा की बात कही गई है; किन्तु यहाँ पर देवतावर्ग ने साक्षात् चिति शक्ति की वा आत्मा की ही स्तुति की है; सुतरां अन्य देवता का प्रसङ्ग ही नहीं है।

साधक! याद रखना—केवल साधना ही नहीं, तुम्हारे यावतीय कार्य जबतक इस विशुद्ध चितस्वरूप "मैं" की तरफ लक्ष्य नहीं रखते हुए अनुष्ठित होंगे, तबतक ही वे अविधि पूर्वक होंगे, तबतक ही वे जन्म-मृत्यु रूप संसारगति के हेतु होंगे दुरत्यया माया के हाथ में से यथार्थ परित्राण चाहते हो तो, देवताओं की तरह "मेरे" (मैं के) ही शरणापन्न होने होगा। सर्वभावों की सहायता से सर्वदा मेरी (मै को) ही सेवा करनी होगी। सभी कार्य मेरी (मैं की) ओर लक्ष्य रखते हुये करने होंगे यदि कर सको (मनुष्य मात्र का इसमें अधिकार है) तो उभय लोकों को ही जय कर सकोगे; यह निःसंशय है।

"मामेकं शरणं व्रज" यह चरम अमूल्य उपदेश किस तरह से साधक जीवन में सार्थकतामय अवस्था मे उपनित होता है, वही तो इस देवी महात्म्य में प्रदर्शित हुआ है, इसे पुनः स्मरण कराने ही के लिये यह सब बातें कहनी पड़ीं। क्रम से ये और भी परिस्फुट होंगी। और एक बात है—यहाँ पर जो 'मैं" और 'मेरे" दो शब्दों का प्रयोग किया गया है, वह अस्मिता, ममता वा शुम्भ निशुम्भ नहीं है। वही

आत्मा—मा, गुरू हैं। इन दोनों का भेद अनुभव-सम्पन्न साधकगण निश्चय ही समझ सकेंगे।

शरीरकोषाद्यत्तस्याः पार्वत्यानिसृताम्बिका।
कौषिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ॥४०॥

अनुवाद—ये अम्बिका देवी, पार्वती के शरीरकोष से निर्गत हुई थी इसीसे जगत में कौषिकी नाम से परिचित होती हैं।

व्याख्या—देवी द्योतनशीला स्वप्रकाश रूपिणी चितिशक्ति। साधारणतः ये अन्नमयादि स्थूलकोषों को आश्रय करके ही प्रकाशित होती हैं। कभी-कभी साधकों के बिशुद्ध भक्ति से आर्द्र होकर स्थूलकोष परित्याग पूर्वक, केवल चिति रूप से ही आत्म स्वरूप प्रकाश करती है। यह आश्रय वा त्याग, चाहे जैसे भी हो, उन कोषों के साथ सम्बन्ध है ही; ईससे तो मा हमारी कौषिकी नाम से प्रसिद्ध हैं। सारे जगत में मा का यही नाम बिशेष भाव से बखान होता है। साधक! याद रखना, जबतक मा हमारी पञ्चकोषप्रावृता रूप से आत्मप्रकाश करतीं है, तभी तक मा हमारी पार्वती हैं, फिर जब कोषों के सम्बन्ध को परित्याग करके केवल चिन्मयी रूप से प्रकाशित होती हैं, तभी मा हमारी कौषिकी नाम से परिचित होती हैं।

तस्यां विनिर्गतायान्तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया ॥४१॥

अनुवाद—उनके (कौषिकी देवी के) ईस प्रकार शरीरकोष से विनिर्गत होने पर पार्वती देवी कृष्णबर्णा होकर हिमाचलाश्रिता कालिका नाम से आख्यात हुईं।

व्याख्या—पञ्चकोषों का सम्बन्ध परित्याग करके आत्मा चिति-शक्ति मा हमारी जब विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकटित करती हैं, तब

पञ्चकोषों की अवस्था कृष्णा अर्थात् अज्ञान स्वरूप हो जाती है। अज्ञान स्वरूपिणी कृष्णामूर्ति है इसीसे उस समय उनका नाम है कालिका ; एवं अत्यन्त जड़ रूप से, दृश्य मात्र रूपसे अवस्थान करती है ईसीसे यह कालिका मूर्ति तब "हिमाचल कृताश्रया" होती है।

खुलाशा कहते हैं—साधक ! जब तुम विशुद्धा चिन्मयी मूर्ति से माँ का दर्शन पाते हो, तब ही देहादि जड़ भाव को सम्पूर्ण रूप से विस्मृति होती है। उसका उस समय जो बिल्कुल अभाव हो जाता है, सो नहीं ; मात्र तुम्हारे ज्ञान के विषयीभूत नहीं होता। यह देहादि विषयक अज्ञान हीं यहाँ पर कृष्णा—कालिका मूर्ति है। इस अवस्था में अर्थात् जब तुम बिशुद्ध बोध में अवस्थान करते हो, उस समय तुम्हारी जड़त्व प्रतीति सम्यक् बिलुप्त होने पर भी दूसरों की दृष्टि में देहादिका जड़ पदार्थ रूप से ही भान होता रहता है। पार्वती के हिमाचल कृताश्रया कालिका मूर्ति से प्रकाश होने का यही रहस्य है। बुद्धि निर्मल होने से अर्थात् रजस्तमोगुणों का जय होने से धीरे-धीरे बुद्धि के परपार अवस्थित परमात्मा का सन्धान पाया जाता है, आभास आ उपस्थित होने लगता है। उस समय जड़-चेतन्य का भेद अच्छी तरह से स्पष्ट भाव से प्रतीति गोचर होना आरम्भ होता है ; एक तरफ घोर कृष्णवर्ण एवं दूसरी तरफ स्वप्रकाशरूपा चितिशक्ति। बहुपुण्य फल से साधक इस क्षेत्र में पहुँचकर अपने को धन्य हुआ समझता है।

ततोऽम्बिकां परं रूपं बिभ्राणां सुमनोहरं।
ददर्श चण्डमुण्डश्च भृत्यौ शुम्भनिशुम्भयोः॥ ४२ ॥

अनुवाद—इसके बाद शुम्भ निशुम्भ के सेवक चण्ड मुण्ड नामक असुर दोनों ने सुमनोहर परमरूपधारिणी अम्बिका को देखा।

व्याख्या—प्रथम जो कौषिकी-मूर्त्ति की बात कही गई है, वह यहाँ पर अम्बिका मूर्त्ति से प्रकाशिता हैं। पार्वती के शरीर कोष से

विनिर्गता मूर्ति ही विशुद्धा चिति शक्तिरूपिणी अम्बिका हैं। जड़त्व सम्बन्ध परित्याग कर के चिति शक्ति जब स्वरूप से प्रकटिता होती हैं, तब जड़त्व तमसाच्छन्न कृष्णामूर्ति में परिणत होता है, यही पूर्ववर्त्ती मंत्र में कालिका नाम से परिचित हुई हैं। चैतन्य वा चिति शक्ति जब जड़ाकार से प्रकाशित होती हैं, तभी उनका नाम होता है पार्वती। जब इन्हीं पार्वती का विशुद्ध चिद् अंश पृथक होकर प्रकाश पाता है, तब ही उनका नाम होता है कौषिकी वा अम्बिका और अवशिष्ट जड़-अंश कृष्णा वा कालिका नाम से जाना जाता है। अम्बिका—माता, विश्व प्रसबिनी जननी मूर्ति हैं। "सुमनोहर" अतिशय निर्मल है—विषय कलुषित नहीं। अथवा जो मन को सम्यक् रूपसे हरण वा विलोप करने में समर्थ हैं, वही सुमनोहर हैं। अथवा सुमना शब्द का अर्थ है देवता ; जो सुमनावर्ग को हरण करने में समर्थ हैं, सोई सुमनोहर हैं। मा हमारी ने ऐसा ही परमरूप श्रेष्ठ-रूप धारण किया था कि, मन एवं इन्द्रियाधिष्ठित-चैतन्यरूपी देवतावृन्द तक विलुप्त-प्रकाश हो गये थे इसी से मन्त्र मे उक्त है, "ततो अम्बिकापरंरूपं विभ्राणां सुमनोहरम्।"

यथार्थ ही अम्बिका मा हमारी सुमनोहरा, परमरूप मयी हैं। जहाँ पर सर्वभाव विलुप्त हैं, अथच जिनके प्रकाश से सर्व वस्तु प्रकाशित हैं, सो यथार्थ में परम रूप है। मन को हरण नहीं कर सकने से परम रूप का प्रकाश नहीं होता और परमरूप का प्रकाश न होने पर भी मन का विलोप नहीं होता। परमरूप उद्भासित होने से मन अपने आप ही अपहृत हो जाता है। यह जो जीवन्त वृक्ष-लता देखते हो, प्राण के कारण ही तो उनमें एक विशिष्ट रूप की उपलब्धि होती है। मृत शुष्क वृक्ष लता में और जीवन्त वृक्षलता में जिस पार्थक्य की उपलब्धि होती है, मृत देह और जीवन्त देह में जिस पार्थक्य की उपलब्धि होती है, यह पार्थक्य जिस का है, सोई तो परमरूप हैं—जिस वस्तु के विशेष भावसे प्रकाश पाने से ही जगत् इतना सुन्दर, इतना मोहन है। साधक ! कमसे कम कल्पना के नेत्रोंसे ही देखने की चेष्टा करो—

वही वस्तु, मात्र वही रूप जड़त्व सम्बन्ध परित्याग पूर्वक तुम्हारे सम्मुख प्रकाशित है। वही परमरूप है। इस रूपको देख सकने से मन क्या स्वयं अपहृत बिना हुये रह सकता है? इसी से तो अनेक बार बोलता आ रहा हूँ, मन को स्थिर करने के लिये साधना मत करो परमरूप को देखो—मन अपने आप ही स्थिर अर्थात् बिलुप्त हो जायगा। मन के अपहृत होने पर इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यरूपी देवता बृन्द अपने आप ही उस परमरूप में मिल जावेंगे, इसी से सुमना शब्द का अर्थ देवता भी किया गया है।

सबसे पहिले शुम्भ निशुम्भ के दो सेवक चण्ड मुण्ड ने इस परम रूप का सन्धान पाया। चण्ड—प्रवृत्ति, मुन्ड—निवृत्ति। चन्ड शब्द कोपन अर्थ में व्यवहारित होता है। कोप, प्रवृत्ति ही का एक प्रकार का उद्वेलन मात्र है। हम जितने अग्रसर होंगे उतने ही सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्व में प्रवेश करेंगे।

पूर्व में जिनको काम क्रोधादि स्थूल बृत्ति रूप से देखते आ रहे हैं; यहाँ पर आकर के उन्हीं सब के मूलीभूत प्रवृत्ति नामक एक सूक्ष्मतर शक्ति प्रवाह है एवं उसी के साथ साथ निवृत्ति नामक और एक सूक्ष्म शक्ति प्रवाह देखने में आता है। ये प्रवृति निवृत्ति दोनों ही अस्मिता और ममता के आश्रय से प्रकाशित हैं, इसी से ऋषि ने इनको शुम्भ निशुम्भ के सेवक रूपसे उल्लेख किया है। शुम्भ निशुम्भ जिस प्रकार समभावापन्न है, ये चन्ड मुन्ड भी ठीक उसी प्रकार हैं। जहाँ पर प्रवृत्ति है वही निवृत्ति है।

साधक! साधारणत; प्रवृति निवृत्ति कहने से जो समझ में आता है, यहाँ पर उसे मत समझ लेना। यहाँ पर चण्ड मुण्ड शब्द से परमात्माभिमुखी प्रवृति एवं अहं बिरति रूप निवृत्ति समझना। इस प्रकार की प्रवृति निवृत्ति प्राप्त करने के लिये अब तक बहुत साधना करते आ रहे हो। बहुत सुकृति के बल से, बहुत साधना के फल से आज तुम्हारी प्रवृति केवल आत्मा को ही चाहती है एवं निवृत्ति भी यथार्थ में अहंरूप बिषयबिरति चाहती है। यह बड़े सौभाग्य का

फल है; किन्तु ये भी असुर हैं। इनको भी निहत करने होगा। प्रवृत्ति निवृत्ति नामक कुछ भी नहीं रहेगा। अस्मिता ममता नामक कुछ भी नहीं रहेगा। एकमात्र सुमनोहर परम रूपमयी मा — परमात्मा —ही रहेंगी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं होगी कि यहाँ पर विषयवासना रूप प्रवृति की बात हो हो नहीं सकती! फिर उभयतोमुखी प्रवृत्ति की अर्थात् विषय एवं परमात्मा, दोनों तरफ जो प्रवृति परिचालित होती है उसकी बात भी यहाँ पर नहीं हो सकती : केवल परमात्माभिमुखी प्रवृति को लक्ष्य करके ही चण्ड मुण्ड असुर की बात कही जा रही है। आत्माभिमुखी प्रवृति होनेसे विषयाभिमुखी विरति रहेगी ही। यह भी असुर भाव है अर्थात् अनात्मबोध का परिचायक है। परमात्मा व्यतीत और कुछ होने से ही प्रवृति निवृति रहती है। वास्तव में एक अद्वय आत्मा व्यतीत और कहीं भी कुछ भी नही है। सुतरां जब तक देखोगे कि साधक परमात्मा को चाहता है अथवा विषय विरति चाहता है, तब तक यही मानना होगा कि साधक का अनात्मबोध है। उसे भी निहत करने होगा। उसके लिये साधक को कोई खास कर के आयोजन नहीं करने होगा। हमारी मा ने परम रूप प्रकटित किया है, एक एक कर के चन्ड मुन्ड प्रभृति असुर कुल उस अद्वय ज्ञान रूप परमरूपानल में आत्माहुति प्रदान कर के साधक का अनादि संचित अनात्म संस्कार बिलीन कर देगा; इस बार उसी का आयोजन हो रहा है। शुम्भ-निशुम्भ के भृत्य असुर दोनों 'चन्ड मुन्ड' ने परम रूपमयी अम्बिका मूर्ति को देखा है, सुतरां अब विलम्ब नहीं, अचिर काल के ही बीच में वे विलीनता को प्राप्त होंगे।

पहिले आत्माभिमुखी प्रवृत्ति परमात्मस्वरुप का आभास पाती है। इसी से शुम्भ के अम्बिका दर्शन से पहिले ही शुम्भ के भृत्य चन्ड मुण्ड ने अम्बिका मूर्ति का दर्शन किया था।

———

ताभ्यां शुम्भाय चाख्याता अतीव सुमनोहरा ।
काप्यास्ते स्त्री महाराज भासयन्ती हिमाचलम् ॥४३॥

अनुवाद — उन्होंने (चण्ड मुण्ड ने) शुम्भ के निकट आकर कहा महाराज ! अतीव सुमनोहरा, अनिर्वचनिया एक स्त्री मुर्त्ति हिमाचल को समुद्भासित करती हुई निवास कर रही है ।

व्याख्या — प्रवृत्ति-निवृत्ति की ही सहायता से अस्मिता परमात्म स्वरुप का सन्धान पाता है। सर्वभावों का अधिष्ठाता है इसी से ही चण्ड मुण्ड ने शुम्भ को 'महाराज' कहकर सम्बोधन किया। फिर स्त्री मूर्त्ति के विषय का वर्णन करते हुये पहले ही अतीव सुमनोहरा कहकर अम्बिका के स्वरूप का बखान किया। मा को देखते मात्र ही क्षण काल के लिये प्रवृत्ति निवृत्ति आत्महारा हो गई थीं इसी से सुमनौहरा कहकर बखान किया। मा का स्वरुप प्रकाशित होने से अति अल्प समय के लिये भी मन बुद्धि इन्द्रिय प्रवृत्ति निवृत्ति प्रभृति जो कुछ भी अनात्मभाव हैं विलुप्त हो जाते हैं, इसी से मा हमारी यथार्थ में सुमनोहरा हैं। चण्ड मुण्ड ने और एक बात कही- "भासयन्तीहिमाचलम्" हिमाचल को अर्थात् जड़त्व को उद्भासित कर के वह मूर्त्ति भ्राज रही है।

साधक ! एक दिन जो प्रवृत्ति तुम को विषयों के कीचड़मय क्षेत्र में आकर्षण कर रखी थी, एक दिन जिस प्रवृत्ति को दमन करने के लिये कितने ही न आयोजन किये थे, एक दिन जिस प्रवृत्ति को तुमने अपने यावतीय दुःख का हेतु स्वरुप समझा था, आज देखो—उस प्रवृत्ति ही ने सर्वाग्र में अतीव सुमनोहर परम रूप का सन्धान ला दिया। जो प्रवृत्ति एक दिन केवल बन्धन की ओर ले जा रही थी, वह प्रवृत्ति ही आज मुक्ति मन्दिर का अर्गल (हुड़का वा सीकल) खोलने वाली हुई।

अरे ! प्रवृत्ति का दोष क्या ? उसने जब तक परम रूप का सन्धान नहीं पाया था, तब तक विषयों की तरफ दौड़ती थी

निवृत्ति का दोष क्या ? उसने अब तक परमात्म स्वरुप का सन्धान नहीं पाया था. इसीसे केवल विषय-विरति साधन करने ही में अर्थात् त्याग, वैराग्य प्रभृति अवलम्बन की ही चेष्टा में लगी हुई थी। किन्तु आज उन्होंने अम्बिका को देख पाया है, आज बुद्धि के परपार अवस्थित परम रुप का सन्धान पाया है, इसीसे सर्वाग्रे दौड़ती हुई आकर अस्मिता को खबर दी, "एक अनिर्वचनीया स्त्री मूर्त्ति हिमाचल को आलोकित करती हुई विराजित हो रही है।" इतने दिनों तक साधक केवल हिमाचल को अर्थात् जड़त्व को चैतन्य का विकाश स्थान समझ रहा था, किन्तु आज यह क्या देखने लगा ? चैतन्य तो स्वराट् हैं, जड़ सम्बन्ध व्यतीत भी उसको निर्विशेष रुप से देखा जाता है, भोग किया जाता है। जड़त्व से सम्पूर्ण पृथक है, अथच जड़त्व का प्रकाशक है। चैतन्य आज स्वतंत्र रुप से उद्भासित हुआ है। इसीसे चण्ड मुण्ड ने कहा--हिमाचल से स्वतन्त्र अथच हिमाचल का उद्‌भासक वह परम रुप है। उपनिषत् ठीक यही बात कहती हैं,--तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति।"

साधक! पहिले मा को केवल पार्वती मूर्त्ति से देखते थे, अर्थात् सत्य और प्राण प्रतिष्ठा के फल से व्यक्त विश्वरुप से चैतन्य सत्ता की उपलब्धि करते थे, किन्तु आज उसको विश्व से स्वतन्त्र रुपसे उपलब्धि करने का सुयोग उपस्थित हुआ है। अरे! वह क्या है, सो कैसे लिखुँ ? कितनी बार से कहता आ रहा हुं "जन्माद्यस्ययतः" जिस से हम जन्में हैं, जिसमें सब समय अवस्थान करते हैं, और जिसमें फिर मिल जावेंगे, अथच, जिसमें जन्मस्थिति लय नामक कुछभी नहीं है, उनकी प्रत्यक्षता, उनका साक्षात्कार, वह कैसा आनन्द है, सो क्या कह कर समझाउँगा ? इनका स्वरुप कहा नहीं जाता इसीसे तो मन्त्र में अनिर्वचनीय-अर्थबोधक "कापि" शब्द का प्रयोग हुआ है, एवं विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा जो शक्ति स्वरूप है उसे समझाने ही के लिए मन्त्र में स्त्री शब्द प्रयुक्त हुआ है। शक्ति वस्तु चिरकाल ही

अनिर्वचनीय है। कार्य का अवलम्बन करके ही शक्ति निर्वचनीय होती रहती है। कार्य सम्बन्ध विहीन इस शक्ति का आभासमात्र पाने पर भी साधक आनन्द से उतफुल्ल हो उठता है।

नैव तादृक् क्वचिद्रूपं दृष्टं केनचिदुत्तमम् ।
ज्ञायतां काप्यसौ देवी गृह्यतञ्चासुरेश्वर ॥४४॥

अनुवाद—तैसा उत्तम रूप, किसी ने कहीं भी नहीं देखा। हे असुरेश्वर! आप एक बार देखिये, ये देवी कौन हैं? आप उनको ग्रहण कीजिये।

व्याख्या—चण्ड मुण्ड की बात कैसी सुन्दर है! सत्य ही ऐसा रूप किसने कहां देखा है? जो उसे देखेगा सो वही हो जायेगा! (सोइ जाने जाहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई) पृथक रहकर तो देखने का उपाय नहीं है। इसीसे चण्ड मुण्ड ने कहा—"तादृकरूपं केनचित् नैव दृष्टं" वह जो अनुच्छिष्ट वस्तु है। वह स्वरूप किसी के सामने प्रकट् नहीं किया जा सकता—मूकास्वादनवत् है। उन्होंने शुम्भ से और भी कहा,—"ज्ञायतां काप्यसौ देवी गृह्यताञ्चा सुरेश्वर।' तुम जानो—वह कौन है; तब फिर ग्रहण करो। गीता में भी उक्त है,—"ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।,, आगे उनका स्वरुप जानने होता है, तब देखने होता है, उसके बाद में प्रवेश करने होता है। उपनिषत् इसी को श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहती हैं। मन्त्र में जो गृह्यताम्' पदका उल्लेख है, उसका अर्थ ग्रहण करो। यही ग्रहण एवं प्रवेश एक ही बात है; कारण मा को ग्रहण करने जाने से ही उनमें प्रविष्ट होने होता है। मा को ग्रहण नहीं किया जा सकता! स्वयं ही गृहीत होने होता है। मा तो फिर ग्राह्य वा ज्ञेय नहीं हैं! मा तो स्वयं ही ज्ञातृ स्वरूप हैं। विज्ञाता को किस प्रकार जानोगे—ग्रहण करोगे? उनके जानने जाने से ही ज्ञातृ ज्ञेयादि के परपार में चले जाने होता है।

स्त्रीरत्नमतिचार्वङ्गी द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ।
सा तु तिष्ठति दैत्येन्द्र तां भवान् द्रष्टुमर्हति ॥४५॥

अनुवाद—हे दैत्येन्द्र ! वह स्त्री रत्न हैं, उनके अवयव अतिशय मनोज्ञ हैं, उनकी देह कान्ति से दिङ्मण्डल उदासित है। आपको उन्हें एकबार देखना उचित है।

व्याख्या—प्रवृत्ति का यह प्रलोभन वाक्य होने पर भी, इसमें विन्दु मात्र मिथ्याका संभव नहीं है। यथार्थ ही वे स्त्री रत्न हैं—अनन्त शक्ति का निर्विशेष केन्द्र हैं। रत्न शब्द से ज्ञान भी समझा जाता है, सुतरां स्त्री रत्न शब्द से ज्ञानमयी शक्ति स्वरुप वस्तु ही परिलक्षित होती है। जिस चिति शक्ति वा चिन्मयी महती शक्ति की बात पहिले कही गई है, यहाँ पर स्त्री रत्न शब्द प्रयोग करके चण्ड मुण्ड ने शुम्भ को आभास में वही समझा दिया। उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग अतिशय चारु (सुन्दर) हैं। वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं। सत्य ही उनको देखकर—"मदन मूरछा जाय।" वे अनन्त सौन्दर्य की आगार हैं। वे परम प्रेममय, परम प्रियतम आत्मा हैं। वे ऐसी ही मनोहर हैं, ऐसी ही सुन्दर हैं—चारु हैं कि 'जनम अवधि हम उन्हें निहारैं नयन न तिरपित होय।" ऐसा ही वह रुप हैं कि, "सदा हेरैं तब भी रहैं तृषित नयना।" वह जो अरुप का रुप! अपूर्व सुषमा! कौन भाषा है जो उसका स्वरुप व्यक्त करेगी? अरे! जगत् के सारे रूप एकीभूत करके, जगतके सारे सुख संग्रह करके यदि एक जगह राखे जायँ, ऐसा करने से जो होगा—यदि कल्पना की चक्षु से भी साधक उस भाव को समझ सके, तभी उस अपरिच्छिन्न आनन्द, उस भूमा सुख का कथञ्चित् आभास पा सकता है। वह मधु! वह अमृत! वह अभयम्! अरे यह क्या है! वह कैसा है!

"द्योतयन्ती दिशस्त्विषा" स्वकीय देह कान्ति से दिङ्मण्डल उदभासित है। उपनिषत् कहती है,—"तस्यभासा सर्वमिदं विभाति" यह जगत् यह बहुत्व, यह मैं वा अहं सभी जिनके प्रकाशसे प्रकाशित

है, जो सब को प्रकाश करते हुये भी स्वयं निर्विशेष केवलानन्द रुप से विराजित हैं, वे ही अम्बिका, आत्मा हमारी मा हैं। मा जो हमारी केवलानन्दमयी चिति शक्ति रूपिणी हैं, इसको समझाने ही के लिये चण्ड मुण्ड ने चार्वङ्गी स्त्री रत्न प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया है। इन सब शब्दों को छोड़कर असुर और किन शब्दों के द्वारा मा के आनन्द स्वरूप को प्रकट करेगा ? आनन्द का तो कोई विशिष्ट रूप नहीं ! वह तो केवलानुभव स्वरुप है।

इस मन्त्र का और भी एक विशेषत्व है। चण्ड मुण्डने शुम्भ से कहा—"तां भवान् द्रष्टुमर्हति"—उनको देखने की योग्यता आप में है। जीव जबतक आत्मा का सन्धान नहीं पाता; तबतक इस' 'रुपं रुपविवर्जितस्य स्वरुपम्" को समझ ही नहीं सकता, किन्तु गुरु कृपा से साधक इतने दिनों में सत्य और प्राणों का सन्धान पाकर, मैंत्वके केन्द्र में जा पहुँचा है, सुतरां अब उसमें परमानन्द-स्वरुप की उपलब्धि करने की योग्यता आ गई है। ठीक ऐसे करके प्रवृत्ति अस्मिता को लुभायमान करती है।

देखो साधक। प्रवृत्ति जबतक विषयाभिमुखी रहती है, तबतक जीव को नरक के मार्ग में ले जाती है। किन्तु यही प्रवत्ति ही फिर परमात्माभिमुखो होकर मुक्ति मन्दिर का अर्गला-बद्ध द्वार खोल देती है। इसीसे कहता हुँ—प्रवृत्ति की निन्दा मत करना। प्रवत्ति यथार्थ में ही हितैषी बन्धु वा मित्र है।

यानि रत्नानि मणयो गजाश्वादीनि वै प्रभो।
त्रैलोक्ये तु समस्तानि साम्प्रतं भाँन्ति ते गृहे ॥४६॥

अनुवाद—हे प्रभो। त्रिलोक में जो समस्त श्रेष्ठमणि हैं, एवं हस्ती अश्व प्रभृति जो हैं, वर्त्तमान में वे सब ही आपके गृह में शोभा पा रहे हैं।

व्याख्या—चण्ड मुण्ड शुम्भ को प्रलुब्ध करने के लिये प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं। हे प्रभो। त्रिलोक की जो कुछ अच्छी वस्तुएँ हैं, सो सब आपके घर में वर्त्तमान हैं। यद्यपि अस्मिताका आश्रय करके ही सर्वभाव प्रकाश पाते हैं, यद्यपि उत्कृष्ट अपकृष्ट सारी वस्तुएँ शुम्भ के गृह में रहनी उचित हैं, तथापि शुम्भ की महिमा बखान करने के उद्देश्य से चण्ड मुण्ड ने यहाँ पर केवल मणिरत्नादि श्रेष्ठ वस्तुओं का ही वर्णन किया अधिभौतिक भाव से वास्तव में ही त्रिलोक में जो श्रेष्ठ वस्तु, हस्ती, अश्व मणि, रत्न आदि हैं, वह तो सभी शुम्भके गृह में ही मौजूद हैं, तद् व्यतीत अध्यात्मिक दृष्टिसे भी देखा जाता है—रत्न शब्द का अर्थ श्रेष्ठ वस्तु अर्थात ज्ञान है। गीता में भी उक्त हुआ है; "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" इसी तरह गज शब्द का अर्थ—बन्धन एवं अश्व शब्द का अर्थ—गति है। (ये सब अर्थ पूर्व भी विशेष भाव से कहे जा चूके हैं) ज्ञानरूप मणिरत्न, गजरूप कर्म्मफल-बन्धन एवं अश्वरूप स्वर्ग नरकादि संसार गति सभी अस्मिता के आश्रय में है। मंत्र के शेषार्द्ध में कहा हैं--समस्तानि साम्प्रतं भान्ति ते गृहे।" इस साम्प्रतं' शब्दमें थोड़ा रहस्त है। सम्प्रति अर्थात् अबतक समस्त ही अस्मिता का है। बाद में वह आत्मा का ही होगा। ज्ञान के उदय में देखा जाता है एकमात्र ब्रह्म ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। अस्मिता जगत् कारण नहीं है। अस्मिता का जगत् कारणत्व सम्प्रति मात्र है, (तत् कालिक है बाद में इस प्रकार का अज्ञान फिर नहीं रहेगा।) प्रवृत्ति निवृत्तिरूपी भृत्य का यह गूढ़-रहस्यपूर्ण सत्य वाक्य शुम्भ ठीक समझ सका था या नहीं.. सो साधकगण ही विचार करेंगे।

ऐरावतः समानीतो गजरत्नं पुरन्दरात्।
पारिजात तरुश्चायं तथैवोच्चैःश्रवाहयः ॥४७॥

अनुवाद - गजरत्न, ऐरावत, पारिजात वृक्ष एवं उच्चैःश्रवा नामक अश्व, आप इन्द्र के निकट से लाये हैं।

व्याख्या--क्रम से छः मन्त्रों में चण्ड-मुण्डे पूर्वोक्त मन्त्र प्रतिपाद्य विषयो को विशेष भाव से समर्थन करते हैं। प्रथम कहा था-त्रिलोक के सब धन रत्न आपके गृह में है। अब उन्हीं को विशेष भाव से दिखाते हैं। इसीसे शुम्भ से कहा--"यही देखिये न क्यों, इन्द्र की जो कुछ अच्छी वस्तुएँ - ऐरावत, उच्चैःश्रवा, पारिजात ये सब ही आपने ले ली हैं।

इन्द्र, ऐरावय प्रभृत्ति द्वितीय खण्ड में ही व्याख्यात हो चुका है। उसका पुनुरूल्लेख निष्प्रयोजन है। पारिजात, कल्पतरू। संकल्प मात्र से ही जब साधक का अभिष्ट सिद्ध होता है तभी समझना चाहिये, उसके गृह में पारिजात तरू अर्थात् कल्पवृक्ष विराजित है। उच्चैःश्रवा-दिव्य श्रवणशक्ति। अतिदूरस्थित अथवा अति सूक्ष्मतम शब्द श्रवण करने की सामर्थ्य को उच्चैःश्रवा कहते हैं। सुनो - सत्वगुण जितना निर्मल होता है, उतना ही अस्मिता का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता जाता है। तब साधक देखता है—सर्वभाव के साथ अन्वित (जड़ित) जो मैंत्व (अहंत्व) है वही तो सर्वभावों का एकान्त आश्रय है। जहाँ पर जो कुछ है, सभी तो मैंत्वरूप आधार में मौजूद है। सुतरां क्या स्थूल जगत् में, क्या सूक्ष्म जगत् में। जहाँ पर जितने प्रकार के भाव वा पदार्थ हैं, उन सभी का एकमात्र अधीश्वर अस्मिता (मैंत्व) है। इसीसे ऐरावतादि यद्यपि यथार्थतः इन्द्र के अर्थात् परमात्मा की ही शक्तिमात्र हैं, तथापि इस समय उनको प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रभृति अनुचरगण अस्मिता के ही विशेष स्फूरण समझ रहे हैं। यह ही असुर भाव है। असल बात यह है कि, एकमात्र स्वप्रकाश चिति शक्ति ही सर्व वस्तु का अधिष्ठान है। इसे न समझकर चिदाभास को सर्व वस्तुओं का अधिष्ठान समझना ही असुर भाव है।

विमानं हंससंयुक्तमेतत्तिष्ठति तेऽङ्गने ।
रत्नभूतमिहानीतं यदासीद् वेधसोऽद्भुतम् ॥४८॥

अनुवाद—ब्रह्मा का रत्नस्वरुप हंसयुक्त अदभुद विमान सम्मानित होकर, यहां पर आपके आङ्गन में मौजूद है।

व्याख्या—वेधा—ब्रह्मा, विराट्मन । हंस—जीव । विमान, व्योमयानहं सयुक्त विमान—जीवभावीयमन । जीव का मन व्योम वा आकाश-तत्व अवलम्बन करके विचरण करता है, इसीसे मन को व्योमचारी वा विमान कहा जाता है। जिस विराटमन का संकल्प यह विश्व है वे ही वेधा वा ब्रह्मा हैं। हमारा यह व्यष्टि (खण्ड) मन भी उन्हीं का अन्यतम विशिष्ट संकल्प मात्र है। यह व्यष्टि मन ही ब्रह्मा का अदभुत विमान है। समष्टि मन और व्यष्टि मन किस भावसे अवस्थान करता है, उसे समझ सकने से ही ब्रह्मा के हंसयुक्त विमान का रहस्य समझा जा सकता है। व्यष्टि मन पर अर्थात् हंस-युक्त विमान पर आरोहन करके समष्टि मन वा प्रजापति जिस भावसे विचरण करता है, अर्थात् जिस तरह से सृष्टि क्रिया संघटित होती है, वह वास्तवमें अदभुद है। एवं यह ही 'ब्रह्माका श्रेष्ठरत्न वा शक्ति है। यद्यपि इसकी आलोचना प्रथम हो चुकी है, तथापि इस स्थान पुनः आलोचना करनी पड़ी। सुनो—एक वृक्ष देख रहे हो। जो वृक्ष विराट्मन का संकल्प है ठीक वही तुम्हारे दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। वह वृक्ष है संकल्पमय, भावमय वा आनन्दमय; कारण आनन्द-मय परमेश्वर की कल्पना ही वृक्षरुप से प्रकटित होता है; आनन्दभाव द्वारा ही वह गठित हैं। वह चिन्मय आनन्दमय वृक्ष तुम्हारे लिये अज्ञेय है। तब तुम कौन से वृक्ष को देख रहे हो ? इसी चिदानन्द-मय वृक्ष से एक प्रकार स्पन्दन इन्द्रिय मार्ग में आकर तुम्हारे मन को अर्थात् ब्रह्मा के हंसयुक्त विमान को जाग्रत करता है। तुम्हारा मन वृक्ष के आकार से आकारित होता है; इस तरह से तुम जिस वृक्ष को देखते हो, वह तुम्हारे संस्कारानुरुप एक स्थल भौतिक वृक्ष मात्र है।

आनन्द धातु द्वारा गठित वृक्ष तुम्हारे भौतिक संस्कार रूप वस्त्र से ढका हुआ प्रकाश पाता है। यह ही ब्रह्मा का अदभुद विमान अथवा अभूतपूर्व सृष्टि वैचित्र्य है। इसी प्रकार ईश्वर सृष्ट पदार्थ समूह स्वरूपतः सच्चिदानन्दस्वरुप होने पर भी जीवों के निकट वह भौतिक संस्काररूप से आवृत होकर ही प्रकाश पाते हैं। ब्रह्मा स्वयं चिन्मात्र स्वरूप होने पर भी, अपनी कल्पनाओं को जड़ाकार में—भौतिक आकार में परिवर्तित कर सकते हैं। हंसयुक्त विमान अर्थात् जीव भावीय मन ही इस तरह के परिवर्त्तन का सहायक है: इसीसे ब्रह्मा हंस वाहन हैं। किसी अनादि काल से हमने अपने इस व्यष्टि मनको केवल भौतिक रूप रसादि ग्रहण के योग्य कर डाला है। इसीसे हम सच्चिदानन्दमय जगत् भोग करने की सामर्थ्य खो बैठे हैं। इसीसे प्रजापति ब्रह्मा का हमारे ऊपर यह आधिपत्य है। हम जीव हैं—हम ही ब्रह्मा के वाहन हंस हैं। हमारे व्यष्टि मन को भौतिक वस्त्र ग्रहण करने में निपुण जानकर ही वे इस अनिर्वनीय सृष्टि के द्वारा प्रति नियत (सब समय) हमको भौतिक लीला दिखा रहे हैं। किन्तु वह और बात है।

शुम्भ ने ब्रह्मा का यह विमान हरण कर लिया है, अर्थात् यह अदभुद सृष्टि व्यापार अब इस समय ब्रह्मा का नहीं शुम्भ का है। अस्मिता स्वरूप में पहूंचकर साधक सत्य सत्य ही देखता है—मै ही तो व्यष्टि समष्टि मन के जितने संकल्प और स्पन्दन हैं, धारण किये हुये हुँ। मुझ से ही व्यष्टि समष्टि मन का विकास है, मेरे (मैंके) नहीं रहने से तो मन की सत्ता ही नहीं रहती। यह ही शुम्भ का ब्रह्म-विमान हरण का रहस्य है। वास्तव में तो मन वस्तु भी तो अस्मिता का ही एक प्रकार का व्यूह मात्र हैं, इसे साधकगण गुरुपदिष्ट उपाय से तत्व के साधनाकाल में अच्छी तरह उपलब्धि कर सकते हैं।

निधिरेष महापद्मः समानीतोधनेश्वरात् ।
किञ्चल्किनीं ददौ चाब्धिर्मालामम्लानपङ्कजाम् ॥४६॥

अनुवाद—आपने धनाधिपति कुवेर के पास से यह महापद्म नामक निधि ग्रहण की है एवं समुद्र ने आपको किञ्जल्किनी नामक अम्लान पङ्कज की माला दान की है।

व्याख्या—महापद्म नामक निधि शब्द का अर्थ निर्मल सत्वगुण। मार्कण्डेयपुराण में उक्त है—"सत्वाधारो निधिश्चान्यो महापन्द्म इति स्मृतः। सत्वप्रधानो भवति तेन चाधिष्ठितो नरः।" अर्थात् महापद्म नामक निधि सत्वगुण का आधार हैं, सुतरां सत्वगुण प्रधान नर ही इस निधि प्राप्त के योग्य हैं।

रजस्तमोगुण के अभिभूत होने से ही सत्वगुण विशुद्ध होता है। यहाँ पर इसी विशुद्ध सत्वगुण को ही महापद्म नामक निधि कहा गया है। पहले भी कह चुका हूँ—यावतीय निधि वा विभूति विशुद्ध सत्व से ही प्रादुर्भूत होती है। अरे; रजोस्तमोगुण अभिभूत न होने से—विशुद्ध सत्वगुण में अवस्थान न करने तक तो साधक अस्मिता का स्वरूप ही उपलब्ध नहीं कर सकता, सुतरां महापद्म निधि तो शुम्भ के ही गृह रहेगी!

धनेश्वर—कुवेर, प्राण ही यथार्थ धनाधिपति हैं, इसीसे धनेश्वर शब्द का अर्थ है प्राण। विश्वमय जो प्राण-सत्ता विद्यमान है, इसे अनुभव करने से ही सत्वगुण निर्मल होता है। इसीसे महापद्म वा विशुद्ध सत्वगुण को प्राण ही के आश्रित कहा जाता है। अस्मिता में पहुँचा हुआ साधक इससे पूर्व प्राण-प्रतिष्ठा का अनुशीलन करके सर्वत्र प्राण-सत्ता की उपलब्धि कर सका है, सुतरां विशुद्ध सत्वगुण रूप महापद्म निधिका अधिकारी हुआ है। प्राण-प्रतिष्ठा से विशुद्ध सत्व लाभ होता है तभी तो धनेश्वर के निकट से इस निधि के ग्रहण करने की बात कही गई है।

इसके अलावा शुम्भ ने समुद्र के पास से किञ्जल्किनी नामक एक

अम्लान पंकज की माला ग्रहण की थी। समुद्र—कर्म्माशय। यद्यपि अस्मिता में उपनीत साधक के संचित एवं भविष्यत् कर्म संस्कार न रहने के कारण कर्माशय क्षीण होता जाता है, तथापि जब तक प्रबल प्रारब्धसंस्कार सम्यक क्षय को प्राप्तनहीं होते, तब तक (क्षीण होने पर भी) कर्माशय रहता है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। यद्यपि ऐसे साधकको फिर बन्धनजनक सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते नहीं देखा जाता, तथापि जब तक शरीर रहता है उतने दिनों तक प्रारब्ध-कर्म-संस्कार रहता है, इसको अस्वीकार करने का उपाय नहीं, सुतरां कर्माशय कहने से यहां पर केवल प्रारब्ध कर्माशय समझना होगा। संचित और आगामी कर्मों का विषय प्रथम ही कहा जा चुका है। आगे यही चण्ड मुण्ड की चतुरङ्ग सेना के अन्यतम अङ्ग रूपसे व्याख्यात होगा। अम्लान पङ्कज माला शब्द से एकान्त फलोन्मुख प्रारब्ध कर्म-संस्कार श्रेणी समझनी चाहिये। अभी तक वह प्रक्षीण नहीं हुई है, तभी तो अम्लान है। पङ्क शब्द का अर्थ पाप अर्थात् अज्ञान है। अज्ञान रुपी पङ्क से ही उसका जन्म है; इसी से पङ्कज कहा जाता है। किञ्जल शब्द का अर्थ है केसर। जिसकी किञ्जल्क है, उसका नाम है किन्जल्किनी। पूर्वोक्त फलोन्मुख प्रारब्ध कर्मसंस्कार श्रेणीरूप अम्लान पङ्कज माला का ही नाम किन्जल्किनी है। पद्मगर्भ स्थित पीतवर्ण केशर समुह की नाईं प्रबल प्रारब्ध बीज साधक को यथार्थ आत्मस्वरूप में अवस्थान करने से दूर रख लेते हैं प्रबल प्रतिकूल प्रारब्ध संस्कारों का क्षय न होने तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। साधक! जब तक देखो मां हमारी परमार्थ स्वरूप से आत्म-प्रकाश नहीं कर रही हैं, तब तक यही समझो—यही किन्जल्किनी नामक अम्लान पंकज की माला ही प्रतिबन्धक स्वरूप अवस्थान कर रही है। इस प्रतिकूल प्रारब्ध संस्कार को क्षय करने के लिये, धीर भाव से प्रतीक्षा करनी होगी, अधीर होने से और भी बिलम्ब होगा। एकमात्र मातृ करुणा के उपर निर्भर करके कातर प्राणोंसे रोना होगा। अच्छा जो हो, इसके पूर्व यह कर्माशय पृथक सत्ता विशिष्ट मालूम

होता था। अब उसे अस्मिता का ही एक प्रकार का स्फूरणरूप है ऐसा देखते हैं, इसीसे चण्ड मुण्ड ने शुम्भ से कहा—कि जो पङ्कजमाला अब तक समुद्र की थी, उसे अब तुमने स्वयं ग्रहण कर लिया है।

द्वितीय खण्ड में समुद्र शब्द का जो गुणत्रय का संयोग तारतम्य रूप अर्थ किया गया है, उसके साथ वर्त्तमाण अर्थ का कुछ भी विरोध नहीं है। धीमान् पाठक इसे अच्छी तरह समझ सकेंगे।

छत्रं ते वारुणं गेहे काञ्चनस्रावि तिष्ठति।
तथायं स्यन्दनवरो यः पुरासीत् प्रजापतेः॥ ५०॥

अनुवाद—वरूण प्रदत्त सुवर्णस्रावि छत्र एवं जो पूर्व में प्रजापति का था—वह श्रेष्ठ स्यन्दन (रथ) भी आपके ही गृह में मौजूद है।

व्याख्या—छत्र—आच्छादन कारक। काञ्चनस्त्राषी—ऐश्वर्यदायक आस्मित्ता में आत्मबोध उपसंहृत होने से, एक तरफ यथार्थ आत्म-स्वरूप ढका हुआ रहता है, दूसरी तरफ सर्वभावका अधिष्ठातृरूप ईश्वरधर्म प्रकाश पाता है, अर्थात् नानारूप ऐश्वर्य वा विभूतियों का विकास होने लगता है, यही काञ्चनस्रावी छत्र है। परमात्मस्वरूप का आवरक है इसी से इसको छत्र कहा है। ये छत्र पहिले वरूण के—रसाधिपति देवता के थे। अभी ये शुम्भ के घर में हैं प्रथम साधक भोग स्पृहा को ऐश्वर्य विभूति प्रभृति को पृथक सत्ताविशिष्ट मानता था, किन्तु अब उनको अपने ही का एक प्रकार विशिष्ट-प्रकाश-रूपसे देखना है। इसीलिये चण्डमुण्डने कहा—पहिले जो वरूण का था, वह अब आप का ही हो गया हैं। साधकगणों की अतिशय सूक्ष्म रूपसे इश्वरत्वादि आत्ममहत्व भोग की स्पृहा रहती है, इसीसे वह काञ्चनस्रावी छत्ररुपसे परमात्मस्वरूप का आच्छादक होता है।

प्रजापति का स्यन्दनवर—चित्तवृत्ति है प्रवृत्तियों का अवलम्बन करके ही मनोरूपी प्रजापति इतस्ततः जाना-आना वा प्रतिनियत सृष्टि

कार्य सम्पन्न करते रहते हैं, इसी से चित्तवृत्ति ही स्यन्दन वा रथ है। प्रथम वह प्रजापति ही का था। किन्तु अब वह शूम्भके घर है। साधक अब तक वृत्तियों को मन ही का धर्म समझता था, अब देखता है—वह अपना ही (अस्मिता का ही) विभिन्न स्फूरण छोड़कर और कुछ नहीं है। स्यन्दन शब्द का क्षरण अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। निश्चल परमात्मभाव का क्षरण होता है इससे भी वृत्तियों को स्यन्दन कहा जाता है। प्रथम अवस्था में साधक समझता था, वृत्तियाँ ही आत्मलाभ का अन्तराय हैं, किन्तु अब वह भाव नहीं है, सभी को वह आत्म-स्फुरणरूप से देखता है। जब तक वृत्तियाँ अपने स्वरूप से पृथक रुप से प्रतिभात होती हैं, तब तक ही उनको संयत करने का प्रयास रहता हैं। किन्तु वृत्ति समुह "मेरा ही (मैं का ही) एक प्रकार विकास मात्र है" इस ज्ञान में पहूंच जानेपर फिर उनके ऊपर प्रतिकूल भाव नहीं रह सकता। बास्तव में तो वृतियों अनुकूल भी नहीं, प्रतिकूल भी नहीं। वे जिसकी सत्ता से सत्तावान हैं, उसकी तरफ लक्ष्य करने से ही उनकी अनिष्टकारिता का उपशम होता है।

———

मृत्योरूत्क्रान्तिदा नाम शक्तिरीश त्वया हृता।
पाशः सलिलराजस्य भ्रातुस्तव परिग्रहे ॥ ४१ ॥
निशुम्भस्याब्धिजाताश्च समस्तारत्नजातयः।
वह्निरपि ददौ तुभ्यमग्निशौचे च वाससी ॥४२ ॥

अनुवाद—हे ईश! आपने मृत्यु की उत्क्रान्तिदा नामक शक्ति का हरण किया है। जलाधिपति का पाश एवं समुद्रजात यावतीय रत्न आपके भ्राता निशुम्भ के अधिकार में अवस्थित है। इसके अलावा वह्नि देवता (अग्नि) ने भी आपको हिरण्यमय वस्त्रयुगल प्रदान किये हैं।

व्याख्या—मृत्यु की शक्ति—उत्क्रान्तिदा है। प्राण को देह में से उत्क्रामण करना ही मृत्यु का कार्य है। यही उसकी शक्ति वा सामर्थ्य है। अस्मिता में पहूँचने से आगे साधक समझता था, मृत्यु एक आगन्तुक व्यापार विशेष हैं, यम बलपूर्वक प्रान को देह में से उत्क्रमण करता है। किन्तु अब वह भाव नहीं रहा। अब वह देखता है—मृत्यु नामक अलहदा और कुछ नहीं है, मैं जब इच्छा करके देह में से उत्क्रान्त होता हूं (वा होता है) तब ही मृत्यु नाम की एक क्रिया संघटित होती है, मृत्यु की उत्क्रान्ति-शक्ति-हरण का यही तात्पर्य है।

उपनिषद में इस प्राण के उत्क्रमण विषय का एक सुन्दर उपाख्यान है—चक्षु कर्णादि इन्द्रियवर्ग और प्राण, इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है, यह निश्चय करने के लिये उत्क्रमण व्यवस्था हुई। पहिले एक-एक करके इन्द्रिय निकलने लगी, किन्तु उससे प्राण का विशेष कुछ अनिष्ट नहीं हुआ, केवल उसी उसी इन्द्रिय का अभाव जनित एक प्रकार का कष्ट बोध होता था। सब के पीछे प्राण उत्क्रान्त होना आरम्भ करते मात्र इन्द्रियवर्ग अपनी सत्ता के विनाश की आशंका से घबड़ाने लगा, एवं प्राणों का ही श्रेष्ठत्व स्वीकार करके स्तव स्तुति करन आरम्भ कर दिया।

इसी प्रकार प्राणों का उत्क्रमण "मेरी (मैं की) ही इच्छामात्र है" इसे समझ सकने से साधक का मृत्युभय पूर्णरूप से चला जाता है। जो अस्मिता में पहूच गये हैं, उनके लिये यह सब ज्ञान अति सहज और स्वाभाविक है।

जलाधिपति का पाश एवं समुद्रजात यावतीय रत्नसमुह निशुम्भ ने ग्रहण किये हैं। पाश शब्द का अर्थ है अनुराग। वरूण का पाश क्या है, सो द्वितीयखण्ड में विशेषभाव से कहा गया है। यहाँ पर अनुराग शब्द से कोई विषयानुराग मत समझना; यह अनुराग-निशुम्भ का है, अस्मिता के साथ एकान्त (खूब) सहभावी जो ममता है उसी का है। जहाँपर ममता वहीं अनुराग। साधारणतः विषया-

नुराग स्थुल में भोग्य विषय समूह भोक्ता से सम्पूर्ण पृथक-सत्ता विशिष्ट मालुम पड़ते हैं। सुतरां उसके ऊपर एक आशक्ति रहती है, किन्तु इस अस्मिता क्षेत्रका अनुराग उस तरह का नहीं है। यहांपर चाहे जितने ही बहुभाव क्यों न फूटें, सब ही अस्मिता के विभिन्न स्फुरण रुपसे प्रकाश पाते हैं; मेरी (मैं की) ही बहुभाव के उपर जो आसक्ति है, वही यहाँपर अनुरागपद वाच्य है। निशुम्भ असुरका जलाधिपति के निकट से पाश ले लेनेका यही रहस्य है। अस्मिता में न पहूंचने तक, साधक इसे क्या ठीक समझ सकेंगे? समुद्रजातरत्न समूह शब्द से यावतीय योग-विभूति समझ में आती है, अब तक यह सब मानो एक कृथक वस्तु वा शक्ति रूपसे प्रतीत होती थी, किन्तु अब मा की कृपा से साधक अच्छी तरह से समझ सकता है—यह योग शक्ति समूह मेरी (मैं की) ही विभिन्न रूपसे प्रकाश व्यतीत और कुछ नहीं है। अस्मिता के इस बहुभावात्मक स्फुरण समुह के साथ-साथ ही ममत्व की अभिव्यक्ति है, यह ही निशुम्भ के समुद्र-जात रत्न समूह-ग्रहण का रहस्य है चण्ड मुण्ड शुम्भको प्रलब्ध करने के लिये, जिन सब ऐश्वर्यों की बात बोलें वे सभी शुम्भ के अधिकार में हैं, केवल ये ही दो (वरूण का पाश एवं समुद्रजात रत्न समूह) निशुम्भ के हैं। साधक इसके द्वारा ही समझ सकेंगे—अनुराग एवं विभूति अस्मिता मात्र होने पर भी ममत्व द्वारा ही वह परिगृहीत है। इसीसे मंत्र में भी "भ्रातुस्तवपरिग्रहे" वाक्य है।

वह्नि ने दिया—"अग्नि शौचे च वाषसो'; अग्निशुद्ध वस्त्रद्वय। वस् धातुका अर्थ है आच्छादन; जो परमात्मभाव का आवरण है वही वास है। अग्निशौच शब्द का अर्थ ज्ञानरूप अग्नि द्वारा विशोधित। माया एवं अविद्या यही अग्नि शुद्ध वस्त्र दो हैं। "मायावस्त्रे काया ढाकि, सतत सङ्गोपने थाकि" (माया वस्त्र से काया ढककर हमेशा छिपी रहती हुं) उस गीत को यहांपर एक बार स्मरण कर लेना ही अच्छा होगा (द्वितीय खन्ड का) अस्मिता क्षेत्रमें जाकर साधक माया एवं अविद्या का स्वरूप यथार्थ रुपसे

उपलब्ध कर सकता ह। इसके पहिले अर्थात् अस्मिता में पहुँचने से पहिले साधक माया एवं अविद्या के स्वरूप सम्बन्ध में जो जानता था, वह एक प्रकार अस्फूट वाचनिक ज्ञानमात्र था, किन्तु अब वह अग्नि शौच हुआ है, अर्थात् ज्ञानाग्नि द्वारा विशोधित हुआ है विज्ञानमय कोष में नहीं खड़े होने से, माया एवं अविद्या क्या है एवं उसका केन्द्र ही कहाँ है, सो ठीक ठीक समझ में, नहीं आता ।

———

एवं दैत्येन्द्र रत्नानि समस्तान्या हृतानि ते ।
स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते ।।५३।।

अनुवाद—हे दैत्येन्द्र । इस तरह से समस्त रत्न हीं आपने संग्रह किये हैं (आहृत किये हैं), केवल यही कल्याणी स्त्रीरत्न क्यो नहीं ग्रहण करते ?

व्याख्या—चण्डमुण्ड के प्रलोभन वाक्य का यहीं पर शेष हैं। ऐसे ही करके प्रवृति निवृति जीवको मातृलाभ के लिये उद्‌बुद्ध करती हैं। अस्मिना में आत्मबोध उपसंह्वत होने से साधक भलीभाँति समझ सकता है—सर्वरूप से बहुरूप से जो कुछ प्रकाशित हो रहा हं, सो सभी रत्नमात्र हैं । मेरे मैंत्व (अहंत्व) रूप महारत्न द्वारा ही यह विश्व संगठित है। जो वस्तु मेरे परम-प्रियतम मैंत्वा द्वारा गठित है सो सभी मेरे लिये रत्नरूप से, प्रियतम वस्तु रूपसे प्रतिभात होती रहे। जिधर दृष्टिपात करूँ, जो कुछ इन्द्रिय द्वारा परिगृहीत हो, सो सभी तो मेरे मैंत्वमय हैं। मैंत्व रूप महारत्न ही तो सर्वरूप से बहुरूपसे प्रकाशित है ? इसीसे मन्त्र में "रत्नानि समस्तानि" पद का प्रयोग हुआ है।

सत्य और प्राणप्रतिष्ठा का यही अवश्यम्भावी फल हैं। जगत्‌मय प्राण प्रतिष्ठा के फल से साधक देखता हैं—मेरा मैं ही जगद्रूप से

प्रकाश पा रहा है, एवं जगत्‌मय परिव्याप्त हो रहा है। मैत्वरत्न ही "समस्त" रूप से अवस्थित है, इसकी उपलब्धि बड़ी ही लोभनीय बड़ी ही आनन्ददायक है। अनेक साधक यहाँ पर आ करके जीवन की चरितार्थता समझ कर निश्चेष्ट हो पड़ते हैं। यह ऐसी ही मधुमयी अवस्था है। किन्तु यहाँ पर भी नहीं, और भी अग्रसर होना होगा ? इसीसे मा हमारी चण्डमुण्ड रूपसे—प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप से चिति शक्तिका—परमात्मा का संवाद लाकर उपस्थित होती हैं, एवं साधक को नाना रूपसे प्रलुब्ध करके परमात्माभिमुखी तीव्र आकर्षण करने का प्रतास पाती हैं। आशंका हो सकती है—एकमात्र चण्ड अर्थात् परमात्माभिमुखी प्रवृत्ति ही तो साधक को प्रलुब्ध करती है, मुण्ड अर्थात् निवृत्ति तो प्रलुब्ध नहीं करती ? उसका उत्तर यही है, यद्यपि साक्षात् सम्बन्ध में निवृत्ति कभी भी साधक को परमात्मा की तरफ आकर्षण नहीं करती, यह ठीक है, तथापि यह निवृत्ति ही पूर्वलब्ध रत्नादि वा योग-विभूति की तीव्र आसक्ति दूर करके प्रवृत्ति के आकर्षण को विशेष सहायता करती है। शुम्भ यदि गृह में स्थित रत्नसमूहों में ही बिलकुल मुग्ध रहता तो क्या अम्बिका को प्राप्त करने के लिये अग्रसर होता ? निवृत्ति के प्रभाव से ही अम्बिका प्राप्त होती हैं। अच्छा जो हो, चण्डमुण्ड ने शुम्भ से कहा—सब ही जब आपके हैं, तो फिर इस कल्याणी मूर्ति ही को आप क्यो नहीं ग्रहण करते, सभी रत्न अब आपके हैं तो यह स्त्रीरत्न ही आपका क्यों न होगा ? इसको भो अपना कर लो। शुम्भ चण्डमुण्ड के प्रलोभन से मुग्ध होकर अम्बिका को ग्रहण करने के लिये तैयार हुआ। किन्तु हाय। यह नहीं जानता कि अम्बिका को अपना करने जाने से, आप अर्थात् "मैं (वा अहं)" ही नहीं रहता, एकमात्र अम्बिका ही रहती हैं। चिति शक्ति को ग्रहण करने जाने से, अस्मिता ही विनष्ट हो जाती है। क्रम से यही अपूर्व तत्व ही खुलाशा होगा।

साधक ! तुम भी शुम्भ की तरह प्रलुब्ध होओ। प्रवृत्ति तुमको

कल्याणी मा के लिये प्रलुब्ध करे। निवृत्ति तुमको लब्ध रत्न के प्रति आसक्ति हीन करदे, तुम भी मा को लाने वा पाने को जाने से अपने (मैं) को खो बैठो, मनुष्य जीवन की परम चरितार्थता प्राप्त हो।

ऋषिरुवाच

निशम्येति वचः शुम्भः स तदा चण्डमुण्डयोः।
प्रेषयामास सुग्रीवं दूतं देव्या महासुरम् ॥५४॥
इति चेति च वक्तव्या सा गत्वा वचनान्मम।
यथा चाभ्येति संप्रीत्या तथा कार्यस्त्वया लघु ॥५५॥

अनुवाद-ऋषि बोले-चण्डमुण्ड के ऐसे वाक्य सुन करके, तब शुम्भ ने सुग्रीव नामक एक असुर को दूत रूप से देवी के पास भेजा। एवं कह दिया—"तुम मेरे कहे के अनुसार वहाँ जाकरके यह सब बातें कहना एवं जिससे वे (देवी) प्रेमपूर्वक शीघ्र ही यहाँ चली आवें ऐसा कार्य करना।"

व्याख्या—चण्डमुण्ड की बातों से शुम्भ मुग्ध हुआ—अस्मिता प्रवृत्ति की प्रेरणा से आत्म प्राप्ति के लिये तैयार हुआ। शुम्भ की सर्वप्रथम तैयारी—सुग्रीव नामक दूत प्रेरणा। सु—शोभन (सुन्दर) है गर्दन जिसकी, उसे सुग्रीव कहते हैं! सुग्रीव—उत्तम-उत्तम वाक्य प्रयोग—अर्थात् वाचनिक ज्ञान। मात्र वाचनिक ज्ञान की सहायता से परमात्मा का स्वरूप समझने की चेष्टा ही शुम्भका सुग्रीव नामक दूत प्रेरण का रहस्य है।

अस्मिता क्षेत्र में पहुँचने वाले साधक के मन में स्वतः ही यह भाव जागने लगता है कि, "मैं ही तो जगत् प्रकाशक हूँ (है) मेरा (मैंका) और कौन प्रकाशक है ? यदि है भी—तो वह तो अस्थूल, अनणु अह्रस्व, अदीर्घ इत्यादि नेति-नेति मुखसे प्रतिपादित शून्यवत निष्क्रिय

निरवलम्ब सुषुप्तिवत् एक अवस्था मात्र है। उस अवस्था में जाने से ही क्या फल ? यही तो ठीक हुँ (हैं) अब केवल वेदान्तादि—शास्त्र प्रतिपादित निर्गुण स्वरूप को विषय की मौखिक आलोचना कर लेने से ही अभीष्ट सिद्ध होगा। वह अवस्था वह वाक्य मनका अतीत स्वरूप, स्थूल देह रहते उपलब्धि का विषय नहीं होता, और होने की आवश्यकता भी नहीं। अभी तो केवल वाक्यों के द्वारा ही उसका स्वरुप समझ लेने से ही होगा। किन्तु हाय ? साधक ने अभी भी ठीक नहीं समझ पाया है कि उसका यह परमात्म विषयक ज्ञान जो है, वह केवल श्रुति (सुना) और अनुमान जन्य परोक्ष ज्ञान मात्र है ? अपरोक्षानुभूति (प्रत्यक्ष) अभी भी ठीक नहीं हुई। यदि परमात्माभिमूखी प्रवृत्ति उसे लुभायमान करती तो वह भावातीत स्वरुप की आलोचना भी नहीं करता, नितान्त अवश होकर ही मानो उनकी (परमात्मा की) आलोचना करनी होती है, अधिकांश साधकों को इस तरह की एक सामयिक निश्चेष्टता आ जाती है। जो साधक हैं, उनको ऐसा भाव प्रायः ही आता है; कारण बहु जन्मार्जित साधनाओं के फल से सूक्ष्मतर क्षेत्र अस्मिता में पहुँच कर सर्वभावों का अधिष्ठातृत्व पर्य्यन्त प्राप्त करके साधक ने पूर्ण निश्चिन्तता का सन्धान पाया है। उसको फिर इसके ऊपर जानेकी कोई विशेष इच्छा ही नहीं होती। नितान्त प्रवृति को ताड़ना से अगत्या अल्प विस्तर मौखिक आलोचना करता रहता है। कोई विशेष चेष्टा की सहायता से फिर वह निरञ्जनसत्ता की ओर अग्रसर नहीं होना चाहता। इसीसे सुग्रीव नामक दूत पठा करके कार्य साधन का प्रयास करता है। बड़ा चमत्कार यह तत्व है।

वर्तमान वैष्णव सम्प्रदाय के अधिकांश लोग इस प्रकार की अवस्था ही को जीवन की चरम चरितार्थता मान बैठते हैं। इसका अप्राकृत लीला निकेतन वा नित्य वृन्दावन प्रभृति उपाधियों से परिचय देते हैं। पक्षान्तर में परमात्मस्वरुप (मानो) नितान्त

अन्धकारमय सुषुप्तिवत् अवस्था है, ऐसी धारणा ठीक करके कहते हैं—शक्कर होने की अपेक्षा शक्कर खाना ही अच्छा है।" हाय! वह नहीं जानते कि बिन्दु मात्र भेद ज्ञान रहने से भी आत्मा का यथार्थ स्वरूप उपलब्ध नहीं होता, सुतरां निरवच्छिन्न आनन्द के परम प्रेम का आस्वाद भी नहीं मिलता। वे क्या नहीं जानते कि अद्वय ज्ञान ही अमृत है; भेद ज्ञान ही मृत्यु है? यद्यपि स्थूल देह विद्यमान रहते उस अद्वय स्वरूप में दीर्घकाल अवस्थान करना बिलकुल असम्भव है, तथापि जब तक अद्वय स्वरूप में उपनीत हुआ नहीं जाता तब तक चाहे जितने ही लीलरसों का आस्वादन क्यों न किया जाय, अमृत का सन्धान नहीं मिलता, अभय पद में प्रतिष्ठित हुआ नहीं जाता।

स तत्र गत्वा यत्रास्ते शैलोद्देशेऽति शोभने।
सा देवी तां ततः प्राह श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥ ५६॥

अनुवाद—जहांपर जिस अतिशोभन शैलदेशमें वे देवी रहती हैं, वह (सुग्रीव) वहां जाकर कोमल मधूर वाक्यों में उन (देवी) को बोलने लगा।

व्याख्या—अतिशोभन शैलोद्देश—सहस्रार; असीम ज्ञान क्षेत्र। तत्व प्रकाशिका नामक चण्डी के टीकाकार ने शैलोद्देश शब्दका अर्थ करते हुए कहा है—"शैलस्य उद्र्ध्वप्रदेशको"। यथार्थ में इस देह रूप हिमाचलके सर्व्वोर्द्ध्व प्रदेश में सहस्रदल कमल विराजित है। जगत का कोई भी सौन्दर्य उसके साथ उपमित नहीं हो सकता, कारण पार्थिव सौन्दर्य जड़त्व मण्डित है, किन्तु वह स्थान-विशुद्ध चिन्मय क्षेत्र है। वह तो "आनन्दरूपं बिशुद्ध बोधं नयनाभिरामं है।" इसी से मंत्र में अतिशोभन शब्द का प्रयोग है।

सहस्रार कहने से जो समझते हैं—मस्तिष्क के भीतर एक हजार

दल विशिष्ट एक पद्मफूल है, वे इस रहस्य को ग्रहण कर सकेंगे, ऐसा तो मालूम नहीं पड़ता। विशुद्ध चिन्मय क्षेत्र की तरफ अग्रसर होने ही से मस्तिष्क के अन्दर एक अपूर्व अनुभूति होने लगती है। बोध वस्तु सर्वतः प्रसारी, सर्वतः प्रकाशशील, अनन्त शक्ति का केन्द्र है। अराओं का जैसे रथके चक्का की नाभि में सम्बन्ध होता है, ठीक इसी तरह उकी बोध—क्षेत्र से अनन्त प्रसार अनन्त प्रकाश अनन्त शक्ति सर्वतः प्रसृत होती है, इसी से इसको सहस्रार कहा जाता है। सहस्रशब्द असंख्यवाचक है।

आजकल अनेक साधक ही षट्चक्र की क्रिया सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानते हैं, वा दूसरों को उपदेश करते हैं। प्रथम शिक्षार्थी के लिये यह सब उपाय कोई खराब नहीं हैं। विभिन्न चक्रों में विभिन्न वर्ण और विभिन्न मूर्ति की चिन्ता एवं विभिन्न मंत्र जप प्रभृति का अनुष्ठान किंवा चक्र चक्र में श्वास की क्रिया आदि अनुष्ठान यदि अनुभूति विहीन हों, अर्थात् चैतन्यसत्ता उद्बोध की सहायक न हो, तो इन सब अनुष्ठानों के द्वारा कभी भी आत्मज्ञान का उदय हो सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इन सब चक्रों का विशेष रहस्य है। वे सब तत्वसमूह के केन्द्र हैं। स्थूल में से सूक्ष्म की तरफ़ अग्रसर होने के लिये ये सब स्तर साधकों को खूब ही आश्रयणीय हैं। तत्वज्ञानी गुरुगण उपयुक्त अधिकारी ही को ये सब रहस्य बताते हैं। समझ नहीं सकेगा, इसीसे अनाधिकारी के सामने उसे प्रकाश नहीं करते; नहीं तो छिपाकरके रखना उनका अभिप्राय वा उद्देश्य नहीं है। किन्तु वह और बात है।

"श्लक्ष्णं मधुरयागिरा"—अतिशय कोमल मधुर वाक्य प्रयोग से शुम्भ के दूत ने देवीको मुग्ध करने की चेष्टा की। अति मधुर प्रणवादि मंत्र जप, अति मधुर स्तोत्रादि पाठ, अति मधुर उपनिषदादि शास्त्रों के अध्ययन प्रभृति उपायों से आत्मा को—अम्बिका को शुम्भ स्वकीय घर में अस्मिताक्षेत्र में लाने की चेष्टा करता है, किन्तु सो होनेका नहीं।शुम्भ को आत्मबलि देनी होगी; नहीं तो नहीं आवेंगी।

अस्मिता का लय नहीं होनेतक उनका प्रकाश नहीं होगा। मा को लाना चाहोगे तो मैं वा अहं को खोना ही होगा।जबतक मैं वा अहं रहता है तबतक मा का आगमन नहीं होता, यही सत्यबात है। साधक यहांपर एकबार उस "नायमात्मा—प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इत्यादि सत्यदर्शी ऋषि के वाक्य को स्मरण करले, तभी वह शुम्भ के इस प्रेरणा को निष्फलता समझ सकेगा।

दूत उवाच।

देवि ! दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः।
दूतोऽहं प्रेषितस्तेन त्वत् सकाशमिहागतः॥५७॥
अव्याहताज्ञः सर्व्वासु यः सदा देवयोनिषु।
निर्जिताखिलदैत्यारिः स यदाह शृणुष्व तत्॥५८॥

अनुवाद—दूतने कहा—देवि ! दैत्येश्वर शुम्भ त्रिलोकका परमेश्वर है। तत् कर्तृक प्रेरित हुआ मैं दूतरूप से यहां पर आप के पास आया हूँ। जिनकी आज्ञा समग्र देवतावृन्द सर्वदा अवनत मस्तक से प्रतिपालन करते हैं, समस्त दैत्यारिवृन्द को जिन्होंने पूर्णरूपसे निर्जित कर लिया है वे वही शुम्भ (आपको) जो बोले हैं, उसे श्रवण कीजिये।

व्याख्या—सुग्रीव ने कहा—शुम्भ त्रिलोक का ईश्वर है। अस्मिता में सृष्टि स्थिति-लय त्रिविध प्रकाश हैं, सुतरां, अस्मिता ही तो सर्व भावों का धर्त्ता, पाता और संहर्त्ता ईश्वर रूपसे प्रतिभात होता है। वाचनिक ज्ञान रूपी सुग्रीव दूत आकर देवी के पास शुम्भ के इसी ईश्वरत्व का विषय अर्थात् अस्मिता का ऐश्वर्य्यमहत्वादि—विषय की वर्णना करता है। यथा— जगत् कहने से जो कुछ प्रकाशित हो; वह सब ही जब मुझ में (मैं में) प्रतिष्ठित है, तो तुम देवी— द्योतनशीला स्वप्रकाश स्वरूपा चितिशक्ति हो, तुम क्यों मेरे परिग्रह में नहीं

आओगी ? समस्त देव शक्ति के उपर मेरा आधिपत्य प्रतिष्ठित है, देवतागण मेरी ही (मैं की) सत्ता से सत्तावान हैं, मेरे ऊपर देवता-वृन्द का कोई अधिकार नहीं है, मैंने उनको पूर्ण रूप से निर्जित कर रक्खा है; इस प्रकार सबही जब मेरा अर्थात् 'मैं' का ही बहुभाव मात्र है, तो फिर तुम आत्मा, तुम भी तो मेरी ही आत्मा हो। तुम फिर क्यों नहीं मेरी होओगी ? शुम्भ का यही भाव दूत मुखसे प्रकाशित होता है।

सुनो, जीव जब प्रथम साधना क्षेत्र में प्रविष्ट होता है, तब समझता है; मैं भगवान को प्राप्त करूँगा अर्थात् 'मैं' से भगवानको सम्पूर्ण पृथक एक मूल्यवान वस्तु स्वरूप समझ बैठता है। क्रम से साधना करते करते सन्देह; अविश्वास, अहंकार एवं काम, क्रोध प्रभृति 'मैं' के शरीर से मलीन पोशाक खोलके फेककर, श्रद्धा, विश्वास, दया, क्षमा निरभिमान प्रभृति मूल्यवान पोशाकों के द्वारा 'मैं' को सजाता जाता है, जहां पर 'मैं' व्यतीत और कुछ नहीं दीखता। जो कुछ बहुत्व जो कुछ भला बुरा है, सो सब 'मैं' का ही एक एक प्रकार स्फूरण मात्र है; इसी प्रकार देखता है। उस समय आशा खूब ही बढ़ जाती है, उस समय आत्माकोभी 'मैं' के अधिकार में लाने की कोशिश करता है। कार्यतः यह भी अज्ञान वा असुरभाव मात्र है। मुख से हम कहते हैं "मेरी आत्मा" यह भी अज्ञान मात्र है। आत्मा कभी भी मेरी नहीं होती, आत्मा ही मेरा (में का) स्वरूप है। यह न समझकर जब जीव आत्मा को 'मैं' के भीतर (मेरी के भीतर) लाने की चेष्टा करता है, तबही इस चरम अज्ञान में आकर उपस्थित होता है। यह ही महासुर शुम्भ है। अज्ञान ही शुम्भ का स्वरूप है; सुतरां वह आत्मा को मा को मैं (मेरे) के अधिकार में लाने की चेष्टा करेगा ही। वह चेष्टा ही दूत प्रेरण रूपसे प्रथम प्रकाश पाती है।

मम त्रैलोक्यमखिलं ममदेवा वशानुगाः ।
यज्ञभागानहं सर्व्वानुपश्नामि पृथक्-पृथक् ॥५६॥

अनुवाद—यह अखिल त्रैलोक्य मेरा (मैंका)। देवतावर्ग मेरे (मैं के) वशीभूत हैं। मैं समस्त यज्ञ भाग पृथक-पृथक रूप से उपभोग करता हूँ (है)।

व्याख्या—शुम्भ की बात खूब ही सत्य है। अस्मिता में पहुँचने पर साधक ! तुम भी समझ सकोगे कि यह बात कितनी सत्य है। त्रैलोक्य मेरा, देवतावृन्द मेरे वशीभूत हैं, यज्ञ भाग मैं ग्रहण करता हूँ। पूर्व में कहा गया है--स्थूल, सूक्ष्म, कारण, अथबा सृष्टि, स्थिति और लय इस त्रिविध प्रकाश को त्रिलोक कहते हैं। लोक शब्द प्रकाशार्थक है। आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है। इसीसे नितान्त जड़ बुद्धि भी आत्मारूप से मैं रूपसे प्रतिभात होने लगती है आत्मा वा दृक् शक्ति एवं बुद्धि वा दर्शन शक्ति, सम्पूर्ण पृथक होने पर भी उस समय अभिन्नरूपसे प्रतिभात होती है, यह ही अस्मिता वा शुम्भासुर है। सुतरां स्थूल सूक्ष्मादि अथवा सृष्टि स्थित्यादि त्रिविध प्रकाश इस अस्मिता से ही उपलब्ध होती हैं इसी से मंत्र में कहा गया है—"मम त्रैलोक्यमखिलम्।"

देवतागण किस तरह से अस्मिता के वशीभूत एवं किस तरह से यज्ञ भाग अस्मिता के द्वारा परिगृहित होता है, सो पहिले कहा जा चुका है। यहाँ पर फिर से विशेष रूप से उसकी आलोचना की जाती है। यज्ञभाग शब्द का अर्थ—कर्म फल। कर्म ही यज्ञ है। यह ब्रह्माण्ड कर्ममय है, सुतरां यह ब्रह्माण्ड यज्ञागार है। कर्म का जो शेष वा परिणाम अर्थात् फल है, वही यज्ञभाग है। यह यज्ञभाग देवताओं को प्राप्त होना चाहिये; कारण चक्षु आदि इन्द्रियों के अधिपति सूर्यादि देबता वर्ग ही रूपरसादि विषय ग्रहण रूप कर्मों का फल ग्रहण करते हैं खूलासा कहते हैं—एक फूल देखकर तुम

आनन्दित हुये। यहाँ पर क्या घटना हुइ, एकबार विचार कर देखो—विराट् मनका जो पुष्प विषयक संकल्प है, उसमें से एक प्रकार के स्पन्दन ने जाकर तुम्हारी चक्षू इन्द्रिय को स्पन्दित किया। बस, तुम्हारी चक्षूने फूलका बाह्य रूप ग्रहण करके मनके पास उपस्थित किया मनने उसे बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित करके फूल का मनोहर रूप ग्रहण किया। उसके फलसे चक्षु इन्द्रिय परितृप्त हुई। इस चक्षू इन्द्रिय की तृप्ति का ही अर्थ है चक्षू के अधिपति आदित्य देवता की तृप्ति अर्थात् जो चैतन्यांश चक्षु इन्द्रिय विशिष्ट होकर प्रकाश पाता है,उसकी वही आदित्य देवता की परितृप्ति है। इसी तृप्ति ही का नाम यज्ञभाग है, रूपरसादि विषय ग्रहण रूप यज्ञ का वही शेष भाग वा अमृत है। वह ही देवताओं का प्राप्य वा भोग्य है। किन्तु अब वह अस्मिता के अधिकार में आ गया है; कारण, इस समय देवता वर्ग विशुद्ध चैतन्य के अंश रूप से प्रतिभात नहीं हो सकने से बुद्धि तत्व में प्रतिबिम्बित चिदाभास के बिशेष-बिशेष स्फूरणरूप से प्रकाश पा रहे हैं। इसी तरह से देवता वर्ग अपने-अपने अधिकार से विच्युत हैं एवं यज्ञभाग से भी वञ्चित हो रहे हैं।

गीता में भगवान ने कहा है—''कर्म द्वारा देवताओं का तृप्ति विधान करना चाहिये। उसे न करके कोई यदि कर्मफल रूप यज्ञभाग स्वयं ग्रहण करता है तो उनकी चोरी की गई जानो? यह चोरी की क्रिया स्थूल देहात्मबोध से ही आरम्भ होती है। जीव जब तक साधक नहीं होता, तब तक देहात्मबोध में विचरण करता है और रूपरसादि विषय भोग करके स्थूल देह वा मनको ही परितृप्त करता यह तृप्ति रूप फल वा यज्ञभाग जो देवताओं को ही प्राप्य है, इसे उस समय नहीं समझ सकता। फिर साधना राज्य में प्रवेश करके प्रथम-प्रथम मनको ही आत्मा मान बैठता है; सुतरां उस समय भी यज्ञभाग चैतन्य में अर्पित नहीं होता। सबके बाद में विज्ञान में

आरोहण करके विज्ञानात्मा में अवस्थान करके भी विशुद्ध चैतन्य में यज्ञभाग अर्पण न करके. विज्ञानात्म रूपी अस्मिता की ही तृप्ति साधन करता है। सुतरां, साधारण जीव से लेकर विज्ञानमय कोष के साधक तक सभी ज्ञानतः वा अज्ञानतः यज्ञभाग हरण करते हैं।यह ही असुर द्वारा यज्ञभाग हरण का रहस्य हैं। मंत्र में पृथक-पृथक पद का उल्लेख हैं।विभिन्न इन्द्रियों द्वारा आहृत रूपरसादि विषय समूह विज्ञान में जाकर भी पृथक पृथक रूप से ही परिगृहीत होते हैं। यदि वे आत्मा में अर्पित होते, तो फिर यह पृथकत्व नहीं रह सकता था, समस्त भेद विदूरित होकर एक रसरूप से परिगृहीत होता। साधक ! अपूर्व हैं यह तत्व। धीरभाव से विचार करके देखो एवं अब फिर जिससे इस प्रकार यज्ञभाग हरण न किया जाय, जो सर्वयज्ञेश्वर हरि हैं उनमें ही जैसे अर्पित हो, उसके लिये यत्नवान होओ, तुम्हारा बहुत्वरूप पाप अनायास में विदूरित हो जायेगा।

त्रैलोक्ये वर रत्नानि मम वश्यान्यसेषतः।
तथैव गज रत्नानि हृत्वा देवेन्द्र वाहनम् ॥६०॥
क्षीरोदमथनोद्भूतमश्वरत्नं ममामरैः।
उच्चैःश्रवससंज्ञं तत् प्रणिपत्य समर्पितम् ॥६१॥
यानि चान्यानि देवेषु गन्धर्वेषूरगेषु च।
रत्नभूतानि भूतानि तानि मय्येव शोभने ॥६२॥

अनुवाद—त्रिलोक में जो कुछ श्रेष्ठ रत्न हैं, सो सभी मेरे अधीन हैं (यहाँ तक कि) देवेन्द्र का वाहन क्षीरोदमथनोद्भूत गजरत्न ऐरावत एवं उच्चैःश्रवा नामक अश्वरत्न इन्द्र के पास से लेकर देवतागणों के प्रणिपातपूर्वक मुझे (मैंको) अर्पण किया हैं। हे शोभने। (सुन्दरी) देवता, गन्धर्व एवं नागों का जो कुछ श्रेष्ठरत्न था, वह भी सब अभी मेरे ही अधिकार में हैं।

व्याख्या—पूर्व मन्त्र में शुम्भ की सामर्थ्य वर्णित हुई है। इन तीन मन्त्रों में उसका ऐश्वर्य्य कहा गया है। ऐरावत, उच्चैःश्रवा प्रभृति की व्याख्या पहिले ही की जा चुकी है। शुम्भ दूत द्वारा देवी को अपना ऐश्वर्य का विषय सुनाता है। अभिप्राय यही है कि देव विजयी वीर्य एवं पार्थिव अपार्थिव ऐश्वर्य, सभी जब मेरे अधिकार में हैं, तो विशुद्धचित्त स्वरूप महारत्न तुम ही क्यों नहीं मेरे (मैंके) अधिकार में आओगे?

रत्न शब्द से मणि समझना होगा। फिर जिस जाति में जो श्रेष्ठ हैं वे भी उस जाति के बीच में रत्न कहे जाते हैं। पार्थिव श्रेष्ठ—भोग समूह एवं अपार्थिव स्वर्गादिश्रेष्ठ भोग समूहों को लक्ष्य करके ही यहाँ पर रत्न शब्द प्रयोग किया गया है। अस्मिता विश्वमय एवं विश्व रूपसे प्रतिभात है, अभाव अभियोग नहीं है, अपर का त्याग ग्रहण नहीं, एवं अपर के प्रति अनुराग-विराग भी नहीं। मनुष्य जैसे स्वकीय अङ्ग-प्रत्यङ्गों का अभाव अनुभव करके उनके पाने की चेष्टा नहीं करता, ठीक वैसे ही अस्मिता में पहूचे साधक को भी नितान्त भेद ज्ञान में त्याग वा ग्रहण नहीं रहता। सब ही जब मैं, तो फिर त्याग ग्रहण नहीं रहता। सब ही जब मैं, तो फिर त्याग ग्रहण कैसे रहेगा? विश्व की सभी वस्तुयें ही तो मैं द्वारा गठित हैं। सुतरां, देवता गन्धर्व उरग प्रभृति विभिन्न लोकों में जो कुछ वस्तु वा रत्न हैं, वे सभी मेरे (मैंके) अधिकार में हैं।

साधक! कैसी मधुमयी अवस्था है? विचार के देखो जगत में जहांपर जो कुछ भोग हैं, वह मैं ही भोग करता है। जगत के सब जीव, सब भोग ही देखो मैंमय है? मैं एक अद्वितीय है–और असंख्य जीव मानो मैं की ही विभिन्न इन्द्रिय हैं, सुतरां जहाँ जो कुछ भोग होता है, स्वरूपतः उसे मैं तो भोग करता है। अस्मिता क्षेत्र रूप ऐसा ही है? इसीसे प्रथम कह चुका हुं—बहु सौभाग्य के फल से साधक इस तत्व में प्रवेश करने की सामर्थ्य पाता हैं।

अच्छा जो हो, शुम्भ ने दूत मुख से कहला भेजा हे शोभने—हे परम-शोभामयी चिति शक्ति। समस्त ही मैं मय है, केवल तुम्हीं क्यों नहीं मेरे मैंत्व में होकर प्रकाशित होती हो? तुम्हारी तरफ देखने से तुम्हारी बात सोचने से, तुम जो मैं से सम्पूर्ण पृथक् हो ऐसा जान पड़ता है। क्यों तुम पृथक रहोगी देवी? तुम भी मेरी (मैं को) हो जाओ! सुनो, अस्मिता में आने ही से, अस्मिता जिसके प्रकाश से प्रकाशित है, जिसकी सत्ता से अस्मिता की सत्ता हैं, उसकी तरफ लक्ष्य पड़ता है, सुतरां उसे पाने के लिये साधक सर्वतोभाव से यत्न करते हैं (वा करने लगते हैं)। शुम्भ का यह अम्बिका देवी को प्राप्त करने का प्रयत्न भी ठीक उसी नित्य सिद्ध साधन—प्रणाली का ही निर्देश कर रहा है।

———

स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवीं लोके मन्यामहे वयम्॥
सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजोवयम्॥६३॥
मां वा ममानुजं वापि निशुम्भमुरुविक्रमम्।
भज त्वं चञ्चलापाङ्गि रत्नभूतासि वै यतः॥६४॥

अनुवाद—मैं समझता हूँ—इस लोक में तुम्हीं एकमात्र स्त्री रत्न स्वरूपा हो। मैं ही यावतीय रत्न भोग का अधिकारी हुँ, तुम भी मुझे आश्रय करो। मुझे अथवा मेरे अनुज उरुविक्रम निशुम्भ को हे चञ्चलापाङ्गी। (तुम्हारी जिसको इच्छा)भजना करो, क्योंकि तुम रत्न स्वरूपा हो?

व्याख्या—शुम्भ की प्रत्येक बात सत्य है। मा हमारी यथार्थ ही स्त्री रत्नभूता हैं। प्रथम कहा जा चुका है—स्त्री शब्द का अर्थ है शक्ति जितनी शक्तियाँ हैं उनमें एकमात्र चिति शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, अपर

सृष्टि-स्थिति-संहार शक्ति प्रभृति उस पराशक्ति का ही विशेष प्रकाश व्यतीत और कुछ नहीं है। इसीसे मा अम्बिका हमारी स्त्री रत्न-स्वरूपा हैं ? जीव जबतक इन आनन्दमयी चितिशक्ति का सन्धान नहीं पाता, तबतक किसी प्रकार भी यथार्थ शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। आज कितने लक्ष-लक्ष जन्मों के बाद जब इनका सन्धान मिला है, तो फिर किसी भी प्रकार से इनको प्राप्त करना (अधिकार करना) आवश्यक है। ऐसी विवेचना करके ही शुम्भ इनको अङ्कस्था करने का एकान्त आकांक्षी हुआ है। तभी तो कहता है—जब हमही रत्नाधिकारी हैं, तो तुम स्त्रीरत्न होकर क्यों हमारे अधिकार के बाहर रहोगी ? यह हो ही नहीं सकता "अस्मानुपागच्छ" हमारे पास आओ, अपने मैंत्व के भीतर होकर ही तुमको पाना चाहते हैं। तुम आओ। हमारे अपूण मैं को पूर्ण करो, एकमात्र तुम्हारा अभाव ही हमारे इतने ऐश्वर्यमय मैंत्व को अभावग्रस्त किये हुए है। देवि,तुम स्वयं आकर उस अभाव को दूर करो, मेरा अपूर्ण मैं पूर्ण हो ? हम दोनों के वीचमें तुम्तारी जिसकी इच्छा हो उसी को तुम भजना कर सकती हो। मुझे अथवा मेरे भाई उरूविक्रम-प्रबल पराक्रान्त निशूम्भ को, जिसकी तुम्हारी इच्छा, तुम आश्रय करो। इसीसे हम कृतकृत्य होंगे। आत्मा तुम-मैंत्वके भीतर होकर प्रकाशित होओ,हानि नहीं,नहीं तोमेरी आत्मा रूपसे प्रतिभात होओ, इसमें भी हानि नहीं। मैंत्व में होकर तो तुमको पकड़ही नहीं सकते।मैंतो प्रतिबिम्ब मात्र हूँ ?प्रतिबिम्बहोकर मूल बिम्ब को कैसे ग्रहण करूँगा ? इसीसे यदि यह एकान्त असम्भव हो, तो अगत्या निशूम्भ का आश्रय करो, वह भी प्रबल पराक्रमी है (सामर्थ्यवान है) सारा ब्रह्माण्ड ही निशूम्भ के अर्थात् ममता के करतलगत है। तुम स्वयं आत्मा यदि निशुम्भ की अर्थात् ममत्व की होओ, उसमें भी हमारा लाभ है। मुख से हजार बार कहते अवश्य हैं "मेरी आत्मा" किन्तु आत्मा तुम किसी प्रकार भी तो मेरी हुई नहीं ? यदि आत्मा मेरी हो सकती, तो मैं आत्मा को लेकर यथेच्छ भोग कर सकता, किन्तु सो तो होता नहीं। हम जब आत्मा को पकड़ने जाते हैं तो मैं

भी नहीं रहता मेरा भी नहीं रहता (मैं और मेरा दोनों लोप हो जाते हैं) इसी से तुम्हें नहीं पाते किन्तु अब सो नहीं होगा, तुमको यातो मैं त्व के भीतर होकर देखूँगा नहीं तो अपने बोध से बिलकुल आत्मीय बोध से तुम्हारा भोग करूँगा। तुम चञ्चलापाङ्गी हो ? अपना यह चञ्चलभाव परित्याग करके हमको स्थिर भाव से भजना करो।

शुम्भ ने ठीक ही कहा है—मा हमारी सत्य ही चञ्चलापाङ्गी हैं। चक्षु का पलक गिरते न गिरते मा हमारी अदृश्य हो जाती हैं। वह सौम्य प्रकाश, वह सर्वतोभेदी प्रकाश, वह वाक्य-मन के सम्पूर्ण अगोचर प्रकाश, अरे, वह तो क्षणार्द्ध काल में विलीन हो जाता है। अरे, वह तो हमारी सर्वभावहरा मैं त्व हरा भी है। शरीर रहते उनको दीर्घ काल तक देखने का उपाय नहीं, मन रहते उनको दीर्घकाल तक देखने का उपाय नहीं है। यद्यपि शरीर मन प्रभृति सब भाव को सम्पूर्ण विलय करके तब मा हमारी प्रकाशित होती हैं, तथापि इन सबका बीज रह जाता है इसीसे चञ्चला की तरह—विद्युत रेखा की तरह, मा का अपाङ्ग-नयन प्रान्त भाग उद्भासित होते ही होते विलीन हो जाती है। सत्य ही क्या ऐसी है ? मा तो हमारी नित्य-स्थिरा नित्य-प्रकाश-स्वरूपा हैं। तो फिर इतनी चञ्चलता क्यों ? अरे। हम जो चञ्चल हैं, इसी से मा भी चञ्चल रूप से ही प्रतीयमान होती हैं। मैं अपने 'मैं को' बड़ा प्यार करता हू, उसको किसी प्रकार भी नहीं छोड़ना चाहता, भय होता है, मा के आने से ही तो 'मैं' नहीं रहेगा। इसी से पलक पलक में एक बार मा को देखकर फिर बड़े प्यारे 'मैं" को जकड़कर पकड़ लेता हुं। हाय, मा ही जो मैं है, मैं कहने को (वा कहकर) और कुछ भी नहीं है, ठीक ठीक कब समझ सकूँगा ? हे मा, हम तो तुम को चाहेंगे ही नहीं, हम तो तुम्हारे सर्वनाशक प्रकाश के समीप उपस्थित होंगे ही नहीं तब भी कहता हूँ मा, तुम दयाकरके आओ—प्रकाशित होओ ? हमारा मैं व वा अहंत्व भार विदूरित हो।

साधक यह जो देखते हो पर्वत गह्वरों में दीर्घकाल व्यापी समाधि में अवस्थित पुरूष योगासन से बैठे हुए हैं, मत सोचना समझना वे अनवरत ही मा को देखते हैं अरे ऐसा नहीं होता अनवरत मा को देखने से देह नहीं रहती, अल्प काल ही के बीच में आत्मा देह सम्बन्ध से बिच्युत हो जाती है। अनात्म प्रतीति सम्यक् बिलुप्त होने से, दीर्घ काल देह में अवस्थान बिलकुल असम्भव है। यह जो विद्युत रेखावत दर्शन है उसीसे जीव धन्य होता है, जीव मुक्त होता है, आनन्दमय होता है, ब्रह्म स्वरूप होता है। एक बार साक्षात्कार होने से फिर विस्मृतिनहीं होती, एवं इच्छा मात्र सेही फिर दर्शन किया जाता है। अरे, यह जो आनन्दघन ज्ञान है। इसकी विस्मृति कैसे होगी ? और खोयेगा ही क्या ? यह जो मैं हुँ—यह जो आत्मा है हमारी मा हैं। उनका फिर पाना न पाना, देखना न देखना क्या ? तब भी देखना चाहिये—तब भी देखना होता है, पाना होता है। यह ही तो यथार्थ चरितार्थता है।

शुम्भ ने और एक बात मा से कही है—"भजत्वं"— तुम भजन करो। बड़ी सत्य बात है। केवल शुम्भ ही ने ऐसी बात नहीं कही। श्रुति भी कहती है, "यमेवैषवृणुते" यह आत्मा जिसे वरण करती है वही आत्मा को पाता है। गीता कहती है—"तांस्तथैव भजाम्यहम्।" जो मुझे जिस प्रकार चाहता है, मैं उसे उसी प्रकार भजता हूं। इसी प्रकार देखने में आता है कि वेद, गीता और चण्डी तीनों ही समान सुर से एक ही बात बोलते हैं। आत्मा ही जीव की भजन करती है। बात सुनने में विरुद्ध, समझने में विरुद्ध एवं समझाने में भी विरुद्ध हो सकती है, किन्तु वही पूर्ण सत्य है, इसमें कोई संशय नहीं।

साधक। तुम तो साधन भजनादि करके मातृ लाभ की ओर अग्रसर हो रहे हो, समझ लेना— वह मा के ही साधन-भजन की प्रतिध्वनि मात्र है। मा तुम्हारी भजन करती हैं, इसलिये तुम भी भजन करते हो। मा, जब तुम्हारी भजन करती हैं तब तुममें भजन रूप एक बाह्य लक्षण प्रकाश पाता है। आत्मा ही जीव का भजन

करती है—चाहती है। इसीसे जीव आत्मा को चाहने का ढोंग करता है। किन्तु यह बात ईसी रुद्र ग्रन्थि भेद के अधिकारी पाठकों के लिये ही कही गई है।

जिन्होंने मा को एक बार भी नहीं तेखा है, वे इस बात को लेकर चाहे जितने विरुद्ध वाद उठावें, जो चाहें सो करें—किन्तु बात यह खूब ही सत्य है।

हे मा। जिसकी जो इच्छा हो बोले, हम तो शुम्भ की तरह शत बार बोलेंगे, सहस्त्र बार बोलेंगे—"भजत्वं" तुम मुझे भजो, तुम मुझे ग्रहण करो। अरे, तुम मेरा भजन करोगी तभी मेरा मिथ्या मैं खो जायेगा। किन्तु यदि मैं तुम्हारा भजन करने जाऊँगा, तो वह रह जायेगा। इसीसे प्राणप्रण से कहता हूं—मा तुम मुझे लो, तुम मुझे लो। मैं तुम्हारे पास जा नहीं सकता, तुम मुझे ले चलो।

ऋषि भी कहा करते थे—'आविराविर्मएधि।" तुम प्रकाशित होओ, तुम आविर्भूत होओ। हे मा, इसी प्रकार आवहमानकाल से तुम ही जीव का भजन करती आ रही हो। तुम मा हो। तुम हमारा भजन नहीं करेगी? तो क्या सन्तान मा का भजन करेगी? हे मा, जिस दिन से तुम हम पृथक हुये हैं, उसी दिन से ही तो तुम हमारा भजन कर रही हो। हम देखें या न देखे, समझे या न समझे, तुम ही थोड़ा थोड़ा करके ज्ञानास्तन्य द्वारा रमारा भजन कर रही हो। इस बार इस भजन को समाप्त करो मा। और क्यों? कितने काल से सेवा करती हो, आदर कर रही हो, प्रतिपालन कर रही हो। इतने दिनों में भी क्या तुम्हारीं सन्तान-प्रतिपालन की साध नहीं मिटी मा। अबमी एक बार हृदय से लगा लो मा। मै तुम्हारे इस निर्मल वक्ष पर इस भेद ज्ञान के सन्तप्त हृदय को रखकर शेष बार की तरह मा कह-कर आत्मभोला होउँ, माता-पुत्र भेद हमेशा के लिये तिरोहित हो। तुम जैसी "एकमेवाद्वितीयम्" हो वसीं ही अद्वितीय स्वरूप में विराजो।

शुम्भ ने मा को और एक बात कही है—'रत्नभूतासि"। तुम रत्न-

स्वरूपा हो। "यं लब्धा चापरं लाभं मन्यतेनाधिकं ततः'। जिनको प्राप्त करके और किसी रत्न लाभ की आकाँक्षा नहीं रहती, हमेशा के लिये अभाव का रोना विदूरित होता है, वह रत्न तुम हो तुम स्वयं न आओ तो हम तुमको कैसे पायेंगे। यद्यपि कवि ने कहा है—'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' रत्न किसी का भी अन्वेषण नहीं करता रत्न का ही सब अन्वेषण करते है। तथापि हम जानते हैं—रत्न स्वयं ही मनुष्य के पास उपस्थित होता है। मनुष्य कभी भी अन्वेषण करके रत्न नहीं पाता। यदि अन्वेषण से रत्न मिलता तो सब ही रत्न लाभ से धन्य होते। किन्तु सो नहीं होता, रत्न जिसका अन्वेषण करता है, मात्र वहीं रत्न लाभ करने में सामर्थ होता। इसी से केबल शुम्भ नहीं मां हम तो कातर प्राणों से बोलते है—'भजत्वं चञ्चलापाङ्गि! रत्नभूतासि वै यतः' तुम ही सार रत्न हो, इसीसे तुमको भजन करने के लिये बोलता हूँ। तुम दया करके आओ, हमारा भजन करो, हम रत्नलाभ से धन्य हों।

परमैश्वर्यमतुलं प्राप्स्यते मत्परिग्रहात्।
एतद्बुद्धया समालोच्य मत्परिग्रहतां व्रज ॥६५॥

अनुवाद—तुम मुझे परिग्रह करने से परमैश्वर्य प्राप्त करोगी। सुतरां इस विषय को बुद्धि द्वारा अच्छी तरह से समालोचना करके मेरी परिगृहीता होओ।

व्याख्या—अस्मिता का ऐश्वर्य विपुल है, क्योंकि समग्र विश्व ही उसमें अवस्थित है। इसी से देवी को ऐश्वर्य का प्रलोभन दिखाया जा रहा है। किन्तु असुर अस्मिता नहीं जानता कि मा की ही सत्ता से उसकी भी सत्ता है। चिति शक्ति को जगत् कर्त्तृत्व के बीच में ले आ सकने से चिति शक्ति को ही मानो विशेष लाभ होगा, यह सोचकर हो इस विपुल ऐश्वर्य का प्रलोभन है। किन्तु हाय!

शुम्भ नहीं जानता हैं कि यह प्रलोभन सम्पूर्ण निष्फल होगा। उनमें जगत नाम का कुछ भी नहीं है, था नहीं और रहेगा नहीं! वे यदि आयेंगी अर्थात प्रकाशित होगी तो निमेष के भीतर अनन्त ब्रह्माण्ड सत्ताहीन हो जायगा। अथच वे ही अम्बिका मा ही अनन्त ब्रह्माण्ड को सृष्टि स्थिति प्रलयकर्त्री है। जाने दो वह और बात है—

शुम्भ का दूत मां को 'बुद्धया समालोच्य बोला। समालोचना व्यापार चक्षू आदि ज्ञानेन्द्रिय आदि का कार्य है इसी से सांख्य दर्शन में कहा है—'शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' तथापि यहां पर सुग्रीव आम्बिका से बुद्धि द्वारा समालोचना करने के लिए बोला! बुद्धि की सहायता व्यतीत मन एवं इन्द्रियों का व्यवहार निष्पन्न ही नहीं हो सकता। विशुद्ध बोध में समालोचना नहीं होती, विशुद्ध बोध रूपिणी माँ की समालोचना करने के लिये बुद्धि क्षेत्र में ही अवतरण करना होता है। दूत को इस बुद्धि शब्द प्रयोग का रहस्य एक मन्त्र के बाद ही प्रकटित होगी, इससे यहां पर विशेष भाव से कहना अनावश्यक है।

————

ऋषिरुवाच।

इत्युक्ता सा तदा देवी गम्भीरान्तःस्मिता जगौ।
दुर्गा भगवती भद्रा ययेदं धार्य्यते जगत् ॥६६॥

अनुवाद—ऋषि बोले—दूत ने देवी से इस प्रकार कहा। तब वे देवी, जो दुर्गा भगवती भद्रा हैं, जो इस जगत् को धारण किये हुए हैं, सो अन्दर अन्दर में कुछ हँसकर गम्भीर भाव से सुमधुर स्वर से बोलीं।

व्याख्या—दूत द्वारा भेजे हुए शुम्भ के वाक्य सुनकर अर्थात् शुम्भ का अभिप्राय जानकर मा कुछ हँसी। कारण कि शुम्भ मुझे चाहता है ठीक, किन्तु वह नहीं जानता कि मुझे पाने से तो फिर

उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं रहेगी। आत्मा मैं स्वरूप से प्रकाशित होने से फिर अस्मिता का अस्तित्व कहाँ? इस प्रकार शुम्भ का अभिप्राय और उसका परिणाम देखकर ही मानो मा का यह मृदु हास्य है। इस मन्त्र में मा के कई एक नाम हैं, दुर्गा—जो दुर्गम से रक्षा करती हैं। भगवती-षड़ैश्वर्यशालिनी। भद्रा-मङ्गलमयी। एवं जगद्धात्री—जो जगत् को धारण किये हुए हैं। जो मा शीघ्र ही शुम्भ को, जीवत्व रूप दुर्गा वा दुरवस्था से परित्राण करके अनन्त ज्ञानैश्वर्य भण्डार खोल देंगी, जो नित्य मङ्गल स्वरूपा जगद्विधात्री चिति शक्ति हैं, जो शुम्भ का अज्ञान विदूरित करके केवल ज्ञान स्वरूप से प्रकटित होंगी, वे ही शुम्भ का पूर्वोक्त रूप अभिप्राय जानकर कुछ हँसी।

शुम्भ जो अपने को जगद्धारक समझ बैठा है, सो भ्रम शीघ्र ही विदूरित होगा। अस्मिता तो यथार्थ जगद्धात्री नहीं हैं, जगद्धात्री तो स्वयं चिति शक्ति मा हैं। साधक! हो सकता है यहां पर आशका हो कि चित्ति शक्ति तो स्वरूपतः निर्गुणा हैं, वे फिर जगद्धात्री कैसे होंगी, और निर्गुण का मृदुहास्यादि लौकिक व्यवहार ही कैसे सम्भव होगा ? इसका उत्तर समझना होगा—ये समस्त उपाधिकृत अर्थात् बुद्धिवृत्ति में समाहृत जितने भाव हैं निर्गुण चैतन्य में आरोपित होकर ही निर्गुण का भी सगुणवत् सर्व व्यवहार होता है। जैसे घट सञ्चालित होने से घटाकाश का भी सञ्चालन रूप व्यवहार होता है, यहाँ भी ठीक उसी तरह ही समझना होगा।

"गम्भीरान्तःस्मिता जगौ।" जो रोष एवं तोष में, उभयत्र सम भाव से अवस्थान करने में समर्था है, वे ही गम्भीरा हैं। मा हमारी नित्य निर्विकार है, किसी भी अवस्था में उनमें विन्दु मात्र भी विकार लक्षित नहीं होता, इसीलिये वे गम्भीरा हैं। 'अन्तःस्मिता शब्द का अर्थ – भीतर भीतर कुछ हँसी। हँसी का तात्पर्य पहले ही कहा जा चुका है। "जगौ" शब्द का अर्थ गाया। अर्थात् मा ने शुम्भ दूत को जो बातें कहीं वे इतने मीठे कण्ठ से कही गयी थीं

कि दूत के कानों में मानो संगीत सुधा वर्षण हुआ था। सत्य ही मा की वाणी ऐसी ही मधुमयी है। यद्यपि शब्दहीन है वह वाणी, तब भी संगीत स्वरवत् अमृतवर्षिणी है।

देव्युवाच ।

सत्यमुक्तं त्वया नात्र मिथ्या किञ्चित्त्वयोदितम् ।
त्रैलोक्याधिपतिः शुम्भो निशुम्भश्चापि तादृशः ।६७॥

अनुवाद—देवी ने कहा—(हे दूत) तुमने जो कुछ कहा है, सो सत्य है, मिथ्या कुछ भी नहीं बोले हो। शुम्भ त्रिलोक का अधिपति है, निशुम्भ भी तादृश ही है।

व्याख्या – इस मन्त्र का अर्थ कई प्रकार हो सकता है, क्रम से हम उन्हीं सब अर्थों की आलोचना करेंगे। मा अम्बिका सुग्रीव से बोलीं शुम्भ एवं निशुम्भ अर्थात् अस्मिता एवं ममता, दोनों ही त्रिलोक के अधिपति अपने को समझते हैं, यह तुमने सत्य ही कहा है, इस विषय में मिथ्या कुछ नहीं। अथवा हे दूत "त्वया सत्यं न उक्तं, किञ्चित् मिथ्या उदितम्"। हे दूत! तुमने सत्य नहीं कहा, यहाँ पर कुछ मिथ्या कहते हो, कारण, शुम्भ निशुम्भ तो और वास्तविक त्रिलोकाधिपति नहीं, अथच इससे पूर्व "त्रैलोक्ये परमेश्वरः" बोले हो। यथार्थ त्रिलोकाधिपति अस्मिता नहीं, आत्मा हैं। आत्म सत्ता से ही त्रिलोक की सत्ता है। आत्मा नहीं रहने से फिर किसी की कुछ भी सत्ता नहीं रह सकती, सुतरां मिथ्या ही कहा गया है। और एक प्रकार अर्थ हो सकता है। यथा—आत्मा 'मैं' ही शुम्भ निशुम्भ रूप से अस्मिता ममता रूप से त्रिलोकाधिपति है, सुतरां हे दूत! तुम्हारा कहना ठीक ही है। तुमने मिथ्या कुछ भी नहीं कहा। क्योंकि शास्त्रों में सभी सत्यरूप से कहा गया है, मिथ्या कहने को कहीं कुछ भी नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषत् कहती है—'यदिदं किञ्च

तत् सत्यमित्याचक्ष्यते" यह जो कुछ प्रतीत होता है सो सभी सत्य है। सत्यमिथ्या सर्वत्र सत्स्वरूप आत्मा का ही अनुगम समान रूप से होने के कारण सभी सत्य है। प्रामाणिक उपनिषत् समूहों में किंवा ब्रह्मसूत्र में कहीं भो मिथ्या एवं भ्रान्ति ऐसे दो शब्द प्रयोग नहीं हुए। स्वयं भाष्यकार भी अनिर्वचनीय अर्थ से ही मिथ्या शब्द के प्रयोग किये हैं। और मिथ्या भी सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है, एक मात्र सत् स्वरूप आत्मा के व्यतीत कहीं भी कुछ नहीं है, सुतरां सभी सत्य है। अतएव हे दूत त्वया उक्तं किञ्चिदपि मिथ्या न उक्तं।

किन्त्वत्र यत् प्रतिज्ञातं मिथ्यातत् क्रियते कथम्।
श्रूयतामल्पबुद्धित्वात् प्रतिज्ञा या कृता पुरा ॥६८॥

अनुवाद—किन्तु इस विषय में मेरी जो एक प्रतिज्ञा है, सो कैसे मिथ्या की जाय? मैंने अल्पबुद्धिवशतः पहिले जो प्रतिज्ञा की थी, उसे श्रवण करो।

व्याख्या—मा कहती हैं—हे दूत। शुम्भ निशुम्भ दोनों ही त्रिलोकाधिपति हैं एवं सर्वरत्न भोगने में समर्थ हैं। सुतरां उनका परिग्रहत्व स्वीकार करना ही मेरा कर्त्तव्य है, किन्तु मैंने पहिले ही अल्प बुद्धि वशतः एक प्रतिज्ञा की है।

यहां पर एक आशंका हो सकती है—मा क्या तब मिथ्या बात बोलीं? जो स्वयं बुद्धि स्वरूपा, इतिपूर्व में देवताओं ने जिनको "बुद्धिरूपेण संस्थिता" कहा है, और बाद में भी जिनको "सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते" कहकर स्तव किया जायगा, वे ही आज यहां पर स्वयं कहती हैं—"अल्पबुद्धित्वात् प्रतिज्ञा या कृता" यह क्या मा का मिथ्या बात बोलना नहीं हुआ? नहीं, मिथ्या का लेश भी इसमें नहीं। सत्य ही जिनका स्वरूप है, किसी भी अवस्था में सत्य का अपलाप नहीं, इसी से तो वे निरावरण दिगम्बरी हैं, उनमें

किसी भी प्रकार का मिथ्या दोष बड़ा ही व्यथादायक है। तब क्या है ? सुनो कहता हुँ—अरे, बुद्धि नामक तत्व ही तो अल्प है ? श्रुति भी कहती है आत्मा के एक देश में—अति अल्पमात्र स्थान ही में जगत् अर्थात् बुद्धि अवस्थित है। जो जिसका प्रकाश्य है, सो उसका व्याप्य होता है। आत्मा प्रकाशक-व्यापक है, बुद्धि प्रकाश्य-व्याप्य हैं ; सुतरां अल्प है। बुद्धि चिर दिन ही अल्प है। आत्मा का मा का हमारी का इस बुद्धि रूप से प्रकाश पाना ही तो अल्प होना है। पहिले से हम असत् अनृत अविद्या अज्ञान प्रभृति शब्द का नाम जो अल्पार्थक कहकर समझते आ रहे हैं, यहाँ पर देखते हैं, मा ने स्वयं वही बात कह दी। आत्मा मा हमारी जब अल्प होकर ईषत होकर प्रकाश पाती हैं, तभी उनका नाम होता है बुद्धि। इसीसे "अल्प-बुद्धित्वात्" वाक्य में विन्दु मात्र भी मिथ्या का स्पर्श नहीं। और यह प्रतिज्ञा क्रिया भीं बुद्धि में ही होती है। "एक मैं बहु होऊँ" यह ही मा की सर्व प्रथम प्रतिज्ञा है। यह प्रतिज्ञा लेकर ही आत्मा मा हमारो सर्व प्रथम महती बुद्धि रूप से प्रकटित होती हैं। प्रतिज्ञा करने से ही मा को अल्प होना पड़ता है—बुद्धि रूप से प्रकाशित होना पड़ता है। अरे बोध वस्तु स्वप्रकाश पूर्ण है, जब उसमें ज्ञातृज्ञेयादि भाव प्रकाश पाता है तभी वह अल्प वा अपूर्ण हैं, इसी से मा ने शुम्भ दूत से कहा—"श्रुयतांमल्पबूद्धित्वात् प्रतिज्ञा या कृतापुरा"। अब हम प्रतिज्ञा की विषय की आलोचना करेंगे बड़ा सुन्दर! बड़ा ही विस्मयकर है। सुनो साधक, मा क्या कहती हैं :—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलोलोके स मे भर्ता भविष्यति ॥६६॥

अनुवाद—जो मुझे संग्राम में जय कर सकेगा, जो मेरा दर्पनाश कर सकेगा एवं जो मेरा मैं का प्रतिवल अर्थात् समवल सम्पन्न होगा वही मेरा भर्त्ता होगा।

व्याख्या—माँ की प्रतिज्ञा तीन कल्प है। प्रथम कल्प—संग्राम जय। संग्राम अर्थ में इन्द्रिय-संग्राम। इन्द्रिय वर्ग प्रतिनियत रूप रसादि विषय समूह को जड़ पदार्थ रूप से ही परिग्रह करती है। आनन्दमयी चिति शक्ति रुपिणी मा ही जो रूप रसादि विषयाकार के इन्द्रिय पथ में यातायात (जाना आना) करती है; इसे सहस्र बार समझा देने पर भी इन्द्रिय वर्ग पूर्वाभ्यासवशतः जड़ रूप से ही विषय ग्रहण करता हैं। यह ही इन्द्रिय संग्राम हैं जीव इस इन्द्रिय संग्राम में नित्य ही पराजित हैं। चैतन्यमयी मा हमारी नित्य जड़त्व का ढोंग करके इन्द्रिय रूप में, विषय रूप से प्रकटित होकर जीव को पराजित करतो है। विषय तो विषय नहीं, आनन्दघन-सत्ता विशेष हैं, इन्द्रिय तो इन्द्रिय नहीं, आनन्द घन शक्ति प्रवाह विशेष है, साधारण जीव इसे किसी प्रकार भी नहीं समझ सकता; इसी से पराजित होता है। किन्तु मां ने कहा जो मुझे (मैं को) इस संग्राम में जय करेगा अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय मार्ग से मैं—आत्मा ही तो आनन्दघन सत्तारूप से नित्य विराजित है, इसे जो समझेगा; उपलब्धि कर सकेगा वही इन्द्रिय-संग्राम में मुझे (मैं को) जय करने में सामर्थ होगा।

द्वितीय कल्प—दर्पनाश। दर्प शब्द का अर्थ है अहंकार। और काम भी दर्प शब्द का अर्थ होता है। कन्दर्प दर्प अनङ्ग पञ्चकार एवं स्मर, ये समानार्थक शब्द हैं। काम शब्द से वृत्ति मात्र न समझ कर कामना मात्र ही समझना होगा। अच्छा जो हो, मा ने कहा—"योमेदर्प व्यपोहति' जो मेरा दर्पनाश कर सकेगा, अर्थात आनन्द-घन आत्मा मैं हो तो दर्प रूप से अहंकार अभिमान अस्मिता ममता रूप से एवं कामादि वृत्ति अथवा काम्य वस्तु रूप से हमेशा प्रकाश पाता है, इसे जो यथार्थ समझेंगे उपलब्धि कर सकेंगे, अर्थात् आनन्द घन आत्मा मैं ही तो दर्प रूप आवरण के द्वारा ढका हुआ है जो मेरे इस दर्परूपी आवरण का उन्मोचन कर सकेगा, मात्र वही मेरा (मैं का) दर्पनाश करने में सामर्थ होगो। सहज बात में दर्पनाश शब्द

से अहंकार नाश एवं कामना का विलय समझने से ही होगा।

तृतीय कल्प—समान बल। मा ने कहा, जो मेरे समान बल होगा। मा का बल क्या? एकत्व अविक्रियत्व, आनन्दमयत्व गुणातीतत्व निरञ्जनत्व इत्यादि जो ठीक इसी तरह एकत्व आनन्दमयत्व, गुणातीतत्व प्रभृति बल सम्पन्न होगा, अर्थात् जो जीव स्वकीय ब्रह्मभाव ठीक-ठीक उपलब्धि करने में समर्थ होगा।

"स मे भर्त्ता भविष्यति" सो मेरा (मैं का) भर्त्ता होगा। पूर्वोक्त तीनों कल्प जिनके लिये सम्भव हैं, केवल मात्र वही मेरा भर्त्ता हो सकता है। भर्त्ता—भरणकर्त्ता। भृ धातु का अर्थ धारण एवं पोषण। परम प्रेमास्पद परमात्म बोध को सम्यक धारण एवं पोषण करने का नाम ही मा का भर्त्ता होना है। अब समस्त मंत्र का संक्षिप्त अर्थ समझ लो। मा ने कहा—जो व्यक्ति विषयेन्द्रिय संस्पर्श में आनन्दमय आत्मा ही को ग्रहण करता है। जिसका अहंबोध एवं कामना अर्थात् ममताबोध सम्यक तिरोहित हो चुका है, जो व्यक्ति स्वकीय एकत्व और आनन्दमयत्व उपलब्धि कर सका है, मात्र वही मेरा भर्त्ता हो सकेगा, अर्थात् वही ब्रह्मात्मबोध का धारण और पोषण कर सकेगा। श्रुति भी कहती हैं—"नायमात्मा बलहीनेन-लभ्यः"। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इन सब बातों का जो तात्पर्य है, वही मा के इस प्रतिज्ञा-वाक्य में प्रकाश पा रहा है। जो ब्रह्म को जानता है, वही ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। पूर्वोक्त कल्पत्रय जिसके लिये सम्भव हैं, वही ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होगा। संग्राम-जय, दर्पनाश एवं समबल न होने से मातृलाभ की आशा विडम्बना मात्र है। इन्द्रियपथ में आने वाले विषयों को आत्मस्वरूप में ग्रहण करने में अभ्यस्त होने ही से दर्प दूर होता है; अर्थात् "अहं कर्त्ता, मम कर्त्तव्यम्" इत्याकार भाव विदूरित होता है। तभी आत्मा का नित्यत्व, अविक्रियत्व, एकत्व प्रभृति धर्म उपलब्धि योग्य होता है, सुतरां समबल हो ही जाता है। ऐसा होने ही से आत्मा एवं ब्रह्म

की अभिन्नत्व ख्याति होती है। तब "अहं ब्रम्हास्मि" बोलता हुआ साधक यावतीय भेद ज्ञान के उस पार जा उपनीत होता है। वह स्वयं ब्रम्ह स्वरूप से ही प्रतिभात होने लगता है।

अनेक जन पूर्वोक्त तीनों कल्पों को विकल्प समझते हैं। अर्थात् पूर्व-पूर्व कल्प के अभाव में पर-पर कल्प होने से भी भर्त्ता हो सकता है। किन्तु मन्त्र में ऐसा विकल्प बोधक "वा अथवा किंवा" प्रभृति कोई भी शब्द नहीं, सुतरां क्यों कल्पना करके विकल्प स्वीकार करें ? समुच्चय अर्थ ही अच्छा। कल्पत्रय का समुच्चय होने से भर्तृत्व प्राप्ति के योग्य होगा, ऐसा ही अर्थ हम मानेंगे। कारण देखा जाता है कि उनमें प्रथम के होने ही से पर अपने आप ही आ जाते हैं, संग्राम-जय होने से ही दर्पनाश होता है, दर्पनाश होने से समबल हो सकता है, समबल होने ही से आत्मज्ञान प्राप्ति के योग्य होता है। इस मंत्र के अर्थ समझने में अनेक जन अनेक प्रकार की बातें कहा करते हैं। उन सबका सविस्तार उल्लेख करके हम पुस्तक का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहते। कोई कहता है—"स मे भर्त्ता भविष्यति" वाक्य का तात्पर्य प्रकृति जय है। कोई कहता है—प्रथम कल्प अर्थात् संग्राम जय द्वारा कर्म्मयोग, द्वितीय कल्प--दर्पनाश द्वारा भक्ति योग एवं तृतीय कल्प—प्रतिबल वाक्य द्वारा ज्ञान योग लक्षित हुआ है। इन सब अर्थों के साथ हमारा कोई विरोध नहीं। सभी सत्य बोले हैं; सुतरां सब ही उपादेय है। प्रकृति जय एवं कर्म भक्ति और ज्ञान के समन्वय को छोड़कर आत्म-साक्षात्कार लाभ नहीं हो सकता यह सभी का स्वीकार है।

तदा गच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महासुरः।
मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु।।७०।।

अनुवाद—अतएव महासुर शुम्भ अथवा निशुम्भ अचिरात् (शीघ्र ही) यहाँ आकर उपस्थित हों एवं मुझे जय करके शीघ्र मेरा पाणिग्रहण करें।

व्याख्या इस मंत्र में उपनिषत् प्रोक्त "यमेवैषवृणुते तेनैव लभ्य स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्" इसी मंत्र की प्रतिध्वनि है। जो व्यक्ति आत्मा को वरण करता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है एवं उसी के पास ये—आत्मा स्वकीय स्वरूप प्रकाशित करती हैं। कन्या जैसे पति को वरण करती है, ठीक वैसे ही जो व्यक्ति आत्मा को वरण करता है, व्याकुल भाव से प्रार्थना करता है वही आत्मा का साक्षात्कार पा करके धन्य होता है। इसके ही साथ आत्मा का परिणय होता है। माँ शुम्भ दूत से बोली—यदि शुम्भ किंवा निशुम्भ ने मेरी प्रतिज्ञानुरूप सामर्थ्य अर्जन की हो, तो शीघ्र आकर मेरा पाणिग्रहण करें। आदान-शक्ति का नाम है पाणि। उसके द्वारा परिग्रह करने को पाणिग्रहण कहते हैं। मुझे (अर्थात् आत्मा को) ग्रहण करने के लिये जो तीव्र व्याकुलता है, सोई यहाँ पर पाणि वा आदान-शक्ति शब्द का तात्पर्य है शुम्भ अथवा निशुम्भ तीव्र व्याकुलता द्वारा मुझे प्राप्त करे। पाणिग्रहण शब्द का अर्थ परिणय करने से भी कुछ हानि नहीं। आत्मा के प्रति एकान्त आसक्ति व्यतीत आत्मा के साथ परिणय अर्थात् मिलन व साक्षात्कार नहीं होता। अस्मितारूपी शुम्भ चितिशक्ति रूपी आत्मा को प्राप्त करने के लिये अतिशय व्याकुल हुआ था तभी तो निजत्व बिसर्जन देकर आत्मा को पाया था। अपने को खो देना एवं केवल अभीष्ट वस्तु रूप से रहना, यही आसक्ति या व्याकुलता का चरम परिणाम है। आकुलता ही साधना के प्राण है, एकमात्र आकुलता के रहने से और किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। तब हाँ एक बात विशेष भाव से याद रखनी होगी व्याकुलता और उच्छृंखलता किन्तु एक वस्तु नहीं है! सब छोड़कर आत्मा प्राप्ति के लिये इधर-उधर दौड़ा-दौड़ी का नाम व्याकुलता नहीं; सामयिक उच्छ्वासमात्र है। व्याकुलता मनुष्य को कर्त्तव्य ज्ञानहीन नहीं करती। समस्त कार्य, समस्त अवस्थाओं में होकर प्राणों की गति एक लक्ष्याभिमुखी परिचालित होने ही को व्याकुलता का यथार्थ स्वरूप कहते हैं। किन्तु वह और बात है।

यहाँ एक गुह्यतम रहस्य उद्घाटित किया जावेगा, साधकगण सावधान हों (समझें); भगवान के प्रति यह व्याकुलता जिससे दिन-दिन परिवर्द्धित हो दिन-दिन जिससे भगवत् प्रेम बढ़े, उसके लिये इस देश के मनीषी (विज्ञ) जन पञ्चविध भावों की सहायता से उपासना करते थे। ये पञ्च भाव—शान्त, दास्य, वात्सल्य सख्य एवं मधुर नाम से परिचित हैं। पिता पुत्र किंवा माता पुत्र भाव से भगवदाराधना का नाम हैं शान्त भाव, प्रभू-भृत्य भाव की उपासना का नाम दास्यभाव, पुत्र कन्या के प्रति पिता माता का जो स्नेह भाव हैं, ऐसे भाव से उपासना का नाम वात्सल्य भाव है, सखा अर्थात् मित्र भाव से उपासना का नाम सख्य भाव है एवं पत्नी भाव से उपासना का नाम मधुर भाव है। परकीया भाव से उपासना मधुर भाव का चरम है। शान्त भाव से उपासना का दृष्टान्तस्थल—ध्रुव प्रह्लाद प्रभृति है; दास्य भाव के—हनुमान, गरुड़ आदि; वात्सल्य भाव के नन्द यशोदा, कौशल्या एवं मेनका प्रभृति हैं; सख्य भाव के गोपबालक, अर्जुन और विभीषण प्रभृति एवं मधुर भाव के—राधा और अन्यान्य गोपीगण। जिस भाव के भीतर व्याकुलता जितनी ज्यादा होगी, वह भाव उतना ही श्रेष्ठ है। यद्यपि वैष्णव शास्त्र ने पूर्व-पूर्व के भावों को "यह भी बाह्य आगे जाओ और" कह कर एकमात्र मधुर भाव को ही सर्वश्रेष्ठ आसन दिया है, तथापि जिन्होंने सत्य ही प्रियतम परम-प्रेमास्पद परमात्मा का सन्धान पाया हैं, वे शान्त दास्य प्रभृति सर्वभावों ही से उनके साथ समान भाव से युक्त हो सकते हैं एवं अतुलनीय मिलनानन्द भोग करते हैं। कारण ऐसा कोई खास भाव नहीं है कि उसके बिना और किसी भाव से आत्मा के समीपस्थ हुआ ही न जावे। जो आत्मा हैं, वे तो हमारे सर्वस्व हैं, पिता माता बन्धु प्रभू सखा पुत्र कन्या जाया (स्त्री) पति सब ही तो वे हैं; सुतरां आत्मा के साथ आत्मीयता (नाता वा सम्बन्ध प्रेम) करने में सब भाव ही समान हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय मधुर भाव की उपासना करने में व्रज गोपीगणों

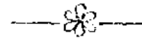
का आदर्श लेने की चेष्टा करते हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही परमपुरुष हैं और सभी उनकी प्रकृति; सुतरां नारी है। इस भाव से उपासना करने में वे अपने को भगवान की प्रियतमा सखी रूप से भावना करते है। यहाँ तक कि, पुरुष भक्तगण भी इस सखी भाव को विशेष भाव से उद्दीप्त करने के लिये कभी-कभी स्त्री जाती की तरह पोषाक परिच्छेद हाव-भाव नृत्यगीतादि करने लगते हैं। यद्यपि ये सब भाव अनेकों को अस्वाभाविक जैसे जान पड़ते हैं; तथापि यह निन्दनीय नहीं हैं। इस भारत में—इस भावुकों के और रसिकों के देश में, सर्वभावों के उपासक होना ही देश का महत्व और गौरव है। अच्छा जो भी हो, परमात्मा को पति रूप से कल्पना करके उपासना करना जैसे मधुर भाव हैं, परमात्मा को पत्नी रूप से भी उपासना करना भी ठीक उसी तरह मधुर भाव है। किन्तु यह भाव वैष्णव शास्त्र ने ग्रहण नहीं किया है। पुरुष भक्तों के लिये ऐसे भाव की उपासना पूर्वोक्त सखी भाव की अपेक्षा अनेक सहज मालूम पड़ती है। कोई भी ग्रन्थ ने इस भाव को स्पष्ट भाव से लिखने का प्रत्यक्षतः साहस नहीं किया। इस चण्डी में शुम्भ के वाक्य से इसका आभास पाया जाता है। इसके बाद प्राणतोषिनी प्रभृति तन्त्र शास्त्रों में भी अनेक जगह ऐसा संकेत मात्र है। जानता हूँ, इस प्रकार की उपासना का लक्ष्य करके अनेक ही अनेक तरह की आपत्ति और दोष दर्शन करेंगे। किन्तु यह भी ठीक है, जो आत्मा हैं जो हमारी मैं वा अहं हैं जो हमारे सर्वस्व है, जिनके नहीं रहने से हमारे अस्तित्व ही नहीं रहता, उनमें सभी भावों का आरोप खूब ही सम्भव है।

पुत्र वा कन्या कहकर आत्मा को आदर करने से जैसे उनके गौरव की कुछ भी हानी नहीं होती, सखा कहकर, बन्धु कहकर आलिङ्गन करने को तैयार होने से जैसे आत्मा का महत्व खर्व नहीं होता, ठीक तैसे ही पत्नी कह कर प्रियतमा कहकर भार्या कह कर समस्त प्राणों से प्रेम करने पर भी उनके महत्व की बिन्दुमात्र भी हानि नहीं होती। जगत में जो मनुष्य पत्नीगत प्राण हैं पत्नी का सुख

सम्भोग विधान ही जिनके जीवन का लक्ष्य है उनका वही पत्नी प्रेम यदि परमात्मा में अर्पित हो, तो उससे लोगों का जीवन धन्य हो सकता है। इस मधुर भाव के भीतर फिर परकीया भाव और भी स्वाभाविक और श्रेष्ठ है। किन्तु ये सब दूसरी बातें है—हमने तो भावातीत स्वरूप का सन्धान पाया है, भावातीत स्वरूप की ओर अग्रसर हो रहे है, सुतरां अभी भावराज्य के विषय की आलोचना करके पाठकगणों की विरक्ति पैदा करना निष्प्रयोजन है।

मां ने कहा मेरा (मैं का) पाणिग्रहण करने के लिये, 'मां जित्वा" मुझे जय करने होगा, अर्थात मैं जैसे एका अद्वितीया निर्विकारा सर्वभावातीता हुं, जो मुझे परिग्रह करना चाहे उसको भी ठीक उसी तरह इन सब गुणों से सम्पन्न होने होगा। "मां जित्वा" शब्द का और भी एक रहस्य है—मैं त्व को निर्जित करके आत्मा को प्राप्त करना होता है। "मैं" जब तक है, तबतक आत्मा का प्रकाश नहीं होता—हो हीं नहीं सकता। जानता हुं मां तुमको पाने के लिये इन्द्रिय संग्राम में तुमको जय करने होगा—इन्द्रिय मार्ग से स्थूल में तुमको ही धरने होगा, तुम्हारा सर्वमय अक्षन्न-कर्तृत्व देखते हुए अपना अहं कर्तृत्व रूप दर्प विनाश करना होगा, फिर बलवान होकर अर्थात तुम्हारे तुल्य बल प्राप्त होकर एकत्व अविक्रियत्व प्रभृति की उपलब्धि करके तब तुम्हारे समीप में उपस्थित होना होगा। ऐसा हो सकने ही से तुमको प्राण भर के प्रेम कर सकूंगा—मैं तुम मे आत्महारा होऊँगा मेरा मैंत्व हमेशा के लिये विलय प्राप्त होगा। तब एकमात्र तुम ही अद्वितीय स्वरूप से विराज करोगी। इसीसे तो पूर्व में कहता आ रहा हूं—हमको मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं थी, यदि मुक्त होने से पूर्व प्राण भर के तुमको प्रेम कर सकते। जो कहते हैं मुक्ति नहीं चाहिये, भक्ति ही एक मात्र प्रार्थनीय है, हाय वे नहीं जानते कि मुक्ति प्राप्त होने के पूर्व यथार्थ भक्ति हो हीं नहीं सकती। बद्ध-जीव मुक्त आत्मा की कितनी भक्तिकर सकता है? कहीं असमानधर्मियों में प्रेम होता है क्या ? बिन्दुमात्र भेदज्ञान रहते प्रेम नहीं होता, हो ही

नहीं सकता। अनन्य भक्ति ही जीव को एकमात्र प्रार्थनीय है। भेद ज्ञान में जो भक्ति होती है वह भक्ति का साधन मात्र है। किन्तु वह और बात है—



दूत उवाच

अवलिप्तासि मैवं त्वं देवी ब्रूहि ममाग्रतः।
त्रैलोक्ये कः पुमांस्तिष्ठेदग्र शुम्भनिशुम्भयोः ॥७१॥

अनुवाद—दूत बोला—देवि ! तुम ऐसा अहंकार मत करो। हमसे बोलो इस त्रिलोक के बीच में ऐसा कौन है जो शुम्भ निशुम्भ के सम्मुख ठहर सके ?

व्याख्या—शुम्भ-दूत सुग्रीव इससे पूर्व नाना रूप प्रलोभन वाक्य बोला था, उनके निष्फल होने पर अब भय प्रदर्शन आरम्भ किया। शुम्भ के बल वीर्य विषयक वाक्य सुनकर के ही यदि ये अम्बिका देवी उसकी अङ्कस्था हों तभी अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, दूत का मनोभाव ठीक ऐसा ही है। अच्छा जो हो, आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता है—अस्मिता के सम्मुख जो कुछ प्रतिभात होता है, सो सब अस्मिता ही के विशेष विशेष व्यूह रूप से प्रतीयमान होता है। बहु भावों को अस्मिता से पृथक कोई वस्तु हैं ऐसा नहीं जान पड़ता, सुतरां शुम्भ निशुम्भ के सम्मुख ठहर सके, ऐसा पृथक पुरुष और कौन होगा ? पुरुष तो परमात्मा का नाम है देह रूप पुर में शयन करते हैं इसीसे उनका नाम पुरुष है अस्मिता अपने ही को स्वप्रकाश मान बैठा है, सुतरां और कोई प्रकाशक पुरुष आकर उसके सामने ठहर सके इसे वह किसी तरह नहीं मानना चाहता। दूत के वाक्य में से यही रहस्य प्रकाश पाता हैं। पक्षान्तर में जब कोई पुरुष ही शुम्भ के सम्मुख नहीं ठहर सकता, तो फिर तुम स्त्री मूर्ति होकर क्या अवलेप क्या गर्ब करती हो—शुम्भ के साथ युद्ध करोगी ? वास्तव में आश्चर्य है ! (त्रैलोक्य शब्द का अर्थ पूर्व में किया जा चुका है।)



अन्येषामपि दैत्यानां सर्वे देवा न वै युधि ।
तिष्ठन्ति सम्मुखे देवी किं पुनः स्त्री त्वमेकिका ॥७२॥
इन्द्राद्याः सकला देवास्तस्थुर्येषां न संयुगे ।
शुम्भादीनां कथं तेषां स्त्री प्रयास्यसि सम्मुखम् ॥७३॥

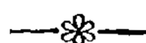
अनुवाद । देवतागण अन्यान्य दैत्यवृन्दों के सामने ही युद्धार्थ नहीं ठहर सकते; तब हे देवी ! एकाकिनी तुम फिर क्या युद्ध करोगी ? इन्द्रादि देवतावृन्द संग्राम क्षेत्र में जिसके सामने नहीं खड़े हो सकते, उन शुम्भ प्रभृति महासुर गणों के सामने तुम नारी होकर के किस प्रकार युद्धार्थ गमन करोगी ।

व्याख्या । अन्यान्य दैत्यगणों के अर्थात् धूम्रलोचन चण्ड मुण्ड रक्तबीज प्रभृति शुम्भ के अनुचर वर्गों के साथ ही युद्ध करने में जब
४ देवतागण अक्षम (सामर्थ्यहीन) हैं तो फिर तुम असहाय अद्वितीया एकाकिनी (अकेली) नारी स्वयं शुम्भ और निशुम्भ के साथ कैसे युद्ध करोगी ?

(धूम्रलोचन प्रभृति का स्वरूप बाद में यथास्थान में व्याख्यात होगा ।)

इन्द्रादि देवता वर्ग क्यों नहीं शुम्भ के सामने खड़े हो सकते यह इससे पहिले यज्ञ भाग ग्रहण की व्याख्या में विशेष रूप से कहा जा चुका है; पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है । यहाँ पर मात्र यही समझ रखने से होगा कि, देवतावर्ग अस्मिता के बिशेष-विशेष व्यूह रूप से प्रतिभात होते हैं इसी से उनका चैतन्यांश तिरष्कृत अर्थात आवृत रहता है । देबतागण स्व स्व विशिष्ट चैतन्यांश लेकर खड़े होने ही से अस्मिता के अंश रूप से प्रतिभात हो पड़ते है, इसी से वे शुम्भ के सम्मुख नहीं खड़े हो सकते । साधक ! थोड़ा लक्ष्य करके देखो—दूत वाक्य के प्रथम और द्वितीय मंत्र में किन्तु युद्ध शब्द ही नहीं है, मात्र सम्मुख में ठहरने की बात हैं । देवतागण शुम्भ के सामने आने ही से स्व स्व विशिष्टता खो बैठते है !. ऐसा ही शुम्भ का प्रभाव है । इसके

बाद तृतीय मंत्र में युद्ध की बात भी है—"तस्थूर्येषां न संयुगे" इन्द्रादि देवता वर्ग युद्धार्थ उपस्थित होने से ही सर्वथा निर्जिव हो जाते हैं! देवता वर्गों ही की जब ऐसी अवस्था है, तब फिर नारी मूर्ति तुम किस प्रकार शुम्भ के सामने खड़ी होओगी? शुम्भ दूत सुग्रीव (वाचनिक ज्ञान) सर्वदा ही देखता है कि सर्व बोलकर विश्व बोलकर, देवता बोलकर जो कुछ विशिष्ट सत्ता लेकर प्रकाश पाता है, सो सभी अस्मिता के स्फुरण रूप से प्रतिभात होता है। अस्मिता के पृथक रूप से कोई किसी को सत्ता ही प्रतीत नहीं होती। केवल यह नारी मूर्ति अर्थात चिति शक्ति को ही अस्मिता से सम्पूर्ण पृथक रूप से देखता हूं यदि किसी भी तरह से इसे शुम्भ के समीप ले जा सकूँ, तो ये भी निश्चय ही उसी के परिग्रह योग्या होंगी। किन्तु हाय! दूत नहीं जानता कि उसका यह भय प्रदर्शन भी व्यर्थ ही होगा; इस नारी मूर्ति को परिग्रह करने से शुम्भ का शुम्भत्व पर्यन्त विलुप्त हो जावेगा। क्रम से हम आगे यही देखेंगे।



सा त्वं गच्छ मयैवोक्ता पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः
केशाकर्षणनिर्धूतगौरवा मा गमिष्यसि ॥७४॥

अनुवाद—अतएव तुम मेरी बात के अनुसार शुम्भ निशुम्भ के निकट चलो। केशाकर्षण से विलुप्तगौरवा होकर वहां जाना अच्छा नहीं होगा।

व्याख्या—यही दूत वाक्य का उपसंहार है। दूत ने शेष अभिप्राय प्रकट किया—यदि स्वेच्छा से शुम्भ निशुम्भ के समीपवर्तिनी नहीं होओगी तो केशाकर्षण के द्वारा तुम्हारे गौरव की विनष्ट होने की आशंका है अर्थात् बल प्रयोग करके तुमको शुम्भ के समीप में उपस्थित किया जावेगा। यह तो हुई स्थूल बात। आध्यात्मिक दृष्टि से यहाँ पर देखें तो क्या पाते हैं? प्रथमतः केशाकर्षण शब्द का

अर्थ समझ लेने होगा: (क + अ + ईश = केश) क शब्द का अर्थ ब्रह्मा अकार का अर्थ विष्णु एवं ईश शब्द का अर्थ महेश्वर। इस प्रकार एकाक्षरकोष शब्दकोष के अनुसार से अर्थ करके यह जो एक कष्ट कल्पना करना यह केवल हमारा ही गठन किया हुआ नहीं है, पूर्ववर्ती आचार्यगण ही इसके पथ प्रदर्शक हैं। काली के ध्यान में "मुक्तकेशीं चतुर्भुजां" पद का अर्थ करते हुए किसी प्राचीन प्रसिद्ध टीकाकार ने कहा है; "मुक्ताः केशाः ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः यया सा मुक्त केशी" जो ब्रह्मा विष्णु महेश्वर को भी मुक्ति देती है वही मुक्तकेशी है; इस चण्डी की टीका तत्व प्रकाशिका में भी इस स्थान पर केश शब्द का अर्थ ब्रह्मा-विष्णु महेश्वर रूप अर्थ किया है।

जो हो ब्रह्मादि देवता त्रय अर्थात सृष्टि स्थित्यादि शक्तित्रय ही माँ के केश शब्द का अर्थ हैं। इन तीनों शक्ति को आकर्षण कर सकने ही से चितिशक्ति हीन बल हो पड़ेगी, तब तो उनका महत्व विलुप्त हो जावेगा; सुतरां विनष्ट गौरवा हो जावेंगी। दूत ने यह सोच करके ही पूर्वोक्त रूप वाक्य प्रयोग किया है। सोचा है आत्मा का यह जगज्जन्मस्थित्यादि व्यापार यदि आकर्षण कर लिया जाय, अर्थात् अस्मिता ही यदि जगत सृष्टि स्थिति-प्रलय करने में समर्थ हो, तो फिर चितिशक्ति का शक्तित्व ही नहीं रहेगा। उसी अवस्था में उनको ग्रहण करना सहज साध्य होगा। किन्तु हाय! दूत नहीं जानता माँ के केश को माँ की सृष्टि आदि शक्ति को कोई भी आकर्षण नहीं कर सकता। कितना ही बड़ा साधक शक्तिमान क्यों न हो; माँ के केश आकर्षण करने की शक्ति किसी की भी नहीं। इसी से भगवान व्यासदेव ने वेदान्त दर्शन में "ज दूव्यापारवर्जम्" नामक एक विशेष सूत्र का उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य यही है— कि मुक्त पुरुषों को और सभी सामर्थ्य हो सकती है, केवल जगद्- व्यापार में उनका कोई वश नहीं। अर्थात् समग्र जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय का कर्तृत्व एक ब्रह्म को छोड़कर और किसी का नहीं हो सकता। मुक्त पुरुषगण इच्छा करने से, इस जगत में रहते हुए

उसके ऊपर आंशिक आधिपत्य कर सकते हैं मात्र। समग्र ब्रह्माण्ड के सृष्टि स्थिति लय का कर्तृत्व उनका किसी भी अवस्था में नहीं होता। सुतरां मा का केशाकर्षण सर्वथा असम्भव है, उसे करने जाने से स्वयं विलुप्त हो जाने होता है। व्यवहार जगत में भी देखा जाता है, नारी की मर्यादा नष्ट करनेवाला स्वयं विनष्ट हो जाता है। अच्छा जो हो, शुम्भ अम्बिका का पाणिग्रहण करना चाहता है, केवल इसी जगद्-व्यापार ही के लिये। सुनो खुलाशा बताते हैं—अस्मिता में पहुंचा हुआ साधक अपने ही को जगत के ईश्वर रूप से देखता है, व्यष्टि पदार्थों के ऊपर कुछ-कुछ आधिपत्य भी कर सकता है, अल्पाधिक ईश्वर धर्म भी प्रकाशित होता है, इच्छा का अनभिघात भी होता है यह भी ठीक है, किन्तु जगत की सृष्टि स्थिति लय के ऊपर हाथ नहीं दे सकता; इसी से बाध्य (विवश) होकर चिति शक्ति की—परमात्मा की ओर धावमान होता है। जहाँ से सृष्टि स्थिति लय होता है, यदि उसे प्राप्त कर सके, तो फिर हो सकता है जगद् व्यापार के ऊपर भी आधिपत्य आवे! शुम्भ की आशा ठीक ऐसी ही है। इसी से अम्बिका को ग्रहण करने के लिये उसका इतना आयोजन हैं।

देव्युवाच

एवमेतद्बली शुम्भो निशुम्भश्चाति वीर्यवान्।
किं करोमि प्रतिज्ञा मे यदनालोचिता पुरा ॥७५॥
स त्वं गच्छ मयोक्तन्ते यदेतत् सर्वमादृतः।
तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्तं करोतु यत् ॥७६॥

इति मार्कण्डेयपुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवी
माहात्म्ये देव्या दूत संवाद ॥५॥

अनुवाद—देवी बोली—सत्य है शुम्भ ऐसा ही बलवान है, निशुम्भ भी अतिशय पराक्रमशाली है; किन्तु क्या करूँ ! पहिले ही आलोचना नहीं करके प्रतिज्ञा कर ली है; सुतरां तुम जाओ, मैंने जो कहा है, ठीक वही बातें तुम आदर के साथ असुरराज से कहना। उसके बाद वे जो युक्तियुक्त (ठीक) समझेंगे सो करेंगे।

मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवीमाहात्म्योपाख्यान में देवी के साथ दूत का कथोपकथन (वार्तालाप) समाप्त।

व्याख्या-पूर्वोक्त रूप दूत वाक्य सुन करके मा ने फिर कहा—शुम्भ निशुम्भ दोनों ही अतिशय वीर्यवान हैं; यह ठीक है। वास्तविक ही अस्मिता एवं ममता दोनों ही त्रिलोक विजयी देवशक्ति निर्यातन कारी महावीर है। साधक जबतक इनका संधान नहीं पाता, तब तक उनकी वीर्यवत्ता समझ ही नहीं सकता। किन्तु आज मा की कृपा से साधक का आत्मबोध अस्मिता में जा उपस्थित हुआ है, यावतीय ग्राह्य और ग्रहण शक्ति अपनी ही विशिष्ट तरङ्ग रूप से प्रतिभात हो रही है, ईश्वर स्वरूप का आभास पाया हैं। यद्यपि यथार्थ ग्रहीतृत्व अर्थात् ज्ञातृ स्वरूप अस्मिता का नहीं, वह एक मात्र चितिशक्ति ही का हैं, तथापि चैतन्योज्वलित अस्मिता अपने से चैतन्य को सम्पूर्ण पृथक रूप से देखते हुए भी उन्हें ग्राह्य शक्ति रूप से परिग्रह करना चाहता है, अर्थात् स्वयं ग्रहीतृरूप अवस्थान करता हुआ आत्मा को ग्राह्य रूप से ग्रहण करने की चेष्टा करता हैं। यह ही शुम्भ कर्तृक अम्बिका के पाणिग्रहण की अभिलाषा हैं।

जो हो, मा स्वयं शुम्भादि के वीर्यवत्ता में सन्दिहान नहीं है। "एवमेतद्बली शुम्भः" इत्यादि वाक्य से दूत के प्रति सोपहास उक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। मा हमारी उपहास करना नहीं जानती, वहाँ पर उपहास नामक कुछ भी नहीं है। जो सत्य, जो ध्रुव, (ठीक) है वही वहाँ पर नित्य प्रकट है। यथार्थ में बल विक्रम जो कुछ है, सो अस्मिता ही में प्रकाश पाता है। यद्यपि मातृबल का उसकी अपेक्षा विशेषत्व हैं, तथापि शुम्भ के त्रिलोक विजय वीर्य में कोई

तरह का संशय नहीं रह सकता। अरे; समष्टि-अस्मिता क्षेत्र में ही तो सृष्टि स्थिति प्रलय रूप त्रिलोक वा त्रिविध प्रकाश प्रकट होता रहता है! साधक गणों का प्रत्यक्ष अनुभव भी ऐसा ही है यह ठीक है।

मा बोली—"यदनालोचिता पुरा" पुरा अर्थात सृष्टि के आरम्भ में विशेष रूप से आलोचना (विचार) न करके ही प्रतिज्ञा की गई हैं—'यो मां जयति संग्रामे'' इत्यादि। आशंका हो सकती है, श्रुति ने ईक्षण पूर्वक अर्थात् आलोचना पूर्वक सृष्टि की बातें कही है तो फिर आलोचना नहीं की गई, ऐसी बात मा ने यहाँ पर क्यों कही? इसके उत्तर में कहा जाता है, यथार्थ ही मा को पाने के लिये, अम्बिका का पाणिग्रहण करने के लिये तो पूर्वोक्त रूप संग्राम जय दर्पनाश और समबल सम्पन्न होने होगा, ये सब बातें तो फिर पहिले आलोचित हुई नहीं? हमारी मा का यथार्थ जो स्वरूप हैं, सो तो नित्य ही स्थिर है। मा सर्वथा एकांत प्राप्त वस्तु है (पूर्व रूपेण प्राप्त ही हैं) मा को पाने के लियें जो और एक प्रयत्न का प्रयोजन पड़ेगा, इसे तो मा ने सोचा भी नहीं। आत्म विस्मृत जीव मा की सत्ता ढूँढ़ने पर भी नहीं पावेगा यह तो अचिन्तनीय है, सत्य ही बिलकूल विस्मय कर हैं। किंतु अब कार्यतः देखा जाता है कि, जीव मा से अपनी एक पृथक सत्ता कल्पना करके भ्रान्तिवश युद्ध द्वारा साधन द्वारा मां को प्राप्त करना चाहता है। मा तो नित्य ज्ञानमयी, नित्य स्वच्छ स्वरूपा हैं उनमें ऐसी भ्रान्ति कैसे करके रहेगी? तब भी किन्तु जीव मा में इस भ्रान्ति का द्रष्टृत्व आरोप करता है; सुतरां सत्य स्वरूप चिन्मय आनन्दमय होते हुए भी जो भ्रान्ति का द्रष्टा होने होगा, इसकी तो पूर्व कोई कल्पना की नहीं गई; इसीसे मंत्र में आलोचना की बात कही गई है। और एक तरफ से देखा जाता है—आलोचना इंद्रिय का धर्म मात्र है मा हमारी अतिन्द्रिया हैं सुतरां पुरा अर्थात सृष्टि से पूर्व मा यथार्थ ही 'अनालोचिता'' आलोचना के अतीत स्वरूप में ही विराज करती हैं।

देवी ने और एक बात कही—असुरराज से जाकर मेरी बातें उपेक्षा के भाव से मत बोलना, ठीक से आदर पूर्वक बोलना। मैंने जैसी बोली है, ठीक वैसे ही बोलना। मैंने तो शुम्भ के वीर्यवत्ता में संशय अथवा उसके प्रति अवज्ञा प्रकट नहीं की है। वह तो मेरा ही प्रतिबिम्ब है, उसके ऊपर मेरा स्नेह दया छोड़ कर कभी भी क्रोध वा अवज्ञा नहीं—रह ही नहीं सकती।

शुम्भ को इस जगह असुरेन्द्र कहा गया है। यावतीय सुर विरोधी भावों का अनात्मभावों का यह एक मात्र अधिपति है। संस्कार रूप बीज समूहों का अस्मिता ही एकमात्र अधिष्ठान क्षेत्र है, इसीसे इसे असुरेन्द्र कहा जाता है।

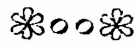
साधक! यह तत्व समझ में आया क्या? यदि सत्य और प्राणों की प्रतिष्ठा की होगी, यदि बुद्धि तत्व का साक्षातकार प्राप्त किया होगा, यदि उसी निर्मल धी क्षेत्र में क्षण भर के लिए भी अवस्थान करने की सामर्थ्य अर्जन की होगी, तो निश्चय ही तुम्हारा आत्मबोध अस्मिता में उपनीत• हुआ है [पहुँचा है]। सर्वभाव के साथ एकान्त (बिलकुल) अन्वित, अथच सर्वत्र सर्व भाव से एकान्त पृथक यह जो तुम्हारा मैंत्व है, सोइ आत्मा रूप से प्रतित होता है, वास्तविक ये भी आत्मा नहीं हैं—आत्मा प्रतिबिम्ब मात्र है। यह अस्मिता भी यथार्थ आत्मा स्वरूप को आवृत किये रहती है। यहाँ आकर के तुम आत्म विभूति दर्शन में मुग्ध मत होना, स्वीय ईश्वरत्व का आभास पाकर इसी को चरम निकेतन मत मान बैठाना। अरे! जिनका प्रतिबिम्ब मात्र पाकर तुम अपने को इतने उन्नत और महान् समझ सके हो, एक बार उसी बिम्ब की ओर परमात्मा की ओर आनन्दमयी चितिशक्तिरूपिणी मा की ओर दृष्टिपात करो प्रबल अध्यवसाय (पुरुषार्थ) से अग्रसर होओ, यह भी असुर भाव है जानकर तुच्छ समझने का अभ्यास करो। याद रखो जबतक बिन्दु मात्र भी भेद रहेगा; तबतक किसी प्रकार भी अमृतलाभ नहीं कर सकोगे—यथार्थ आनन्द का सन्धान नहीं पाओगे। जिस

तरह प्रबल आग्रह लेकर स्थूल जड़ पदार्थ को मा बोलकर समझा था; सत्य कहकर ग्रहण किया था, जैसे अभाव की तीव्र यातना हृदय में लेकर साधना राज्य में अग्रसर हुआ था, ठीक उसी प्रकार प्रबल आग्रह और तीव्र अभाव बोध हृदय में लेकर "ऐकमेवाद्वितीयम्" आनन्दमय तत्व की ओर लक्ष्य रखो; तुम अमृत लाभ से धन्य होओगे; जन्म मृत्यु का संस्कार हमेशा के लिये दूर हो जावेगा। केवल कातर प्राणों से बोलते रहो मा! कितने दिनों में तुम प्रबल प्रारब्ध संस्कार रूप असुर कुल को निहत करके निर्मल चिन्मात्र आनन्दमय स्वरूप से प्रकटित होओगी। किस अनादिकाल से इस जीवत्व का बोझा वहन करता आ रहा हूं, भ्रान्ति मरीचिका में मुग्ध होकर कितने काल से कितने जन्म जन्मान्तर से तुम्हारी ही आशा मे दौड़ रहा हूं, तुमको पाऊँगा, तुम्हारे स्वप्रकाश नयनों से मेरी विशिष्ट प्रकाश रूप (खण्ड वा क्षुद्र) मलिन दृष्टि विन्यस्त करके (लगातार युक्त करके) हमेशा के लिये (आखीरी) मा बोलकर आत्महारा होऊँगा (अपने जीवत्व बोध को मिटा दूँगा) इसी आशा से तुम्हारे ही मुख की ओर बैठा देख रहा हूँ। आओ मा! असुर अत्याचार से परित्राण करके मुझे निर्मल बोध मात्रा स्वरूप में उपनीत करो। जहाँ पर माता पुत्र नामक कोई भेद नहीं अपना वही भावातीत त्रिगुण रहित स्वरूप उद्भासित करो, मैं धन्य होऊ। साधक! ऐसे ही करके रोओ—क्रन्दन करो। क्रन्दन कर सकने से ही मा की कृपा की उपलब्धि कर सकोगे। कृपा की उपलब्धि होने से शुम्भ निशुम्भ असुर विनष्ट होने में फिर बिलम्ब नहीं रहेगा।

इस अध्याय के इस देवी—दूत सम्वाद में हम और एक रहस्य का सन्धान पाते हैं—पहिले चण्ड मुण्ड ने अम्बिका को परिग्रह करने के लिये शुम्भ को नाना रूप से उत्साहित किया था। बाद में शुम्भ की प्ररोचना से देवी को शुम्भ के अङ्कस्था करने के लिये नाना रूप प्रलोभन और फिर भय प्रदर्शन किया था। हमारे विधि शास्त्र समूह भी

ठीक इसी प्रकार रोचक और भयानक वाक्य द्वारा परिपूर्ण हैं। "यज्ञ करने से स्वर्ग लाभ होगा, हिंसा करने से नरक में जाने होगा' इत्यादि रुप रोचक और भयानक वाक्यों का उद्देश्य यहीं है कि बहिर्मुखी जीव समूह को आत्माभिमुखी करके क्रम से स्वरूप समझा देना। शास्त्रविहित विधि निषेध पालन में साधारणतः अप्रवृत्त जीव समूह इन्हीं सब रोचक भयानक वाक्यों ही के प्रभाव से विधि निषेध पालने में प्रवृत्त होते हैं; उसी के फल से क्रम से चित्त शुद्धि होती रहती है। शेष में अद्वयानन्द स्वरुप आत्मसाक्षातकार करके धन्य होते हैं तब यावतीय विधि निषेध के परपार चले जाते हैं।

इति साधन समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या में देवी दूत संवाद।



साधन—समर

वा

देवी—महात्म्य

रुद्रग्रन्थि भेद

धूम्रलोचन वध

ऋषिरुवाच ।

इत्याकर्ण्य बचो देव्याः स दूतोऽमर्षपूरितः ।
समाचष्ट समागम्य दैत्यराजाय विस्तरात् ॥ १ ॥

अनुवाद—ऋषि बोले—देवी का इस प्रकार वाक्य सुनते ही उस दुत ने क्रोधान्वित होकर दैत्यराज के पास आकर के सविस्तार वर्णन किया ।

व्याख्या । वाचनिक ज्ञान वाचनिक प्रार्थना निष्फल हुई चिति-शक्ति बिना युद्ध के अस्मिता के आयत्ताभूत नहीं हुई । दुत ने आकर शुम्भ को देवी की प्रतिज्ञा सुनाई—'जो उनको संग्राम में जय कर सके, जो उनका दर्पनाश कर सकें एवं जो उनके तुल्य बल सम्पन्न हो सके देवी मात्र उसी के परिग्रह योग्या होंगी ।" इस मन्त्र में दूत को 'अमर्षपूरित' कहा गया है । देवी के पूर्वोकत रूप दृढ़ प्रतीज्ञा का विषय जान करके शुम्भ दूत सुग्रीव अतिशय क्रुद्ध हुआ था, होने को बात है । वाचनिक-ज्ञान कभी भीं आत्म लाभ कराने में समर्थ नहीं होता । आज-कल अनेकों स्थानों में ही आत्मतत्व ब्रह्मतत्व जगत्तत्व विषयक दार्शनिक आलोचनाएँ हुआ करती हैं, इन सब मौखिक आलोचनाओं के द्वारा कभी भीं आत्म लाभ नहीं होता । अनेकों यह समझते हैं "मैं ब्रह्म हूं" इसे मौखिक आलोचना से तर्क से विचार से समझ लेने ही से ब्रह्म ज्ञान हो गया । वास्तविक में सो नहीं होता । ऐसा ज्ञान तो ज्ञान ही नहीं हैं—वह तो ज्ञानाभास मात्र है । ज्ञान जब तक अनुभूतिमय नहीं होता, तबतक वह ज्ञानपदवाच्य नहीं होता ।

आत्मा स्वयं अनुभव स्वरूप हैं ; उनको प्राप्त कर लिया, अथच विन्दु-मात्र अनुभूति आई नहीं, यह बिलकुल असम्भव बात है। अरे, तुम लोग सुख दुःख शोक शीत ग्रीष्म इन सब को जानते हो तो ? यह जो जानना है माने ही अनुभव करना है। तुमने सुख दुख शीत ग्रीष्म को जाना अर्थात् अनुभव किया। जब तक ये सब तुम्हारे अनुभव पर्यन्त न पहुंचे, तब तक तुम सहस्रबार इन सब शब्दों को उच्चारण भले ही करो उनका यथार्थ स्वरुप नहीं जान सकते। जागतिक पदार्थों के ही सम्बन्ध में जब ऐसा है, तब जो आत्मा केवल अनुभवानन्द स्वरूप हैं, उनको केवल मौखिक ज्ञान-आलोचना से कैसे प्राप्त कर सकोगे ? जल जल कह कर सहस्रों बार चिल्लाने से भी पिपासा की निवृत्ति नहीं होती। शुम्भ के दूत सुग्रीव का विफल मनोरथ होना एवं क्रोधान्ध होकर देवी के पास से लौट आने का यही आध्यात्मिक रहस्य है।

तस्य दूतस्य तद्वाक्यमाकर्ण्यासुरराट् ततः।
स क्रोधः प्राह दैत्यानामधिपं धूम्रलोचनम् ॥२॥
हे धूम्रलोचनाशु त्वं स्वसैन्य परिवारितः।
तामानय बलाद् दुष्टां केशाकर्षण विह्वलाम् ॥३॥

अनुवाद—अनन्तर दूत का वाक्य सुन करके असुरराज क्रोधान्वित होकर बहु असुर सैन्य के अधिपति धूम्रलोचन नामक असुर को बोला, हे धूम्रलोचन ! तुम शीघ्र स्वकीय सैन्यदल से परिवेष्टित होकर बल प्रयोगपूर्वक उस दुष्टा रमणी को केशाकर्षण से विह्वल करके यहाँ ले आओ।

व्याख्या—शुम्भ का प्रथम सेनापति धूमलोचन है। शुम्भ ने सब से आगे उसे ही बल प्रयोग पूर्वक देवी को लाने के लिये प्रेरण किया। धूम्रलोचन—धूमाच्छन्न-दृष्टि अर्थात् विपर्य्यय ज्ञान। जिस वस्तु का

जो यथार्थ स्वरूप हो उसे न जान कर अन्यथा प्रतीति का नाम विपर्य्यय ज्ञान है। दार्शनिकगण इसी को भ्रान्ति कहते हैं। इस भ्रान्ति या विपर्य्यय ज्ञान का आश्रय करके ही अस्मिता का त्रिलोकाधिपत्य है। मा का–आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है, उसे न जान कर मैंत्व को ही आत्मा रूप से प्रतीति होने का कारण ही विपर्य्यय ज्ञान है। बात और भी कुछ खुलाशा करना आवश्यक है—प्रथम लो आत्मा, यह बुद्धि की प्रतिसम्वेदि-वस्तु है। प्रतिसम्वेदन का अर्थ प्रतिबिम्बित होना। मान लो एक दर्पण हैं, उसमें प्रकाश प्रतिबिम्बित होकर, जहाँ से प्रकाश आता है फिर उसी स्थान पर लौट जाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा बुद्धि रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर फिर आत्माभिमुखी लौट जाती है। बुद्धि में आत्माप्रतिबिम्ब पड़ते मात्र ही मैंत्वबोध फूट उठता है। फिर इस मैंत्व बोध का जो केन्द्र है अर्थात् जहाँ से आकर बिम्ब बुद्धि में प्रतिफलित होने से मैंत्वबोध फूट उठा हैं, प्रतिबिम्ब उसी केन्द्राभिमूखी ही धावमान होता है। इसी प्रकार प्रति क्षण में आत्मा बुद्धि में प्रतिफलित होती है, यह जो प्रतिफलन है इसीका नाम हैं प्रतिसम्वेदन। प्रतिसम्वेदन का जो केन्द्र हैं वह हैं आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मा का नाम हैं अस्मिता। यह पहिले कहा जा चुका है। अस्मिता आत्मा का अत्यन्त विभिन्न स्वरूप न होने पर भी, यथार्थ आत्म स्वरूप नहीं हैं। साधक को किन्तु इसी प्रतिसम्वेदन को पकड़ कर ही (सहारे से) आत्मा को समझने होता हैं। प्रतिसम्वेदन के अवलम्बन से प्रतिसम्वेदी को पकड़ने होता है। अच्छा जो हो, साधकगण गुरु कृपा से जब अस्मिता में आकर उपनीत होते हैं तब कुछ दिन इसी केन्द्र को अर्थात् बुद्धि की प्रति सम्वेदी वस्तु स्वरूप आत्मा को किसी प्रकार भी नहीं पकड़ सकते। महासुर शुम्भ यहीं पर से ही साधक की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ कर देता है—अस्मिता का वा शुम्भ का अनुचर यही विपर्य्यय ज्ञान रूपी धूम्रलोचन है। जिस वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप नहीं है, उसको तत्स्वरूप से ग्रहण करना ही धूम्रलोचन का कार्य है। विपर्य्यय ज्ञान

ही अस्मिता को आत्मारूप से प्रतीत कराता है। प्रथम जैसे स्थूल देह को ही मैं बोल कर प्रतीति होती थी, यहाँ पर भी तैसे ही अस्मिता को मैं बोल कर प्रतोति होती है। वस्तुतः किन्तु अस्मिता मैं नहीं है। मैं का प्रतिबिम्ब मात्र है। तब हाँ, यहाँ पर उसको प्रतिबिम्ब कह कर पकड़ना थोड़ा कठिन है; कारण, बुद्धितत्व इतना स्वच्छ है कि, उसे प्रतिबिम्ब कह कर सहज में समझा नहीं जा सकता। जैसे अति स्वच्छ कांच के भीतर होकर प्रकाश आने से प्रथम दृष्टि में वह कांच मालूम ही नहीं पड़ता, ठीक उसी तरह अस्मिता में आकर, जिस मैं को देखा जाता है, वह भी जो यथार्थ मैं नहीं है, मैं का प्रतिविम्बमात्र है, यह बात सहज में समझ में नहीं आती। जिसके प्रभाव से ऐसा होता है, उसी का ही नाम धूम्रलोचन वा धूमाच्छन्न दृष्टि है। अविद्या रूप उपनेत्र (चशमा) पहिने रहने से आत्म प्रतिबिम्ब को ही आत्मा जान कर प्रतीति होती है। यह बात ठीक अच्छी तरह से न समझ लेने तक साधकों के लिये इस उत्तम चरित्र में प्रवेश करना बहुत ही कठिन होगा। अच्छा जो हो, इस धूम्रलोचन वा विपर्य्यय ज्ञान को ही प्रथम मा के पास प्रेरण किया गया। उद्देश्य केशाकर्षणपूर्वक देवी को लाना केशाकर्षण शब्द का अर्थ इसके पूर्व किया जा चुका है। जगत के सृष्टि स्थिति आदि व्यापार को जो कर्तृत्व वा शक्ति है, उसे आकर्षण अर्थात् ग्रहण कर सकने से ही चितिशक्तिरूपिणी देवी अम्बिका विह्वला—अवशा अर्थात् शक्तिहीना हो जायेंगी। ऐसा परामर्श निश्चय करके ही महासुर शुम्भ ने धूम्रलोचन को देवी के निकट भेजा था।

तत् परित्राणदः कश्चिद् यदि वोत्तिष्ठतेऽपरः।
स हन्तव्योऽमरो वापि यक्षोगन्धर्व्व एव वा ॥४॥

अनुवाद — यदि कोई उसके परित्राण करने के लिये उद्यत हो, तो यह देवता हो, यक्ष हो, गन्धर्व्व हो, उसकी भी हत्या करना।

व्याख्या---इस मंत्र में शुम्भ का अभिप्राय प्रकट हुआ है। शुम्भ ने धूम्रलोचन से कहा धूम्रलोचन! मैंने दूत मुख से सुना है वह नारी एकाकिनी है; सुतरां बल प्रयोग करके तुम अनायास ही उसे यहाँ पर लाने में समर्थ होओगे, और यदि अन्य कोई उसकी रक्षा करने के लिये वहाँ पर उपस्थित हो, तो वह चाहे देवता, यक्ष, गन्धर्व्व कोई भी क्यों न हो उसकी भी हत्या करना।

विपर्य्यय-ज्ञान जब आत्मा के समीपस्थ होने की चेष्टा करता है, तब उसे अनायास लभ्य ही समझता है। कारण वह अस्मिता को आत्मा से भी श्रेष्ठ समझता है। विपर्य्यय-ज्ञान जानता है, जगत् अस्मिता पर ही प्रतिष्ठित है, सुतरां चितिशक्ति नामक यह जो एक वस्तु का आभास पाया जाता है, वह ही फिर अस्मिता के अन्दर क्यों नहीं प्रकटित होगा? साधक याद रखना इस प्रकार के ज्ञान ही का नाम धूम्रलोचन है।

शुम्भ देखता है देवी वहाँ पर एका हैं द्वितीय कोई उनके वहाँ पर सहचर नहीं; सुतरां उनको ले आना विशेष कष्टसाध्य न होगा। इसी से धूम्रलोचन को आदेश किया कि, यदि देवी और किसी की सहायता ले, अर्थात् देवता गन्धर्व्व यक्ष जो कोई वहाँ पर उसकी सहायता के लिये उपस्थित हो, तो उसे भी विनष्ट कर देना। असल बात यह है कि जहाँ पर कोई भी तरह की विशिष्टता प्रकाश पाती है, वहीं पर अस्मिता का आधिपत्य है। अस्मिता का आश्रय बिना किये देवता यक्ष गन्धर्व्व कोई भी प्रकाश नहीं पा सकते, कारण वे भी अस्मिता को ही विशेष विशेष ब्यूह मात्र हैं। सुतरां देवता प्रभृति का विनष्ट करना अस्मिता के लिये वा उसके अनुचरों के लिये खूब ही सहज है। यक्ष एवं गन्धर्व्व ये भी देव-योनि विशेष हैं।

ऋषिरुवाच

तेनाज्ञप्तस्ततः शीघ्रं स दैत्योधूम्रलोचनः ।

वृतः षष्ट्या सहस्राणामसुराणां द्रुतं ययौ ॥५॥

अनुवाद ऋषि बोले, शुम्भ द्वारा इस प्रकार आदेश पाकर वह दैत्य धूम्रलोचन ने षाठ सहस्र असुर बलसे परिवेष्टित होकर द्रुतवेग से चढ़ाई की।

व्याख्या—धूम्रलोचन की षाठ सहस्र सेना हैं। बिपर्य्यय-ज्ञान में ही जायते, अस्ति, वर्द्धते प्रभृति षड्भाव विकारों के बीज हैं। वे फिर दश इन्द्रियपथ में प्रकाशित होने के कारण षष्ठि संख्यक होते हैं, उसके बाद असंख्य विषय भेद से यही षष्ठि संख्यक विकार वीज असंख्य भाव से प्रकाश पाते हैं; इसी से मन्त्र में असंख्यबोधक सहस्र शब्द प्रयोग में लाया गया है। साधक! आशंका मत करना कि, पूर्व में महिषासुर वध प्रसङ्ग मे इन षड्भाव विकारों ही को अन्यान्य असुरों की शक्ति वा सैन्यबल रूपसे वर्णन किया गया है इसलिये यहाँ पर पुनः धूम्रलोचन के सैन्यबल रूपसे व्याख्या करने में पुनरुक्ति दोष हुआ है। वास्तव में सो नहीं हुआ है, पूर्व में जो कहा गया है वह है स्थूल में कार्य क्षेत्र में, किन्तु यह सूक्ष्म में अव्यक्त में कारण क्षेत्र में है। कारण क्षेत्र में षड्भाव विकार का बीज रहता है तभी तो स्थूल में वह कार्य रूपमें प्रकाश पाता है। इसके पूर्व में उस कार्य भावापन्न विकार समूह का नाश कहा गया है, और अब यहाँ पर कारण भावापन्न षष्ठि सहस्र विकार बीज विनष्ट होने का उपक्रम हुआ हैं। इस उत्तम चरित्र में जो धूम्रलोचनादि असुरों का विषय वर्णित होगा, वे सभी कारण क्षेत्रीय अनात्मभाव, सुर-विरोधी भाव हैं, यह सत्य तत्व स्थिर धारणा में रख सकने से फिर कोई तरह के संशय द्वारा आकुलित नहीं होने होगा। अब निर्विशेष आत्मस्वरूप प्रकटित होने का उपक्रम हो रहा है, इसी से सूक्ष्मतम बिकार बीज समूह भी प्रलयानल में आत्माहुति देने के लिये उद्यत हुए हैं।

स दृष्टा तां ततो देवी तुहिनाचल संस्थिताम् ।
जगादोच्चैः प्रयाहीति मूलं शुम्भ निशुम्भयोः ॥६॥
न चेत् प्रीत्याद्य भवतो मद्भर्त्तारमुपैष्यति ।
ततो बलान्नयाम्येष केशाकर्षण विह्वलाम् ॥७॥

अनुवाद—अनन्तर हिमालयास्थिता उस देवी को देख कर धूम्रलोचन उच्चैःस्वर से बोला "शुम्भ निशुम्भ के निकट चलो, यदि हमारे प्रभू के निकट प्रीति के साथ उपस्थित न होओगी, तो यही मैं बलपूर्वक तुमको केशाकर्षण-विह्वला करके ले जाऊँगा।"

व्याख्या—विपर्य्यय-ज्ञान स्थूल देह का आश्रय करके ही चीति-शक्ति का सन्धान पाता है, इसी से मन्त्र में "तुहिनाचल संस्थिता" वाक्य है। यावतीय अनात्मभाव का विलय स्थूल देह को आश्रय करके ही सम्पन्न होता है। जो सोचते हैं मृत्यु के बाद द्वैतज्ञान विलुप्त होगा, वे भ्रान्त हैं। जीवित अवस्था में ही मुक्त होने होता है। यदि मृत्यु ही हुई तो, जन्म भी अवश्यम्भावी है। अच्छा जो हो, धूम्रलोचन मा का सन्धान पाकर के दूर से ही उनको अस्मिता की गण्डी में ले आने की चेष्टा करता है। मा को पाने से ही यथार्थ इश्वरत्व आविर्भूत होगा, इस आशा से ही प्रीति के साथ देवी को शुम्भ के निकट ले आने की बात कही। मा के सम्मुखस्थ होने का उपाय नहीं है; कारण उनके सम्मुखस्थ होने से ही यावतीय द्वैत प्रतीति सम्यक बिलय प्राप्त हो जावेगी।

इसी से सर्व भावों के भीतर होकर मा को भोग करने के लिये असुरगणों की ऐसी चेष्टा चलती रहती है। यदि उनको एकान्त ही अंकस्थ करना असम्भव हो, तब तो बाध्य होकर बल प्रयोग अर्थात् केशाकर्षण करने होगा। जगत् कर्तृत्व दूर करके जगत् सृष्टि आदि शक्ति अपहरण करके चितिशक्ति को अस्मिता क्षेत्र में ले आ सकने से ही ईश्वर लाभ हो जावेगा, ऐसी आशा से ही शुम्भ का ऐसा प्रयत्न हैं। किन्तु हाय, शुम्भ नहीं जानता कि, उसका यह प्रयत्न कभी भी

सफल नहीं हो सकता। साधक, तुम भी जब मा को अपने अधीन करना चाहते हो, तब नहीं समझ सकते कि मा को पाने से अपना मैंत्व सम्पूर्ण खो जावेगा (विलीन हो जावेगा)।

देव्युवाच

दैत्येश्वरेण प्रहितो बलवान् बल संवृतः।

बलान्नयसि मामेवं ततः किंते करोम्यहम्॥८॥

अनुवाद—देवी बोली तुम दैत्येश्वर कर्तृक प्रेरित, स्वयं बलवान, और सैन्य बल से परिवेष्टित हो; सुतरां बलपूर्वक मुझे ले जाओगे, मैं फिर तुम्हारा क्या कर सकूँगी ?

व्याख्या—विपर्य्यय ज्ञान अनादि जन्म सञ्चित एवं भेद प्रतीति द्वारा सम्यक परिपुष्ट है। बहुत प्रयत्नों से भी उसको विनष्ट नहीं किया जाता, इसीसे मा ने धूम्रलोचन को बलवान् बलसंवृतः कहा। बलपुर्वक ले जाने की चेष्टा करने से, "मैं फिर क्या कर सकती हूं" इस वाक्य के बोलने के साथ-साथ जो करने को था, मा ने वही कर डाला। साधक मात्र ही को ऐसा संघटन होता है। प्रथमतः विपर्य्यय ज्ञान वा अविद्या ही की सहायता से साधक मा को पाने की चेष्टा करता है। जितनी भी शास्त्र विधि, साधन भजन, व्रतनियम, वेद वेदान्त, सभी अविद्यावस्था के कार्य हैं। शास्त्रज्ञान तपः शक्ति योगबल भक्ति आकर्षण, ये सभी अविद्या क्षेत्र की बातें हैं। इन्हीं सब की सहायता से मा को पाने की जो चेष्टा है, उसको लक्ष्य करके ही मा ने कहा "बलान्नयसि मां" मुझे तो बलपूर्वक ही ले जायगा ? वास्तविक ही साधना वा उपासना की सहायता से मा को पाने की चेष्टा जब तक रहती है, तब तक समझना चाहिये साधक बलपूर्वक मा को आकर्षण करना चाहता है। इस प्रकार अविद्या की सहायता से विद्या लाभ करनेका अर्थात् मातृसाक्षात्कार का जो प्रयास है उसका परिणाम क्या होता है, वही "ततः किन्ते करोम्यहम्" कह कर मा ने

स्वयं सम्पन्न कर डाला। साधक याद रखो अज्ञनान्धकार जितने भी दीर्घकाल का एवं कितना ही घनीभूत क्यों न हो, मा की कृपा होने से उसके विनष्ट होने में क्षणकाल का भी विलम्ब नहीं होता, परवर्त्ती मन्त्र में यही प्रकाशित होगा।

ऋषिरुवाच

इत्युक्तः सोऽभ्यधावत्तामसुरो धूम्रलोचनः।
हुङ्कारेणैव तं भस्म सा चकाराम्बिका ततः ॥६॥

अनुवाद—ऋषि बोले—देवी के इस प्रकार बोलने पर, वह असुर धूम्रलोचन, उनकी (देवी की) ओर अभिधावित हुआ। तब अम्बिका देवी ने हुँकार द्वारा उसको भस्मीभूत कर डाला।

व्याख्या—अविद्या जब विद्या के सम्मुखस्त होने जाती है, तब ठीक इसी प्रकार देखते न देखते विनाश को प्राप्त होती है। अन्धकार जैसे रोशनी के समीपस्थ होने से ही विलुप्त हो जाता है, उसी प्रकार विपर्य्यय-ज्ञान जितना ही बलवान हो, जितना ही बलसंवृत हो, एक बार उन विशुद्धा चितिशक्ति के सम्मुखस्थ होते ही विलय को प्राप्त होता है। अज्ञान जितने ही दीर्घकाल का एवं जितना ही घनीभूत क्यों न हो, ज्ञान के समीपवर्त्ती होते ही मुहूर्त्त भर में उसका अस्तित्व विलोप हो जाता है। अज्ञान का अस्तित्व तभी तक है, जब तक ज्ञान का प्रकाश उसके ऊपर नहीं पड़ता। हुँकार—क्रोधप्रकाशक अव्यय, तन्त्र में इसे प्रलय के बीज रूप से बताया है। मैं नित्य निर्मल-स्वरूप-प्रतिष्ठ-ज्ञान हूँ, मेरे सामने फिर विपर्य्यय-ज्ञान का आविर्भाव कैसे, कहाँ से सम्भव हुआ? ऐसे भाव के भीतर होकर ही मानो अज्ञान विनष्ट होता है। इसी से मन्त्र में क्रोध का भाव प्रकाशित हुआ है। भस्म कर डाला वाक्य में भी एक रहस्य पा रहे हैं—असुर का फिर कोई चिह्न ही न रहा। अज्ञान एक बार विनष्ट होने से फिर कभी भी सत्तावान नहीं हो सकता। आशंका हो सकती

है—आत्मज्ञानी पुरुषों में भी अज्ञान देखने में आता है। ज्ञानी पुरुष भी अविद्या का कार्य—लोकशिक्षा, शास्त्रप्रणयन (ग्रन्थरचना), विधि निषेध पालन इत्यादि का अनुष्ठान करते रहते हैं। अज्ञान एक बार विनष्ट होने से, यदि फिर उसकी पुनरावृत्ति सम्भव नहीं ही होती, तो फिर ये सब अनुष्ठान, अथवा सार बात, देहधारण किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसके उत्तर में बोलने होगा बाधितानुवृत्ति न्याय से पूर्व संस्कार वशतः अज्ञान का कार्य अनुष्ठित हो सकता है। जैसे कुम्हार के चाक का भ्रामक दण्ड हटा लेने पर भी पूर्व वेगवशतः भ्रमी वा आवर्त्तन कुछ क्षण तक रहता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान समूल विनष्ट हो जाने पर भी पूर्वारब्ध अज्ञान के फलरूप देह एवं तदनुवर्त्ती कर्म समूह कुछ दिन रहते हैं।

अच्छा जो हो, साधक! इस प्रकार से जब तक अम्बिका मा तुम्हारे विपर्य्यय-ज्ञान को भस्मीभूत नहीं करेंगी, तब तक मा को कैसे पाओगे? इसी से तो कहता हूँ—अच्छा हो चाहे बुरा हो, पाप हो—पुण्य हो, ज्ञान हो अज्ञान हो, सभी मा के सम्मुख रक्खो, सभी मा के पास पठा दो। शुम्भ ने जैसे धूम्रलोचन प्रभृति अनुचरवर्ग को क्रम क्रम से मा के निकट पठा दिया था, तुम भी उसी तरह (तुम्हारा) मेरा कहने को जो कुछ है, सत् असत् निर्विचार से उस सब को एक एक करके मा के पास पठाओ, मा स्वयं उनका यथायोग्य विधान करेंगी! तुम स्वयं क्यों भ्रान्तिनाश, अविद्यानाश, चित्तविलय, वृत्तिनिरोध प्रभृति अस्वाभाविक व्यापारों को लेकर सारा जीवन क्षत विक्षत करने जाते हो, अशान्ति में अवस्थान करते हो? तुम मा के पुत्र हो, मा को छोड़ कर और कुछ भी नहीं जानते हो, अच्छा बुरा (सु, कु) जो भी आवे, उलङ्ग (नंगे) शिशु की तरह निर्विचार से मा के निकट उपस्थित करो, मा क्रम से तुम्हारे सर्व भावों को विलय करके आत्मस्वरूप प्रकटित करेंगी, तुम्हारी सब आशा पूर्ण होगी। अविद्या का—अज्ञान का ढकोसला (धाँधा) हमेशा के लिये विदूरित हो जावेगा।

अथ क्रुद्धं महासैन्यमसुराणां तथाम्बिकाम् ।
ववर्ष सायकैस्तीक्ष्णैस्तथा शक्ति परश्वधैः ॥१०॥

अनुवाद—अनन्तर (उस घटना से) क्रुद्ध होकर, विपुल असुर वाहिनी अम्बिका के प्रति तीक्ष्ण बाण शक्ति और पदशु प्रभृति अस्त्र वर्षण करने लगी।

व्याख्या—शर शक्ति परशु प्रभृति अस्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य पूर्व ही (द्वितीय खण्ड में) व्याख्यात हो चुका है। पुनः उसका उल्लेख करके ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना निष्प्रयोजन होगा। तब हाँ साधकगण इतना समझ रक्खें कि द्वितीयखण्ड की अधिकांश बातें ही सूक्ष्म देह को लक्ष्य करके बोली गई हैं। इस खण्ड में कारण-देह वा आनन्दमय कोष को लक्ष्य करके ही अनेक बातें कही जावेंगी। प्रवृत्ति निवृत्ति, राग-द्वेष, भेद ज्ञान, कर्त्तव्य बुद्धि इत्यादि जो सब बातें पूर्व कही जा चुकी हैं, यहाँ पर उनकी पुनरुक्ति होगी। इन सब को पुनरुक्ति न समझ कर और भी सूक्ष्मतर स्तर का विषय समझ लेना ही ठीक होगा। अब हम स्थूल सूक्ष्म छोड़ कर अधिकांश कारण की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस कारण क्षेत्र में स्थूल और सूक्ष्म की तरह सभी हैं, केवल अव्यक्त भाव से; इतना ही विशेषत्व है। इस अव्यक्त भाव को विशेषभाव से लक्ष्य कर सकने से ही स्थूल और सूक्ष्म के बीजों का विनाश प्राप्त होगा, संसार बीज नष्ट होने से मातृलाभ अनिवार्य है।

जो हो, अविद्या विनष्ट हुई है, विपर्य्यय-ज्ञान रूपी महासुर धूम्रलोचन भस्मीभूत हो चुका है. सुतरां उसके अनुचरगण अचिरकाल में ही विनाश को प्राप्त होंगे इसमें सन्देह नहीं। अविद्या नाश के साथ-साथ ही अविद्या के कार्य भी विनाश प्राप्त होना उचित है एवं होता ही वही है। तब हाँ, साधक को उसकी उपलब्धि करने के लिये थोड़े समय की आवश्यकता होती है। कारण वाधितानुवृत्ति न्याय से विनष्ट अविद्या के कार्य समूह पूर्व संस्कारवशतः कुछ दिन तक

अनुवर्त्तन करते हैं; जैसे सर्पभ्रान्ति दूरीभूत होने पर भी पूर्वलब्ध भीतिजनित हृत्कम्पादि कुछ क्षण तक रहता है। कुम्हार चक्र का भ्रमीदण्ड बन्द कर देने पर भी पूर्व वेगवशतः कुछ काल तक वह भ्रमी रह जाती है। अविद्या का कार्य अपने आप ही विनष्ट हो जाता है। किस प्रकार विनष्ट होता है, वही क्रम से महर्षि मेधस अंगुलि निर्देश पूर्वक सुरथ को दिखा दे रहे हैं। यहाँ पर जिन सब असुरों का निधन वर्णित होगा, उसमें अधिकांश ही विनष्ट अविद्या का कार्य है।

धूम्रलोचन के निहत होने पर उसकी षाठ हजार सेना मा के ऊपर शाणित शर शक्ति परशु प्रभृति निक्षेप करने लगी। अर्थात् षड्भाव विकार समूह स्वप्रकाश रूपिणी मा को आच्छन्न करके रखने की चेष्टा करने लगे। इन्ही षड्भाव विकारों का अन्य नाम है जीवभाव, पूर्व में इसको छाया कहा गया है। धुप की सत्ता व्यतीत छाया की सत्ता ही नहीं रह सकती, इसे सहस्रों बार जान लेनेपर भी छाया जैसे धूपको आछन्न करके रखती है, ठीक तैसे ही धूम्रलोचन के अनुचरगण अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से मा को आच्छन्न करने की चेष्टा करने लगे।

ततो धूतसटः कोपात् कृत्वा नादँ सुभैरवम् ।
पपातासुरसेनायां सिंहो देव्या स्ववाहनः ॥११॥

अनुवाद—अनन्तर देवी का स्ववाहन सिंह क्रोध से केशरों को कम्पित करता हुआ अति भयङ्कर गर्जनपूर्वक असुर सैन्य में आ कूदा।

व्याख्या—विपर्य्यय ज्ञान के विनष्ट होने पर, जीव विशुद्ध-बोध का सन्धान पाता है और सिंह विक्रम से संस्कार क्षय करने के लिये बद्धपरिकर होता है। पहिले कहा जाता है—जीवत्व हननेच्छु साधक ही सिंह है। मा की कृपा से इतने दिनों में अब यथार्थ जीव भाव क्या है एवं उसका विनाश होना ही क्या है, सो अच्छी तरह उपलब्धि कर सका है।

अब जितना शीघ्र हो सके, तीव्र पुरुषाकार के प्रयोग से असुर के अनुचरगणों को निधन कर सके तभी जीवत्व का सम्पूर्ण अवसान होगा ऐसा समझ करके ही असुर सेना में आ कूदा है। मा के स्वरूप का आभास पा लेनेसे साधकों का कार्योद्यम अतिशय वृद्धि को प्राप्त होता है। तब तो फिर अभय प्राणों से भैरव गर्जन करता हुआ जय मा कह कर आसुरिक संस्कार क्षय करने के लिये बद्धपरिकर होता है। कारण तब समझ लेता है—वह 'देव्याः स्ववाहनः" देवी का स्ववाहन हैं, पूर्व में भी मा का ही वाहन था यह ठीक है, किन्तु परम्परा सम्बन्ध से। अब विपर्य्यय ज्ञान विलुप्त हो जाने से मा को स्व बोल कर, आत्मा बोल कर समझ सका है। आत्मस्वरूप में मा की कोई विशिष्टता नहीं है: यहाँ पर मा हमारी केवलानन्द-मूर्त्ति है; इसीसे साधक आज साक्षात् केवलानन्द का वाहन है; सुतरां प्राणों में कितना बल है! बहुत सौभाग्य से सुकृति के फल से श्रीगुरु की विशेष कृपा से साधक आज अपने को मा का स्ववाहन बोल कर समझ सका है। यहाँ पर साधक सत्य-सत्य ही आनन्द का क्रीड़ा-पुत्तलि (खेलने का खिलौना) है। जीव! कब तुम ऐसी अवस्था में पहुँचोगे ?

काँश्चित् कर प्रहारेण दैत्यानास्येन चापरान्।
आक्रान्त्या चाधरेणान्यान् जघानसुमहासुरान् ॥१२॥
केषाञ्चित् पाटयामास नखैः कोष्ठानि केशरी।
तथा तलप्रहारेण शिरांसि कृतवान् पृथक् ॥१३॥
विच्छिन्न बाहुशिरसः कृतास्तेन तथापरे।
पपौ च रुधिरं कोष्ठादन्येषां धुतकेशरः ॥१४॥
क्षणेन तदबलम् सर्व्व क्षयं नीतं महात्मना।
तेन केशरिणा देव्या वाहनेनातिकोपना ॥१५॥

अनुवाद—उस सिंह ने कितने दैत्यों को कर-प्रहार से, कितनों को मुख से ग्रास करके, कितनों को अधर द्वारा आक्रमण पूर्वक अर्थात् चर्वण करके निहत किया। इसी प्रकार केशरी ने नखराघात से कितने ही असुरों के कोष्ठ (उदरप्रदेश) विदीर्ण कर दिये। कितनों के तो चपेटाघात से मस्तक (देहसे) पृथक कर दिये। उसी तरह और कुछ असुर छिन्न बाहू और छिन्न शिर हो गये थे। अनन्तर उस सिंह ने केशर कम्पित करके (आह्लाद से) और असुरों के कोष्ठ में से रुधिर पान किया था। इस प्रकार क्षण कालके भीतर उस देवी के वाहन अति कुपित महाबल पराक्रान्त सिंहकर्त्तृक असुर सैन्य क्षयको प्राप्त हुई।

व्याख्या – इन चार मन्त्रों में सिंह द्वारा असुरनाश का प्रकार वर्णित हुआ है। सिंह के और कोई अस्त्र शस्त्र नहीं है, अपना शरीर ही उसका शत्रु संहारक अस्त्र है। उसने छह उपायों से असुर सैन्य का क्षय किया था, यथा (१) करप्रहार (२) आस्य प्रहार अर्थात् मुखसे ग्रास (३) अधराक्रमण अर्थात् चर्वण (४) नखाघात वा नखराघात (५) तलप्रहार अर्थात् चपेटाघात (६) एवं शत्रु भयदायक केशर कम्पन। पूर्व में कहा जा चुका है, धूम्रलोचन षष्टिसहस्त्र अनुचरसह युद्धार्थ गया था। वह दश इन्द्रिय गुणित असंख्य भेद प्राप्त जन्मादि षड्विकार को लक्ष्य करके ही कहा गया है। यहां पर भी देखा जाता है—सिंह ने कर-प्रहार प्रभृति छेह ही उपायों से उन षष्ठसहस्त्र असुरों को निपातित किया था। हम यहां पर जन्मादि षड्विकारों का विषय थोड़ा समझने की चेष्टा करेंगे। (१) जायते—मैं जन्मवान हूं। मुझे जन्म ग्रहण करने होता हैं, यह जो भाव है, वास्तव में वह मुझ में नहीं है, अथच मैं जात हूँ ऐसा एक बोध हमको सर्वदा ही रहता है, यह ही प्रथम विकार है। आज मा की कृपा से विपर्य्यय ज्ञान विनष्ट हुआ है, सुतरां पूर्वोक्तरूप प्रतीति अर्थात् जन्मसंस्कार अनायास में विलय प्राप्त होने चला है। देवी के वाहन सिंह के करप्रहार प्रथम अस्त्र प्रयोग से

कुछेक असुरनिपात का यही रहस्य है। (२) अस्ति—मैं अस्तित्ववान् हूँ अर्थात् जन्म ग्रहण के बाद मैं हूँ, ऐसी एक विशिष्ट सत्ता की प्रतीति होती है। यह ही द्वितीय विकार है। ऐसा विशिष्ट सत्ताबोध भी विपर्य्यय ज्ञान का फल है। वास्तव में मेरी सत्ता नित्य और निर्विशेष है। उसमें तो जन्मादि किसी भाव का भी अन्वय नहीं है। साधक इतने दिनों तक नहीं समझ सका था, अथवा समझता हुआ भी ठिक उपलब्धि नहीं कर सका था; किन्तु आज मा की कृपा से विपर्य्यय ज्ञान-रूपी धूम्रलोचन के निहत होने से, उसके ही अवश्यम्भावी फलस्वरूप यह नित्य सत्ताका प्रकाश हो गया है। पक्षान्तर में विशिष्ट (खण्ड) सत्ताबोधरूप विकार भी विलुप्त हो रहा है। यही मन्त्र में "दैत्यानास्येन चापरान्" अर्थात् मुखव्यादान पूर्वक सिंह द्वारा असुरों का ग्रासरूपसे वर्णित हुआ है। प्रसङ्ग क्रमसे यहाँ पर छात्रजीवन का रचित एक स्तोत्र का प्रथम श्लोक सहृदय पाठकवर्ग को सुना देने का कौतूहल निवृत्ति नहीं कर सका, चपलता मार्जनीय।

अस्तीत्यस्मिन् पदं यत् परमबुधगणैस्तत्-प्रयुक्तं तवैव
भ्रान्तिस्वप्नावसाने त्वयि हि विलसितं नित्यसत्ताश्रयत्वम्।
मायामोहैर्निकामं न जगदिदमसन्मन्यमाना वयं हो
मातः सर्वेश्वरे नः कलिकलुषहरे तत्त्वबोधं विधेहि॥

मा, "अस्ति" यह जो एक पद का प्रयोग जगत में देखने में आता है, सो (अस्तिपद) परमबुधगण—परमात्मसाक्षात्कारी मनीषि-वृन्द एकमात्र तुम में ही प्रयोग करते हैं; [तुम को छोड़ कर और कहीं "अस्ति" शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता] क्योंकि भ्रान्ति-स्वप्न के अवसान में देखा जाता है—यथार्थ सत्ता तो एकमात्र तुम में ही विलसित हो रही है; किन्तु मा हम माया मोहवशतः इस

जगत् को "असत्" अर्थात् सत्ताहीन कह कर किसी प्रकार भी नहीं समझ सकते। अतएव हे सर्वेश्वरे, हे कलिकलुषहरे मा, हमको तत्त्वज्ञान प्रदान करो।

यथार्थ में तो जीव कह कर, जगत् कह कर पृथक कोई सत्ता ही नहीं है। एकमात्र मातृसत्ता ही जगत् रूपसे परिचित हो रही है। इसकी उपलब्धि न कर सकने ही से तो जीव पुनः पुनः जन्म मृत्यु के कशाघातों से व्यथित हो रहा है। किन्तु अब मा हमारी स्वयं जीवोद्धार करने के लिये आविर्भूता हुई हैं, मा हमारी जीवत्व की श्रृङ्खलओं को स्वहस्त से छेदन कर रही हैं, सुतरां आशा है—इस बार जीव-जगत निश्चय मातृसत्ता पाकर धन्य होगा।

[३] वर्द्धते—मैं बुद्धि विशिष्ट हू, दिन-दिन मेरी वयोवृद्धि हो रही है, ऐसी प्रतीति ही तृतीय विकार है। आत्मस्वरूप विषय में अज्ञानता ही ऐसे विकार-प्रतीति का हेतु है। विपर्य्यय ज्ञान में ही इसकी प्रतिष्ठा है। किन्तु इस बार मा ने स्वयं विपर्य्यय ज्ञान को विनष्ट किया है; सुतरां तदाश्रित विकार भी अनायास में ही विलुप्त होगा। मन्त्रस्थ "आक्रान्त्याचाधरेणान्यान्" अर्थात् अधराक्रमण से अपर कितने असुर निधन हुए थे, इस अंश द्वारा इस तृतीय विकार का विलय वर्णित हुआ है। [४] विपरिणमते—मैं परिणाम प्राप्त हूँ। मैं वृद्धि की शेष सीमा में उपस्थित हूँ, और मैं उपचय को प्राप्त नहीं होऊँगा। ऐसी प्रतीति चतुर्थ विकार है, विपर्य्यय ज्ञान विनाश के साथ ही यह भी विलय को प्राप्त होगा। यह ही सिंह द्वारा नखराघात से असंख्य धूम्रलोचन-सैन्य निपात का रहस्य है। [५] अपक्षीयते—मैं अपक्षय विशिष्ट हूं, दिन-दिन मैं शीर्ण हो रहा हूँ इस प्रकार की प्रतीति ही पञ्चम विकार है, आत्मस्वरूप के उद्-भासित होने से, ऐसी अपक्षय प्रतीति भी नहीं रहती। विपर्य्यय ज्ञान के विलोप के साथ-साथ ही यह भी विलय को प्राप्त होती है। मन्त्र में "तथा तलप्रहारेणशिरांसि कृतवान् पृथक्" वाक्य से इस अपक्षय रूप विकार का विलय सूचित हुआ है। [६] नश्यति—मैं नश्वर

हूं, मुझे मृत्युमुखमें पतित होने होता है, ऐसी प्रतीति ही षष्ठ विकार है। विपर्य्यय-ज्ञान के विलोप होने से—अमृतमयी मा का साक्षात् प्राप्त करने से, जीव का मृत्यु भय हमेशा के लिये विदूरित होता है; यह षष्ठ विकार भी तो मुझ में नहीं है, इसे ठीक-ठीक समझ सकने से ही, जीव मृत्युभयरूप असुर आक्रमण से विमुक्त होता है। आज देवी के स्ववाहन सिंह ने धूम्रलोचन के अनुचर ध्वंसरूपी-विकार को विनष्ट करके असुर अत्याचारों से परित्राण प्राप्त किया। केशर कम्पन पूर्वक असुरों को भीतिउत्पादन एवं उदर विदारण पूर्वक रुधिर पान का यही तात्पर्य्य है।

विपर्य्यय ज्ञान के विनष्ट होने से, फिर विपर्य्यय ज्ञान जन्य जो आत्मा के षड्भाव विकार रूप असुर सैन्य हैं उनके क्षय होने में विलम्ब नहीं होता। इसीसे मन्त्रमें "क्षणेन" पद प्रयुक्त हुआ है। एतद्व्यतीत सिंह को यहाँ पर महात्मा कहा गया है। जीव जब तक आत्मा का सन्धान नहीं पाता तभी तक ही उसका महत्व अन्तर्हित रहता है। वह जो यथार्थ में "महानहं विश्वमहं विचित्रम्" है इसे तब तक किसी प्रकार भी नहीं समझ सकता। किन्तु इस बार मातृ कृपा से भ्रान्ति-स्वप्न का अवसान हुआ है, परमात्मा स्वरूप का सन्धान मिल गया है; सुतरां आत्म महत्व उपलब्धि करने की योग्यता आ गई है। इसी से मन्त्र में सिंह का विशेषण स्वरूप "महात्मना" पद प्रयुक्त हुआ है, याद रखना साधक, देवी का वाहन नहीं होने से—आत्म-समर्पण योगी नहीं होने से इतना सहज एवं इतना शीघ्र इस दुर्ज्जय असुर कुल का विनाश नहीं होता। आत्मसमर्पणकारी साधक ही तो देवी का वाहन सिंह है, यह तत्व द्वितीय खण्ड में विशेष भाव से कहा जा चुका है।

श्रुत्वा तमसुरम् देव्या निहतं धूम्रलोचनम्।
बलञ्च क्षयितं कृत्स्नं देवी-केशरिणा ततः ॥१६॥

चुक्रोध दैत्याधिपतिः शुम्भः प्रस्फुरिताधरः ।
आज्ञापयामास च तौ चण्डमुण्डौ महासुरौ ॥ १७ ॥

अनुवाद—देवी द्वारा धूम्रलोचन का निधन एवं देवी के केशरी द्वारा समग्र सैन्यक्षय का विवरण श्रवण पूर्वक दैत्याधिपति शुम्भ ने अधर कम्पित करता हुआ क्रोध के साथ महासुर चण्ड मुण्ड के प्रति आदेश किया ।

व्याख्या—विपर्य्यय ज्ञान एवं तद्‌जन्य षड्‌भाव विकार के तिरोहित होने से, अस्मिता की आशंका हुई जिनको लेकर के मैं हूँ वे यदि इस प्रकार से विलय प्राप्त होंगे, तो फिर मेरा अस्तित्व कहाँ ? इसीसे शुम्भ ने अपनी आत्मसत्ता अक्षुन्न रखने की आशा से क्रुद्ध होकर प्रवृत्ति निवृत्ति को मा के समीप प्रेरण किया ।

पूर्व में जो छः विकारों की बात कहीं गई है, वह केवल स्थूल देह की बात नहीं है । साधक भूल मत जाना, इस उत्तम चरित्र में स्थूल देह की बात खूब ही कम है । तब हाँ ऐसी आशंका हो सकती है कि स्थूल का परित्याग करके, जन्मादि षड्भाव विकारों की सम्भावना कहाँ ? उसके उत्तर में समझाना होगा, स्थूल देह में जन्मादि जो विकार देखे जाते हैं, उनका अनुभव सूक्ष्म देह में ही होता है—अर्थात् मैं जन्म ग्रहण करता हूं मैं बढ़ता हूं मैं शीर्ण हूं इत्यादि रूप प्रतीति सूक्ष्म देह ही में होती है और सूक्ष्म देह में जो इस प्रकार ज्ञान प्रकाश पाता है, कारण शरीर में उसके बीजसमूह अवस्थान करते हैं । षड्भाव विकार के सूक्ष्मतम संस्कार तो अव्यक्त भाव से कारण शरीर में ही अवस्थान करते हैं । सुतरां केवल स्थूल देह नहीं सूक्ष्म और कारण देह भी विकार प्रतीति का आश्रय है, किन्तु आत्मा मा हमारी अविकारी वस्तु हैं । अब हम शुम्भ वा अस्मिता की तरफ से समझने की चेष्टा करेंगे । पूर्व ही कहा जा चुका है; बुद्धिस्थ चित् प्रतिबिम्ब ही अस्मिता है । जो यथार्थ में है वह किन्तु प्रतिबिम्ब नहीं स्वयं चित् है । इसी चिद्‌वस्तु को मैं रूप से न समझ कर चित्

प्रतिबिम्ब ही को जो मैं रूप से ग्रहण किया जाता है, उसके मूल में एक विपर्य्यय ज्ञान रहता है। वह ही अयथा भूल ज्ञान उत्पादन कर देता है। धूम्रलोचन के वध से वह विपर्यय ज्ञान विलय को प्राप्त हुआ है। सुतरां इस बार अस्मिता का विलय अवश्यम्भावी है। ऐसा कोई नहीं है कि उसको विनाश होने से रक्षा कर सके। किन्तु अस्मिता भी नितान्त सहज वस्तु नहीं है--वह बहु जन्म बहु युग सञ्चित प्रतीति विशेष है; वह सहज में विलय प्राप्त नहीं होना चाहता। जैसे विषधर सर्प का मस्तक चूर्णित होने पर भी पुच्छ आस्फालन करके आघातकारी को प्रतिघात करने की चेष्टा करती है, यह ठीक ऐसा ही है।

अच्छा जो हो, इस बार शुम्भ ने स्वयं विचार करके देखा--यद्यपि धूम्रलोचन निहत हो चुका है, तथापि अभी भी चण्डमुण्ड नामक प्रधान असुर दोनों विपुल वाहिनी सहित मौजूद हैं।

उन्होंने प्रथम मुझे इस नारी—मूर्ति का संवाद दिया था, सुतरां उनको युद्धार्थ भेजा जाय।

साधक याद रखना, विपर्य्यय प्रतीति के विनष्ट होने पर प्रवृत्ति निवृत्ति का नाश होने में फिर बिलम्ब नहीं होता। यद्यपि ये सब घटनाएं क्षणकाल ही के बीच में संघटित हो जाती हैं, तथापि इसे लिपिबद्ध करके उपाख्यानाकार में एक जन को समझाने के लिये वहु प्रयास की आवश्यकता होती है। और वास्तव में तो विपर्य्यय ज्ञान के विनष्ट होने पर भी पूर्व्व वेगवशतः प्रवृत्ति निवृत्ति प्रभृत्ति संस्कार समूह कुछ दिनों तक रह जाते हैं। पुनः पुनः आत्मस्वरूप में स्थिति के अभ्यास को सुदृढ़ और बहुक्षण स्थायी होने ही से वे क्रमे से विलुप्त होते हैं।



हे चण्ड हे मुण्ड बलैर्बहुलैः परिवारितौ।
तत्र गच्छत गत्वा च सा समानीयतां लघु॥ १८॥

केशेष्वाकृष्य बद्ध्वा वा यदि वः संशयो युधि।
तदाशेषायुधैः सर्व्वैरसुरैर्विनिहन्यताम् ॥ १९ ॥
तस्यां हतायां दुष्टायां सिंहे च विनिपातिते।
शीघ्रमागम्यतां बद्ध्वा गृहीत्वा तामथाम्बिकाम् ॥

इति श्री मार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे
देवी महात्म्ये धूम्रलोचनवधः।

अनुवाद—हे चण्ड ! हे मुण्ड ! तुम बहु संख्यक सैन्य से परिवेष्टित होकर वहाँ पर जाओ एवं शीघ्र ही उस देवी को केशाकर्षण किंवा बन्धन पूर्वक यहाँ पर ले आओ। और यदि उसके साथ युद्ध में तुमको कोई संशय उपस्थित होवे तो समस्त असुर समवेत (इकट्ठे) होकर अशेष अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग से उसे निधन करोगे। इस प्रकार उस दुष्टा रमणी को निहत एवं उस सिंह को भी विनिपातित करके शीघ्र चले आओगे, अथवा उस अम्बिका को बन्धन करके यहाँ पर ले आओगे।

व्याख्या—अस्मिता की प्रेरणा ही शुम्भ का आदेश है। इस बार प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही को बहुसंख्यक अनुचर सह अम्बिका को ले आने होगा। वहाँ पर जाकर के क्या करने होगा, उसके सम्बन्ध में शुम्भ का आदेश तीन प्रकार है। केशाकर्षण अथवा बन्धन करके देवी के लाने की चेष्टा करोगे; यह प्रथम आदेश। यदि संशय उपस्थित हो अर्थात् केशाकर्षण पूर्वक ले आना बिलकुल असम्भव जान पड़े, तो देवी एवं उसका वाहन सिंह, दोनों ही को निहत करोगे; यह द्वितीय आदेश, शुम्भ ने फिर तृतीय आदेश किया--बन्धन करके लाने की चेष्टा करोगे। इन त्रिविध आदेशों के बीच में प्रथम कल्प में देवी के प्रति शुम्भ का क्रोध, द्वितीय कल्प में अन्योपाय (विवश) होने पर निधन, एवं तृतीय कल्प में देवी को लाने विषयक तीव्र आग्रह प्रकाश पा रहा है।

अपरिणामी अप्रतिसंक्रमा चिति से यदि सृष्टि आदि कर्तृत्वरूप

ईश्वरत्व छीन लिया जाय, तो वह हीनबल हो पड़ेगी, तब उसे ले आना बहुत कुछ सहज साध्य होगा ; हो सकता है ऐसी हालत में ईश्वरत्व अस्मिता में होकर भी सम्यक भाव से प्रकाश पावे; इस आशा ही शुम्भ का पूर्वोक्तरूप केशाकर्षणपूर्वक देवी को ले आने का आदेश है । शुम्भ निज में ही इस प्रकार के आदेश की सफलता के विषय में सन्दिहान है; कारण, वास्तव में तो ईश्वरत्व कभी भी चितिशक्ति को छोड़कर रहता नहीं । इसलिये हताशताचश अखीर में निधन का आदेश है । चितिशक्ति वा आत्मा के निहत करने का तात्पर्य ही है शेषतत्व को शून्यरूप से निर्णय करना । बुद्धदेव के परवर्त्तीकाल में बौद्धधर्म इसी शून्यवाद में आ गया था । तथाकथित बौद्धगण आत्मा ही को विनास करने का प्रयास पाते थे स्वयं बुद्धदेव का उपदेश कालक्रम से विकृत होकर इस प्रकार के वैनाशिक वाद में परिणत हो गया था । आत्मा का विनाश साधन करके शून्यतत्व में उपनीत होना ही इनकी मुक्ति वा निर्व्वाण का अर्थ हो पड़ा था, किन्तु हाय ! वे नहीं जानते थे कि आत्मा अशक्य प्रतिषेध है । आत्मा कभी भी आत्म हत्या नहीं कर सकती । आत्मा का निधन करके भी जो रहता है, वे ही आत्मा रूप से नित्य रह जाती हैं । यहां पर संक्षेपतः थोड़ी बौद्धमत की आलोचना विशेष अप्रासङ्गिक नहीं होगी ।

"असदेवेमग्र आसीत्" यही श्रुति बौद्धों की प्रधान उपजीव्य है । इस श्रुति का वास्तव अर्थ—यह जगत् सृष्टि के पूर्व असत् अर्थात् नामरूपादि द्वारा अव्याकृत था । बौद्धगण किन्तु इसका दूसरी प्रकार अर्थ करते हैं । वे कहते हैं—यह जगत् सृष्टि के पूर्व में जो था, सो असत् अर्थात अभाव वा शून्य मात्र था । सुतराँ शून्य ही शेष तत्व है । उनका और भी एक वाक्य है—क्षणिक विज्ञान । बाह्य जगत नामक कुछ भी नहीं हैं, तब हाँ जगत् रूप से प्रतीति होती है, वह तो हमारा ही संस्कार अर्थात् क्षणकाल स्थायी विज्ञानमात्र है । यह विज्ञान दो प्रकार का है, धारा विज्ञान और आलय विज्ञान ।

हम प्रतिक्षण में जो रूपरसादि विषय ग्रहण करते हैं, उस प्रत्येक ही के साथ में 'मैं मैं' (अहं अहं) भाव की धारा है। मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं करता हूं, इत्यादि विज्ञान के साथ-साथ जो क्षण स्थायी कुछेक मैं की धारा चल रही है, वही धारा विज्ञान है। इस धारावाहिक मैंत्व के तलदेश में एक अखण्ड मैं (अहं) विज्ञान है, जिसके ऊपर उक्त खण्ड खण्ड मैंत्व क्षण-क्षण में प्रकाशित होता है वा उदित होता है, ठहरता है, फिर विलय हो जाता है। वही जो आधार स्वरूप विज्ञान है, उसी को आलय-विज्ञान नाम से कहते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त में बौद्धगण सबसे प्रथम योगादि उपायों के द्वारा इस धारा विज्ञान के विरुद्ध करने की चेष्टा करते हैं। बाद में आलय-विज्ञान को भी विलय करके शून्य वा अभाव रूप पदार्थ में उपनीत होकर उसी को निर्वाण वा मुक्ति का स्वरूप कहकर व्याख्या करते हैं।

आचार्य शंकर ने नाना प्रकार की युक्ति तर्क की सहायता से इस मत का सम्पूर्ण खण्डन किया था। यहाँ पर उस सबका उल्लेख निष्प्रयोजन है; हम इसी सिद्धान्त को लेते हैं कि बौद्धगण जिसे मैंत्व (अहंत्व) का सम्पूर्ण अभाव बोलते है उस अभाव को भी प्रकाश करने के लिये एक मैं (वा अहं) रह जाता है। अर्थात् मैंत्व का जो अभाव है, उसे जो जानते हैं, वे ही आत्मा हैं, सुतरां आत्मा का निधन असम्भव है! पक्षान्तर में तो इस बौद्धमत के साथ ही हमारा कुछ भी विरोध नहीं हैं। जो कुछ विरोध प्रतीत होता हैं वह तो केवल भाषा का अर्थात शब्द प्रयोग का विरोध हैं; वस्तु सत्ता के विषय में तो कुछ भी विरोध नहीं है। बौद्धों का धारा विज्ञान—हमारा अहंकार, बौद्धों का आलय विज्ञान हमारी अस्मिता और ईश्वर संकल्प स्वरुप बाह्य जगत है, इतना ही स्वीकार करके जीवभोग्य जगत को क्षणिक विज्ञान कहने में भी कोई हानि नहीं होती। इसके बाद शून्य तत्व की बात। ठीक ही तो निरञ्जन स्वरूप में कोई तरह की विशिष्टता नहीं पाई जाती; इसी से बौद्धगण पूर्ण को

लक्ष्य करके ही शून्य वा अभाव शब्द का प्रयोग करते हैं। अच्छा जो हो, हम प्रसङ्ग क्रम से अनेक दूर आ पड़े। चलो साधक, फिर प्रस्तावित विषय के समीपस्थ हो। शुम्भ चण्ड मुण्ड को युद्धार्थ भेजते समय तृतीय कल्प में जो वाक्य बोला था, उससे साफ प्रतीत होती है—अम्बिका को निधन करना शुम्भ का अभिप्राय नहीं है, अंकशायिनी करना ही एकान्त अभिलाषा है; अगत्या पक्ष में निधन ही वाञ्छनीय होगा।

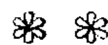
सुनो, अस्मिता का भी और कोई प्रकाशक है, इससे वह स्वीकार नहीं करना चाहता। यदि आत्मा नामक कुछ हो, तो वह अस्मिता के प्रकाश्य रूप से परिचित हो; यही अस्मिता का अभिप्राय है। उच्चस्तर के साधकगण निश्चय ही इस रहस्य को सहज में समझ सकेंगे। किन्तु जिनका बुद्धितत्व सम्पूर्ण रूप से अभी तक अन्वेषित नहीं हुआ है, उनके लिये तो ये सब बातें कहानी जैसी लग सकती हैं। तब हाँ जो आग्रह के साथ पूर्वोक्त रूप सत्य और प्राण प्रतिष्ठा के मार्ग में अग्रसर होंगे, खूब आशा की जाती है—वे अचिर काल (शीघ्र ही) में बुद्धितत्व में उपनीत हो सकेंगे एवं तब अस्मिता और आत्मा का वह सब रहस्य नखदर्पणवत् उपलब्धि करने में समर्थ होंगे। किसी भी साम्प्रदायिक उपासना पद्धति के साथ इस सत्य और प्राण प्रतिष्ठा का विन्दु मात्र भी विरोध नहीं। सभी अपनी-अपनी विशिष्टता का सम्पूर्ण अखण्ड रखते हुए भी इसका अनुशीलन कर सकेंगे, एवं कुछ दिन करने से इसकी सार्थकता स्वयं ही समझ सकेंगे। याद रखने होगा—जब तक अविद्या वा विपर्य्यय-ज्ञानरूपी धूम्रलोचन निहत नहीं होगा, तब तक जीवत्व की शृंखल किसी प्रकार भी मोचन नहीं होगी, हो ही नहीं सकती। आज सत्य प्रतिष्ठ साधकगण मा की कृपा से ऐसे एक स्थान पर जा उपस्थित हुए हैं कि "अविद्यानाश" क्या वस्तु है, उसे समझ सके है।

मा के चरणों में एकान्त शरणागत सन्तानगणों के विपर्य्यय-ज्ञान रूपी असुर को माँ ने हुंकारमात्र से भस्म कर दिया। रुद्रग्रन्थि भेद

का यह बीज है। पूर्व में कहा जा चुका है, ज्ञानमय ग्रन्थि का नाम ही रुद्रग्रन्थि हैं। यह जो जगद्विषयक ज्ञान है, वह मैत्व प्रतीति रूप ज्ञान है, यह सभी एकमात्र विपर्य्यय-ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। आत्मस्वरूप विषयक अनभिज्ञता के ऊपर ही यह अज्ञान नामक ज्ञान-राशि अवस्थित है। इस बार माँ की कृपा से वह दूरीभूत हुई, सुतरां अज्ञान के कार्यरूप से जो अवशिष्ट है, वह भी अब क्रम-क्रम से विनाश को प्राप्त होगी।

आओ साधक, हम "जय माँ" बोलकर अग्रसर हों। देखें, माँ किस प्रकार से चण्ड मुण्ड रक्तबीज प्रभृति असुर कुल को निहत करके स्वरूप में प्रतिष्ठित होती हैं। हमारा मङ्गलमयी माँ के चरणों में असंख्य प्रणाम।

इति साधन समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्या में धूम्रलोचन वध।



साधन—समर

वा

देवी—महात्म्य

रुद्रग्रन्थि भेद

चण्ड मुण्ड वध

ऋषिरुवाच ।

आज्ञप्तास्तु ततो दैत्याश्चण्डमुण्ड पुरोगमाः ।
चतुरङ्गबलोपेता ययुरभ्युद्यतायुधाः ॥१॥

अनुवाद—ऋषि बोले—इसके बाद शुम्भ के आदेश से चण्ड-मुण्ड को अग्रगामी करके चतुरङ्गबल से परिवेष्टित दैत्यगण उद्यतायुध होकर (देवी के उद्देश्य से) दौड़ पड़े ।

व्याख्या—अस्मिता की अनुप्रेरणा से प्रवृत्ति निवृत्ति सदल बल से चिति शक्ति के उद्देश्य से अभिधावित हुए । साधक ! तुम भी देखो ठीक ऐसे ही करके तुम भी प्रवृत्ति निवृत्ति की सहायता से हमारी माँ को परिग्रहना कर चाहते हो । निवृत्ति की सहायता से विषय विरति को परिपुष्ट करके इस मातृ मुखी प्रवृत्ति की बलवृद्धि करने की चेष्टा करते हो । केवल यही नहीं, इस प्रवृत्ति निवृत्ति के असंख्य भाव हैं, असंख्य कार्य प्रणाली साथ-साथ चलती रहती है । यह ही सदलबल से चण्डमुण्ड की चढ़ाई करना है । इस बार ये भी विनष्ट होंगे । पूर्व ही कहा जा चुका है—प्रवृत्ति निवृत्ति का विलय करके तब मातृ आविर्भाव होता है ।

चतुरङ्ग बल की व्याख्या द्वितीय खण्ड में की जा चुकी है । क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय, ये ही चतुरङ्गबल हैं । सूक्ष्म देह में जैसे इनका अवस्थान समझ लिये हो, कारण देह में भी ठीक उसी तरह

समझ लो। कारण शरीर में अव्यक्त भाव से बीज भाव से क्लेश कर्मादि रहते हैं तभी तो सूक्ष्म देह में वे अंकुरित होते हैं, एवं स्थूल देह में फलरूपसे प्रकटित होते हैं। मा की कृपा से स्थूल और सूक्ष्म संस्कार विलय को प्राप्त हो चुके हैं, इस बार कारण शरीरस्थ अव्यक्त बीजरूपी संस्कारों के भी विलय होने का उपक्रम हुआ है। इसीसे मा हमारी ने चंडमुंड की चतुरङ्गबल के साथ युद्धार्थ उपस्थित किया है।

—:o:—

ददृशुस्ते ततो देवीमीषद्धासां व्यवस्थिताम्।
सिंहस्योपरि शैलेन्द्र-शृङ्गे महति काञ्चने ॥२॥

अनुवाद—बाद में उन्होंने सुवर्णमय महत् हिमालय शिखर पर सिंहोपरि अवस्थित ईषत हास्यमुखी देवी को देखा।

व्याख्या—हिरण्मय हिमालय शिखर पर जीव-सिंहवाहिनी मा हमारी स्मितमुखी। जिस शरीरका आश्रय लेकर मा हमारी शुम्भ वध की लीला प्रकाश करती हैं, वह शरीर ठीक हिरण्यमय ही है। हिरण्यगर्भ स्वरूप का अवलम्बन करके ही तो आत्मा वा विशुद्ध चितिशक्ति में नाना प्रकार का लीला विलास प्रकटित होता है। मा हमारी ईषत् हासा—इतनी सैन्य सज्जा, सम्मुखसमर कोलाहल, दुर्दान्त असुर चण्डमुन्ड सदलबल से युद्धार्थ उपस्थित हैं, तथापि मा हमारी ईषत् हासा। सत्य सत्य ही साधक, मा की इस हास्यमयी, आनन्दमयी मूर्तिका अन्यथा भाव किसी भी काल में किसी भी अवस्था में नहीं होता। परिदृश्यमान जड़ जगदाकार से आकारित होने के लिये, अनवरत द्वन्द्वों में सुख-दुःख के घात प्रतिघातों में अवस्थान करती हुई भी हमारी मा के आनन्दमय भाव का व्यतिक्रम कभी भी नहीं होता।

जैसे शर्करा गठित राक्षसी मूर्ति को भी सर्व अवयव ही मधुर

होते हैं, उसी तरह आनन्दघन मूर्ति हमारी मा का सर्वभावों ही में आनन्द अक्षुण्ण रहता है। रोग में आनन्द, शोक में आनन्द, प्रलय में आनन्द, आर्त्तनाद, में आनन्द हमारी आनन्दमयी मा ऐसी हैं।

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ १ ॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलित मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ २ ॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः वाणिर्मधुर पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ३ ॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलक मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ४ ॥
करणं मधुर तरणं मधुर हरणं मधुरं रमणं मधुरम्।
वसितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ५ ॥
गुञ्जामधुरा मालामधुरा यमुना मधुरा बीची मधुरा।
सलिलं मधुरा कमलं मधुराधिपतेरखिलं मधुरं ॥ ६ ॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्त मधुरं भुक्तं मधुरम्।
दृष्ट मधुरं शिष्ट मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ७ ॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥८॥
रोगं मधुरं शोकं मधुरं क्रोधं मधुरं स्नेह मधुरम्।
जन्मं मधुरं मरणं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥९॥
मिलनं मधुरँ बिरहँ मधुरँ साधन मधुर साध्यँ मधुरम।
एक मधुरँ नाना मधुर मधुराधिपते रखिलं मधुरम् ॥१०॥

अरे सभी तो आनन्द द्वारा गठित है! साधक! कब तुम इस आनन्दमय सत्ता का सन्धान पा करके—मा की ईषत्—हास्यमयी मूर्ति देखकर जीवन धन्य करोगे? अम्बिका सर्वमनोहरा हास्य-मयी मा हमारी सर्वत्र प्रतिभासित हो रही है। कहीं भी छिपी नहीं

देखो एक बार माँ की ओर ? तुम्हारा मैत्व, तुम्हारी स्थूल देह का प्रत्येक परमाणु पर्य्यन्त आनन्दरस से सञ्जीवित हो उठेगा !



ते दृष्ट्वा तां समादातुमुद्यमं चक्रुरुद्यताः ।
आकृष्टचापासिधरास्तथान्ये तत् समीपगाः ॥३॥

अनुवाद—उनको (अम्बिका को) देखने मात्र ही कितने असुर धनु एवं असि (तलवार) धारण पूर्वक देवी को पकड़ने के लिये अग्रसर हुये । और कुछेक असुर उनके समीपस्थ हुए ।

व्याख्या—इस मन्त्र की पर्य्यालोचना करने से देखा जाता है कि असुर सेना दो दलों में विभक्त होकर देवी को पकड़ने के लिये अग्रसर हुई । एक दल सशस्त्र; और अन्य दल निरस्त्र ! प्रवृत्ति का दल असि, चाप प्रभृति अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से, अर्थात् धारणा ध्यानादि की सहायता से आत्मा को आयत्त करने का प्रयास पा रहा है एवं निवृत्ति का दल निरस्त्र होकर अर्थात् सर्वविध विषय परिग्रह के परि-हारपूर्वक नेति-नेति मुख से आत्म समीपस्थ होने की चेष्टा कर रहा हैं ।

याद रखना साधक, प्रवृत्ति का कार्य साधना एवं निवृत्ति का ही वैराग्य, इन दोनों ही के द्वारा माँ के समीपस्थ मात्र हुआ जाता है, ठीक माँ को पाया नहीं जाता । कारण साधना एवं वैराग्य दोनों ही अन्तः करण के धर्म हैं और माँ हमारी इनसे भी अनेक ऊपर में प्रतिष्ठिता हैं । इसी बात को समझाने ही के लिये ऋषि आज सरल भाषा में कहते हैं, "आदातुं उद्यमचक्रुः" एवं "तत समीपगा" । प्रवृत्ति के दल ने माँ को पड़ने के लिये उद्यम किया, किन्तु ठीक पकड़ नहीं सका । और निवृत्ति का दल भी मात्र समीपस्थ हुआ, ठीक प्राप्त नहीं कर सका । बात और थोड़ी परिष्कार करना आवश्यक है पातञ्जल एवं गीता दोनों ही ने कहा है—

अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही चित्तचाञ्चल्य दूरिभूत होता है; अर्थात् वृत्ति निरुद्ध होती है। यह वृत्ति निरोध एवं आत्म लाभ, एक ही बात नहीं है। आत्म लाभ होने से वृत्ति निरुद्ध होती है, यह खूब ही सत्य है, किन्तु वृत्ति निरुद्ध होने ही से आत्म लाभ नहीं होता। कारण वृत्ति निरोध के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं! आत्मा तो बुद्धि के ऊपर में अवस्थित है। और वृत्ति निरोध की क्रिया बड़े जोर बुद्धि पर्यन्त। अच्छा अब देख लो, प्रवृत्ति का कार्य है साधना अर्थात् अभ्यास, और निवृत्ति का कार्य है वैराग्य। ये त्याग और वैराग्य माँ के निकटस्थ हो सकते हैं, साधक को अनेक दूर अग्रसर कर दे सकते हैं, किन्तु ठीक आत्म लाभ नहीं करा सकते। एक दृष्टि से देखने से इन अभ्यास और वैराग्य का फल कुछ बहुत ज्यादा नहीं है, कारण लक्ष्य के उद्देश्य से छोड़ा हुआ शर यदि लक्ष्य ही को न बेध सका, तो उसको लक्ष्य से दश हाथ दूर से चला जाना जैसे अभीष्ट सिद्धि नहीं करता है, लक्ष्य के खूब निकटस्थ होकर चला जाना भी ठीक उसी तरह उद्देश्य सिद्धि कारक नहीं होगा।

उद्देश्य आत्म लाभ वा परम सुख की प्रतीक्षा। अभ्यास और वैराग्य परम सुख लाकर दे नहीं सकता, दुःख की निवृत्ति मात्र कर सकता है। साधना एवं वैराग्य के फल से दुःख की निवृत्ति होती है, यह खूब ही सत्य है; किन्तु परम सुख की प्राप्ति नहीं होती। दुःख की निवृत्ति का जो सुख है मात्र वही होता है। भारी बोझा-वहनकारी व्यक्ति के मस्तक पर से बोझा उतार देने से उसको जो निवृत्ति का सुख है वह मिलाता है यह ठीक है; किन्तु परम सुख नहीं प्राप्त होता।

जीव मात्र ही इस प्रकार साधना एवं वैराग्य की सहायता से अग्रसर होता है, अर्थात केवल आत्मा के समीपस्थ होता है; इसी से देखते हैं यहाँ पर भी—चण्डमुण्ड का सैन्यदल "समीपगा" अर्थात् माँ के निकट पर्यन्त आकर उपस्थित हुआ। इस बार माँ

अचिरात् (शीघ्र ही) इनको विनाश करेंगी, आत्मा मा तो हमारी सर्व्व-भावातीता हैं, सुतरां सर्व भाव के साधना और वैराग्य को विलय करके, तब फिर वे स्वरूप से प्रकाशित होंगी। जो यथार्थ में साधक हैं, वे चंडी के इस अपूर्व रहस्य को अवगत होकर निश्चय ही विस्मित और मुग्ध होंगे। और जो इस रहस्य को अवगत होकर (जानकरके) साधना एवं वैराग्य को बिलकुल निष्प्रयोजन समझेंगे, वे तो महाभ्रान्त है ही इस विषय में कोई संशय नहीं किया जाता। मा के समीपस्थ होने के लिये इन दोनों को छोड़कर अन्य उपाय ही नहीं है। मा के समीपस्थ होने से तब तो मातृलाभ होगा। जो समीपस्थ हीं नहीं हो सके हैं उनके पक्ष में तो मातृलाभ की आशा बहुत दूर की बात है। सुतरां साधन एवं वैराग्य निष्प्रयोजन है यह वाक्य तो भ्रान्तिमूलक है।

ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन् प्रति।
कोपेन चास्या वदनं मसीवर्णमभूत्तदा॥ ४॥

अनुवाद—बाद में अम्बिका ने उन शत्रुगणों के प्रति अतिशय कोप प्रकाश किया। उस समय कोपवशतः उनका (देवीका) बदन मण्डल मसीवर्ण (काला) हो गया था।

व्याख्या अम्बिका मा हमारी तब शत्रुओं के प्रति अतिशय कुपिता हुई। प्रवृत्ति निवृत्ति एवं तदनुचरवर्ग यथार्थ ही में शत्रु नहीं है क्या? मा के स्वकीय स्वरूप से प्रकाश पक्ष में ही तो अन्तराय हैं! आपत्ति हो सकती हैं कि—मा का फिर शत्रु मित्र क्या? इसका उत्तर पूर्व में भी दिया जा चुका है। मा हमारी नित्य निर्विकारा हैं। उनमें किसी प्रकार का भाव विकार नहीं है, यह खूब ही सत्य है, तथापि उपाधिकृत ये सब व्यवहार होते रहते हैं; जो जैसा भाव लेकर के मा के सम्मुख उपनीत होते हैं, मा

हमारी उनके निकट वैसे ही भाव से प्रकटित होती हैं। (जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी) चण्डमुण्ड शत्रु भाव से उपस्थित हैं सुतरां अविकारा मा भी शत्रु भावापन्नवत् प्रतीयमान होने लगी। इसी से मन्त्र में "अरीन प्रति" बाक्य का प्रयोग है।

असुरगण मा के समीपस्थ हुए हैं; सुतरां उनका विलय अवश्यम्भावी है। कारण, आत्मा के सन्निहित होने मात्र सर्वभाव विलय को प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती हैं,—"चन्द्रसूर्य्यादिभी वहाँ पर प्रकाशमान नहीं होते। यह ब्रह्माण्ड उनका अन्न है। स्वयं मृत्यु भी उनका उपकरण है" इत्यादि। सर्वतोभेदी सर्वभाव विलयकारी वह प्रकाश है। असुरगण नहीं जानते कि उनकी बास्तविक सत्ता ही नहीं है, यह जो व्यवहारिक सत्ता परिलक्षित होती है, वह भी एकमात्र मा की ही सत्ता के ऊपर प्रतिष्ठित हैं; सुतरां मा के स्वरूप प्रकाश के साथ-साथ ही असुरगणों का विलय अवश्यम्भावी है। अन्धकार यदि प्रकाश को पकड़ने जावे, तब अन्धकार को जो दशा उपस्थित हो, यहाँ पर असुरों को भी वही दशा उपस्थित है। यहाँ तो स्वाभाविक बिलय है, यही तो सत् के अन्दर असत् का बिलय है, इसीका पूर्वरूप—मा का कोप हैं; इसी से ऋषि कहते हैं—'कोपंचकार।'

जगत में देखा जाता है—कोप होने से वदन रक्तवर्ण होता हैं; किन्तु यहाँ पर ऋषि कहते हैं—मा का वदनमण्डल कोप के मारे मसीबर्ण हो गया। मा हमारी शीघ्र ही प्रलयङ्करी घोरा तामसी मूर्त्ति से प्रकटित होंगी, यह उसी की पूर्व सूचना हैं। साधारणतः क्रोध होने से रजोगुण का विकाश होना सत्य है, किन्तु यहाँ पर रजोगुण का आवश्यक नहीं है, पराप्रकृति के तमोगुण की अभिव्यक्ति हो रही है; तमोगुण कृष्णवर्ण है, इसी से मा हमारीं मसीबर्ण है। तमोगुण ही में सर्वभावों का विलय साधित होता है। इसे पूर्व द्वितीय खण्ड में कहा जा चुका है—तमोगुण की चरम परिणति सर्ववृत्तियों का अत्यन्त निरोध है। यह निरोध एवं विलय एक ही बात हैं सर्व-

भावों के सम्यक् विलय होने ही से मा हमारी विशुद्धबोध स्वरूप आत्म प्रकाश करती हैं। वदन शब्द का अर्थ सम्मुखभाग है। चित्तिशक्ति का जो यथार्थ स्वरूप है, वही अतीव सुमनोहरा केवलानन्दमयी अम्बिका मूर्ति है। मा को इस अम्बिका मूर्तिके सम्मुख भाग में ही सर्वभावों का विलय विराज करता है। परवर्त्तीमन्त्र में यह और भी परिस्फुट होगा।



भ्रूकुटी कुटिलात्तस्या ललाटफलकाद्द्रुतम् ।
काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी ॥ ५ ॥
विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा ।
द्वीपिचर्म्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा ॥६॥
अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा ।
निमग्नारक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा ॥ ७ ॥

अनुवाद—तब उनके (अम्बिका के) भ्रूकुटी कुटिल ललाटफलक से अतिद्रुतवेग से करालवदना काली मूर्ति विनिष्कान्त हुई। इस मूर्ति के हस्त में असि पाश एवं विचित्र खट्वाङ्ग हैं, उनका बिभूषण नरशिरमाला, परिधान व्याघ्रचर्म, माँसशुष्क (अर्थात् देह अतिशय शीर्ण) आकृति, भयङ्कर, वदन अति विस्तृत, विलोल रसना ने इस भीषण मूर्त्ति को और भी भीषणतर कर दिया है, उनके रक्तवर्ण नयनत्रय कोटर प्रविष्ट हैं, ये भयङ्कर गर्जन से दिगमंडल परिपूरित करने लगी।

व्याख्या—अम्बिका का कोप प्रलयङ्कर संहारिणी शक्ति से प्रकाशित हुआ। ललाटफलक अर्थात् भ्रू दोनों के मध्यवर्ती स्थान से सर्वभाव विलयकारी महाशक्ति का आविर्भाव हुआ! साधकगण भी जान सकते हैं—आज्ञाचक्र में समाहित होने ही से जगद्भाव

सम्यक् विलुप्त होता है; इसी से मन्त्र में "ललाटफलकात्" पद का प्रयोग हुआ है। मा के ललाट देश से भीषण काली मूर्ति का आविर्भाव हुआ। काली—कालशक्ति। जो चैतन्यमयी महाशक्ति कालबोध से प्रबुद्धा होती है, उन्हीं को कालीशक्ति कहते हैं। कालातीत सत्ता में प्रवेश करने के लिये, सभी साधकों को ही इस काली मूर्ति के भीतर होकर प्रवेश करने होता है। काली मा हमारी भीषणा संहारिणी महती शक्ति हैं। इतने दिनों तक यह मूर्ति नेत्रपथ में नहीं निपतित हुई। विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थान करने के लिये एकान्त लालायित नहीं होने से, मा की यह संहारिणी मूर्ति प्रत्यक्ष नहीं होती! आज साधक जगद्भाव को तुच्छ करके, स्वकीय विशिष्ट मैत्व को बलि देखकर, आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने के लिये उद्यत है, आज प्रवृत्ति को ध्वंस करके भी मा की गोदी में कूद पड़ने के लिये एकान्त लालायित है; इसी से माँने आज कृपा करके चण्डमुण्ड वध के लिये सर्वभाव विलय के लिये संहारिणी शक्ति-रूप से आत्म प्रकाश किया।

चित्तिशक्ति सर्वप्रथम ही अपने में काल और दिक् कल्पना करती हैं बाद में क्रम क्रम से अनन्त वैचित्र्यपूर्ण जगत की सृष्टि होती है। चित्तिशक्ति से ही कालशक्ति का प्रादुर्भाव होता है, इसी से अम्बिका के ललाटफलक से काली का निष्क्रमण वर्णित हुआ है। यह काल ही जगदाधार है। सर्वभावों का कलन वा संहरण करते हैं इसीसे इनका नाम है काली। काल और काली अभिन्न हैं। साधक! एक बार प्रज्ञा नेत्र उन्मीलन करके देखो, तुम एवं यह जगत् काल ही के गर्भ में फूठ उठे हो, और काल हीं के गर्भ में अस्तमित होते हो। सृष्टि के प्रथम क्षण हीं से कलन वा संहरण- क्रिया चलतीं रहतीं है; बाद में एक दिन उस को परिसमाप्ति होतीं है—अर्थात् पूर्णभाव से संहरण हो जाती है। सृष्ट वस्तु को संहार करने में जितनी सीं अपेक्षा, जितने से समय की आवश्यकता होती है, उसी का नाम है स्थिति। वास्तव में तो स्थिति नामक कुछ भीं नहीं, सभी तो मृत्यु

पराभिमुखी गतिशील हैं। स्थिति तो एकमात्र सत्य स्वरूपिणी मा में अवस्थित है। काल और गति अभिन्न है। तत्वतः काल वस्तु ही भयङ्कर गतिशील है (१) सुतरां कालरूप आधार से जो कुछ प्रकाश पाता है, सो सभी गतिशील हैं। जैसे द्रुतगामी शकटारूढ़ व्यक्ति शतचेष्टा से भी स्वकीय गति निरुद्ध करने में समर्थ नहीं होता है, ठीक उसी तरह से कालारूढ़ जीव-जगत् सहस्त्रों चेष्टा से भी स्वकीय ध्वंसाभिमुखी गति को क्षण भर के लिये भी निरुद्ध नहीं कर सकता।

इस विश्व में जिधर को दृष्टिपात करो, देखोगे—अगणित जीव प्रति मूहूर्त्त में द्रुतवेग से मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे हैं। आज जो शिशु है, कुछ दिन के बाद वही युवक है। सभी शिशु की वयोवृद्धि दर्शन करते हैं, वास्तव में किंतु शिशु की आयुः ह्रास होती है—ध्वंस पुराभिमुखी गति अधिकतर अग्रसर हुआ है। इसी प्रकार वृक्ष, लता, कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, देव, दानव, नर, ग्रह, उपग्रह, एक बात में ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र परमाणु पर्य्यन्त सभी अज्ञातसाग में द्रुतवेग से मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे हैं। कैसे एक प्रबल आकर्षण से यह परिदृश्यमान जीव जगत् स्वेच्छा से ध्वंस की ओर अग्रसर हो रहा है, उसे क्या कहें ? देखो, यह विश्व ब्रह्माण्ड कालीके करालवदनमें प्रवेश करने के लिये अति द्रुतवेगसे धावित हो रहा है। देखो—"यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः। तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।" अग्नि अभिमुखी धावित पतङ्गों की तरह, जीव समूह मानों भूताविष्ट होकर संहार-अनल में आत्माहुति देने के लिये द्रुतवेग से अग्रसर हो रहे हैं। देखो, तुम्हारी

(१) पूर्व कहा जा चुका है काल स्थिर अखण्ड दण्डायमान है, और यहाँ पर कहा गया काल और गति अभिन्न है। तत्व दृष्टि से इन दोनों वाक्यों में कोई विरोध देखने में नहीं आता। कारण क्रिया के आधार रूप काल को लक्ष्य करके उसे स्थिर कहा गया है, और क्रिया रूप काल को लक्ष्य करके उसकी चंचल कहा जा चुका है। मीमांसा दर्शन "क्रियैव काल:" इस मतावलम्बी है।

देह के अणु परमाणु काली के कराल आकर्षण से आकृष्ट होकर संहारिणी शक्ति की गोद में मिल जाने के लिये कितने व्यस्त हैं! ओफ! तुम कैसी अवस्था में हो! देखो, तुम्हारे ऊपर नीचे, सम्मुखे पश्चाते, दक्षिणे वामे, अन्दर बाहर सर्वत्र काली—सर्वत्र मृत्यु केवल ध्वंश, केवल विनाश! मृत्यु ही की गोद में तुम अवस्थित हो! केवल तुम्हीं नहीं, तुम जिसे मेरा कहकर हृदय से जकड़े घेरे हुए हो, थोड़ी स्थिर दृष्टि से नजर उठाकर देखो—वह भी तुम को छोड़कर मृत्यु को आलिङ्गन देने के लिये कितने द्रुतवेग से अग्रसर हो रहा है। प्रति श्वास प्रश्वास में यह मरणाभिमुखी गति प्रगट हो रही है। जिस श्वास प्रश्वास को तुम 'जीवन का लक्षण' कहकर मानते हो वही तो प्रति पलपल में तुम को ध्वंस पुर के अतिथि मरने के लिये आकर्षण किये ले जा रही है। मृत्यु ही तुम्हारा स्वरुप है मरने ही के लिये तुमने जन्म धारण किया! अरे! तुम कैसे निश्चिन्त हो रहे हो! तुम को क्या मा की यह संहारिणी कराल—काली मूर्त्ति नही दीख पतड़ी?

माभैः। किन्तु भय नही। मृत्यु मृत्यु कहकर भय करके भागने की चेष्ट्रा मत करना भागने का उपाय नही उसी को मा कहकर समझने की चेष्टा करो! जिधर को अग्रसर हो रहे हो उस मृत्यु ही की गोद में मा कहकर कूद पड़ने को चेष्टा करो देखोगे तुमने कालातीत का—अमृत की सत्ता का सन्धान पाया है। जहां पर मृत्यु कहने को कुछ नही है काली तुमको उसी स्थानपर पहुँचा देगी। तव देखोगे तुम नित्य, तुम अमृत, तुम आनन्दमय हो। किन्तु वह और वात है।

इस काली—करालवदना मा हमारी का मुखमण्डल अति भीषण है। समग्र अनात्मभाव को मा ग्रास करती है। इसी से मा हमारी करालवदना है। मां हमारी घोरा कृष्णवर्णा हैं, जिस स्थान में सर्ववर्णों का सर्वभावों का अभाव होता है, वहां कोई कुछ भी नहीं हैं, वह स्थान कितना घोर कितना कृष्ण, कितना अप्रकाश है,

सो भाषा द्वारा कैसे करके प्रकाश किया जाय। यदि किसी को उस घन कृष्णा संहारिणी मातृ मूर्त्ति का साक्षात्कार प्राप्त हुआ हो; तो मात्र वे हो समझ सकते हैं—मा हमारी कितनी भीषणा हैं! अरे, जहाँ पर मैं को खोजने से नहीं पाया जाता—देह इन्द्रिय तो दूर की बात है, यह वही स्थान है! घोर घनघटाछन्न अमावस्या-निशीथ में गम्भीर सुषुप्ति के भीतर होकर भी यदि सचेतन अर्थात् जागता रह सके—ना ना, उस में भी तो प्राणन क्रिया वा श्वास प्रश्वास रहती है—वह भी नहीं रहेगी, देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, कल्पना नहीं, कुछ भी नहीं! कुछ नहीं! मैं भी नहीं! उसके बाद आस्ते आस्ते यदि मैं वर्जित मैं का सन्धान ले सको, तभी समझ सकोगे, काली कितनी भीषणा हैं। भाषा से यह भीषणता व्यक्त नहीं होता। "शुष्कमांसातिभैरवा अतिविस्तारवदना जिह्वा ललन भीषणा नादा पूरित दिङ्मुखा"—इत्यादि जितनी ही क्यों न कहो, वह भीषणता भाषा से प्रकाश की जायगी नहीं।

जो लोग चित्र में अंकित काली की भीषण मूर्त्ति देखकर उसे प्रणाम करने में भी भय पाकर द्विभुज मुरलीधर राधिकारमण के शरणापन्न होने की चेष्टा करते हैं, वे नहीं जानते कि, मृत्यु के परपार नहीं जाने से, अर्थात् काल शक्ति को अतिक्रम नहीं कर सकने से, उन हृदय रंजन श्यामसुन्दर के रूप का दर्शन नहीं होता। जो काली हैं, वे हो तो कालातीत स्वरूप में आनन्दमय श्याम सुन्दर हैं, इसे वे जिस दिन समझ सकेंगे, उस दिन फिर यह भीतिभाव नहीं रहेगा। जाने दो यह सब अवान्तर बातें।

मा हमारी असि पाश एवंविचित्र-खट्वाङ्ग धारिणी हैं। असि—छेदनकारक अस्त्र। पाश—आकर्षणकारक अस्त्र। खट्वांग—चूर्णकारक अस्त्र। छेदन, आकर्षण एवं चूर्णकरण, इन्हीं तीन प्रकार से सर्वभाव-अनात्मभाव काल के कराल वक्त्र में विलय प्राप्त होते हैं। जिस पारमार्थिक सत्ता का आश्रय करके दृश्य वर्ग का व्यवहारिक अस्तित्व प्रकाश पाता है, उसमें से उस पारमार्थिक सत्ता को विच्छिन्न वा

पृथक करना ही काल शक्ति का प्रथम कार्य है। मा के हस्त में स्थित असि (तलवार) उसी का प्रतिभू है। कल्पित अंश विच्छिन्न होने से जो पारमार्थिक अंश प्रकाशित होता है, उसको आकर्षण पूर्वक परमात्म सत्ता में मिलन करा देना द्वितीय कार्य है। मा के हस्त में आकर्षणकारी पाश अस्त्र की स्थिति का यही पूर्ण रहस्य है। अवशेष में यावतीय दृश्य भाव को चूर्ण अर्थात् विलय कर देना ही तृतीय कार्य है। काली के हस्तस्थित खट्वांग नामक अस्त्र को इस विलय कार्य का प्रतिभू स्वरूप समझो। मा इन्हीं तीन प्रकार से ही अनात्मभाव का विलय साधन करती हैं, इसी से मन्त्र में मा को "असिपाशिनी विचित्र खट्वांगधरा" कहा गया है।

नरमाला विभूषणा। नरमाला शब्द से नरमुण्डमाला समझना होगा। मा हमारी पंचाशन्मुण्डमालिका—पंचाश नरमुण्ड द्वारा माला गाँथ कर मा गलदेश में परिधान करती हैं। पंचाशन्मुण्डमाला क्या? पंचाशत् वर्णमालिका। अकरादि षोड़श स्वरवर्ण एवं ककारादि चतुस्त्रिंशत् (चौंतीस) व्यंजन वर्ण, सब मिलकर पंचाश वर्ण-अक्षर हैं, यही मा की मुण्डमाला है। बात और भी थोड़ी खुलाशा करनी जरूरी है।

यह जो जगत् देख रहे हो, वह कुछेक शब्दों को छोड़कर अन्य कुछ नही है। महिषासुर-वध-प्रसंग में नादतत्व की व्याख्या के समय यह विशेष रूप से कहा जा चुका है। चन्द्र, सूर्य, मनुष्य, पशु, वृक्ष, लता प्रभृति कुछेक शब्द ही जगदाकार से परिदृश्यमान हो रहे हैं। जैसे "घट" कहने से एक नाम मात्र पाया जाता है, वास्तव में मृत्तिका व्यतीत घट की और कोई सत्ता नहीं है, उसी तरह से यह जगत् कुछेक नाम वा शब्द व्यतीत अन्य कुछ नहीं है। इसी से उपनिषद् के ऋषि ने प्रशान्त कण्ठ से गाया है—"वाचारम्भणं नामधेयं विकारः मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" यह जगत् 'वाचारम्भणं' वाक्य मात्र है। और वाक्य वर्ण समष्टि भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। ये वर्ण ही असुर हैं, कारण ये ही समष्टि भावापन्न होकर घटपटादि

अनात्मभाव फुटा देते हैं। वर्ण समूह जब तक विशिष्ट विशिष्ट भावों के प्रकाशक रहते है, तब तक'ही वे जीवीत है, किन्तु मा जब सर्वग्रासिनी काली मूर्ति से आत्म प्रकाश करती है वा प्रकटिता होती है, तव पूर्वोक्त पञ्चशत वर्ण फिर कोई तरह की भाव विनष्टता उत्पादन नही कर सकते; मृतवत हो पड़ते है। विभिन्न पदार्थों की प्रतीति कराने की सामर्थ्य ही वर्णों का वर्णत्व वा जीवित भाव है। जब भाव कहने को और कुछ नही रहता है, तभी वर्णों का वर्णत्व विलुप्त होता है, अर्थात् भाव उत्पादन सामर्थ्य विशिष्ट हो जाती है, सुतरां मृतवत् अवस्थान करते है। यही प्रलयकारी महा-शक्ति के गलदेश में मुन्डमाला रूप से परिशोभित है। ये भविष्यत सृष्टि के बीज रूप से रह जाते है। इसी से मातृअंग के भूषण रूप से अवस्थान करते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि से व्युत्थित होने मात्र साधक-गणों के हृदय में यह तत्व स्वतः ही प्रकाश पाता है।

द्वीपिचर्म्म परिधाना—शार्दूल चर्म्म परिहिता। काली मूर्ति सर्वदा ही दिगधसना उलगिनी है। संहारिणी शक्ति का कही भी कुछ आवरण का संकोच नही है। यहां पर किन्तु देखदे है—मां हमारी शार्दूल चर्म्म परिहिता है। अभी भी चन्ड मुन्ड रक्तबीज प्रभति असुर निहत नहीं हुए—अर्थात अभी भी कारण देहस्थ सुक्षम संस्कारों के बीज समूह विलय को प्राप्त नहीं हुये हैं, इसी से ये सब विचित्रमय नानाभावों के बीज समूह अभी तक मातृ अंग में विराज कर रहें है—वही व्याघ्र चर्म्म है। कृष्ण पीत प्रभृति विचित्र बर्ण-मय शार्दूल चर्म्म रूप नाना वैचित्रयपुर्ण संस्कार समूह अभी तक माँ के वस्त्र वा आच्छादन रूप से अवस्थान कर रहें है, इसी से यहां यहां पर मां हमारी चामुन्डा मूर्ति से आविर्भूता है। और जब सर्व-भावों का विलय हो जावेगा, तभी श्यामा मा हमारी उलंगिनी मूर्ति से प्रकटिता होंगी।

अनेक साधक शार्दूल-चर्म्मासन पर उपवेसन पूर्वक साधन भजनादि करते रहते हैं। उसकी वैज्ञानिक युक्ति (तड़ित शक्ति की

अपरिचालकता प्रभृति) जो भी क्यों न हो, किन्तु वह जो सूक्ष्मतम संस्कार समूहों के वाह्य लक्षण स्वरूप से व्यवहृत होते हैं, यह भी अस्वीकार नहीं किया जाता। व्याघ्रचर्म्म दर्शन मात्र ही अपने नाना विचित्र कर्म संस्कार समूह याद आ जाते हैं, इसी से शायद, पूर्वकाल के उग्रतपाः साधकगण इसका व्यवहार करते थे। जाने दो ये सब अप्रासङ्गिक विषय है।

शुष्कमांसातिभैरवा। सर्वविध संस्कार क्षय करने के पूर्व मा हमारी "शुष्कमांसा"—अस्थिचर्म्मावशिष्टा शीर्णा ही रहती है। अरे समग्र संस्कार आहार करने से, तब न मा का अंग पुष्ट होगा। अभी तो मा की ऐसी ही क्षुधित मूर्ति का प्रयोजन है। प्रलय की पूर्वावस्था में शक्ति बुभुक्षित ही जान पड़ती है। सर्वभाव को प्रलय कवलित करने के लिये उद्यत होने ही से मा हमारी का शीर्ण और भोषण भाव परिलक्षित होता है। साधक! प्रलयंकरी शक्ति यथार्थ ही अति भैरवा है।

अति विस्तार वदना जिह्वाललन भीषणा। रक्त बीज बध के लिये शीघ्र ही मा का ऐसा विस्तार वदन और विलोल रसना का प्रयोजन होगा। हम यथास्थान पर यह रहस्य समझ सकेंगे।

निमग्नारक्तनयना नादापूरित दिङ्मुखा। क्रोध की उद्दीपना ही प्रलय का हेतु है, उसी का बहिर्लक्षण रक्त नयन एवं नाद है। विशिष्ट प्रकाश शक्ति प्राय विलुप्त है, इसीसे नयन निमग्न अर्थात् चक्षु कोटर प्रविष्ट है, तद् व्यतीत मा का भीषण नाद समस्त दिङ् मण्डल को परिपूर्ण कर रहा है, और विशिष्ट भाव से (खण्ड भाव से) यह क्या है वह कुछ भी समझने का उपाय नहीं है। यही सब प्रलयंकरी शक्ति की स्वरूप वर्णना है।

साधक मत समझना—जगद्भाव अर्थात् स्थूल नाम रूपों का विलय ही करने के लिये इस तरह संहारिणी शक्ति का प्रयोजन है। थोड़ा स्वच्छ चिदाकाश प्रकाश होने ही से स्थूल भाव समूह तो अति सहज में विलुप्त होते हैं। किन्तु सूक्ष्मभाव समूह, जीवत्व के सूक्ष्मतम

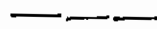
बीजों का समूह विलय करने के लिये मां को इसी तरह विशेष भाव से प्रकटित होने होता है। इस प्रकार प्रलयंकारी शक्ति का आविर्भाव नहीं होने से जन्म-मृत्यु रूप संसार गति के हेंतुभूत सूक्ष्म-तम संस्कार समूहों का विलय नहीं होता। सर्वभाव जिस केन्द्र में से विकसित होते है, उस अव्यक्त बीजमय केन्द्र को विलय करने को मा का इसी प्रकार चामुन्डा मुर्ति से आविभाव एकान्त आवश्यक है। अरे, जिन्होंने मां का ऐसा स्वरूप नहीं देख पाया है, जान लो—उनकी संसार-गति-निवृत्ति का उपाय नहीं हुआ। सत्य ही यह रूप देखा जाता है—सत्य ही प्रलंकारी शक्ति का प्रकाश होता है। मां मां बोलकर रोने से, मां के वक्ष में अपनी सत्ता मिला देने के लिये व्याकुल होने ही से मां हमारी इस रूप से देखा देकर जीवत्व के यावतीय संस्कार विलय कर देती है। साधक ! तुम क्या वीर सन्तानों की तरह इस प्रलयंकारी को देखना चाहते हो ?

सा वेगेनाभिपतिता घातयन्ती महासुरान्।
सैन्ये तत्र सुरारीणामभक्षयत तद्बलम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—वह कालो महासुर गणों को निहत करते-करते सुरारी सन्यों में अभिपतित हुई (जा पहुची), एवं असुरबल को भक्षण करने लगीं।

व्याख्या—संहारिणी-शक्ति के प्रकाश के साथ-साथ ही यावतीय आसुरिक भाव अस्तमित होने लगता है। वह कैसा अपूर्व दृश्य है। एक तरफ भयंकरी घोरा कृष्णा मूर्ति का प्रकाश है दुसरी ओर चित्त-गत व्यक्त अव्यक्त भाव समूहों का एक एक करके विलय है। साधक प्रवर भी एक दिन इस दृश्य को देखकर भय और विस्मय से एकान्त विमूढ़ हो पड़े थे। मां यहां पर असुर सैन्य में आकर जिन सब असुरों को भक्षण करने लगीं—वे सब चन्ड मुन्ड के सैन्य अर्थात प्रवृत्ति

निवृत्ति के अनुचर थे। प्रवृत्ति के विषयाभिमुखी वेग के फल से जो सब संस्कार आहित हुए थे सो पूर्व में महिषासुर बध के साथ-साथ ही निहत हो चुके है। यहां पर प्रवृति आत्मभिमुखी एवं निवृति विषय विरति सम्पादन पूर्वक प्रवृत्ति का सहायक है। इन दोनों ही के विभिन्न कर्म रहने ही से कर्त्तृत्व एवं कर्त्तव्यत्व प्रभृति संस्कार रहते है। यद्यपि ये सूक्ष्म में है, उन्नत स्तर में है, तथापि ये भी अनात्म भाव के पोषक है। विन्दु मात्र अनात्मबोध रहते भी आत्मा का यथार्थ स्वरुप उद्भासित नहीं होता। इसी से माँ हमारी, साधक के करूण क्रन्दन से उद्वेलित होकर प्रलयंकरी मूर्ति से आविर्भूत हुईं एवं प्रवृत्ति निवृत्ति के अनुचर रूप अनात्म-संस्कार समूहों को ग्रास करने लगीं।



पार्ष्णि ग्राहांकुश ग्राहि योध घण्टा समन्वितान्।
समादायैक हस्तेन मुखे चिक्षेप वारणान्॥ ६॥

अनुबाद—वे पार्श्वरक्षक महामात्र गजारोही योद्धा एवं घंटा प्रभृति आभरण सहित हस्तियों को एक हाथ से पकड़कर मुख में निक्षेप करने लगीं।

व्याख्या—पूर्व कहा जा चुका है, चण्डमुण्ड चतुरङ्ग बल सह युद्धार्थ उपस्थित हुए हैं। हस्ती उसका प्रथम अङ्ग है। हस्ती के पार्श्व रक्षक को पार्ष्णिग्राह एवं परिचालक महावत को अंकुशग्राही कहते हैं। चामुण्डा मां हमारी इन्हीं पार्ष्णिग्राह, अंकुशग्राही योद्धा स्वयं एवं घन्टा प्रभृति आभरण सह हस्ती समूहों को एक हाथ से लेकर मुख ग्रास में निक्षेप करने लगीं। विचित्र है युद्ध! स्वयं संहारिणी शक्ति के सम्मुख कौन ठहरेगा? जो कुछ अनात्म भाव रूप से प्रकाश पाता है, सो सभी प्रलय कवलित हुआ जा रहा है। द्वितीय खण्ड में चिक्षुर के चतुरंग सेना के व्याख्यावसर में कहा जा चुका

है, क्लेश कर्म विपाक एवं आशय, ये ही चतुरंग हैं। वहाँ पर सूक्ष्म शरीरस्थ क्लेश कर्मादि को लक्ष्य किया गया है, और यहाँ पर कारण शरीर में जो क्लेशादि के बीज रहते हैं, उन्हीं को चंड मुंड की चतुरंग कहा गया है।

हस्ती—क्लेश स्थानीय। कारण देह में सुख-दुःख नामक क्लेश के बीज रहते हैं तभी तो सूक्ष्मदेह में सुख-दुःख उपस्थित होते हैं। प्रवृत्ति-निवृति कर्त्तृक परिचालित ये सूक्ष्म क्लेश-बीज समूह जो चेतन कर्त्तृक परिचालित, रक्षित एवं जिस अधिष्ठान-चैतन्य में वे अवस्थित हैं वे ही यथाक्रम से पार्ष्णिग्राह, अंकुशग्राही एवं योद्धा हैं। यद्यपि चैतन्यांश में ऐसा कोई भेद नहीं है, रह भी नहीं सकता, तथापि इन्हीं सब उपाधियों के वश चैतन्य भी मानो विशिष्ट भावापन्न हो जाता है। इस विशिष्टता का नाश ही असुर विलय है। प्रलयं-करी शक्ति के बल में वे अर्थात् ये विशिष्ट भावसमूह युगपत् निपतित हो रहे हैं। उस समय फिर क्लेश नामक कोई प्रकार का प्रत्यय नहीं रहता। यथार्थ में वह संहारिणी कृष्णा मूर्ति के प्रकाश में सूक्ष्म-सूक्ष्म भाव राशि मिलती जा रही है। उस अवस्था में मालूम होता है--भाव ही मानो एक कृष्ण वर्ण भयंकर मुख के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। काली के तीव्र आकर्षण शक्ति के प्रभाव से सूक्ष्मतम संस्कार के बीज समूह अव्यक्त क्षेत्र में मिले जा रहे हैं--इसी को समझाने के लिये मन्त्र में "हस्तेन आदाय" कहा गया है।

तथैव योधं तुरगै रथं सारथिना सह।
निक्षिप्य वक्त्रे दशनैश्चर्व्वयन्त्यति भैरवम् ॥१०॥

अनुवाद—उसी तरह अश्व सह अश्वारोही, सारथी सह रथ (एवं रथी) मुख में निक्षेप पूर्वक दन्त द्वारा चर्व्वण करने लगीं।

व्याख्या—पूर्व मंत्र में हस्ती की बात कही गई, इस मंत्र में अश्व

एवं रथ का विषय कहा गया। अश्व और रथ शब्द से यथाक्रम से कर्म एवं कर्माशय समझ में आते हैं। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि जो चैतन्य कर्म एवं कर्माशय रूप से प्रकाशित है, वही अश्वरक्षक और रथचालक वा सारथी है। इन सभी को हमारी मा ने कराल वस्त्र में निक्षेप कर दन्त द्वारा अतिभीषण भाव से चर्वण करना शुरू किया—अर्थात् कारण देहस्थ अव्यक्त बीजभावापन्न कर्म एवं कर्म्माशय को प्रलय कवलित करने लगीं।

भक्त प्रवर अर्जुन भी विश्वरूप देखकर इसी प्रकार बोले थे,—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्व्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशानान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

वहां पर भी दंष्ट्राकराल भयानक वदन से स्वपक्ष विपक्ष योद्धा का चर्व्वण वर्णित हुआ है। वहाँ पर भी तो अर्जुन की प्रार्थना से भगवान ने अपना स्वरूप बताते हुये "कालोऽस्मिलोकक्षयकृत्" कहकर आत्म परिचय प्रदान किया था। गीता में जो काल हैं, चंडी में वे ही काली हैं। गीता में स्थूल संस्कार समूहों के प्रलय की बात है, देवी माहात्म्य के प्रथम और द्वितीय खंड में—कारण-शरीरगत सूक्ष्मतम बीज रूपी संस्कार समूहों का प्रलय वर्णित हुआ है। साधकगण जिस प्रकार से ज्ञान के स्तर में उन्नत सोपान पर आरोहण करते जाते हैं, संस्कार समूहों का भी ठीक उसी प्रकार स्तर-स्तर में भेद होता जाता है। ज्ञान के ऐसे सब उच्च स्तरों में आरोहण करने के लिये एकमात्र शरणागत भाव ही सहज और सुनिर्दिष्ट मार्ग है। साधक जितने परिमाण में भगवान की शरण अर्थात् आश्रय में आता जाता है, उतने ही परिमाण में ज्ञान का विकाश होता जाता है। शरणागत भाव की पूर्णता आत्म ज्ञान में है। जब फिर मैं कहने को कोई नहीं रहता (मैं नामक कुछ नहीं रहता), अथच एकमात्र मैं

ही रहता है तब ही शरणागत भाव पूर्ण होता है। और एक मात्र आस्तिक्य बुद्धि ही इस शरणागत होने के लिये सर्व प्रधान अवलम्बन है। मनुष्य जितने परिणाम में भगवत् सत्ता में विश्वासवान् अर्थात् श्रद्धावान् होता जाता है, शरणागत भाव भी उसी परिमाण में बढ़ता जाता है। हम देवी माहात्म्य के पाठक हैं सर्वथा शरणागत होने के लिये चेष्टा करते हैं। इसी से देख रहे हैं, मा हमारी प्रलयंकरी मूर्ति से आविर्भूत होकर हमारे अनात्म-संस्कार-समूहों के—भेदज्ञान के बीजों को स्वयं ही ध्वंसमुखी प्रेरण कर रही हैं। अहो धन्य हैं हम !

—००—

एकं जग्राह केशेषु ग्रीवायामथ चापरम्।
पादेनाक्रम्य चैवान्यमुरसान्यमपोथयत् ॥ ११ ॥

अनुवाद—अनन्तर किसी के केश, किसी का ग्रीवादेश धारण किया। किसी को पद द्वारा, किसी किसी को वक्षों द्वारा विमर्दित करने लगी।

व्याख्या—चंडमुंड के चतुरंग बल के तीन अंग हस्ती अश्व एवं रथ शेष हो गये हैं। इस बार अवशिष्ट पदाति-सैन्य का क्षय वर्णित होता है। विपाक अर्थात् कर्मों के परिणाम समूह ही पदाति सैन्य हैं।

कर्माशय में संचित कर्मबीजों को ये फलोन्मुख अवस्था में लाते हैं। सूक्ष्म में वह विपाक शक्ति है इसीसे तो वे फलोन्मुख होकर स्थूल में आकर जाति आयु एवं भोग रुप से प्रकाश पाते हैं। "मैं अमुक जाति हूँ, मेरी इतनी बयस है, मेरा यह सुख-दुख भोग है" ये सभी इसी विपाक-शक्ति का कार्य है।

मा ने यहाँ पर प्रलयंकरी मूर्ति से प्रकटित होकर उनके "केशेषु-जग्राह"—केश ग्रहण किये, अर्थात् शिरोदेश परिग्रह किया। प्रलयंकरी का ग्रहण कहने ही से प्रलय करना समझना चाहिये। विशेष बात यह है कि संस्कारों का मस्तक गृहीत होने से फिर किसी भी

समय उनके पुनराविर्भाव की आशंका नहीं रहती। साधारणत: संस्कारों के बीज समूह अव्यक्त क्षेत्र में छिपे रहते है, उपयुक्त देश काल और पात्र की सहयोगिता से फूट उठते है, इसीसे मा आज उसी अव्यक्त क्षेत्र ही को ग्रास करने के लिये उद्वत हुई है। साधक! यद्यपि मातृ कृपा से संचित एवं आगामी कर्मों का अश्लेस एवं बिनाश हो जाता है, तथापि तुमने जाति आयु एवं भोग रूप भेद प्रतीति के हाथ से परित्राण नहीं पाया। क्षण-क्षण में उनके नाना रूप विकाश देखते हो। इसका कारण यह है कि अभी भी चण्ड मुन्ड का चतुरंग बल निहत नहीं हुआ। किन्तु इस बार मा तुमको सर्वविध भेद-ज्ञान के परपार ले जावेंगी। इसी से इतना आयोजन है, इतना क्रूर अभिनय है, इतना प्रलय का तान्डव नृत्य हैं। मा नाना तरह से असुर क्षय करने लगी–किसी का ग्रीवा ग्रहण, किसी को चरनों से मर्दित, किसी किसी को तो वक्षों द्वारा निपोथित किया। स्थूल बात–प्रलय शक्ति के प्रकाश से नाना जातीय संस्कारों नाना भावों से विलुप्त होने लगे। संस्कार समूहों की विचित्रता वशातः ही प्रलय की भी विचित्रता देखने में आती हैं। इसी से केश ग्रहना ग्रीवा ग्रहन पदमर्दन प्रभृति विभिन्न उपाय वर्नित हुए हैं। परवर्ती तीन मंत्रों का यही रहस्य हैं।

———

तैर्मुक्तानि च शस्त्राणि महास्त्राणि तथासुरैः।
मुखेन जग्राह रुषा दशनैर्मथितान्यपि ॥१२॥

अनुवाद––असुरगण श्रेष्ठ अस्त्र शस्त्र प्रयोग करने लगे। देवी उन सबको मुख में ग्रहन पूर्वक दन्त द्वारा विचुर्णित करने लगी।

व्याख्या––प्रलय मुख में प्रविष्ट होने के समय भी पूर्व लब्ध वेग-वशतः अव्यक्त विपाक स्थानीय पदाति सैन्य समूह अपनी बहिर्मुखी शक्ति प्रयोग करने में विमुख नहीं होते, असुरगणों के अस्त्र शस्त्र प्रयोग

का यही रहस्य है। साधकगण भी इसे अच्छी तरह उपलब्ध कर सकते हैं—वे चाहे जितना ही ज्ञान और भक्ति का अनुशीलन क्यों न करें, चाहे जितने ही मातृ स्वरूप में समाहित रहें, विपाक के फल रूप जाति आयु भोग रूप की त्रिविध प्रतीति से किसी प्रकार भी परित्राण नहीं पाते। विपाक का यह जो पुनः पुनः आत्म प्रकाश है, सोई असुर के अस्त्रादि प्रयोग हैं। किन्तु इस बार वे असुर व्यर्थ होंगे ... मा इस बार स्वयं प्रलय मूर्ति से प्रकटिता है। अब एक बार जैसे ही इसी प्रकार जात्यादि प्रतीति फुट उठेगी, तैसे ही अद्वय आत्म-सत्ता उसको आवृत कर डालेगी, इस प्रकार पुनः पुनः करते करते ही वह सब क्षीण बल हो जावेगी।

देखा जाता है—सन्यासी गण—परमहंस गण इसी जाति प्रतीति का विलय करने के लिये शिखा सूत्र प्रभृति जातीय चिन्हों का त्याग करते हैं एवं सभी जाति का अन्न ग्रहण करते हैं। आयुः प्रतीति विलय करने के लिये स्थूल शरीर के बयस की बात नहीं बोलते। भोग प्रतीति विलय करने के लिये प्रबल अध्यवसायों के द्वारा सुख दुःख शीत ग्रीष्म क्षुधा तृष्णा प्रभृति सह्य करते रहते हैं। ये सभी बातें अति उत्तम हैं। सन्यासी गण हमारे नमस्य हैं। किन्तु इन सब वाह्य उपायों के सहारे एवं अवर्णनीय कठोरता सहिष्णुता प्रभृति का अभ्यास करते हुए भी कौन परमहंस उसके हाथ से परित्राण पा सकते हैं सो नहीं जानता। क्योंकि शिखा सूत्रादि का त्याग, एवं सब जातियों का अन्न ग्रहण करने पर भी भीतर भीतर में "मैं अमुक जाति हूं" ऐसी एक प्रतीति तो रह ही जाती है। बयस की आलोचना नहीं करने पर भी बाल्य यौवन वार्द्धक्य आदि ज्ञान तो रह ही जाता है। और भोग जो हैं, स्थूल देह ही उसका तो ज्वलन्त प्रमाण है। एक मात्र अद्वय आत्मस्वरूप प्रकटित होने ही से ये भेद प्रतीति विलय को प्राप्त होती है। अन्यथा सहस्र चेष्टाओं से भी उसे नहीं जीता जाता। आशंका हो सकती है, ज्ञान लाभ के बाद भी तो "जाति, आयु, भोग" रहते हैं, तब फिर मा के काली मूर्ति से

प्रकाशित होकर असुर ग्रास की सार्थकता क्या हुई ? नहीं, ऐसी आशंका मत करो। मा सत्य सत्य हो उसे ग्रास कर लेती हैं, आत्म स्वरूप से प्रकटित होती है। इस प्रकार से आत्मस्वरूप के उद्भासित होने पर भी उनकी अनुवृत्ति होती है, उसे वाधितानुवृत्ति कहते हैं। तब तो वे रहते हुए भी नहीं रहने ही के समान होते हैं। यह विषय आगे विस्तृत भाव से आलोचना किया जायगा।

बलिनां तद्बलं सर्व्वमसुराणां महात्मना।
ममर्द्दाभक्षयच्चान्यानन्यांश्चाताड़यत्तथा ॥१३॥

अनुवाद—मा ने इस प्रकार उन बलवान् महाकाय असुर सैन्य गणों को, कितनों को मर्दित, कितनों को भक्षित एवं दूसरे कितनों को विताड़ित किया।

व्याख्या—जो मर्दित एवं भक्षित हुए वे फिर कभी भी प्रकाश नहीं पावेंगे। किन्तु जो विताड़ित हैं; वे फिर वाधितानुवृत्ति रूप से प्रकाश पावेंगे। जो सब विपाक आत्म स्वरूप उपलब्धि के लिये एकान्त विरोधी थे, प्रलय शक्ति ने उन सबको मर्दन और भक्षण किया। किन्तु जो वास्तव में अन्तराय नहीं है मा ने उनको विताड़ित किया। जैसे मान लो—जाति आयु एवं भोग; आत्म स्वरूप से व्युथित होने ही से इनकी प्रतीति जाग उठती है। केवल आत्म स्वरूप में अवस्थान काल ही में वह पूर्ण रूप से विताड़ित रहती है। जब मा हमारी आत्म प्रकाश करती है, तब तो फिर इनका अस्तित्व ही खोजने से नहीं मिलता, कभी था वा रहेगा, ऐसा भी नहीं जान पड़ता। किन्तु व्युत्थित होने ही से इनका आविर्भाव होता है। साधकों को अपनी जाति आयु एवं भोग विषयक ज्ञान विशेष भाव से नहीं रहने पर भी अपरों की जाति, आयु एवं भोग विषयक प्रतीति रह जाती हैं। और जो प्रतीति अपने लिये जरा भी नहीं हैं,

वह अपरों के सम्बन्ध में कैसे रहेगी, ऐसी भी आशंका होती है; सुतरां उनकी बाधितानुवृत्ति अर्थात् विताड़ित होने पर भी फिर से लौट आना रूप क्रिया निश्चय ही है, यह कहना होगा। यहाँ पर फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है। यदि जाति आयु एवं भोग ही रह जाये, तो फिर मा ने जो प्रलय-मूर्ति से प्रकाशित होकर उनका नाश किया उसकी सार्थकता क्या हुई ? हाँ सार्थकमा खूब ही है। इनकी पारमार्थिकत्वबुद्धि का विनाश हो जाता है। साधारण जीव जैसे जाति आयु एवं भोग को पारमार्थिक सत्ता-विशिष्ट एक कुछ समझते हैं, आत्मज्ञानियों को सो नहीं रहती, मैं ब्राह्मण हूं, मेरी उम्र इतनी है, मेरा सुख दुःख इत्यादि प्रयोग जो है वह केवल कुछेक शब्द प्रयोग का व्यवहार है! उनकी वास्तव में तो कोई सत्ता है नहीं, इसे वे इतना ज्यादा समझ लेते हैं कि सहस्रवार जाति आदि की प्रतीति जागने पर भी उनकी अद्वैत प्रतीति में विन्दु मात्र भी व्याघात नहीं घटता।

तब हाँ एक बात याद रखना—जिनके क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय को स्वयं मा आकर विलय न कर दें, तो वे शतशास्त्र आलोचना करके, सहस्त्रों उपदेश सुन के भी अपनी पारमार्थिकत्व बुद्धि परित्याग नहीं कर सकते। एकमात्र आत्मा मा ही हमारी परमार्थ स्वरूप से हैं, और तो कुछ भी है नहीं—एक अद्वय सत्ता को छोड़कर और सभी सत्ता ही तो व्यवहारिक मात्र है, इसे मा ही कृपा करके समझा देती हैं। सम्यक उपलब्धि व्यतीत केवल श्रवण एवं अनुमान जन्य ज्ञान कभी भी अज्ञान को सम्पूर्ण दूरीभूत नहीं कर सकता।

असिना निहताः केचित केचित् खट्वाङ्ग ताड़िताः।
जग्मुर्विनाशमसुरा दन्ताग्राभि हतास्तथा ॥१४॥

क्षणेन तद्बलं सर्व्वमसुराणां निपातितम् ।
दृष्ट्वा चण्डोऽभिदुद्राव तां कालीमतिभीषणाम् ॥१५॥

अनुवाद—कुछ असुर खड्ग के द्वारा निहत, कुछ खट्वांग द्वारा प्रहृत, अवशिस्ट दन्ताग्र द्वारा आहत होकर विनाश को प्राप्त हुए। देखकर महासुर चण्ड अति भीषणा काली के प्रति अभिधावित हुआ।

व्याख्या—असि खट्वांग प्रभृति का तात्पर्य्य पूर्व ही कहा जा चुका है। असुर सैन्य असंख्य है प्रथम ही लो—जाति ज्ञान से ही वर्ण-धर्म, आश्रम धर्म और नित्य-नैमित्तिकादि बहु कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयक संस्कार उदित होते हैं। आयु ज्ञान से बाल्य यौवनादि विशेष अवस्था और तत्तत् कालोचित् कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य ज्ञान का संस्कार उदित होता है। इसी तरह भोग विषयक बहुसंख्यक अवान्तर संस्कार भी आ उपस्थित होते हैं। इन सबके एकत्र होते ही प्रवृत्ति निवृत्ति का सैन्य बल अगणित होता है। किन्तु कितने ही असंख्य क्यों न हों, "क्षणेन तद्बलं सर्व्वमसुराणां निपातितम्।" क्षण काल ही में असुर बल निपातित हुआ। अरे, साक्षात् प्रलयंकरी शक्ति के सामने उनका अस्तित्व फिर कितने क्षण रहेगा। प्रकाश के आविर्भाव से अन्धकार जैसे क्षण काल ही में विलय होता है, ज्ञानोदय होने से अज्ञान एवं तद् जन्य भेद प्रतीति राशि भी, उसी तरह क्षण काल ही में विलय हो जाती है। इस प्रकार स्वकीय सैन्य बल को विनष्ट होते देखकर स्वयं चण्ड (प्रवृत्ति) युद्धार्थ मा के सम्मुख उपस्थित हुआ।

———

शरवर्षैर्महाभीमैर्भीमाक्षीं तां महासुराः ।
छादायमास चक्रैश्च मुण्डःक्षिप्तैःसहस्रशः ॥१६॥

अनुवाद—महासुर चण्ड ने अति भीषण शर वृष्टि करके भीम-

नयना देवी को आच्छन्न कर डाला, एवं मुण्ड भी सहस्र सहस्र चक्र निक्षेप करने लगा।

व्याख्या—इस बार चण्डमुण्ड का युद्ध आरम्भ हुआ। एक जन भीषण शर वृष्टि करने लगा एवं दूसरा सहस्र-सहस्र चक्र निक्षेप करने लगा। शर—प्रणव। पुनः पुनः प्रणवादि मन्त्र के स्मरण से अथवा अनाहत केन्द्र से स्वतः उत्थित अति मधुर प्रणवनाद से मुग्ध होकर चित्त को स्थिर रखने का जो अदम्य प्रयास है, वही चण्ड का शरवर्षण है। आत्माभिमुखी प्रवृत्ति का यही तो शेष कार्य है। और मुण्ड का वा निवृत्ति का अस्त्र होता है चक्र। इस संसार चक्र से प्रतिनिवृत्ति कराना निवृत्ति का कार्य है। इस प्रकार प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही स्व स्व शक्ति प्रयोग से प्रलय शक्ति के हाथ से आत्म रक्षा करने को सचेष्ट होती हैं। साधक समझ रक्खो—जब तक साधना है, उपासना है, प्रणवादि मन्त्र जप है, ध्यान धारणा है, तब तक आत्मस्वरुप प्रकाशित नहीं हुआ। और जब तक विषय वैराग्य अनासक्ति प्रभृति बोध है, तब तक भी मातृ प्रकाश नहीं हुआ। शर वृष्टि और चक्राच्छादन का यही तात्पर्य है। आगे यह और भी खुलाशा किया जाता है।

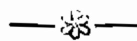
तानि चक्राण्यनेकानि विशमानानि तन्मुखम्।
बभूर्यथार्कबिम्बानि सुबहूनि घनोदरम् ॥१७॥

अनुवाद—वे चक्र समूह देवी के मुख में प्रविष्ट होकर मेघ-मण्डलाभ्यन्तर स्थित असंख्य रवि विम्व की तरह शोभा पाने लगे।

व्याख्या—भयंकरी प्रलयंकरी शक्ति के कवल में प्रवृत्ति निवृत्ति की चेष्टाओं के विलय होने के समय अपूर्व शोभा हुई थी। उपमा-स्वरूप देवी माहात्म्य के ऋषि अर्क बिम्ब एवं घनोदर ये दो पद प्रयोग किये हैं। घनोदर के साथ काली के मुखमण्डल की एवं रवि-बिम्ब के साथ अस्त्र समूह की उपमा की गई है॥

महासुर मुण्ड द्वारा निक्षिप्त चक्र समूह—त्याग वैराग्य संयम नियम अहिंसा अपरिग्रह प्रभृति निवृत्ति के कार्य समूह जब काली के मुख मण्डल में अर्थात् प्रलय गह्वर में विलय होने लगते हैं, तब वास्तविक ही जान पड़ता है, कृष्णवर्ण मेघमण्डल के भीतर रवि बिम्ब सदृश उज्ज्वल-उज्ज्वल भाव समूह मिले जा रहें हैं। जो सब मनुष्यत्व के श्रेष्ठ उपादान हैं, जो सब सत्वगुण के निर्मल प्रकाश हैं, जो सब देवोचित श्रेष्ठगुण हैं, वहाँ सब समुज्वल गुण जब प्रलय के दंष्ट्रा-कराल घन-कृष्ण मुख-मण्डल में प्रवेश करने लगते हैं, तब उनकी स्वाभाविक उज्ज्वलता मानो और भी परिवर्द्धित हो जाती है। उज्ज्वल नक्षत्र समूह जैसे एक-एक करके घनकृष्ण मेघमण्डल के भीतर छिप जाते हैं, ठीक वैसे ही मनुस्यत्व के श्रेष्ठ उपादान समूह भी मानो धप्-धप् करके एक-एक करके मिले जा रहे हैं।

इतने दिन तक साधक केवल देवोचित गुण राशियों को अर्जन कर देवत्व की ओर अग्रसर होता था, इसवार उन सबको भी विलय करने का समय आ उपस्थित हुआ है। इस बार साधक को देवत्व में नहीं, ब्रह्मत्व में उपस्थित होने होगा; इसी से माँ स्वयं प्रलयमूर्त्ति से यावतीय सद्गुण राशियों को भी विलय किये ले रहे हैं। विन्दु मात्र विशिष्टता विन्दुमात्र भेदज्ञान मा नहीं रहने देंगी। सत् असत् के निर्विशेष से सब भावों को सम्पूर्ण विलय करके तब मा हमारी स्वकीय अम्बिका स्वरूप को उद्भासित करेंगी। यह सब उसी का पूर्वायोजन चल रहा है। अपर्व है यह तत्व।



ततो जहासातिरुषा भीमं भैरवनादिनी ।
काली करालवक्त्रान्तदुर्दर्श दशनोज्ज्वला ॥१८॥

अनुवाद—फिर काली अतिशय क्रोध वशतः भैरव गर्जन और भीषण अट्टहास्य करने लगी, उस समय उनके कराल मुख के मध्य-

वर्त्ती दुर्दर्श दन्त समूहों की प्रभा ने उनको उज्जवल कर दियः था।

व्याख्या—अट्टहसी भैरव गर्ज्जन, दशन पंक्तियों की शुभ्रता प्रभृति द्वारा हमारी माँ की प्रलयंकारो कृष्णा मूर्त्ति की भीषणता और भी बढ़ जाती है। ये सब प्रलय की अवस्था हैं। प्रवृत्ति निवृत्ति को निधन करने के लिये मा की ऐसी ही मूर्ति का प्रयोजन है। अरे! कामः क्रोध, हिंसा, द्वेष प्रभृति असदभावों को तो मनुष्य सहज ही में परित्याग कर सकता है, किन्तु साधन, भजन त्याग, वैराग्य प्रभृति उच्च उच्च सद्भावों कोई सहज में नहीं छोड़ना चाहता, इसी से मां हमारी साक्षात् कराल वदन काली मूर्त्ति से आविर्भूत होकर उनको बल पूर्वक विलय कर लेती है। इस मूर्त्ति को देखने से साधक मात्र को ही भय होता है। स्वयं अर्जुन भी इस मूर्त्ति को देखकर बोले थे—"भयेन च प्रव्यथितं मनोमे" "धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो"। इसी से इसके पहले कहता था—साधक मात्र को ही इस प्रलयंकरी मूर्त्ति के भीतर होकर ही जाने होता है। जो सब साधक श्याम सुन्दर नव नटवर मूर्ति की उपासना करके, कराल-वदना काली का नाम लेने में भी भय किंवा विद्वेष भाव पोषण करते हैं, वे भी जान सकते—अर्जुन की तरह उनके भी सामने ये श्यामसुन्दर ही एकदिन "कालोस्मि लोकक्षयकृत्" कहकर लोकक्षयकर भयंकर कालमूर्ति से प्रकाशित होंगे। अरे लोकक्षय नहीं होने से तो श्यामसुन्दर का आविर्भाव ही नहीं होता, हो नहीं सकता। लोक अर्थात् दृश्य नामक जबतक कुछ रहता है, तबतक उस परमरूप का प्रकाश हो ही नहीं सकता। सुतरां लोकक्षय एकान्त आवश्यक है। मा का अति रोष, अट्टहाँसी भैरवगर्जन, दशन-विस्तार, ये सभी लोकक्षय के सहायक है।

साधक! बड़ा ही मनोहर, बड़ा ही आनन्ददायक उस मूर्ति का प्रकाश है, कितनी ही भयदायिनी क्यों न हो, यह मूर्ति ही साधकों का एकान्त इष्ट है। यही तो चण्डी का यथार्थ स्वरूप है। चण्ड मुण्ड के

वध के समय ही मा हमारी का विशेषभाव से चण्डी मूर्ति से आविर्भाव का प्रयोजन है। मा हमारी चण्डी नहीं होने से—अति रोषमयी नहीं होने, से हमारा यह मिथ्या का खेलाघर किसी प्रकार नहीं टूटता। मा हमारी ने दो घर तोड़ दिये है, और एक के फोड़ने का जुगाड़ किया है, यही तो मा की चण्डी मूर्ति की सार्थकता है। भय क्या है रे ? सिंहिनी की सन्तान क्या माके दंष्ट्रा—करालमुखमडल को देखकर भय पाती है ? वह तो मा है रे! हो भीषणा हो प्रलयङ्करी हो सर्वनाशी, तथापि वही तो मा है रे! मा के कराल दशन देखकर भय होने से, मा के ही हृदय में मुख छिपाकर मा के ही गले से लिपटकर आत्महारा होने के लिए फिर उन्हीं को मा कहकर पुकारना होता है। यद्यपि वहाँ पर माता-पुत्र सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि स्थूल दृष्टि से वहाँ पर स्नेह दया कुछ भी नहीं है, तथापि हम प्रलय स्थान तक मातृ—भाव से विच्युत नहीं होगें। प्रथम स्थूल माटी जल वृक्ष लता से मा बोलना आरम्भ किया है, और इस सर्वभाव के प्रलय पर्य्यन्त मां बोलकर पुकारेंगे। बाद में जब फिर मैं नहीं रहूँगा, जब फिर मां बोलकर नहीं पुकारूँगा, तभी इस अभूतपूर्व मातृ-लीला का सम्यक् अवसान होगा। अभी भी इस देश में बहुत स्थानों में काली पूजा होती है। वास्तविक वह कालीपूजा नहीं होती, मां की पूजा—श्यामापूजा होती है काली को मा कहने से फिर काली नहीं रहती, श्यामा हो जाती है। हम तो कालीपूजा करही नहीं सकते हैं पूजा करते करते काली को मां बोल बैठते हैं, क्योंकि पीछे कही बड़ी लालसा का पुत्रत्व पर्य्यन्त विलुप्त हो जाय, इसी से भय भय से मां कह डालते हैं। मा भी हमारी द्वैत प्रतीति सुरक्षित रखने के लिये मातृभाव से ही प्रकटित होती है। बहुत दिनों के बहुतजन्मों का संस्कार है, इसीसे द्वैतभाव को किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकते, किन्तु इसबार और सो नहीं होगा, मां स्वयं चण्डी हुई हैं, सर्वत्व का विलय और एकत्व की प्रतिष्ठा करने ही के लिये मा हमारी प्रलयंकरी मर्त्ति से प्रकटित हुई हैं। सुतरां इसबार

हम निश्चय ही माता–पुत्र-सम्बन्ध विहीन, वाक्य मनके अगोचर परमात्मा स्वरुप में उपनीत होंगे ? मा मा मा ! इस बात सोचने में भी शरीर पुलक कण्टकित हो उठता है।

—&—

उत्थाय च महासिं हं देवीचण्डमधावत।
गृहीत्वा चास्य केशेषु शिरस्तेनासिनाच्छिनत् ॥१६॥

अनुवाद। इसके बाद देवी क्रोधयुक्त महाअसि उठाती हुई चण्डके ऊपर धावमान हुई एवं केश ग्रहण पूर्वक उस असिद्वारा ही उसका शिरश्च्छेद किया।

व्याख्या—मन्त्रस्थ 'महासिंह" अंश में दो पद है। एक है महासिं दूसरा है हं। हं यह पद क्रोध सूचक अव्यय है। महाअसि द्वैत प्रतीति नाशक अस्त्र, अर्थात अद्वयज्ञान। जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता प्रतिपादक महावाक्य ही महा असि है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' वेदचतुष्टय प्रोक्त ये महावाक्यचतुष्टय-प्रतिपाद्य विशुद्ध अद्वय ज्ञान ही यावतीय द्वैत प्रतीति विनाश के हेतु हैं। यह अद्वय ज्ञान ही चण्डी की भाषा में देवी के हस्तस्थित महा असि है।

"महासि" पद का अन्य प्रकार भी अर्थ हो सकता हैं ! सामवेदोक्त महा वाक्य 'तत्त्वमसि' मन्त्र के एक देश में भी 'असि" यह पद पाया जाता है। अस् धातु का अर्थ है सत्ता। महासि शब्द से महती सत्ता लक्षित होती है। महती सत्ता का अर्थात् पारमार्थिक सत्ता का प्रकाश होने से ही व्यवहारिक सत्ता विलुप्त होती है। प्रलयंकरी माँ ने आज महा असि उत्तोलन पूर्वक उसी असि के आघात से चन्ड का शिरश्छेद किया, अर्थात् पारमार्थिक सत्ता का प्रकाश करके द्वैत-प्रतीति की मूलीभूत जो प्रवृत्ति है उसका विलय साधन किया। द्वैतज्ञान ही यावतीय प्रवृत्ति का हेतु हैं। अद्वयज्ञान दृढ़ प्रतिष्ठित होने से, प्रवत्ति नामक फिर कुछ भी नहीं रहता।

इस मंत्र में और एक बात है—मां ने चण्ड के केश ग्रहण किये है। केश ग्रहण का रहस्य पूर्व में व्याख्यात हो चुका है। ब्रह्मत्व विष्णुत्व और शिवत्व लाभ का प्रलोभन-विनाश ही देवी कर्तृक चण्ड के केश ग्रहण का तात्पर्य्य है। मां हमारी ने ईश्वरत्व लिप्सा को भी विदूरित करके तब प्रवृत्ति का विनाश किया। और किसी की भी आकांक्षा नहीं, रह भी नहीं सकती। मां जब महा असि उत्तोलन करती हैं अर्थात् एक ही मात्र अहतो सत्ता जब खूब दृढ़ भाव से प्रतीति योग्य होने लगती है, तब फिर प्राप्य पापक किंवा साध्य सरधक रूप कोई भी भेद लक्षित नहीं होता, सुतरां प्रवृत्ति का समूल से उच्छेद हो जाता है। साधक! मत समझ लेना केवल तत्वमसि वाक्य का अर्थ विचार करके ही द्वैत प्रतिती विलय रूप मोक्षपद प्राप्त होगा। मां जब तक "असि" उत्तोलन करके इस चण्डासुर का निधन नहीं करें तब तक मोक्ष की आशा आशामात्र रूप से ही रह जाती है।

अथमुण्डोऽप्यधावत्तां दृष्टवा चण्डं निपातितम्।
तमप्यपातयद्भूमौ सा खड्गाभिहतं रुषा॥२०॥

अनुवाद—बाद में चण्ड को निपातित देखकर, मुण्ड भी देवि की ओर धावित हुआ, तब देवी ने क्रोधवशतः उसको भी खड्गाघात से भूतल पर निपातित किया।

व्याख्या—प्रवृत्ति विलय के साथ ही साथ निवृति की भी निवृत्ति होती है। पूर्व कहा जा चुका है—वे दोनों ही समभावी हैं सुतरां एक के विनाश से दुसरे का विनाश अवश्यम्भावी है। इन्हीं ने प्रथम आस्मिता के पास मां का संवाद लाकर दिया था, कर्तव्य शेष हो चुका है—जिसके लिये प्रवृत्ति निवृत्ति का प्रयोजन था सो खतम हो चुका है। इसीसे दोनों ने ही आत्म बलि देकर मातृ स्वरूप प्रकाश का पूर्वायोजन सम्पन्न किया।

प्रथम जो महा असि की बात कही गई है, उसी असि ही के द्वारा ही मुण्ड भी निपातित हुआ। महावाक्यार्थ ज्ञान रूप महा असि ही सर्व विध भेद प्रतिती विलय का अक्षुण्ण एवं अव्यर्थ उपाय है। साधक विचार करके देखो, तुम्हारी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति को परमात्मा-भीमुखी करने के लिये कितनी न चेष्टा, कितनी न कठोरता, कितनी न साधना की थी, और विषयासक्ति दूर नहीं हुई इसलिये निवृत्ति का प्रकाश नहीं हुआ, इसलिये कितने न योग कौशलों का सहारा लिया था, तुम्हारी आशा पूर्ण नहीं होती इसलिये कितने न दुःख अनुभव किये थे, कितने ही न नीरव-अश्रु मातृ चरणों में उपहार देते थे। फिर जब आशा पूर्ण हुई—प्रवृत्ति सर्वतो भाव से मातृ मुखी हुई, निवृत्ति ने यथार्थ ही विषय विरति लाकर उपस्थित की, तुमने स्वस्ति की निश्वास छोड़ने का उपक्रम किया, इतने ही में माँ हमारी ने काली मूर्ति से प्रकटित होकर, तुम्हारी अतिप्रिय प्रवत्ति निवृत्ति को तुम्हारी साधना एवं वैराग्य को भी ग्रास कर डाला। साधक! अपने को धन्य समझे। इतने दिनों की साधना, इतने दिनों का त्याग वैराग्य एक मुहूर्त्त में मा ने कराल वदन से (मुख से) ग्रास कर लिया इसलिये दुख करोगे क्या? ना ना, तुम हो चण्डी-तत्व के साधक! तुम हो जीवत्व हननेच्छु सिंह तुम हो अद्वय ज्ञान तत्व के प्रयासी, तुम दुःखित होओगे क्यों? जय मा बोलते हुये, जय गुरु बोलते हुये अग्रसर होओ। प्रवृत्ति निवृत्ति गई—अब जो बाकी है, सो भी मा के मुख के पास धरो। मां हमारी चामुण्डा मूर्त्ति से तुम्हारे सर्वस्व को ग्रास करके अद्वय तत्व में उपनीत कर देंगी। इसीलिये तो प्रथम से ही बोलता आ रहा हूँ—चण्डी तत्व अतिशय गहन है। उपनिषद् भी कहती हैं—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥" यथार्थ ही में यह तत्व गहन नहीं है क्या?

———

हतशेषं ततः सैन्यं दृष्ट्वा चण्डं निपातितम् ।
मुण्डञ्च सुमहावीर्यं दिशो भेजे भयातुरम् ॥२१॥

अनुवाद—चण्डमुण्ड को निपातित देख हतावशिष्ट सैन्यगण भयार्त्त होकर भाग गये ।

व्याख्या—प्रवृत्ति निवृत्ति के अधिकांश अनुचर वर्ग पहले ही विनष्ट हो चुके हैं । जो बचे हुए थे, प्रलयङ्करी शक्ति के आविर्भावसे वे भीति चिन्ता से भाग गए। बाधितानुवृत्तिरूपसे पुनराय जिनका आविर्भाव होता है, उन्हीं को मंत्र में पलायनकारी सैन्यदल कहा गया है । खुलाशा कहते हैं—

प्रवृत्ति निवृत्ति के विनाश होने के बाद भी साधकगण जगत् में स्थूल शरीर में अवस्थान करते हैं । उनकी आहार निद्रादि किंवा लोक शिक्षादि कार्यों में प्रवृत्ति एवं शास्त्रनिन्दित कार्यों में निवृत्ति देखनेमें आती हैं । प्रवृत्ति निवृत्ति रहने ही से अनुचरवृन्द कुछ कुछ रहेंगे ही। इस प्रकार जो पुनरावर्त्तन करते हैं, उनको लक्ष्यकरके ही मंत्र में "दिशोभेजे भयातुरम्" वाक्य कहा गया है । आशंका हो सकती है कि, विनष्ट प्रवृत्ति निवृत्ति का एवं तदीय कतिपय अनुचरोंकी यदि पुनरावर्त्तन ही हुआ, तो फिर उनका विलय हुआ कहाँ ? सत्य, प्रथम भी इसका उत्तर दिया जा चुका है । यद्यपि प्रवृत्ति निवृत्ति का व्यवहार रहता हैं तथापि उनकी पारमार्थिक बुद्धि विलयको प्राप्त हो जाती है, केवल जिस समय साधक आत्मस्थ होते है, मात्र उसी मुहूर्त ही यह व्यवहार पर्यन्त विलुप्त हो जाता है । असल बात यह है कि आत्मा के अतिरिक्त और कोई किसी की भी सत्ता नहीं है; इस ज्ञानमें उपनीत होने के लिये जो कुछ भी आयोजन है । जो कुछ भी युद्ध विग्रह है । इस ज्ञान के प्रत्यक्षीभूत अर्थात सम्यक अनुभूत होने पर भी अनात्म प्रतिति पुनरावर्तित होती है ; वह असुर भाव नहीं है, क्योंकि साँप की खोलस [केंचुली] के समान वह फिर कभी भी दंशनादि नहीं कर सकती । तव हां यह स्थिर है कि, जब कभी भी किसी आत्मज्ञ

पुरुषका का भी जगद्व्यवहार होता हैं, तव समझना होगा, वे उस समय आत्मस्वरूप से विच्युत हैं। तब यह जो विच्युति, इससे उसकी कुछ भी हानि नही होती, क्योंकि उनका अनात्म ज्ञान या अज्ञान सम्यक तिरोहित हो चुका है।

शिरश्चण्डस्य काली च गृहीत्वा मुण्डमेव च।
प्राह प्रचण्डाट्टहासमिश्रमभ्येत्य चण्डिकाम् ॥२२॥
मया तवात्रोपहृतौ चण्डमुण्डौ महापशू।
युद्धयज्ञे स्वयं शुम्भं निशुम्भञ्च हनिष्यसि ।२३॥

अनुवाद—काली चण्ड मुण्ड का मस्तक ग्रहण करके चण्डिका के समीप में आगमनपूर्वक प्रचण्ड अट्टहास्य के साथ बोली—इस युद्ध यज्ञ में चण्ड मुण्ड नामक महापशुद्वय तुमको उपहार दिये। शुम्भ निशुम्भ को तुम स्वयं ही हनन् करना।

व्याख्या—काली ने चण्डमुण्ड का मस्तक लेकर चण्डिका के चरणों में उपहार दिया। साधक भूलना मत—पूर्वमें जिसको कौषिकी नामसे समझे हो, वेही अम्बिका रूप से हिमालय पर अवस्थान करती थी। उन्हींका क्रोध मूर्तिमान प्रलयरूपसे—काली शक्तिरूपसे प्रकटित होकर चण्ड मुण्ड का मस्तक उपहार देने के लिये उपस्थित हुआ हैं। अम्बिका मा हमारी यहां पर अतिकोपना है, इसीसे चण्डोका नामसे अभिहिता है (परिच्चिता हैं)। ये चण्डोका ही देवी माहात्मय की प्रतिपाद्य वस्तु हैं। परमात्म स्वरूप का प्रकाश होने से सर्व भावों का विलय अवश्यम्भावी है। वह विलय ही माके क्रोध के फलरूपसे वर्णित हुआ है। जो शक्ति उनसर्वभावों का विलय करती है, वेही हैं काली। यह जो इतना बड़ा कार्य—इतना असुर निधन, इतना बड़ा भीषण युद्ध, इन सब व्यापारों (क्रियाओं) में भी आत्मा मा हमारी नित्य निर्विकारा नित्यानन्दमयी चिरहास्यमयी हैं। वहांपर किन्तु किसी प्रकार का भी विकार नहीं, अथच उन्हीं को लक्ष्य करके उन्हीं की

सत्तासे सत्तावान होकर, यह असुरकुल का युद्ध और क्षय संघटित होता है।

साधक मात्र ही को ऐसा होता है। आत्मस्वरूप के उद्भाषित होने के पूर्व ही आत्मशक्ति संहारिणी मूर्ति से आविर्भूत होती है, एवं स्वरूप प्रकाश के अन्तराय समूहों को सम्यक् विदूरित कर देती है। बाकी रहतो हैं एक मात्र अस्मिता ममता, ये आत्म प्रतिविम्ब अर्थात् चिदाभास मात्र है, ये बिम्बही में मिल जाते हैं। इसी से मंत्र में उक्त हुआ है—काली अम्बिका को कहती है, "युद्ध यज्ञे स्वयं शुभं निशुम्भश्च हनिस्यसि" आभास का प्रतिविम्ब एक कुछ आश्रय अर्थात् विशिष्टता नहीं पाने से प्रकाश पा ही नहीं सकता। मन बुद्धि चित्त अहंकार स्थूल देह किंवा प्रवृत्ति निवृत्ति प्रभृति किसी का कुछ आश्रय बिना पाये फिर चिदाभाष नामक कुछ भी नहीं रहता। जैसे शून्य में कोई छाया नहीं पड़ती, ठीक उसी प्रकार कोई आश्रय नहीं पाने से चित् का प्रतिबिंब नहीं रहता एक मात्र चित ही रहता है, इसी से स्वयं चितिशक्ति कर्तृक ही चित्त प्रतिबिम्ब स्वरूप शुंभ निशुंभ विनाशको प्राप्त होता है। और एक बात है—काली ने चण्ड मुण्ड का मस्तक चण्डिका के चरणों में उपहार दिया। देह हीन मृत प्रवृत्ति निवृत्ति का उत्तमाङ्ग अम्बिका के चरणों में रह गया। वह रहेगा अवश्य, किन्तु द्वैत ज्ञान का हेतु नहीं होवेगा। पूर्व में यह अद्वैत प्रतीति का प्रतिबन्धक स्वरूप था, इसी से असुर रूप से वर्णित हुआ है, किन्तु अब यह देहहीन अर्थात् पृथक सत्ताहीन मृत मुण्ड मात्र हैं। साधक, याद रखना,—पूर्व में जो प्रवृत्ति निवृत्ति की बाधितानुवृत्ति का विषय कहा गया था, वही इस मन्त्र में इस मुण्डोपहार वाक्य द्वारा खूब स्पष्ट भाव से व्यक्त हुआ है। और शेष बात—आत्मज्ञ पुरूषों का अनुभव भी ऐसा ही ठीक है। और भी एक रहस्य है—मुन्ड द्वय मातृ चरणों में उद्धृत हैं। मातृ-लाभ के बाद जो प्रवृत्ति निवृत्ति की खोलस मात्र रहती हैं, सो यथार्थ ही मातृचरण स्थित उपहार है। मातृ लाभ के बाद प्रवृत्ति निवृत्ति का जो कुछ कार्य होता है, सो

सभी मातृ-इच्छा के अनुवर्ती रूप से निष्पन्न होता है, "अहं कर्ता मम कर्त्तव्यम्" ऐसी प्रतीति का बिलकुल विलोप हो जाता है।

ऋषिरुवाच

तावानीतौ ततो दृष्ट्वा चण्डमुण्डौ महासुरौ।
उवाच कालीं कल्याणी ललितं चण्डिका वचः ॥२४॥
यस्माच्चण्डञ्चमुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यसि ॥२५॥

इति मार्कण्डेय पुराणे सावर्णि के मन्वतन्रे देवी माहात्म्ये चण्ड-मुण्ड वधः।

अनुवाद। ऋषि बोले—इसके बाद उस चण्डमुण्ड को (निहत अवस्था में उपहार रूप से) लाया हुआ देखकर, चण्डिका देवी ललित मधुर वाक्यों में काली से बोलीं, "क्योंकि तुम चण्ड मुण्ड को लाकर उपस्थित हुई हो, इसलिये-हे देवि ! आज से तुम लोकों में चामुण्डा नाम से आख्यात होओगी।"

इति मार्कण्डेय पुराणान्तरगत सावर्णिक मन्वन्तरीय
देवी माहात्म्य प्रसङ्ग में चण्डमुण्ड वध।

व्याख्या—प्रलयंकरी शक्ति को विशिष्ट भाव से प्रकाशित रहने के लिये ही अम्बिका का ऐसा वरदान है। चण्डमुन्ड का विनाश किया है, इसी से इनका नाम चन्डमुन्डा वा चामुन्डा है। चंडमुंड शब्द का उत्तर हननार्थ बोधक आ धातु से चामुण्डा शब्द निष्पन्न होता है। पृषोदरादि सूत्र के अनुसार चण्डमुण्डा शब्द चामण्डा रूप में परिणत होता है। अच्छा जो हो, चण्डिका देवी के वर प्रभाव से ये चामुण्डा रूपिणी प्रलय शक्ति प्रवृत्ति निवृत्ति का विलय करने के लिये चिरकाल प्रकट हैं एवं रहेंगी। अब भी प्रतिवत्सर दुर्गोत्सव के समय महाष्टमी महानवमी के सन्धि क्षण में इनकी विशिष्ट पूजा का अनुष्ठान होता है।

देखो साधक। जगत्‌मय चामुण्डा की लीला! जगत्‌मय जो शोक दुःख हाहाकार देखते हो, वह सब इन्हीं चामुण्डा की तांडव लीला है। यदि साक्षात् मृत्युरूपा इन प्रलयंकरी चामुण्डा के कराल कवल से मुक्तिलाभ करना चाहते हो, यदि मरण-भय से परित्राण लाभ करके अभय अमृत क्रोड़ का आश्रय लेना चाहते हो, यदि मरण-कोलाहल पूर्ण इस मर्त्यधाम में रहकर अमृत का शान्ति-आशीर्वाद ग्रहण करना चाहते हो, तो इन्हीं चामुण्डा शक्ति की पूजा करो—जीवात्मा परमात्मा के मिलन रूप महासन्धि क्षण में इस संसार महाश्मशान में स्वयं शवासन पर उपविष्ट होओ, उसके बाद विराट मरण के भीतर जो अस्तित्व का सन्धान (जरा जरा) पाया जाता है, उसी के ऊपर अपनी इस मैत्र को नग्न मूर्ति से संस्थापित करो, अवशेष में महासत्य पर प्रतिष्ठित होकर, मात्र विशुद्ध चैतन्य सत्ता की ओर लक्ष्य रखते हुए आद्याबीज की सहकारिता से प्राणों की पुष्पाञ्जलि अर्पण करो। इस प्रकार कर सकने से ही चामुण्डा की पूजा होगी। जो जीते ही नहीं मर सकता, सो चामुण्डा की पूजा करने में समर्थ नहीं होता। जो चामुण्डा की पूजा करने में अक्षम है, उनकेप्रति चामुण्डा की प्रसन्नता भी दुर्लभ है, चामुण्डा की प्रसन्नता लाभ नहीं होने से, कराल मृत्यु की छाया भी अपसृत नहीं होती। जिन्होंने चामुण्डा को पहचाना है, जिन्होंने चामुण्डा को आत्म शक्ति कहकर समझा है, जिन्होंने उनके कराल ग्रास को स्नेहमय मातृ अङ्क कहकर अनुभव किया है, केवल वे ही इनके आधिपत्य से विमुक्त होकर स्वाधीन आनन्द मय आत्मस्वरूप में उपनीत हो सकते हैं।

अरे! देखो: जगत् का आनन्द भाण्डार लूटकर खा रही हैं यही चामुण्डा। जीव का हृदय रक्त शोषण कर रही है—यही चामुण्डा मनुष्यों का मानवीय उत्साह उद्यम अध्यवसाय ध्वंस कर देती है—यही चामुण्डा। पूर्व कह चुका हूँ—इस जगत का निमित और उपादान कारण है आनन्द। आनन्द ही जीव जगत का यथार्थ स्वरूप है, तथापि जीव वृन्द आनन्द का अभाव बोध करके आनन्द के

अन्वेषण में इतस्ततः धावित होते हैं, इसका एक मात्र कारण है यही चामुण्डा—यही मृत्यु का कराल ग्रास। पीछे कहीं मेरी मैंत्व खो न जाय, इसी भय से संकुचित जीव प्राण खोलकर आनन्द सम्भोग नहीं कर सकता, स्वाधीन भावों से मुक्त प्राणों से आनन्दमयी मा हमारी का अक्षय आनन्द भाण्डार लुन्ठन नहीं कर सकता। इसी चामुण्डा—इसी मृत्यु भीति ने सभी आनन्दों की मूल में कुठारघात कर रखा है, किन्तु तुम हो साधक, तुम हो वीर सन्तान तुम मृत्यु भय से भीत मत होना। पश्चात् पश्चात् मृत्यु धावित हो रही है देखकर, मृत्यु के हाथ से परित्राण पाने की आशा से पलायन मत करना (भागना नहीं)। मृत्यु को पृष्ठ प्रदर्शन मत करना। फिर कर खड़े होओ, मा मा बोलकर वीरों की तरह मृत्यु के सम्मुखीन होओ मा मा बोलकर मृत्य के ही चरणों में प्राणों की पुष्पांजलि स्वेच्छा से अर्पण करो, जय मा बोलकर पूर्ण साहस से पूर्ण उद्यम से इसी प्रलयंकरी कालीशक्ति की क्रोड़ में कूद पड़ो। देखोगे—मृत्यु नाम का कुछ भी नहीं, जिस मृत्यु को पिशाची शयतानी बोलकर भीत हुआ था, उस मृत्यु ही ने मंगलमयी, स्नेहमयी मातृ-मूर्तिरूप से तुमको वक्ष पर रखकर अमरत्व में उपनीत कर दिया है, तुम अमर हो गये हो।

केवल साधना जगत् में नहीं, जो मृत्य भय से एकान्त भीत है, व्यवहारिक जगत में भी उनके द्वारा कोई विशेष कार्य सम्पन्न होने की आशा नहीं। किन्तु वह और बात है—आओ साधक! हम "कालि कालि महाकाली कालिके पाप हारिणी" कहकर मां के चरणों में प्रणत हों। जिनकी कृपा से हमारे बहुजन्मों के संचित संस्कार—प्रवृत्ति निवृत्तिरूप महासुर द्वय विलय को प्राप्त हुए हैं, उन्हीं के चरणों में सम्यक् आत्मनिवेदन करके माँ की विचित्र लीला-रक्तबीज वध दर्शन करें। हमारे मस्तक पर मां का मंगल आशिस वर्षित हो।

इति साधन समर व देवी माहात्म्य-व्याख्या में
चण्डमुण्ड बध समाप्त।

साधन समर

वा

देवी माहात्म्य

रुद्रग्रन्थि भेद

र क्त बी ज व ध

ऋषिरुवाच

चण्डे च निहते दैत्ये मुण्डे च विनिपातिते।
बहुलेषु च सैन्येषु क्षयितेष्वसुरेश्वरः ॥१॥
ततः कोप पराधीनचेताः शुम्भः प्रतापवान्।
उद्योगं सर्व्व सैन्यानां दैत्यानामादिदेश ह ॥२॥

अनुवाद—ऋषि बोले—चण्डमुण्ड निपातित एवं बहु संख्यक सैन्य क्षय प्राप्त होने से, असुरेश्वर प्रतापशाली शुम्भ कोपाविष्ट चित्त से समस्त दैत्य सैन्य को युद्धार्थ उद्योग करने का आदेश किया।

व्याख्या—अनुचर वर्गों के साथ प्रवृत्ति निवृत्ति का निधन देखकर अस्मिता कोपाविष्ट होकर भीषण युद्ध का उद्यम करने लगा। दैत्यकुल की जितनी सेना और सेनापति थे, सभी को युद्ध में जाने के लिये आदेश किया। द्वैतप्रतीति का नाम ही है दैत्य, द्वैतप्रतीति असंख्य है सुतरां दैत्य भी असंख्य है। "अतस्मिन् ततबुद्धि" रूप विपर्य्यय ज्ञान ही यावतीय द्वैत प्रतीति का हेतु है, सुतरां सबसे आगे विपर्य्यय ज्ञान का विनाश आवश्यक है, इसी से इस उत्तम चरित्र में सबसे आगे ही विपर्य्ययज्ञानरूपी धूम्रलोचन का वध वर्णित हुआ है। उसके बाद द्वैत प्रतीति का सर्व्व प्रधान अवलम्बनस्वरूप प्रवृत्ति निवृत्ति वा चण्डमुण्ड का निधन हुआ। इसे देख कर अस्मिता ने

अपना अवशिष्ट समूचा अध्यवसाय प्रयोग किया, यह ही शुम्भ के भीषण रणसज्जा का रहस्य है। सर्व्वभाव इस बार प्रलयकवलित होंगे, इसी से मंत्र में सर्वसैन्य का युद्धोद्योग वर्णित हुआ है। इस बार निशुम्भ के साथ शुम्भ को भी आत्मबली देनी होगी। यह भीषण समर आयोजन उसी की पूर्वसूचनामात्र है। साधक, याद रखना यह सभी मातृ-कृपा वा मातृ-आकर्षण है। स्मरण करो गीता के विश्वरूप का वह श्लोक—

"यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

प्रदीप्त अग्नि के मनोहर रूप से आकृष्ट होकर पतङ्गवृन्द जैसे आत्माहुति प्रदान करते हैं, ठीक उसी प्रकार महमारी की प्रबल आकर्षण से समाकृष्ट दैत्यगण समरानल में आत्माहुति प्रदान करके पतंगवृत्ति सम्पादन कर रहे हैं। साधक विचार कर देखो, यह साधन द्वारा होता है क्या? मा की कृपाव्यतीत ऐसा सुयोग आता है क्या? मा जो हमारी, स्वयं कृष्ण हैं, उनका स्नेहमय प्रबल आकर्षण नहीं आने से, द्वैतप्रतीति समूह एक अद्वय सत्ता में आत्महारा होने के लिये धावित होती क्या? तुम मा के चरणों में आत्मसमर्पण करके निश्चिन्त उदासीन साक्षी पुरूष की तरह बैठे हुए हो, और मा का स्नेहमय आकर्षण तुम्हारे यावतीत द्वैतभाव का विलय साधन करके तुमको परमानन्दमय अद्वैत स्वरूप में उपनीत कर रहा है। इस बात को विचारने जाने से भी आनन्द, विस्मय और उल्लास से प्राणों के भीतर कैसा करने लगता है।

साधक जब तक मा की इस आकर्षण गण्डी के बाहर में अवस्थान करोगे, तब तक असुरभावसमूहों की स्वेच्छा से आत्म बलिरूप मा की विशिष्ट कृपा की उपलब्धि कर सकोगे क्या?

अद्य सर्व्व बलै र्दैत्याः षड़शीतिरुदायुधाः।
कम्बूनां चतुरशीति र्निर्यान्तु स्वबलैर्वृताः॥३॥

कोटिवीर्याणि पञ्चाशदसुराणां कुलानि वै ।
शत कुलानि धौम्राणां निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ॥४॥
कालका दौर्हृता मौर्याः कालकेया स्तथासुराः ।
युद्धाय सज्जा निर्यान्तु आज्ञया त्वरिता मम ॥५॥

अनुवाद—आज मेरे आदेश से समग्र असुर स्व स्व सैन्य गणों के साथ युद्धार्थ सज्जीभूत होकर शीघ्र निकल आओ। उदायुधवंशीय षड़शीति, कम्बूवंशीय चतुरशीति, कोटिवीर्य कुल के पञ्चाशत् एवं धूम्रवंशीय शतसंख्यक असुर और कालक दौर्हृत मौर्य्य और कालकेय नामक असुर सम्प्रदाय स्व स्व सैन्यदल से वेष्टित होकर मेरी आज्ञा से शीघ्र बाहर निकलो।

व्याख्या—महासुर शुम्भ ने भीषण समरायोजन का आदेश करते समय जिन सब असुरों का नाम उल्लेख किया, उसमें आठ असुर सम्प्रदायों का नाम पाया जाता है। यथा-उदायुध, कम्बू, कोटिवीर्य, धौम्र, कालक, दौर्हृत, मौर्य्य एवं कालकेय। आध्यात्मिक दृष्टि से ये अष्ट संख्यक असुर सम्प्रदाय अष्टपाश रूपसे परिचित होते हैं। कुलार्णव तंत्रमें उक्त है "घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्साचेति पञ्चमी, कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः।" घृणा लज्जा भय शंका जुगुप्सा कुल शील एवं जाति, इन आठों को अष्टपाश कहते हैं। जीव इन अष्ट-पाशों द्वारा आवद्ध है इन अष्टपाशों से मुक्त होने ही से जीव शिव हो जाता है। "पाशबद्धोभवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।" यह भी तंत्र का वाक्य है। इतने दिनों में जीव मा की कृपा से शिवत्व में उपनीत होने चला है। इसी से शुम्भ—अस्मिता उनको भी—इन अष्टपाशों को भी मातृ-समर में प्रेरणा कर रहा है। इनके विनष्ट होने ही से अस्मिता का विशेष आलम्बन हट जायगा। क्रम से हम उसी अपूर्व रहस्य में उपस्थित होंगे। आओ साधक! यहाँ पर हम असुरों का थोड़ा परिचय लेने की चेष्टा करें।

१—उदायुध—उद्यत हैं आयुध जिसका। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका नाम है घृणा। वास्तविक ही घृणा उद्यत आयुध है। अपरों के प्रति घृणा वा अवज्ञा का भाव पोषण करने जाने ही से, मैं को अर्थात् अहंकार को उद्यत करने होता है। मैं शुद्ध उन्नत हूं। अपर अशुद्ध हीन है, ऐसी ही प्रतीति से ही घृणा का आविर्भाव होता है, सुतरां घृणा को उदायुध असुर कहा जाता है। ये संख्या में षड़शीति हैं। जाग्रत काल में चतुर्दशकरण का आश्रय करके जरायुजादि चतुर्विध भूतजातों के प्रति घृणा प्रकाश पाती है, सुतरां जाग्रतावस्था में इनका भेद षट्पञ्चाशत् है। फिर स्वप्नावस्था में भी अन्तःकरण-चतुष्टय का आश्रय करके पूर्वोक्त चतुर्विधभूतों के प्रति घृणा प्रकाश पाती है, सुतरां स्वप्नकालमें इसकाभेद षोड़श संख्यक है। और परमात्मास्वरूप में स्थिति-प्रयासी अस्मिता का स्वकीय विभिन्न स्फुरणरूपी चतुर्दश करण के प्रति जो स्वाभाविक थोड़ा-सा विद्वेष वा घृणा भाव है, उसकी संख्या चतुर्दश है। इस प्रकार समष्टि में घृणा वा उदायुध असुरों का षड़शीति प्रकार का भेद परिलक्षित होता है, इसी से मंत्र में "षड़-शीतिरुदायुधाः" ऐसा उल्लेख पाया जाता है।

२—कम्बू-शब्द का अर्थ है शङ्ख। यह है जीव का द्वितीय पाश वा बन्धन। लज्जा ही है इसका स्वरूप। शङ्ख जातीय जलचर प्राणियों के हस्त-पदादि अवयव सब आवरणके भीतर लुकायित रहते हैं। कोई भी तरह की जरा-सी प्रतिकूल वेदना आने ही से, ये अपने को छिपा लेते हैं। मनुष्यों का लज्जा भी ठीक ऐसी ही है। किसी प्रकार की दुर्व्वलता जिससे प्रकट न हो उसके लिये सर्वदा ही मनुष्यों को संकोच वा आत्म-गोपन करने होता है। इसी से लज्जा को समझाने के लिये, इस कम्बू जातीय जीव की बात ही सर्वाग्रे याद आती है। यह भी एक प्रकार का पाश वा बन्धन है। भेद ज्ञान से ही इस लज्जा वा संकोच का आविर्भाव होता है। साधक लक्ष्य करना—पूर्व में जो "लज्जारूपेण संस्थिता" कहकर इसको मातृ-रूप से प्रणाम किया गया

है, उसी के फल से आज इस भेदज्ञानमूलक लज्जा वा आत्म-संकोच, कम्बू-असुररूपसे आत्मबलि देनेके लिये मातृ समीप में युद्धार्थ उपस्थित हुआ है। अच्छा जो हो, इसकी संख्या चतुरशीति हैं चतुर्द्दशकरण को आश्रय करके षाट्कौषिक देह में ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। उक्त संख्याद्वय परस्पर गुणित होकर चतुरशीति संख्या होती है। इस प्रकार लज्जा का भेद चतुरशीति प्रकार हो जाता है। इसी से शुम्भ के आदेश वाक्य में "कम्बूनां चतुरशीति" ऐसा प्रयोग देखने में आता है।

३—कोटीवीर्य्य—कोटी अर्थात् अपरिमेय है वीर्य जिसका। यह ही जीव का भय नामक तृतीय पाश है। भय यथार्थ ही कोटीवीर्य अर्थात् अमितपराक्रम है। स्वकीय अस्तित्व नाश का भय मनुष्य को प्राण खोलकर जगद्भोग नहीं करने देता। प्राण खोलकर साधन भजन भी नहीं करने देता। एक मात्र पारमार्थिक सत्ता के अप्रकाश वशतः ही इस प्रकार के आत्मविनाश के भीतिरूप कोटीवीर्य—असुरकुल का आविर्भाव होता है। ये संख्या में पञ्चाशत् हैं। दश इन्द्रिय एवं पञ्च कोष ही इस असुरकुल का प्रकाश स्थान है। उक्त संख्या परस्पर गुणित होकर पञ्चाशत् संख्या होतो है। इस प्रकार भय नामक पाश के पञ्चाशत् भेद हो जाते हैं। इसो से मंत्र में "कोटीवीर्य्याणि पञ्चाशत्" ऐसा प्रयोग देखने में आता है।

४—धौम्र—धूम्रनामक असुर के वंश को धौम्र कहते हैं। यह धूम्र हमारे पूर्वपरिचित धूम्रलोचन भिन्न दूसरा कोई नहीं है। विपर्यय ज्ञान से ही यावतीय शंकाओं का आविर्भाव होता है. इसी से इनको धौम्र वंशीय असुर कहा जाता है। यह ही जीवका शंका नामक चतुर्थ पाश वा बन्धन है। भय एवं शंका में प्रभेद है। भय-अस्तित्व नाश की आशंका, शंका-सम्बन्धी पदार्थों का विनाश जनित मानसिक विकार। सहज भाषा में भय शब्द का अर्थ मृत्युभय, एवं शंका शब्द से धनपुत्रादि विनाश की आशंका समझ में आती है। भेदप्रतीति से ही इसका आविर्भाव है, सुतरां ये भी बन्धनविशेष हैं। इसकी संख्या एकशत है। दश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा एवं पञ्चभूत, ये

दश, इनका आश्रय करके ही शंका नामक असुरकुल का प्रकाश होता है। उक्त संख्याद्वय परस्पर गुणित होकर शत संख्या होती है। इस प्रकार शंका वा धौम्र असुर का शतसंख्यक भेद होता है। इसीसे मंत्र में "शतं कुलानि धौम्राणां" वाक्य का प्रयोग हुआ है।

५—कालक-कृष्णवर्ण असुरगण। काल शब्द के उत्तर स्वार्थ में 'क' प्रत्यययुक्त होकर यह पद निष्पन्न हुआ है। यह जुगुप्सा नामक पञ्चम पाश है। अज्ञान कृष्णवर्ण है। अज्ञान से ही बहुत्व प्रतीति वा भेदज्ञान परिपुष्ट होता है। भेदज्ञान से ही जुगुप्सा वा निन्दा का आविर्भाव होता है। साधक जबतक एकत्व में—अद्वितीयत्व में उपनीत नहीं हो सकता, तबतक किसी प्रकार भी इस कालक नामक असुर वा जुगुप्सा के हाथ से परित्राण नहीं पाता।

६—दौहृत—ये दुहृत नामक असुर के वंशधर हैं। दुष्ट भावों का आहरण करता है इसीसे इसका नाम दुहृत वा दौहृत है। यह ही कुल अर्थात् कुलाभिमान रूप षष्ठ पाश है। साधक शतसहस्रबार अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का उपदेश पाने पर भी स्वकीय कुलाभिमान रूप अज्ञान के हाथ से सहसा परित्राण नहीं पाता। सुतरां यह भी असुर भाव है।

७—मौर्य्य—ये मूर नामक असुर की सन्तान हैं। आध्यात्मिक दर्शन में यह जीव का शील वा सप्तम पाश है। शील शब्द का अर्थ है स्वभाव वा प्रकृति। अद्वय ज्ञान में उपनीत होने के पक्ष में स्व स्व प्रकृति विषयक विशिष्ट ज्ञान ही महान् अन्तराय है। पूर्व कहा जा चुका है स्व स्व प्रकृति ही जीव की मा है! जिन्होंने इस सत्य का अनुशीलन किया है, मात्र वे ही इस रुद्रग्रन्थि भेद के क्षेत्र में उपनीत होकर देखेंगे—वे प्रकृति अपने आप ही जीव को छोड़कर अद्वय आनन्दमय सत्ता का सन्धान लाकर दे रही हैं। स्वकीय प्रकृति को मा नहीं कह सकने से कभी भी विश्व-प्रकृति का सन्धान नहीं पाया जाता। विश्व-प्रकृति का सन्धान नहीं पाने से, विश्वातीत क्षेत्र में—निरञ्जन स्वरूप में उपनीत नहीं हुआ जाता।

८—कालकेय—कालक नामक असुर की सन्तानगण हैं। यही जीव की जाति नामक अष्टम पाश है। अज्ञान वा भेदज्ञान से ही जात्यभिमान परिपुष्ट होता है। इसीसे इसे कालक अर्थात् अज्ञानरूपी कृष्णवर्ण असुर की सन्तान वा कालकेय कहा जाता है। इस जाति-ज्ञान के सम्बन्ध में इससे पूर्व चण्डमुण्डवध व्याख्यावसर में अनेक बात कही गई है। उसी स्थान पर इसका विनाश भी वर्णित हुआ है। यहाँ पर पुनः जाति के विषय में कहने से तो पुनरुक्ति—दोष लक्षित होता है, आशा करता हूँ सहृदय पाठकगण उससे शंकित नहीं होंगे। कारण वहाँ पर जो जाति आयु भोग की बात कही गई है वह ब्राह्मणत्वादि रूप व्यष्टि जाति, और यहाँ पर मनुष्यत्वादि रूप समष्टि जाति ही की बात कही गई है। वास्तविक ही ये कुल शील जाति प्रभृति प्रत्ययसमूह एकान्त दुरपनेय हैं। बारबार विलय प्राप्त होने पर भी नानाभाव से नानारूप से पुन ये आविर्भूत होते हैं, इन सब प्रतीतियों को समूल से विनष्ट करने ही के लिये मा का यह चरम आयोजन है।

पूर्वोक्त घृणा लज्जा प्रभृति अष्टपाश जीवत्व का सुदृढ़ बन्धन है। इस बन्धन को छिन्न नहीं कर सकने से, विमल-वोधस्वरूप मातृ-साक्षा-त्कार लाभ नहीं होता। अथवा मातृसाक्षात्कार लाभ नहीं होने से पूर्वोक्त अष्टपाश छिन्न नहीं होता। देखा जाता है- साधकों में अनेक ही इन पाशों से विमुक्त होने के लिए नाना प्रकार बाह्य उपाय अवलम्वन करते हैं। घृणा लज्जा प्रभृति संस्कार समूहों को विलुप्त करने के लिए नाना रूप प्रतिकूल कार्यों के अनुष्ठान करते रहते हैं। किन्तु हाय ? उससे जैसे एक तरफ पाशसमूह विछिन्न नहीं होते, दूसरी तरफ तैसे ही उसके विपरीत कर्मों के अनुष्ठानों के लिए और कितने नूतन संस्कार संचित हो जाते हैं। याद रखने होगा- बन्धन एवं मुक्ति, दोनों ही ज्ञान के प्रकार भेदमात्र हैं। जबतक विशुद्ध बोध का उदय नहीं होता, तबतक अज्ञानमूलक अष्टपाश वा बन्धन किसी प्रकार भी छिन्न नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को भी

ठीक यही बात बोले हैं—विषयाविनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्ज्जरसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।" निराहारी होने से अर्थात् इन्द्रियादि को संयम कर सकने से विषयसमूहों की विनिवृत्ति होती है ठीक, किन्तु तद्विषयक रस-अनुराग अर्थात् सूक्ष्म संस्कार रह जाता है। एकमात्र परमात्मा का साक्षात्कार होने ही से भेदज्ञान मूलक विषय रस वा सूक्ष्म संस्कार सम्यक् निवृत्त हो जाते हैं।

जो सब साधक साधना की प्रथम अवस्था से ही सरल प्राणों से अकपट हृदय से स्वकीय सत् असत् समस्त भाव निर्विचार से मा के सम्मुख धर सकते हैं, केवल सोई माकी कृपा से अति सहज में अष्टपाश से बिमुक्त होकर परमानन्दसागर में अवगाहन करने में समथ होते हैं। साधन-समर के प्रारम्भ में प्रथम मंत्र की व्याख्या में 'अष्टम मनु' शब्दका रहस्य समझानेमें, इस अष्टपाशसे मुक्त होने की वात ही कही गई थी। साधक स्मरण करो,—प्रथम में जिसका सूत्रपात किया गया था, कितनी अवस्थाओं के परिवर्त्तन में होकर, कितनी घटना वैचित्र्य के बीच में होकर आकर इतने दिनों में वह यथार्थ फलोन्मुख हुआ है। रुद्रिग्रन्थिभेद का साधक मातृक्रोड़ में निर्भय चित्त से अवस्थान करके ठीक इसी प्रकार देखता है—मा के प्रबल आकर्षण से आकृष्ट होकर पाशसमूह एक-एक करके स्वेच्छा से आत्मबलि देने के लिये प्रलयाभिमुखी अग्रसर होते हैं। जिन पाशों से विमुक्त होने के लिये कितनी कठोर साधना ही की आवश्यकता मालूम पड़ती थी, जिस पाश से विमुक्त होना एकान्त असम्भव व्यापार (घटना) मालूम पड़ता था, वही पाश अपने आप ही छूट जाने का उपक्रम कर रहे हैं।

साधक! तुम क्या यह विश्वास नहीं कर सकते? सत्य सत्य ही मा को सरल प्राणों से मा बोलकर पुकारने से, सत्य सत्य ही मातृ-चरणों में आत्मसमर्पण कर सकने से; सत्य सत्य ही मातृ-अंक में आरोहण करने के लिये व्याकुल हो सकने से, तुम्हारे यावतीय बन्धन इसी प्रकार अनायास में खुल जावेंगे। मा स्वयं

आकर स्नेहभरी सन्तान तुम्हारा समस्त बन्धन निज हस्त से खोल देंगी। तुमको हृदय से लगाकर मुक्ति के हिरण्यमय मन्दिर में उपनीत होंगी। सन्तान, तुमने बहुदिन हुए आत्मराज्य से विच्युत होकर, स्वेच्छा से जीवत्व का बन्धन स्वीकार कर लिया है, स्नेहविह्वला मा तुम्हारे उस कल्पित बन्धन को हमेशा के लिये दूर कर देंगी। जहाँ पर बन्धन कहने को कुछ नहीं, जहाँ पर भेद-ज्ञान का लेशमात्र नहीं जहाँ पर निरानन्द का स्पर्श भी नहीं, उसी निरवच्छिन्न आनन्दमय विशुद्ध चैतन्यमय अखण्डब्रह्म सत्ता में तुम्हारी विशिष्टसत्ता हमेशा के लिये मिला लेंगी। तुम भी "ब्रह्माहमस्मि" कहकर जीवत्व के परपार चले जाओगे ? तुम्हारे मानव-जीवन को पूर्ण चरितार्थता प्राप्त होगी।

—❀—

इत्याज्ञाप्यासुरपतिः शुम्भो भैरवशासनः।
निर्जगाम महासैन्यसहस्रैर्बहुभिर्वृतः ॥६॥

अनुवाद—भीमशासन असुरपति शुम्भ इस प्रकार आदेश करके स्वयं भी बहुसंख्यक महासैन्य से परिवृत होकर युद्धार्थ निर्गत हुआ।

व्याख्या—अस्मिता असुरपति—यावतीय द्वैतप्रतिति का आश्रय है। अस्मिता है भैरवशासन—अस्मिता का आदेश कोई भी अमान्य नहीं कर सकता, कारण द्वैतप्रतीति समूह अस्मिताही की विभिन्न स्फुरणामात्र है। यह पूर्व भी कहा जा चुका है। शुम्भ केवल सेनापति-गणों को ही युद्धार्थ प्रेरण करके निश्चिन्त नहीं हुआ। स्वयं भी बहु-संख्यक सैन्य सह निर्गत हुआ। बहुत क्या कहें, निशुम्भ ने भी शुम्भ के साथ युद्धार्थ अभियान किया था। अस्मिता और ममता एक साथ ही समरक्षेत्र में अग्रसर होते हैं। जीव भावीय यावतीय संस्कार विलय प्राप्त हो चुके हैं और ईश्वर भावीय संस्कार समूह अभी भी बाकी है, उन्हीं को मंत्र में शुम्भ निशुम्भ के सहगामी सैन्यदल कहा गया है। क्रम से यह और भी खुलाशा होगा।

—❀—

आयातं चण्डिका दृष्ट्वा तत् सैन्यमतिभीषणम् ।
ज्यास्वनैः पूरयामास धरणीगगनान्तरम् ॥७॥

अनुवाद—वह अति भीषण सैन्यवाहिनी आ रही है देखकर देवी चण्डिका ने ज्याशब्द से पृथ्वी एवं गगनमण्डल परिव्याप्त किया ।

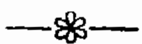
व्याख्या—यथार्थ में इस बार की सैन्यसज्जा बड़ी ही भीषण है। जो कुछ द्वैत संस्कार थे, सभी ने एक साथ युद्ध-यात्रा की है। वह विपुलवाहिनी दूर से आती देखकर मा ने ज्याध्वनि की। उस ध्वनि ने पृथ्वी एवं गगनमण्डल को परिपूर्ण कर लिया। ज्याध्वनि—प्रणवध्वनि, यह पूर्व में अनेक स्थानों पर श्रुतिप्रमाणसह व्याख्यात हो चुका है। साधक याद रखना—जबतक मा स्वयं प्रणवध्वनि नहीं करें, तबतक असुरकुल भीत नहीं होता। जबतक तुम्हारे प्रणव धनु-की ज्याध्वनि थी, तबतक तुम असुरवृन्दों को बिन्दुमात्र भी भीत और सन्त्रस्त नहीं कर सके। फिर जिस दिन से मातृ-कृपा से मातृ-चरणों में आत्मसमर्पण किये हो, जिस दिन से तुम्हारा कर्त्तृत्व विदुरित हुआ है, उस दिन से ही मा का कार्य—ज्याध्वनि आरम्भ हुई है। यद्यपि प्रणवादि मंत्र जपकालीन ध्वनि तुम्हारे वाक्यन्त्र से ही निर्गत होती है, तथापि अब अच्छी तरह समझ सकते हो कि वह ध्वनि तुम्हारी नहीं। वह महती शक्ति का ही प्रबल आकर्षणमय नाद है, सुतरां इस ध्वनि की ओर अवधान प्रयोग करने ही से देखोगे—वह धरणी-गगनान्तर परिपूर्ण कर रही है। चतुर्दिक दशदिक् सर्वत्र नादमय है। नाद व्यतीत मानो कहीं भी कुछ भी नहीं है। यह जगत् मानो एक अश्रान्त ध्वनिमात्र है। जन्म-मृत्यु, नाना योनि भ्रमण, सुख दुःख, संकल्प विकल्प उसी अश्रान्त ध्वनि की ही विभिन्न तरंग-मात्र है। असुरबल कितना ही असंख्य और सन्नद्ध क्यों न हो, एक बार यह स्वाभाविक नाद उत्थित होने से फिर कोई भय नहीं रहता। उस नाद-प्रवाह से सर्व्वभाव परिप्लावित हो जाते हैं। कैसा मधुर अथच गम्भीर एवं सर्व्वतः प्रसारी वह नाद है।

ततः सिंहोमहानादमतीव कृतवान्नृप ।
घन्टास्वनेन तान्नादानम्बिका चोपवृंहयत् ॥८॥

अनुवाद—हे नृप ! उसी समय में सिंह भी पुनः पुनः महानाद करने लगा। स्वयं अम्बिका देवी ने घन्टाध्वनि द्वारा उस नाद को और भी परिवर्द्धित किया।

व्याख्या—देवी का वाहन सिंह अर्थात् जीव इसी समय यथाशक्ति पुरुषकार प्रयोग करने को उद्यत हुआ। यह ही तो जीव का सर्वशेष प्रयत्न है, यह जानकर ही, द्वैत भावसमूह के प्रतिकूल में जितने प्रकार का आयोजन सम्भव है, जीव उसे सम्पन्न करने के लिये उद्यत हुआ। इसी कर्मोद्यम, पुरुषकार और तीव्र उत्साह को लक्ष्य करके ही मंत्र में सिंह के महानाद की बात कही गई है। इससे कोई ऐसी भ्रान्त धारणा के वशवर्त्ती मत होना कि, मातृ-चरणों में जो आत्मसमर्पण करने में समर्थ होते हैं, फिर उनका पुरुषकार नामक कुछ भी नहीं रहता। वास्तव में किन्तु आत्मसमर्पण योगसिद्ध व्यक्तिगण ही यथार्थ पुरुषकार वस्तु का स्वरूप समझ सकते हैं। वे कभी भी तामसिक जड़ताग्रस्त नहीं हो पड़ते। अरे ! पुरुष तो माँ हैं उनका जो कार वा कृति है, वही तो पुरुषकार है। जबतक मातापुत्ररूप थोड़ा भी भेद रहेगा, तबतक ही पुरुषकार रहेगा। जब माता-पुत्र सम्बन्धहीन एक अद्वितीय निरञ्जन क्षेत्र में उपनीत होओगे तब—केवल तभी पुरुषकार कहने को कुछ नहीं रहेगा। जहाँ पर इन्द्रीय नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, वहाँ पर फिर पुरुषकार कैसे रहेगा ? इसी से तो कहता हूँ—साधना की प्रथम अवस्था ही से तीव्र पुरुषकार का प्रयोजन है, एवं शेष मुहूर्त्त पर्य्यन्त उसे धारण करके रखने होता है। जिस मुहूर्त्त में सर्वभावों का विलय हुआ उस मुहूर्त्त में ही पुरुषकार की परिसमाप्ति और केवल पुरुष स्वरूपमे स्थिति होती है पातञ्जल इसी को द्रष्ट्रस्वरूप में अवस्थान कहते हैं, गीता इसे ब्राह्मी स्थिति कहती है, भक्तिशास्त्र इसे प्रेम में आत्महारा भाव कहते हैं। किन्तु वह और बात है—

हम सिंह के महानाद की बात कह रहे थे। जब असुर अत्याचार होता है, तब साधकगण "जय गुरु" "जय मा" कहकर "अलख निरञ्जन" कहकर अथवा स्व स्व अभीष्ट शब्द का प्रयोग करके जो सिंह नाद छोड़ते हैं, वह भी साधना राज्य में नितान्त कम उपकारी नहीं। साधकों का वही सिंहनाद फिर मा अम्बिका स्वयं घन्टाध्वनि द्वारा उपबृंहित, परिवर्द्धित करती है। अनाहत घन्टाध्वनि साधकों के वागयंत्र-निर्गत ध्वनि के साथ सम्मिलित होकर उसे और फो तुमुल ध्वनि कर देती है। द्वितीय खण्ड में यह नादरहस्य विशेषरूप से व्याख्यात हो चुका है। वहाँ पर वैखरी नाद की बात ही विशेषभावसे कही गई है। इस उत्तम चरित्र में सूक्ष्म मध्यमा पश्यन्ति और परा-नाद का ही विषय कहा जाता है, इतना समझ लेने से फिर कोई प्रकार संशय नही उठेगा। साधक जैसे-जैसे सूक्ष्म-सूक्ष्म स्तर में आरोहण करता है, नाद भी तैसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तर में प्रवेश करता है।



धनुर्ज्यासिंहघन्टानां शब्दापूरित दिङ्मुखा।
निनादैर्भीषनैः काली जिग्ये विस्तारिताननाा ॥९॥

अनुवाद—धनु की ज्याध्वनि, सिंहनाद एवं घन्टा के शब्द ने एकत्र होकर दिङ्मण्डल परिपूर्ण कर लिया। और विस्तारिताननाा कालीका देवी ने स्वकीय भीषण नाद से उस ध्वनि को भी तिरस्कृत किया।

व्याख्या—काली की ध्वनि-प्रलयकालीन भीषण हुँकार। वह ध्वनि और सब ध्वनि को आच्छन्न करती है, कारण सभी ध्वनि प्रलय-हुंकार में मिल जाती है। इस बार शुम्भ को सैन्यसज्जा जैसी भीषण हैं, मा की विजयध्वनि भी तैसी ही प्रचण्ड है। केवल सूक्ष्म नहीं, इस प्रकार के स्थूल नाद का भी विशेष प्रयोजन है। जब द्वैतभाव जनित प्रतिकूल वेदन आकर के साधक को दुर्बल और हताश कर डालता है, तब सर्वतोभाव से नाद का आश्रय लेने होता है!

मानस प्रणव ध्वनि उपांशु अनाहत ध्वनि, स्थूल की "जय मा" प्रभृति ध्वनि एवं सर्वभाव-विलयात्मक महाशक्ति की हुंकार ध्वनि, ये सब युगपत् समवेतभाव से प्रकाशित होने से, साधक का समस्त अवसाद, समस्त दुर्बलता क्षणकाल के भीतर भाग जाते हैं। साधक तब नव बल से बलवान होकर अमित तेज से साधन-समर में अवतीर्ण होता है।



तन्निनादमुपश्रुत्य दैत्यसैन्यैश्चतुर्दिशम् ।
देवी सिंह स्तथा काली सरोषैः परिवारिताः ॥१०॥

अनुवाद— उस नाद को श्रवण करके दैत्यसैन्यगणों ने सक्रोध से चारों तरफ से देवी, सिंह एवं काली को परिवेष्टन कर डाला।

व्याख्या—देवी–अम्बिका, स्वयं चितशक्ति, वाहन—सिंह—जीव, एवं काली प्रलयङ्करी महती शक्ति। अगणित दैत्यसेना ने दूर से ही इन तीनों को देखा। किन्तु इनके पास में जो सर्वलोक-क्षयकारी प्रलयध्वनि उठी थी, उससे दैत्यसैन्यगण अतिमात्र विस्मित हुए। क्योंकि मात्र तीन शक्ति की समरध्वनि जो इतनी तुमुल ध्वनि, इतनी सर्वदिग् व्यापी हो सकती है, ऐसा वह सोच भी नहीं सकते थे। जो हो, अब इनको समाछन्न करने के लिये दैत्यगण अर्थात् पूर्वोक्त अष्टपाश प्रभृति बन्धनजनक संस्कारों ने चारों तरफ से आक्रमण किया।

सुनो, साधक जब धीरे-धीरे सर्वभावातीत त्रिगुणरहित उस नित्य निरञ्जन सत्ता की ओर अग्रसर होने लगता है, नानाविध लौकिक संस्कारराशि आकर उसकी उस गति का प्रतिरोध करके खड़ी होती है। किसी प्रकार भी उस अद्वय निरवच्छिन्न आनन्द रस को पान नहीं करने देते। प्रति पदक्षेप पर सहस्र-सहस्र संस्कार आकर साधक की अग्रगति को निरूद्ध करते हैं। बहुजन्म-संचित द्वैत-संस्कार प्रबल वेग से आकर अद्वय क्षेत्र में उपनीत होने के लिये अन्तराय स्वरूप खड़े होते

हैं। दैत्यसैन्यगणों के चारों दिशा से परिवेष्टन का यह ही रहस्य है। जो साधक हैं, सो इस सब बातों को बिलकुल मज्जा-मज्जा में समझ सकेंगे।

—✽—

एतस्मिन्नन्तरे भूप विनाशाय सुरद्विषाम्।
भवायामरसिंहानामतिवीर्य्यबलान्विताः ॥११॥
ब्रह्मेशगुहविष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तयः।
शरीरेभ्योविनिष्क्रम्य तद्रूपैश्चण्डिकां ययुः ॥१२॥

अनुवाद—हे भूप सुरथ! इसी अवसर पर सुरविद्वेषीगणों के विनाश के लिये एवं देवश्रेष्ठगणों के मङ्गल के लिये ब्रह्मा-शिव कार्त्तिकेय विष्णु एवं इन्द्र की अतिवीर्य बलान्वित शक्तिगण, उनके (ब्रह्मा प्रभृति के) शरीर से निष्क्रान्त होकर, उसी-उसी रूप से आविर्भूत होकर चण्डिका देवी के निकट उपस्थित हुई।

व्याख्या—महर्षि मेधस ने यहाँ पर सुरथ को भूप कहकर सम्बोधित किया। जीव ने इतने दिनों में क्षितितत्व अर्थात् जड़त्व के ऊपर आधिपत्य करने की सामर्थ्य प्राप्त की है। जड़पदार्थ समूह चैतन्य व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं है, यह बात सुरथ इतने दिनों में अच्छी तरह उपलब्धि कर सके हैं तभी तो ऋषि ने इस प्रकार सम्बोधित किया है। शिष्य जैसे-जैसे स्तर-स्तर में ज्ञान की उन्नत सीढ़ी पर चढ़ता जाता है, श्रीगुरु भी उसको तद्नुकूल वाक्य प्रयोग करके उत्साहित कर जाते हैं। श्रीगुरु का उत्साह वाक्य ही शिष्य के आगे बढ़ने का एकमात्र सहारा है। मेधस इस बार दुरधिगम्य रहस्य की अवतारणा करेंगे, कहीं सुरथ स्वकीय जीव भाव के द्वारा आच्छन्न रहकर, उस रहस्य का अनुधावन न कर सके, ऐसी आशंका से पहले ही "भूप" कहकर जड़त्व विजयी महाराज कहकर आवाहन किये।

असुर सैन्यवृन्द ने जब चारों दिशासे आकर देवी को घेर लिया, तब समग्र देवशक्ति सम्मिलित होकर देवी की सहायता के लिये उपस्थित हुई। महिषासुरवध में देखा था देवतागणों ने स्व स्व शक्ति अर्पण करके महती शक्ति को विशेष भावसे प्रबुद्ध (जाग्रत) किया था, एवं उसके फल से वे समझ सके थे कि उनकी निज-निज अस्त्र-शस्त्र अर्थात् स्व स्व शक्ति एकमात्र महामाया की ही महती शक्ति है, इससे अल्पायास से ही महिसासुर निहत हो गया था। किन्तु इस बार ये असुरवृन्द तदूपेक्षा भी प्रबल पराक्रमी, तदूपेक्षा भी दुर्जय हैं। इस बार तो केवल शक्ति-समर्पण द्वारा हो अभीष्ट सिद्ध होगी नहीं। इस बार महती शक्ति में समर्पित विभिन्न शक्तिसमूहों को फिर विशिष्ट भाव से आविर्भूता होने होगा।

यहाँ पर थोड़ा साधना का रहस्य है। साधकगण जान रखें। प्रथमतः स्व स्व विभिन्न शक्तियों को एक एक करके महती शक्ति के उद्देश्य से अर्पण करने होता है। अर्थात् एकमात्र चैतन्यमयी महती शक्ति का विभिन्न प्रवाह ही हमारे दर्शन, श्रवण, ग्रहण, मनन, प्रभृति विभिन्न शक्ति रूप से प्रकाश पा रहा है, यह समझने होता है—उपलब्धि करने होता है। बाद में फिर यह एक ही महती शक्ति परिदृश्यमान विश्व-आकार से प्रकाश पा रही है, यह अनुभव करना होता है! अपनी नित्य अनुभव योग्य विभिन्न शक्तियों को महती मातृ-शक्ति के विभिन्न विलास रूप से नहीं समझ सकने से, समग्र विश्व के शक्ति-प्रवाह को एक अभिन्न चैतन्य शक्ति रूप से किसी प्रकार भी हृदयङ्गम न ीं किया जाता।

अपनी विशिष्ट (खण्ड) शक्ति को मिला दे सकने से ही शक्ति की क्षुद्रता और विशिष्टता दूर होती है। उस अवस्था में जीव ईश्वर भाव से अनुभावित होता रहता है। फिर महाशक्ति में समर्पित विशिष्ट शक्ति को अतिवीर्य—बलान्वित करके पुनराय फिरसे लाकर जीवत्व की अच्छेद्य पाशों को छिन्न करने होता हैं। महाशक्ति में अर्पित होने के पूर्व विशिष्ट शक्ति मानों हीनबल रहती है, किन्तु एक

बार ईश्वर-शक्ति का संस्पर्श पाने से, वह भी अमितवीर्य हो जाती है। इसी से मंत्र में "अतिवीर्य्यबलान्विता" कहा गया है। अति वीर्य्य-बलान्विता है तभी तो यह असुर निधन में चण्डिका की सहायता करने में समर्थ होती है। श्रुति भी कहती है, "परास्य शक्ति-र्विविधैव श्रूयते।" परमात्मा की शक्ति परा अर्थात् महती एवं विविध है। पराशक्ति से ही तो विविध शक्ति का विकाश होता है। यह जान लेने ही से चण्डिका के शरीर से देवशक्ति समूह का निर्गम रहस्य समझ में आ जाता है। जैसे दर्शन श्रवण मनन ग्रहण प्रभृति नाना शक्ति समन्वित एक आधार को ही मनुष्य कहा जाता है, वैसे ही व्यष्टि समष्टि यावतीय विभिन्न शक्तियों का जो प्रकाश देखने में आता है वा अनुभव करने में आता है वह सभी एकमात्र पराशक्ति वा परमात्मशक्ति के प्रकाश को छोड़कर और कुछ भी नहीं है।

"ब्रह्मेश गुह विष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तयः" इस अंश की व्याख्या परवर्त्ती मंत्रों में विशेष भाव से मिलेगी। केवल "शरीरेभ्योविनि-ष्क्रम्य" इस अंश को लेकर थोड़ी आलोचना करना आवश्यक है। साधारणतः जान पड़ता है, ब्रह्मादि देवगणों के शरीर में से ही ब्रह्माणी प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव हुआ था। "शरीरेभ्यः" पद में बहु-वचन का प्रयोग देखते हुए भी वैसा ही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है। किन्तु बाद में शुम्भ वध में पाया जावेगा—ब्रह्माणी प्रभृति देवियाँ एकमात्र देवी अम्बिका ही के शरीर में विलीन हुई थी। जिस कारण में से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है, वह कार्य पुनः उसी कारण ही में लय प्राप्त होता है, यह ही अविसंवादित नियम और सिद्धान्त है, सुतरां चण्डिका के शरीर में से ही ब्रह्माणी प्रभृति शक्ति का आविर्भाव हुआ था, ऐसा ही अर्थ करना संगत है। और पक्षान्तर में ब्रह्मादि देवताओं के शरीर में से उनका निर्गम स्वीकार कर लेने में भी विशेष हानि नहीं, कारण ब्रह्मादि देवताओं के शरीर अम्बिका के शरीर से वास्तव में कोई भी अंश में विभिन्न

नहीं। जो हो, हम यहां पर चण्डिका के शरीर से ही ब्रह्माणी प्रभृति शक्तियों का निर्गम मान लेते हैं। मा का शरीर एक होने पर भी उसका असीमत्व लक्ष्य करके ही "शरीरेभ्यः" इस बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

पूर्व महिषासुर-वध में देवतागणों का सस्त्र-अर्पण वा शक्ति-अर्पण देखा गया है। और यहाँ पर उसी अर्पित शक्ति का विशिष्ट भाव से पुनः निष्क्रमण देख रहे हैं। वहाँ पर महिषासुर वधकाल में अर्पण द्वारा ही अभीष्ट सिद्ध हुआ था; क्योंकि तब थे अप्रकटित संचित संस्कार, वे थे अपेक्षाकृत दुर्ब्बल, और यहाँ पर अप्रकटित प्रारब्ध संस्कार, ये हैं फलोन्मुखी; सुतरां अतिशय बलवान् हैं। इसी से इस बार देव-शक्तियों को विशिष्ट भाव से समरक्षेत्र में आविर्भूत होना पड़ा है।

प्रियतम साधक! याद है क्या? पूर्व कहा जा चुका है, मा में जो अर्पित होता है, वही मातृशक्ति से शक्तिमान होकर पुनः अर्पण-कारी के ही निकट लौट आता है। देखो, असुर कर्तृक निर्जित देवतावृन्दों ने स्व स्व क्षीण शक्ति एक दिन मातृ चरणों में अर्पण की थी, और आज वही शक्ति अतिवीर्य्य बलान्विता होकर मूर्तिमती देव शक्ति रूप से अम्बिका के शरीर में से विनिष्क्रान्त होकर असुर-निधन के लिये आविर्भूत हुई है। इसी तरह तुम भी अकपट चित्त से जो कुछ मातृ चरणों में अर्पण करोगे, सो, जितनी ही मलिन और क्षुद्र क्यों न हो, यदि ठीक-ठीक अर्पण कर सके, तो देखोगे—तुम्हारी वही अर्पित वस्तु कितनी उज्ज्वल, कितनी महान्, कितनी पवित्र होकर तुम्हारे पास लौट आवेगी।

—❀—

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥१३॥

अनुवाद—जिस देवता का जैसा रूप जैसा भूषण एवं जैसा वाहन है, उस देवता की शक्ति ने उसी प्रकार की आकृति, भूषण वाहन सह युद्धार्थ आई।

व्याख्या— जिस देवता का जैसा आकार, अर्थात् जो विशिष्ट चैतन्य जैसी विशिष्टता का अधिष्ठान है, वैसी विशिष्टता लेकर ही उस देवता की शक्ति समर क्षेत्र में उपनीत हुई। भूषण शब्द का अर्थ ऐश्वर्य वा विभूति, देवता की जो विभूति है, वही उस देवशक्ति का विभूषण है। वाहन शब्द का अर्थ है शक्ति परिचालक आश्रय। प्रथम खण्ड में वाहनतत्व एवं द्वितीय खण्ड में भूषणतत्व सविस्तार व्याख्यात हो चुका है।

देवशक्ति का विषय और थोड़ा खुलासा भाव से आलोचना करना अबाश्यक है। प्रत्येक देवता की ही एक विशिष्टता है। यह विशिष्टता ही शक्ति का कार्य है। शक्ति— कारण स्वरूप अदृश्य वस्तु है। शक्ति जब कार्य रूप से प्रकाश पाती है, तभी शक्ति की सत्ता का अनुमान होता हैं, नहीं तो शक्ति कभी भो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होती। मान लो अग्नि की जो दाहिका शक्ति है, वह ताप प्रकाश प्रभृति कार्य द्वारा ही समझ में आती है, अन्यथा दाहिका शक्ति का स्वरूप कभी भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। यह शक्तितत्व विषयक ज्ञान ही जीव का चरम ज्ञान है। जगत बोलकर, देह बोलकर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय बोलकर, जो कुछ देखने में आता है, उपलब्धि किया जाता है, ये सभी एकमात्र पराशक्ति का ही विभिन्न विकाश है, इसे समझ लेने ही से जीव धन्य होता है। जीव साधारणतः शक्ति की विकाश अवस्था वा कार्यमात्र को देख पाता है और उसी में मुग्ध रहता है, शक्ति का यथार्थ स्वरूप जानना नहीं चाहता, इसी से शक्ति का साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता। तब हाँ यह भी एकान्त सत्य है कि,

शक्ति स्वयं यदि पकड़ाई न दे, तो किसी की सामर्थ्य नहीं कि किसी प्रकार के कौशल वा प्रक्रिया द्वारा उसे धर सके वा समझ सके। इसी से तो अनेक समय कहता रहता हूँ—मा हमारी सर्व्व रूप से सर्वत्र सुप्रतिभात होते हुए भी स्वयं किन्तु नित्य ही अदृश्या अग्राह्या अलभ्या, वाक्य मन को अगोचरा होकर रहती हैं।

शक्ति तत्व के सम्बन्ध में और एक बात जानना आवश्यक है। ब्रह्मनिरूपण सूत्र में "जन्माद्यस्ययतः" इस वाक्य के कहने ही में परमात्मा का शक्ति स्वरूपत्व स्वीकृत हुआ है। "जिससे जगत की उत्पत्ति स्थिति एवं लय होता है, वे ही हैं, ब्रह्म" इस वाक्य द्वारा ही ब्रह्म की शक्ति स्वरूपता प्रमाणित होती हैं, सुतरां जो निर्गुणत्व भङ्ग के भय से ब्रह्म के शक्ति स्वरूप को अस्वीकार करते हैं, हम यहाँ पर उनके साथ सम्पूर्ण एक मत नहीं हो सकते। हमने जहाँ तक समझा है, शक्तिरूपिणी माँ ने हमारे हृदय में जितना भी आत्म प्रकाश किया है, उससे भलीभांति कहा जा सकता है—"एकमेवाद्वितीय" वस्तु चितिशक्ति व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं। इस जगद्रूप कार्य द्वारा ही उसका शक्तिरूपत्व विशेष भाव से समझा जा सकता है। और जब जगत्रूप कार्य नहीं रहता, सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेद भी नहीं रहता, केवल विशुद्ध बोध स्वरूप उद्भासित होता है, तब उनको शक्तिमय वा शक्तिहीन कुछ भी नहीं कहा जाता। तब हाँ जबतक परमात्मा में शक्तिमय स्वरूप प्रत्यक्ष होता है, तवतक उनमें जीवत्व और ईश्वरत्व रूप द्विविध महत्व परिलक्षित होता है। जीव भाव में सजातीय, विजातीय एवं स्वगत, ये तीनों ही भेद नजर आते है। ईश्वरभाव में स्वजातीय एवं विजातीय भेद नहीं रहता, केवल स्वगत भेद की उपलब्धि होती है। जीव साधना द्वारा ज्ञान भक्ति के अनुशीलन द्वारा, इसी ईश्वरत्व पर्यन्त लाभ कर सकता है, तत्परवर्ती स्वरुप सर्व्वविध साध्य साधना के अतीत है इसीसे शास्त्र एवं महापुरूषगण तत्सम्बन्ध में मूक है। तब हाँ यह निश्चित है कि, जीव जब साधना फल से किंवा मांकी कृपा से इस

ईश्वरत्व में अर्थात् आत्मा के शक्तिमय स्वरूप में उपनीत हो सकता है, तब—केवल तभी, निरंजन स्वरूप उद्भासित होता है। ईश्वरत्व का कुछ भी आस्वाद न पाते हुए भी यदि कोई निरंजन स्वरूप के सम्बन्ध में कोई बात बोला करते है, मात्र महावाक्य का अर्थ विचार करके 'अहं ब्रह्म" कहकर ब्रह्मज्ञ पुरुषका ढोंग करते हैं। ऐसी हालत में समझना होगा कि वे यथार्थतत्वसे अभी भी बहुत दूर पड़े है? वहाँ पर उस निरंजन क्षेत्र में उपस्थित होकर फिर उन्हें शक्तिमय कहने में भी हानि नहीं, शक्तिहीन कहने में भी हानि नहीं; उभयरूप कहने में भी हानि नहीं, उभयाभाव रूप कहने में भी हानि नहीं। वही सब अथवा वे इनमें कुछ भी नहीं हैं। वह कितने मधुमय कितने आनन्दमय है सो भाषा में कैसे समझाऊँ।

अच्छा जो भी हो, सगुण और निर्गुण उभय अवस्था में परमात्मा की शक्तिस्वरूपत्व स्वीकार कर लेने ही से साधन मार्ग सुगम होता है इसके बाद यदि उन दोनो के आधार रूप से किसी अज्ञेय सत्ता को स्वीकार करना पड़े तो उसमें भी हमारी कोई आपत्ति नहीं है। तब हां एक बात याद रखनी होगी—जो शक्ति का आश्रय है, सो शक्ति के स्वरूप से एकान्त भिन्न पदार्थ नहीं हो सकता। हम कथा प्रसङ्ग में विचार के मार्ग में आ पड़े हैं। नहीं तो जो प्रत्यक्ष अनुभूति है उसमें फिर तर्क किंवा विचार का अवसर कहां है?

हंसयुक्तविमानाग्रे साक्षसूत्रकमण्डलुः।
आयाता ब्रह्मणः शक्ति ब्रह्माणी साभिधीयते ॥१४॥

अनुवाद—हंसयुक्त विमान पर आरोहण करके अक्षसूत्र एवं कमण्डलुधारिणी ब्रह्मा की शक्ति युद्धक्षेत्र में आ उपस्थित हुई। ये ब्रह्माणी नाम से परिचित होती हैं।

व्याख्या—यहां से लेकर सात मंत्रों तक देवशक्तियों का विस्तृत विवरण मिलेगा। ब्रह्माणी—सृष्टिशक्ति। अखण्ड चैतन्य

समुद्र के जिस अंश में सृष्टिक्रिया प्रकाश पाती है, उसी चैतन्यांश का नाम है ब्रह्मा, अर्थात् आत्मा जहां पर सृष्टि क्रिया का अभिमान करती हैं, वहां पर वे ब्रह्मा नाम से परिचित होती हैं। और उस चेतनाधिष्ठान से जो क्रियाशक्ति प्रकाश पाती है, उसका नाम है ब्रह्माणी; सुतरां साधना की दृष्टि से ब्रह्मा एवं ब्रह्माणी में वास्तविक कोई भेद ही नहीं परिलक्षित होता। शक्ति वस्तु यदि चैतन्याश्रय व्यतीत सत्तामय होती, तो भेद स्वीकार किया जाता एवं वैसा अनुभव भी होता। शक्ति का सर्व्वावयव ही जब सत्ता वा चेतना है, तो फिर शक्ति को चैतन्य कहने से कुछ भी हानि नहीं होती। दाहिका शक्ति को अग्नि कहने में क्या हानि है? अवश्य तर्कमूलक सूक्ष्म विचार से उसमें भी नाना तरह की आपत्तियां हो सकती हैं। किन्तु जो साधक हैं उनके लिये शक्ति शक्तिमान् अभिन्न मान लेने में कुछ भी हानि नहीं होगी। बाद में यदि कुछ भेद भी हो, तो वह अपने आप ही अनुभव गोचर हो जाता है। उसके लिये किसी प्रकार शास्त्र की दोहाई देने की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा नितान्त प्रत्यक्ष एवं एकान्त सहज वस्तु है; सुतरां अन्धों की तरह कुछ भी मान लेने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु वह और बात है।

हंस—जीव। अक्षसूत्र—वर्णमाला। कमण्डलु—सृष्टि का बीजाधार वा विराट कर्माशय। खुलाशा कहते हैं, समझने की चेष्टा करो—तुम्हारा जैसे व्यष्टि (खण्ड) मन है, प्रत्येक जीव का ही उसी तरह है। ये व्यष्टि मन समूह एक समष्टि मन के ही अंशमात्र हैं। इसी समष्टि मन का नाम दो विराटमन। ये ही हैं ब्रह्मा, मन का धर्म है कल्पना। यह विश्व विराट मनकी कल्पना है। कल्पना है एक शक्ति, वह मन का धर्म्म वा स्वरूप है। इसी कल्पना-शक्ति का नाम है ब्रह्माणी, ये हैं हंसवाहिनी। प्रति जीवों को जो विभिन्न संकल्प देखते हो, उसी में होकर इस समष्टि मन का प्रकाश समझ में आ सकता है, सुतरां जीवही सृष्टि शक्तिका परिचालक है। जीवका आश्रय करके कीसृष्टि शक्ति का एक ही है। जीवन दिया रहे; तो सृष्टि शक्ति जो

है, उसके समझने का उपाय नहीं रहता। इसी से सृष्टिशक्तिरूपिणी ब्रह्माणी का वाहन जीवरूपी हंस है। जीव को हंस कहने का और एक मतलब है वह श्वास प्रश्वास से दिवारात्रि में साधारणतः इक्कीश हजार छः शत हंस मंत्र जप करता रहता है, इसे अजपा कहते है। ये सब बातें पूर्व में भी कही जा चुकी हैं।

अक्षसूत्र—वर्णमाला। कल्पना समूह शब्दव्यतीत अन्य कुछ भी नहीं है। यह विश्व कुछ विशिष्ट शब्दों द्वारा ही गठित है। शब्द-समूह वर्ण समष्टि व्यतीत अन्य कुछ नहीं। वर्णों की संख्या है पञ्चास। पञ्चाशत् वर्णमाला ही ब्रह्माणी की अक्षमाला है। पूर्व में काली की मुण्डमाला में जो वर्णमाला की बात कही गई है, भावोंत्पादन में सामर्थ्यहीन होने से वह शवमुण्डमाला है। और प्रतिक्षण में असंख्य भावों की सृष्टि करने में समर्थ है, इसीसे ब्रह्माणी की वर्णमाला अक्षमाला है। अवशिष्ट रहा कमण्डलु। पूर्व पूर्व कल्पों के सृष्टि के बाजों के अनुसार ही पुनः अभिनव सृष्टि का आरम्भ होता है, इसी सृष्टि के बीजाधारा ही को ब्रह्माणी का कमण्डलु कहा गया है। पुनः पुनः इन सब बातों का विस्तारित कहना निष्प्रयोजन है।

माहेश्वरी वृषारूढ़ा त्रिशूलवरधारिणी।
महाहिवलया प्राप्ता चन्द्ररेखाविभूषणा ॥१५॥

अनुवाद—वृषारुढ़ा त्रिशूलधारिणी सर्पवलया चन्द्रकलाविभूषिता माहेश्वरी युद्धार्थ उपस्थित हुई।

व्याख्या—माहेश्वरी—लयशक्ति। अखण्ड चैतन्य समुद्र के जिस अंश में प्रलयभाव प्रकाश पाता है, उसी चैतन्यांश का नाम है महेश्वर। अर्थात् आत्मा जहाँपर प्रलय क्रिया का अभिमान करती हैं, उसी स्थान में वे महेश्वर नाम से परिचित होती हैं। उस चेतनाधिष्ठान से जो प्रलयरूप क्रिया प्रकाश पाती है, सोई माहेश्वरी है। ये वृषा-

कहा हैं। वृष शब्द का अर्थ है धर्म्म। धर्म्म का आश्रय करके ही ज्ञान शक्ति परिचालित होती है। शास्त्रीय विधि-निषेध परिचालनरूप धर्म्म यथारीति अर्जित नहीं होने से ज्ञानशक्ति का विकाश नहीं होता है। प्रथमखण्ड का वाहनतत्व द्रष्टव्य।

त्रिशूल—त्रिपुटीज्ञान। यह द्वितीय खण्ड में विशेषभाव से आलोचित हुआ है। महाहिवलया—महा अहि—महासर्प अर्थात् कुण्डलिनी। ये वलयाकार से स्वयम्भू लिङ्गको वेस्टन किये हुए हैं कुण्डलिनी क्या है एवं उसे सर्प क्यों कहा गया, यह बात भी पूर्व आलोचित हो चुकी है चन्द्ररेखाविभूषणा—चन्द्ररेखा शब्द का अर्थ है चन्द्रकला। चन्द्रकी सोलह कला हैं, उनमें पन्द्रहकला तो तिथिरूप से परिचित है; अवशिष्ट कला का नाम है अमा। यह अमा नाम्नी महाकला ज्ञानशक्तिरूपिणी माहेश्वरी के ललाट पर (एक देश में) अवस्थित है। अमाशब्द का अर्थ करते हुए प्राचीन शास्त्रकारगणोंने इसे अघटनघटनपटीयसी माया कहकर व्याख्या की है। यह अमा वा मायाही ज्ञानशक्ति का विशिष्ट विकाश हैं। जिसमहती ज्ञानशक्ति का आश्रय करके माया की लीला संगठित होती है, वे भी असुरनिधन उद्देश्य से चण्डिकाकी सहायतार्थ माहेश्वरीमूर्ति से आविर्भुत हुई।

कौमारी शक्तिहस्ता च मयूरवरवाहना।
योद्धु मभ्याययौ दैत्यानम्बिका गुहरूपिणी ॥१६॥

अनुवाद—गुह अर्थात् कार्तिकेयरूपधारिणी अम्बिका देवी कौमारी शक्ति रूप से शक्ति अस्त्र हस्ते धारण करके, मयूरपर आरोहण पूर्वक दैत्यगणों के साथ युद्ध करने के लिये समरक्षेत्र में उपस्थित हुई।

व्याख्या। कौमारी—असुर विजयिनी कार्तिकेयशक्ति। ये देव सैन्य परिचालिका हैं। देवशक्ति असुरशक्ति का रहस्य द्वितीय

खण्ड में विशेषभाव से विवृत हो चुका है। जो असुर विजयिनी शक्ति आसुरिक वृत्ति समूह के दमनार्थ देवशक्ति समूहकी परिचालना करती हैं वेही हैं कौमारी शक्ति। तदधिष्ठित चैतन्य शक्ति कुमार वा कार्तिके नाम से परिचित होती हैं। इनका वाहन है मयूर। सर्पभोजी विहङ्ग। सर्प-कुटिलगति। साधारणतः इन्द्रिय वृत्तिसमूह विषयाभिमूखी विसर्पित भाव से कुटिलगति में परिचालित होती है, जब कोई साधक उसे विलय करने योग्य बल वा सामर्थ्य अर्ज्जन कर सके तभी, मयूरधर्मी होता है। ऐसा मयूरधर्मी जीव ही कौमारी शक्तिका वाहन है। आत्मा के जिस अंशमें देवभाव समूह असुर भाव के बिमर्द्नार्थ परिचालित करने का भाव प्रकाश पावे, उसी अंश का नाम कुमार वा कार्तिकेय है। उस अधिष्ठान चैतन्य का आश्रय करके जो शक्ति देवभाव समूह की परिचालना करती हैं, वेही हैं कौमारी शक्ति।

तथैव वैष्णवी शक्तिर्गरूड़ोपरि संस्थिता।
शंख-चक्र गदा-शार्ङ्ग-खड़गहस्ताभ्युपाययौ ॥१७॥

अनुवाद—उसी प्रकार वैष्णवी शक्ति गरुड़ोपरि आरोहणपूर्व्वक शङ्ख-चक्र, गदा, धनु एवं खड़्ग हस्ते धारण कर समर क्षेत्र में उपस्थित हुईं।

व्याख्या—जो चैतन्यसत्ता स्थिति शक्ति में अभिमान करती हैं, वही हैं विष्णु। स्थिति वा पालन ही है उनकी शक्ति। शङ्ख, चक्र गदा प्रभृति-शब्दों की व्याख्या इति पूर्व में की जा चुकी है। शार्ङ्ग शब्द का अर्थ—धनु अर्थात् प्रणव एवं खड़्ग शब्द का अर्थ—द्वैत-प्रतीति-विलयकारक अद्वय ज्ञान। विष्णु शब्द व्यापकता-बोधक है। जिस सर्वव्यापी अखण्ड ज्ञान के उदय होने से, द्वैत प्रतीति विलय को सदा प्राप्त होती है, वही अखण्ड ज्ञानही विष्णु के हस्त स्थित खड़्ग है। गरूड़ शब्द का अर्थ इसके पूर्व वाहन तत्व व्याख्या वसर

में कहा जा चुका है। त्रिवृद् वेदही विष्णु शक्ति का परिचालक है, इसी से वेद समूह ही है गरुड़। यह सिर्फ हमारी स्व कपोल कल्पित व्याख्या नहीं है। स्वयं व्यासदेव श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार बोले हैं। जो ईश्वर कहने से किसी एक विशिष्ट मूर्त्तिमात्र को समझ बैठते हैं, जो श्री भगवान की कालीयदमन, रासलीला, वस्त्र हरण प्रभृति अलौकिक लीलारहस्य श्रवण करके श्री कृष्ण को एक विशिष्ट मूर्तिमात्र समझ बैठते हैं, वे श्रीमद्भागवत ग्रन्थ को थोड़ा विशेष ध्यान देकर पढ़के देखें, स्वयं व्यासदेव स्पष्ट ही बोले हैं—लौकिक लीला बहाने से अभूतपूर्व आध्यात्मिक रहस्य प्रकटन करने के लिये ही भगवानको बिशिष्ट मूर्ति परिग्रह करनी होती है। साधक ! याद रखना अमूर्त्त स्वरूप का रहस्य सम्यक रूप से अवगत नहीं हो सकने तक मूर्त्ति का स्वरूप किसी प्रकार भी हृदयङ्गम नहीं हो सकता सुतरां जो मूल वस्तु विभिन्न मूर्त्ति धारण करती है, उनका स्वरूप जानना एकान्त आवश्यक है। बर्तमानकाल में जो धर्मग्लानि का लक्षण प्रकाश पा रहा है, उसका प्रधान हेतु—यही मूर्त्त अमूर्त्त विषयक सम्यक् ज्ञान का अभाव है। विज्ञानमय गुरु सनातन धर्म प्रतिष्ठाता स्वयं भगवान् इस अज्ञानता को दूर करके देशमेंसे इस धर्मग्लानि का हेतु सम्यक् विदूरित करें।

यज्ञवाराहमतुलं रूप या बिभ्रतो हरेः ः
शक्तिः साप्याययौ तत्र वाराहीं बिभ्रती तनुम् ॥१८॥

अनुवाद—हरि की जिस शक्ति ने यज्ञवराह के रूप की तरह अतुलनीय रूप धारण किया था वे भी शौकर वपु धारणपूर्वक युद्धस्थल में उपस्थित हुईं।

व्याख्या। वाराही—ये भी विष्णु की अन्यतम शक्ति विशेष हैं। पुराण में वर्णित है—स्वयं विष्णु वराह रूप धारणपूर्वक प्रलयमग्न

वसुन्धराको दंष्ट्रा द्वारा उद्धृत किये थे। वराह भगवान विष्णु का ही एक नाम है। इस वराह शब्द का आध्यात्मिक अर्थ—एक कल्प परि-मित काल। वर शब्द का अर्थ—श्रेष्ठ अर्थात् आत्मा, उनको जो आहनन करते हैं, अर्थात् आवृत करते हैं वे ही हैं वराह। कालसत्ता ही सर्व्वप्रथम आत्माको आवृत करती है, अर्थात् आत्मा में सर्व्वप्रथम कालसत्ताही परिकल्पित होती है; कालही आत्माका सर्वप्रथम आवरण है वर्त्तमान में हमारी इस पृथ्वी पर वराहकल्प नामक काल-प्रवाह चल रहा है। चतुर्दश मन्वन्तर का एक कल्प होता है। सम्प्रति श्वेतवराह कल्प के छः महायुग अतीत हो चुके हैं, सप्तम मन्वन्तरीय सप्तविंशति संख्यक कलियुग चल रहा है। इस वराह कल्प के सुदीर्घ काल अतीत होने के बाद, हमारी वासभूमि इस वसुन्धरा को सृष्टि हुई। सृष्टि के पूर्व यह प्रलय सलिल में मग्न थी, इसी से पुराणकारगण विष्णु की बराह मूर्त्तिकर्तृक वसुन्धराका उद्धार वर्णन करते हैं। अति दीर्घ-कालरूप बराह कल्प के एक देश में यह वसुन्धरा अवस्थान करती है; इसीसे वराह के दाँत में अर्थात् सुविशाल अवयव के एक देश में वसुन्धरा अवस्थित है काली-शक्ति; एवं वाराहीशक्ति में प्रभेद यही है कि काली प्रलयंकारी समष्टि महाकाल-शक्ति और वाराही मात्र एक कल्परूप व्यष्टि कालशक्ति। यह शक्ति जगत की आधार स्वरूप है इसीसे इसको भी विष्णुशक्ति कहा जाता है। पालनशक्ति और आधार शक्ति प्रायः अभिन्न है। हमारा यह भूलोक जिस विशाल कालरूप आधार पर अवस्थित एवं परिधृत है वही है वराह, और उसी भूलोक विभ्रती (धारिणी) महती शक्ति का नाम ही है वाराही।

———

नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रतीसदृश वपुः ।
प्राप्ता तत्र सटाक्षेपक्षिप्त-नक्षत्र संहतिः ॥१९॥

अनुवाद—नारसिंही नृसिंहदेव के तुल्य देह धारण करके [युद्ध-स्थल में उपनीत हुई । उनके केशराघात से नक्षत्रसमूह विक्षिप्त होने लगे !

व्याख्या । नारसिंही—ये भी विष्णु की अन्यतम शक्ति विशेष हैं । नृसिंह—स्वरुपज्ञान । आत्मस्वरुप विषयक ज्ञान का उदय होने से ही मनुष्य श्रेष्ठत्व लाभ करता है । नृ शब्द का अर्थ है मनुष्य एवं सिंह शब्द है श्रेष्ठवाचक । इन्होंने हिरण्यकशिपू को निहत किया था । हिरण्य शब्द का अर्थ है आत्मा यह श्रुतिसिद्ध है । जो हिरण्य को अर्थात् निर्विकल्प परमात्मा को कशित करे निगृहीत करे अर्थात् विषयाभिमान रुप में प्रकटित करे, वही है हिरण्यकशिपु । इस हिरण्यकशिपु असुर को एकमात्र आत्मस्वरुप-विषयक यथार्थ ज्ञान ही विनाश करने में समर्थ है । इसीसे नृसिंह शब्द का अर्थ हैं स्वरुप-ज्ञान; इस नृसिंह के हस्त ही से हिरण्यकशिपु का निधन होता है । नर जबतक स्वकीय स्वरूप न समझ सके, तबतक वह किसी तरह भी सिंह वा श्रेष्ठ नहीं हो सकता । पुराणकारगणों ने हिरण्यकशिपु के वध का जो विवरण दिया है, सो अति अपूर्व तत्वज्ञानपूर्ण आख्यान है । प्रथमतः तपस्या द्वारा उसने ब्रह्मा के पास से वरलाभ किया था—देवता यक्ष रक्ष गन्धर्व किन्नर नर पशु विहङ्गमादि कोई भी उन्हें विनाश नहीं कर सकेगा । सत्यही तो, किसी भी तरह के विशिष्ट ज्ञान के रहते हिरण्यकशिपु निहत नहीं होता । निर्विकल्प ज्ञान के बिना सविकल्प ज्ञानरूपी असुर को और कोई भी विलय नहीं कर सकता । हिरण्यकशिपु की सन्तान प्रह्लाद—आनन्दमय ब्रह्मज्ञान है । थोड़ा-थोड़ा करके जितना ही उसका प्रकाश होता जाता है, अज्ञान उतना ही उसके विनष्ट करने के लिये नाना तरह के उपायों का अवलम्बन करता है । क्रम से जल स्थल में अनल अनिल गगन में सर्वत्र प्रह्लाद

के हरिदर्शनरूप सत्यज्ञान के प्रभाव से नृसिंह मूर्ति का आविर्भाव होता है, अर्थात् आत्मस्वरूप विषयक यथार्थ ज्ञान उद्‌बुद्ध हो उठता है, तभी भेद ज्ञान वा हिरण्यकशिपु निहत होता है।

साधक तुम भी देखो—तुम्हारे अन्दर अन्दर जो बालक भक्त प्रह्लाद—आनन्दमय ब्रह्म सत्ता का स्फुरण दिन दिन परिबर्द्धित होता है उसे बिनष्ट करनेके लिए तुम्हारा बिषयासक्त-मनरूपी हिरण्यकशिपु कितनी न चेष्टा करता है। कितनी निर्य्यातना सह्य करके तुम्हारा आनन्दमय शिशुका सत्यज्ञान सर्व्वत्र सत्यदर्शन करने के लिए अभ्यास सुदृढ़ और परिबर्द्धित कर रहा है। एक दिन यह सत्यज्ञान ही तुम्हारे जड़त्व ज्ञानरूपी स्फटिक स्तम्भ को विदीर्ण करके बिशुद्ध बोधमात्र रूपसे प्रकटित होंगे। तुम नृसिंह मूर्ति दर्शन से आत्महारा (मुग्ध) होओगे, तुम्हारा मनरूपी हिरण्यकशिपु विनष्ट होगा। किन्तु यह और बात।

नृसिंह की शक्ति ही नारसिंही है ब्रह्मविद्या ही नारसिंह शक्ति है। कारण, ब्रह्मविद्या के प्रभाव से ही जीव नृसिंह होता है अर्थात् आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इसके आविर्भाव से विशिष्ट ज्ञान-रूपी असूर समूह विनष्ट हो जाते हैं, इसे समझाने के लिए "सटा-क्षेपक्षिप्तनक्षत्र संहतिः" वाक्य कहा गया है। सटाक्षेप शब्द का अर्थ स्वक्रिय शक्तिप्रभाव। विशिष्ट ज्ञान को नक्षत्र कहने में भी थोड़ा उद्देश्य है। हम प्रतिनियत जिन विषयों का ग्रहण करते हैं, अर्थात् जिस विशिष्ट ज्ञान में विचरण करते हैं, उनमें अतिक्षीण भाव से कुछ रोशनी वा आत्मप्रकाश है। आत्मप्रकास नहीं होने से, किसी प्रकार का भी विशिष्टज्ञान होही नहीं सकता। नरसिंही वा विद्या, शक्ति समरक्षेत्र में अवतिर्ण होकर सत्यज्ञान की उस विशिष्टता को विदूरित कर देती हैं। साधक! यदि तुमने सत्य ही मातृचरणमें आत्मसमर्पण किया है, तो निश्चय ही देखोगे—तुम्हारे हृदयाकाश रूप रणक्षेत्र में से तुम्हारे ही स्वेच्छाकल्पित विशिष्ट ज्ञान को

अपसारित करके विद्याशक्ति किस तरह के प्रयत्न से धीरे-धीरे विशुद्ध बोध उदय के उपाय का विधान करती हैं।

वज्रहस्ता तथैवैन्द्री गजराजोपरि स्थिता।
प्राप्ता सहस्रनयना यथा शक्रस्तथैव सा ॥ २० ।

अनुवाद। इसी प्रकार इन्द्र के तुल्य रूपधारिणी बज्रहस्ता गजारूढ़ा सहस्रनयना इन्द्रानी शक्ति युद्धार्थ उपस्थित हुई थीं।

व्याख्या। इन्द्र—देवाधिपति। उनकी शक्ति इन्द्राणी। बज्रहस्ता, गजारूढा प्रभृति की व्याख्या द्वितीय खण्ड में कही जा चुकी है। यहाँ पर केबल सहस्रनयना वाक्य का रहस्य समझ सकने से ही नेत्र का अर्थ हृदङ्गम होगा। सहस्र शब्द असंख्यवाचक। नयन शब्द का अर्थ प्रकाश शक्ति। जिनका प्रकाश-भाव असंख्य विशेषणयुक्त होकर असंख्य प्रकार से परिचित होता है। वे ही हैं सहस्रलोचन इन्द्र। उनकी वह प्रकाशशक्ति है इन्द्राणी। समस्त देवाधिपत्य वाक्य का तात्पर्य—समस्त देवशक्ति में होकर स्वकीय शक्ति का प्रकाशित करना। पुराणकारगणों के आख्यानों में वर्णित हुआ है—गुरुपत्नी हरणारूप महापाप के फल से वे इन्द्र के शरीर में सहस्रक्षत (घाव) हो गये थे, कठोर तपस्या के फल से वे क्षत समूह ही फिर नेत्ररूप में परिणत हो गये। गुरू एक मात्र परमात्मा। उनकी स्वप्रकाश शक्ति को इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य बर्ग के अतिपति इन्द्रदेव तथार्थ ही आत्मसात् करते हैं, एवं उसी के फल से स्वयं बहुभाव से विभक्त हो पड़ते हैं। तपस्यादि के फल से जब थोड़ी थोड़ी करके ज्ञानचक्षु उन्मीलन होते जाते हैं, तव इन बहुभावों के भीतर होकर ही आत्मा का स्वप्रकाशत्व देखने में आता है, तब ही इन्द्रदेव सहस्रनयन हो जाते हैं। साधक! तुम भी देखो—तुम्हारे गुरूशक्ति को तुम्हारे इन्द्रियगण हमेशा अपहरण करते हैं, इसी से तो एक ही प्रकाश शक्ति की नाना

विषयों के भीतर होकर असंख्य प्रकार से भोग करते करते, तुमको कितना ही क्षत विक्षत होने होता है। तुम सत्य और प्राण प्रतिष्ठा की सहायता से इन असंख्य क्षतों में होकर एकही प्रकाशशक्ति के असंख्य भेद देखने में अभ्यस्त होओ। तुम्हारे क्षत समूह निश्चय ही नेत्रपरुमें परिणत होंगे।

ततः परिवृत स्ताभिरीशानो देवशक्तिभिः
हन्यन्तामसुराः शिघ्रं मम प्रीत्याह चण्डिकाम् ॥२१॥

अनुवाद—बाद में स्वयं ईशान उन देवशक्तिगण कर्त्तृक परि-वेष्ठित होकर चण्डिका देवी को बोले—ईस वार मेरी प्रीति के लिए असुरकुल को निहत किया जाय।

व्याख्या—यहां तक जिन अष्टशक्तियों का विषय कहा गया है, उनका नाम—ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराँही नारसिंही इन्द्राणी एवं (पूर्वकथित) चामुन्डा ब्रह्मा महेश्वर कार्त्तिकेय प्रभृति विशिष्ट चैतन्य जो है शक्ति व्यतीत और कुछ नहीं, इसे विशेष भाव से समझाने ही के लिए युद्धक्षेत्र में पूर्वोक्त अष्टशक्तिका आर्विभाव वर्णित हुआ हैं। साधकगण सर्वशेष में इस शक्तित्व में उपनीत हों। इसी से शास्त्र में भी उक्त है—"शाक्ता एवं द्विजा सर्व्वे।" जो द्विज अर्थात् वैदिकी दीक्षाके फलसे जिनको द्वितीय जन्म प्राप्त हुआ है, वही है साधक व सभी हैं शाक्त। शैव वैष्णव गाणपत्य प्रभृति सम्प्रदाय भी कार्यतः इस शक्ति की ही उपासनाकरते हैं, तब हाँ जबतक शक्ति का सन्धान नहीं पाते, तब तक अपने को शाक्त कहकर परिचय नहीं देना चाहते। कम से जब गुरुकृपासे ज्ञानचक्षु उन्मीलित होते जाते हैं, तब देखते हैं – ज्ञान वा अज्ञान से सभी एकमात्र शक्ति की ही उपासना करते हैं। इस शक्ति ज्ञानसे ही जीव के मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है। अच्छा जो हो, शक्ति

एवं शक्तिमान् अर्थात् अधिष्ठान चैतन्य और अधिष्ठित शक्ति, ये दोनों पूर्णतः अभिन्न वस्तु हैं, एवं अधिष्ठान—चैतन्य जो है शक्ति भिन्न अन्य कुछ नहीं, सो इस चण्डीतत्वमें प्रवेश करने से, अनायास में बोधगम्य होता है। पूर्व में भी कहा चुका हूँ—आत्मा को शक्ति स्वरूप वस्तु मानकर समझ लेने होगा, ऐसा होने से ही साधनपथ अनेक सुगम होने लगेगा। तब हाँ विशेष बात यह है कि निर्व्विकल्प बोधस्वरूप आत्मा को यकायक (पूर्णरूप) से शक्तिस्वरूप समझ लेना अत्यन्त दुरूह है, इसीसे महर्षि श्री मेघस् प्रथमतः आत्यविभूति समूह को—आत्मा के स्वाधीन विलासों को शक्तिस्वरूप कहकर समझाने का प्रयास कर रहे हैं, इसीलिये ही उन्होंने यहाँ पर ब्रह्माणी प्रभृति शक्तितत्व की अवतारणा की। याद रखना साधक, शक्ति वस्तु चैतन्य से अनतिरिक्त (अभिन्न) पदार्थ है। आओ अब इस मन्त्र के अर्थ की समझने की चेष्टा की जाय। मंत्र में उक्त हुआ है—"ईशान ने पूर्वोक्त शक्तिगणकर्तृक परिवृत होकर असुर निधन के लिये चण्डिका से प्रार्थना की।" जिस समष्टि अधिष्ठान चैतन्य में पूर्व कथित ब्राह्मी माहेश्वरी प्रभृति अष्टशक्ति प्रकाशित होती हैं, वही हैं ईशान—वे ही प्रलय के देवता विशुद्ध बोधमय महेश्वर हैं। ईशानरूप अधिष्ठानमें ही अष्टशक्ति बिराजती हैं। इन्हीं अष्टशक्ति विशिष्ट ईशन ने आज चण्डिकासे असुर निधन के लिये अनुरोध किया अर्थात् विज्ञानमय सर्वभूत महेश्वर गुरु ने इतने दिनोंमें (अब) सर्व-भावविलय के लिये चितिशक्ति के प्रति अनुप्रेरणा की। ईशान आज अपने को अष्टशक्ति के अधिष्ठान रूप से प्रत्यक्ष करके एवं अष्ट शक्ति को असुर हननको समुद्यत देखकर स्वयं चितिशक्ति को विशेष भाव से उद्बुद्ध करने की चेष्टा की।

साधक? देखो एक बार अपने हृदयकी ओर नजर करके? तुम्हारे ज्ञानरूपी महेश्वर शववत् शो रहे हैं, उनमें। कोई तरह की चेष्टा वा कार्य है, सो मालूम नहीं पड़ता। उनके पदतले विमर्दित करके नाना विध शक्ति अवतक विषय सम्भोगका—बहुत्वका ताण्डव नृत्य-

विलास करती थीं। आज वही शक्ति समूह बिशेब भावसे संक्षुब्ध हो उठी हैं, वे बहुत्व को—सर्वत्र को बिलय करके एक अखण्ड चिति-शक्तिमें मिला जाने के लिये उद्यत हैं, धन्य हो साधक तुम! धन्य है तुम्हारी साधना और धन्य है तुम्हारा मानब जीबन? आज तुम्हारे हृदयस्थ गुरु—स्वयं ईशान असुर क्षय के लिये सचेष्ट हैं अवतक केबल तुम्हीं असुर अत्याचार निबारण की चेष्टा करते थे, आज तुम्हारे गुरु भी तुमको सम्यक् निर्मुक्त करने के लिए उद्यत हैं। तुमको अब भय नहीं। तुम शिघ्रही अखण्ड परमानन्द रसका आस्वाद पाओगे।

ईशान बोले—"ममप्रीत्या" मेरी प्रीत्यर्थ। असुरकुल निहत होने से ही से ईशान का परम प्रीति प्राप्त होगी। गीता में उक्त है—'सर्व्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" समस्त कर्म अर्थात् यावतीय शक्तिप्रवाह ज्ञान में अर्थात् ईशानमें आकर पर्य्यबसित होते हैं, असुर निर्मूल होने ही से ईशान सर्व्वशक्ति समन्वित होकर सर्वतोभाव से स्वरूपप्रतिष्ठ हो सकेंगे, इसीसे असुरनिधन में उनकी एकान्त प्रीति है।

—❀—

ततो देवीशरीरात्तु विनिष्क्रान्तातिभीषणा
चण्डिका शक्तिरत्युग्रा शिवाशतनिनादिनी ॥२२॥

अनुबाद—अनन्तर देबी के शरीर से अतिभीषण चण्डिका शक्ति एवं अति उग्रा और भयानक निनादकारिणी शत शत शिवा बिनिष्क्रान्त हुई।

व्याख्या—दयामय गुरु ईशान ने प्रार्थना की—"हन्यन्तामसुराः शीघ्र" असुरगणों को शीघ्र हनन करो। किन्तु ईशान की इसप्रकार की प्रार्थनाके प्रत्युत्तरमें देबीने एक भी बाक्य प्रयोग नहीं किया, केबल अपने शरीर से अतिभीषण एक चण्डिकाशक्ति एवं बहुसंख्यक शिवा निष्क्रान्त कर दीं। पूर्व मंत्रमें जो चण्डिका शब्द का प्रयोग

हुआ है, सो अम्बिका देवी को लक्ष्य करके ही प्रयुक्त हुआ है समझने होगा ; कारण इस मंत्र में देवी के शरीर से पुनः अतिभीषणा चण्डिका देवी का निष्क्रामण वर्णित हुआ है। चण्डिका—अति कोपना संहारकारिणी शक्ति अम्बिका मा हमारी नित्य निर्विकार हैं उनमें तोष वा रोष कुछ भी नहीं हैं; इससे उनसे ही अतिकोपमयी चण्डिकानाम्नी इन अत्युग्राशक्ति का निष्क्रामण है।

चितिशक्ति रुपिणी अम्बिकादेवी स्वयं अपरिणामिनी निर्विकारा विशुद्ध चैतन्य स्वरूपा हैं। वे स्वयं कुछ भी नहीं, अथच उनसे ही सर्व्वभावों की उत्पत्ति स्थिति और लय होता है। और जिसकी जो कुछ प्रार्थना, अभाव अभियोग इत्यादि हो, सो भी उन्हीं से करनी होती है। वे प्रत्यक्ष भाव से कुछ नहीं करने पर भी परोक्ष में अभूतपूर्व्व उपाय से साधकों की प्रार्थना किसी न किसी प्रकार से पूर्ण करती हैं। यह देखो ईशान ने प्रार्थना की—"हन्यन्तामसुराः शीघ्रम्" अथच अम्बिका एक वाक्य भी नहीं बोली। किन्तु देखते हैं—अम्बिका के शरीर से अत्युग्राचन्डिका शक्ति और शत शत शिवा विनिर्गत हो आईं। इससे समझा जाता है—ईशान की प्रार्थना विषयक कोई तरह का विशेष अनुष्ठान न करने पर भी, परोक्ष भाव से उन्होंने उनकी प्रार्थना पूर्ण करने का उद्यम किया। अथच पूर्व्व में कुछ भी नहीं जानने दिया मा हमारी ऐसी ही ठीक छलनामयी हैं। साधक! तुम मा मा करके जितनीही मगज पच्ची क्यों न कर मरो कितने ही आकुल प्राणों से अश्रुजल से बक्ष को भिजाते हुए मा मा करके रोते रहो, अपने अभाव अभियोग को मा को जनाने के लिए जितने ही उच्चैःस्वर से चित्कार करते रहो, तथापि मा जो तुम्हारी एक भी बात सुनती हैं,ऐसा भाव भी प्रकाश नहीं पाता। तुम्हारे सहस्र आर्त्तनाद, सहस्र व्याकुलता उस निर्विकार धीर स्थिर मातृबक्ष को बिन्दुमात्र संक्षुब्ध वा चंचल नहीं कर सकते। मा हमारी जैसी धीरा स्थिरा हैं तैसी ही अचल मूर्ति से खड़ी हैं,-यानों कुछ भी नहीं जानती। बाद में हठात् तुमने एक दिन देखा—तुम्हारा अभाव

अभियोग समूह परिपुर्ण हो रहे हैं, तुम्हारी सारी आशा पूर्ण हो गई है।

ठीक ऐसा ही होता है, माँ हमारी ऐसी ही छेलनामयी हैं ठीक। महाभारत वर्णित एक उपाख्यान का संक्षिप्त बिबरण बोलता हूँ—

द्वैत वनमें पञ्चपाण्डवोंके बनबास काल में जब साठ सहस्र शिष्य सह दुर्व्वासामुनि ने आतिथ्य की प्रार्थना की, उस समय द्रौपदी का भोजन शेष हो चुका हैं, सुतरां सूर्यदत्त अक्षय पाकस्थली भी अन्न-शून्य है। बड़ी विपद ? ब्रह्मशाप से सर्व्वनाश होने का उपक्रम है। इस प्रकार की घोर विपद में पड़कर, उस समय वे (पाण्डव) सबकी विपदों के एक मात्र काण्डारी श्रीकृष्ण को स्मरण करने की चेष्टा करने लगे। पाण्डबगण अवसन्न तन्द्राग्रस्त हैं। केबल द्रौपदी जाग्रता हैं। हठात् श्रीकृष्ण का आबिर्भाव। उसने द्रौपदी से कहा—सखि द्रौपदी ! अनेक दिनों से धर्मराज का कोई सम्बाद नहीं मिला, इसीसे इस मार्ग से जाते समय एक बार सम्बाद (खबर) लेने आया हूँ। और एक बात— मैं बड़ा ही क्षुधार्त हूं, सखि ! मुझे कुछ अन्न दो।

साधक ! समझ सकते हो क्या उस समय द्रोपदी के मन की अवस्था कैसी हुई थी ? जगत्पति प्राणपति परम प्रियतम ब्रह्माण्ड के अन्नदाता स्वय श्रीकृष्ण आज क्षुधित होकर अन्न प्रार्थना कर रहे हैं, अथच घर में अन्न नहीं। द्रोपदी का बक्षःस्थल शतधा बिदीर्ण हो रहा था चक्षु फटने पर भी अश्रु नहीं—रुधिर धारा निकल रही थी। द्रौपदी उस समय सब भूल गई आज पाण्डब कुल जो ब्रह्मशाप से निर्मूल होने जा रहा है, वह बात तक याद नहीं। आज सर्वस्व देकर भी यदि श्रीकृष्ण की क्षुधा दूर कर सकती, तो भी पश्चातूपद नहीं होती, किन्तु उस समय ऐसा कोई उपाय नहीं था, जिससे कि प्रिय तम की क्षुधा निबारण कर सके। हैरान होकर छिन्नमूलतरु की तरह श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर कहने लगी— जगन्नाथ ! अन्तर्यामिन् ! विश्वके अन्नदाता ! आज तुमने मुझे यह क्या मर्म पीड़ा दी, मेरी इ व्यथा को एक मात्र तुम्हारे भिन्न और कौन समझेगा ? प्राणे

आज तुम क्षुधार्थ होकर मेरे पास अन्न की याचना कर रहे हो, और मैं अन्नहीना—(और लिखा नहीं जाता)।

श्रीकृष्ण किन्तु अटल अचल। वे गम्भीर स्वर में बोले, मैं बड़ा ही क्षुधार्त्त हूं; सखि, तुम्हारे जो हो सोई दो। द्रव्य का परिमाण मत देखना, केवल श्रद्धा के साथ अर्पण करो। उस समय उसी स्थाली लग्न कणिकामात्र शाकान्न श्रीकृष्ण के हाथ में उठाकर देते समय कठिन मर्म्मपीड़ा से द्रौपदी बेहोश हो गई; इधर 'तृप्तोऽस्मि" कहकर श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। कुछ देर बाद द्रौपदी होश में आनेपर भी क्या घटना घटी, सो नहीं समझ सकी। बाद में जाना गया—साठ सहस्र शिष्यसह दुर्वासा परितृप्त होकर पाण्डवों को आशीर्बाद करके चले गये हैं। साधक! भगवान्‌की इन सब लीलाओं का रहस्य अनुधावन कर सकते हो क्या? अच्छा जो हो; आज इस देवी माहात्म्यमें भी देखते हैं—ईशानकी प्रार्थना से कोई भी उत्तर न देकर भी अम्बिका मा हमारी ने कार्य्यतः उनकी प्रार्थना पूर्ण की। क्रमसे हम वही देखेंगे। इसके पूर्व कहा गया है, अम्बिका निर्विकारा चितिशक्ति। इसमें आशंका हो सकती है कि, निर्विकारा चिति-शक्ति से चण्डिका एवं शत शत शिवा का आविर्भाव कैसे होगा? जिसमें से कोई कुछ आविर्भाव होता है, वह तो अविकारी वस्तु नहीं है! इसके उत्तर में कहने होगा—यह जो विकार है, वह तो परमार्थ रूपसे नहीं है, वह कल्पित वा व्यावहारिक मात्र है। अनन्त जगत्‌के आश्रय स्वरूप होने पर भी ब्रह्मका निर्गुणत्व अक्षुन्न रहता है। अम्बिकादेवी के शरीर से चण्डिकाशक्ति एवं असंख्य शिवा निर्गत होने पर भी, उनमें बिन्दुमात्र विकार उपस्थित नहीं हुआ। वस्तु के अन्यथा भाव प्राप्ती का नाम विकार है। चितिशक्ति वास्तव में किसी अवस्था में भी अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं होतीं। असंख्य भेदों के भीतर होकर भी उनका एकत्व अद्वितीयत्व अव्याहत (निर्वि-कारी) रहता है।

शिवाशतनिनादिनी—शिवकी शक्ति शिवा। प्रलयकाल में सब जीव जिसमें शयन करते हैं, वे ही हैं शिव। शिव शब्दका यही व्युत्पत्तिगत अर्थ है। शिवा शब्द का साधारण अर्थ शृगाल होने से भी, हम किन्तु यहाँ पर प्रलयकालीन शक्ति ही मान लेंगे। अम्बिका शरीर से असंख्य प्रलयात्मिका शक्ति का विकाश हुआ। वे प्रलयकालीन निनाद अर्थात हुङ्कार करने लगीं। अथवा शतनिनादिनी शब्द को पृथक भी किया जा सकता है। ऐसा करने से शतनिनादिनी शब्द का अर्थ—अनवरत भयङ्कर गर्ज्जनकारिणी शिवा, अर्थात् प्रलयशक्ति ऐसा अर्थ होता है। ऐसा अर्थ भी ठीक और उपादेय ही है।

सा चाह धूम्रजटिलमीशानमपराजिता।
दूतत्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भ निशुम्भयोः ॥२३॥
ब्रूहि शुम्भं निशुम्भञ्च दानवावतिगर्व्वितो।
ये चान्ये दानवास्तत्र युद्धाय समुपस्थिता: ॥२४॥
त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां देवाः सन्तु हविर्भुजः।
युयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ॥२५॥
बलावलेपादथ चेद्भवन्तो युद्धकांक्षिणः।
तदागच्छत तृप्यन्तु मच्छिवाः पिशितेनवः॥२६॥

अनुवाद—इसके बाद वे अपराजिता चण्डिका देवी धूम्रवर्ण जटाधारी ईशान को बोलीं—हे। भगवन्! आप दूत रूपसे शुम्भ निशुम्भ के निकट जाइये एवं अति गर्व्वित शुम्भ निशुम्भ और जो दानव वहाँ पर युद्धार्थ उपस्थित हुए हैं, उन सबसे बोलिये—इन्द्र त्रिलोक का आधिपत्य प्राप्त करें, देवतागण हविका भाग ग्रहण करें, और तुम यदि जीवित रहने की इच्छा करो, तो पाताल को प्रयाण

करो। पक्षान्तर में, यदि बल गर्वित होकर युद्धाभिलाषी होओ तो आओ, तुम्हारे मांससे हमारी शिवागण परितृप्त हों।

व्याख्या—अम्बिकाके शरीर से आविर्भूता चण्डिकादेवी ने ईशान को दौत्य कार्य में नियुक्त किया। अष्टशक्ति का अधिष्टान चैतन्य ही है ईशान। येही हैं ईशिता नियन्ता, येही हैं ज्ञान के देवता शिव। ज्ञानका कार्य है—नित्यानित्य-वस्तुविवेक-हिताहित विचार। किसी भी गर्हित (निन्दनीय) कार्य के अनुष्ठान करनेके समय, ये ईशान ही जीवके अन्दर रहते हुये, विवेकरूप से तादृश अन्याय कार्यसे जीवको प्रतिनिवृत्त करने का (रोकने का) प्रयास पाते हैं (चेष्टा करते हैं)। ईशान आज यहाँ पर धूम्र जटिल मूर्त्ति से आविर्भूत हैं। प्रलय के घोर कृष्णवर्ण एवं ज्ञानके स्वाभाविक शुभ्रवर्ण के मिश्रण से धूम्रवर्ण शक्तिप्रवाह से चारो दिशाओं को विच्छुरित करके आज ज्ञान के देवता शम्भु, प्रलयकी वार्ता लेकर दूतरूप से शुम्भ निशुम्भ के निकट चले। वहाँ पर उपस्थित होकर दैत्यगणों से उनको जो सब बातें बोलनी होंगी, चण्डिकादेवी ने सो भी कह दिया।

प्रथम—"त्रैलोक्यमिन्द्रोलभताम्"। इन्द्र त्रिलोक का आधिपत्य प्राप्त करें। पूर्वमें कहा जा चुका है—"त्रैलोक्याधिपतिः शुम्भः"। माँने इस बार शुम्भ से वही त्रिलोकाधिपत्य परित्याग करने को कहा। अस्मिता ने जो अपने ही को त्रिलोक का अधिपति समझ रक्खा था उस भाव को परित्याग करना होगा। जिनका त्रिलोक है, उन्हीं को लौटा देने होगा। इन्द्र-अर्थात् परमात्मा ही जो त्रिलोक के यथार्थ अधिपति हैं, यह उपलब्धि करने होगा। "इन्द्रोमायाभिः" इत्यादि श्रुति वाक्य से इन्द्र शब्द द्वारा परमात्मा ही को लक्ष्य किया गया है। एकमात्र आत्मा ही तो सृष्टि स्थिति प्रलयरूप त्रिलोक के अधिपति हैं, अस्मिता तो कभी भी त्रिलोकाधिपति हो नहीं सकता, इसको सम्यक् रूप से उपलब्धि करने होगा, यही है हमारी मा का दूतमुख से शुम्भ के लिये प्रथम आदेश।

मा का द्वितीय आदेश—"देवाः सन्तु हविर्भुजा।" देवतागण यज्ञ भाग ग्रहण करें। अस्मिता के विभिन्न व्यूहरूपी असुरगण जो अमृत स्वरूप यज्ञ भाग अर्थात् चैतन्यांश अधिकार कर बैठे हैं, सो परित्याग करने होगा; ऐसा करने से ही देवतागण विशुद्ध चैतन्य के अंशरूप से प्रतिभात होकर यज्ञभुक (भोक्ता) हो सकेंगे। यही यज्ञभाग हरण का रहस्य है। यह इसके पूर्व विशेषभाव से आलोचित हो चुका है।

इसके बाद तृतीय आदेश—"युयं प्रयात पातालम्।" तुम लोग पाताल को जाओ। अस्मिता ममता और उनके अनुचरों वर्गों को स्वर्ग में अर्थात् चित्त क्षेत्र में अवस्थान नहीं होगा, पाताल में—जड़-क्षेत्रमें-दृश्यवर्गों के बीच में परिणत होने होगा। अबतक अस्मिता अपने ही को द्रष्टास्वरूप कहकर समझता था, अर्थात् बुद्धिस्थ चित् प्रतिविम्बरूप अस्मिता ही आत्मरूप से प्रतिभात होता था, इस समय अब सो नहीं रहेगा, जो यथार्थ द्रष्टा हैं, सोई अब स्वरूप में अवस्थान करेंगे। अस्मिता प्रभृति को दृश्यवर्गरूप से विलय प्राप्त होने होगा। अम्बिका मा हमारी ने शुम्भनिशुम्भ को पाताल में जाने का आदेश किया, इसमें भी थोड़ा रहस्य है। परमात्म स्वरूप उद्भासित होने के बाद भी प्रारब्ध विलय न होने तक अस्मिता ममता प्रभृति की बाधितानुवृत्ति होती रहती है। साधक जब परमात्म स्वरूपमें अवस्थान करते हैं, तभी वह सब सम्यक् अदृश्य रहते हैं। व्युत्थान दशा में पुनः उनका आविर्भाव होता है। इस प्रकार आविर्भाव होने पर भी वे फिर द्वैत प्रतीति नहीं जन्मा सकते। कारण आत्मसाक्षात्कार होने से अस्मिता प्रभृति की पारमर्थिकत्व-बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

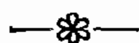
मा का चतुर्थ आदेश—"यदि बलगर्व्वित होकर युद्धार्थी होओ, तो आओ, हमारी शिवागण तुम्हारे माँस से परितृप्ति प्राप्त करें?" अस्मिता ममता और तदीय अनुचरणवर्ग यदि अपने आपसे ही दृश्यवर्ग की तरह विलय प्राप्त न होना चाहें, तो मा के शरीर से विनिर्गत प्रलयात्मिका शक्ति समूह अचिरात् (शीघ्र ही) उनको विलय कर देगीं। शिवागण प्रलयङ्करी शक्ति समूह प्रलय योग्य वस्तु के

अभाव से इतने दिनों से मानो अनशन (भूखी) थी, इस बार अस्मिता प्रभृति को प्रलय कवलित करके अपनी प्रलय क्षुधा की निवृत्ति करेंगी। शिवागण परितृप्त होगी। अम्बिका के शरीर से चण्डिका शक्ति ने विनिर्गत होकर ईशान को दूतरूप से शुम्भके निकट प्रेरण किया। अम्बिका स्वयं कुछ भी नहीं करती, वे स्वरूपतः निर्गुण हैं। अथच उनको अधिष्ठान रुप से पाकर, उनकी शक्ति से चैतन्यमय होकर ही यावतीय विशिष्ट भाव यावतीय कार्य सम्पादन करते हैं। अम्बिका का यह दूत प्रेरणा जो सफल नहीं होगा, इसे वे पहले से ही जानती थी। शुम्भ जो स्वेच्छा से पाताल को गमन नहीं करेगा, इसे वे अच्छी तरह से ही जानती थीं, तथापि मात्र कर्त्तव्यबोध से उसका अनुष्ठान किया। फल की ओर लक्ष्यहीन – केवल कर्त्तव्यबोध से कर्म्मानुष्ठान ही जो जीवको यथार्थ शान्ति के मार्ग में ला सकता है, इसे समझाने के लिये माकी ऐसे लीला है। श्रीकृष्ण ने भी कुरुक्षेत्र समर के प्रारम्भ में दूतरूप से दुर्योधन के निकट उपस्थित होकर पाण्डवों के लिये मात्र पांच ग्राम की प्रार्थना की थी। श्रीकृष्ण का अभिप्राय तो पूर्ण हुआ ही नहीं, अधिकन्तु दुर्योधन के हाथ से उनको लाँछित होने का उपक्रम हुआ था। श्रीकृष्ण क्या जानते नहीं थे कि भारत समर अनिवार्य है ? तथापि किन्तु आपने स्वयं कर्त्तव्यबोध से युद्धविरति के लिये यथा साध्य चेष्टा की थी। साधक ! जिसे तुम कर्त्तव्य रुप से समझ लो, उसके फलाफल की ओर लक्ष्य न करके ठीक इसी प्रकार अनुष्ठान करते जाओगे। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन" गीता के इस मंत्रकी कार्यकरी अवस्था बिशेषभाव से दिखाने के लिए ही मालूम होता है, चण्डिकादेवी ने ईशान को दूत रूप से प्रेरण किया था।

और भी एक विषय देखने के योग्य है—हम जब जिस कार्य का अनुष्ठान करते हैं, हमारे हृदयस्थ देवता विवेकरुपी ईशान, अन्दर-अन्दर में नीरव भाषा में उसका कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विषयक आदेश करते हैं। जब हम इन हृदयस्थ गुरुका आदेश निर्विकार से पालन

कर सकें, तव ही हम अभ्युदय के सन्निहित होते है। और जब गुरुके आदेश को श्रेय बोलकर समझते हुये भी प्रेय के आकर्षण से श्रेय की उपेक्षा करते हैं, तभी हमारी निम्नगति सूचित होती है। हमारे प्रस्तावित स्थल पर भी शुम्भ निशुम्भ एवं अन्यान्य असुरगण ईशान के वाक्य की अवहेलना करके ही विनाश को प्राप्त हुआ था।

जानते हैं प्रभो, तुम्हारा आदेश तुम्हारा संकेत पालन करना ही हमारे श्रेय लाभ का एकमात्र उपाय है। किन्तु कहां, निर्विचारपूर्वक तुम्हारा आदेश शिरोधार्य कर सकते हैं? गुरो! तुम्ही ईशान, तुम्ही नियन्ता, तुम्हीं तो हमारे इस और पर काल के एक मात्र गति हो, यह बात किसी प्रकार भी हृदय में धारण करके रख नहीं सकते। हमारी इस दुर्बलता को एकमात्र तुम्ही दूर करनेमें समर्थ हो। गुरो! तुम्हारे प्रति विश्वास और निर्भरता लाने के उपाय भी एकमात्र तुम्हीं हो। बहुदिनों से वहुजन्मों से केवल इस दुर्वलता के लिए ही तुम्हारे अभय अंक (गोदी) से दूर अवस्थान कर रहे हैं। नहीं, और तो नहीं सकता प्रभो! मुझे ले चलो। केवल उपदेश, केवल पथ दिखा देने से नहीं चलेगा। मैं जो गति हीन हूं मैं जो शक्तिहीन हूँ, सुतरां उपदेश मेरा क्या करेगा? तुम आकर हाथ धरके मुझे लिये चलो प्रभो? मुझे लिये चलो केवल अन्दर में रहकर नीरव भाषा में आदेश मत करना। आदेश प्रतिपालन की सामर्थ्यरूप से भी तुम ही आविर्भूत होओ।



यतो नियुक्तो दौत्येन तथा देव्या शिवः स्वयम्।
शिवदूतीति लोकेऽस्मिंस्ततः साख्याति मागता ॥२७॥

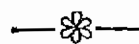
अनुवाद—जिस हेतु उन देवी (चण्डिका) कर्त्तृक स्वयं शिव दौत्यकार्य में नियुक्त हुए थे, उसी हेतु वे लोकमें शिवदूती नाम से ख्यात हुई हैं।

व्याख्या—स्वयं शिव जिनके दूत, वे सत्य सत्य शिवदूती ही हैं। जिन की प्रेरणा से अन्तर्यामी पुरुष प्रति जीव के अन्दर रहकर जीवों की उच्छृङ्खल गति (स्वेच्छा चारिता-अनाचार) को सँयत करते हैं, जिनके प्रेरणा से ईशान नित्यानित्य वस्तुविवेक वा विचार रूप से प्रति जीव के अन्दर अवस्थान करते हैं, वे ही है शिवदूती। शिव को विज्ञानमय गुरु को दूतरूप से नियोग करने की सामर्थ्य एकमात्र चिति-शक्तिही को है। । इसीसे अम्बिका के शरीर से निगत चण्डिकादेवी ने ईशान को दौत्य कार्य में नियुक्त किया। चितिशक्ति स्वय सर्व्वभा-वातीत है इसी से तदाश्रित वा तदुत्पन्न शक्ति समूह ही समस्त कार्य सम्पन्न करती रहती हैं। साधक, जबतक विज्ञानमय गुरु चितिशक्ति की अमृतमय वार्त्ता लेकर दूत रूप से जीवके निकट उपस्थित न हों, तब तक जीवों की क्या सामर्थ्य है कि वे जगत के धूला-खेला को तुच्छ करके अमृत के अन्वेषी हों। गुरु ही तो एकान्त आग्रह से माके निकट जाकर बोलते हैं, "हन्यन्तामसुरा; शीघ्रं मम प्रीत्या—मेरी प्रीति के लिए शीघ्र असुर विनाश करो।" गुरु की इच्छा ही से तो चण्डिका कर्त्तृक असुरगण निपातीत होते हैं। जब तक गुरु के हृदय में असुर-विनाश की इच्छा नहीं जागती, तबतक चण्डिका देवी असुर निधन करने को उद्यत नहीं होती। क्या होने से गुरु को ऐसी मङ्गल-मयी इच्छा जागती है, सो जानना चाहते हो? तो सुनो—जब शिष्य की इच्छा कहने को कुछ नहीं रहती, शिष्य के हृदय की प्रत्येक इच्छा जब गुरु की इच्छा का हीं सम्यक् अनुवर्त्तन करती है, तभी समझना चाहिए, असुर निधन के लिए गुरु की अनुप्रेरणा आने में अब विलम्ब नहीं। गुरु को देख नहीं सकते? यह विश्व ही तो गुरु का स्थूलरुप है। गुरु को नहीं देखते? देखो तो अन्दर अन्दर में बोध रुपसे, ज्ञानरूप से, हिताहित विचाररुप से नित्य ही वे विराजित हैं। तथापि देख नहीं पाते? तो सुनो—जो स्थूल में विश्वमूर्त्ति, सूक्ष्म में केवल ज्ञानमूर्त्ति हैं, वे ही फिर विशेष करुणा से विसिष्ट मनुष्य मूर्त्ति से आविर्भूत होते हैं। विज्ञानमय गुरु कृपा धन होकर ही मनुष्य का

आकार धारण करते हैं। गुरु कभी भी मनुष्य नहीं होते, अथवा मनुष्य कभी भी गुरु नहीं होता। गुरु, नित्य ही गुरु, नित्य ही ईशान नित्य ही सर्व्वभूत-महेश्वर विश्वनाथ है। जिनके हृदय में मा हमारी श्रद्धामूर्ति से आविर्भूत हुई हैं, केवल वेही गुरु का स्वरूप हृदयङ्गम करने में समर्थ होते हैं।

सधाक, यह जो नित्यानित्य-वस्तुविवेक वा विचार बोलकर बात सुनते हो, यह जो विवेक, यह जो विचार है, वही तो गुरु की प्रकट कृपा है। केवल श्रवणद्वारा, केवल मौखिक आलोचना द्वारा कभी भी नित्यानित्य-विषयक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। नित्य वस्तुमें विचरण न कर सकने से, अनित्य वस्तु के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। और वस्तु के स्वरुप विषयमें यथार्थ ज्ञान न होने से तद्विषयों में आग्रह वा त्याग कुछ भी उपस्थित नहीं होता।

नित्यानित्य वस्तुके स्वरूपज्ञान के लिये एकमात्र गुरु कृपा ही अव्यर्थ हेतु है। गुरुका आसन हृदय में प्रतिष्ठित होने से, जीव निश्चय ही नित्यानित्य वस्तु विचार में समर्थ होता है। अच्छा जो हो, हम यहां पर देखते है—हितोपदेश लेकर ईशान शुम्भ के निकट उपस्थित है। साधक तुम भी लक्ष्य करके देखना, तुम्हारे प्रत्येक ही कार्यों में इसी प्रकार ईशान का आविर्भाव होता है या नहीं?



तेऽपि श्रुत्वा वचो देव्याः शर्व्वाख्यातं महासुराः।
अमर्षापूरिता जग्मुर्यतः कात्यायनी स्थिता ॥२८॥

अनुवाद—ईशानवर्णित देवी के वाक्य समूह श्रवण करके असुरगण अत्यन्त क्रोध के साथ, जहां पर कात्यायनी देवी अवस्थान करती थीं, वहाँ गये।

व्याख्या—"आसन्नकाले विपरीत बुद्धिः" "न शृन्वन्तिसुहृद्-वाक्यं हतायुषः" आसन्नकाल में जीव की विपरीत बुद्धि उपस्थित

होती है,हतायु व्यक्ति सुहृदयका हितोपदेश श्रवण नहीं करता। असुरों ने भी इस नीति का अन्यथा नहीं किया। वे प्रलयपुरी के आतिथ्य स्वीकार करने को उद्यत हुये। शर्व कर्त्तृक आख्यात अर्थात् ईशान कर्त्तृक वर्णित देवी के तीनों ही आदेशों की असुरों ने उपेक्षा की। देवी ने कहा था — "त्रैलोक्यमिन्द्रोलभतां, देवाः सन्तु हविर्भुजः युयं प्रयात पातालम्" इन तीनों ही आदेशों का अमान्य करके, असुरगण युद्धाकांक्षी हुँये, सुतरां माका चतुर्थ वाक्य निश्चिय सफल होगा। शीघ्र ही असुरों के मांस से शिवागणों की परितृप्ति साधन होगी।

सुनो, अस्मिता तो आत्मा नहीं, बुद्धि भी स्वयं चैतन्य नहीं है, इसे हम युक्ति और विचारों की सहायता से विशेषरूप से समझ सकने पर भी हमारे कार्य समूह उसके विपरीत भाव से सम्पन्न होते हैं। कार्यतः हम अस्मिता ही को आत्मारूप से, इस बुद्धि ही को चैतन्य रूप से ग्रहण करते हैं। सुतरां ईशान के उपदेश—विवेक की वाणी हमारे निकट कुछ भी कार्यकारी नहीं होती। हम किसी प्रकार भी विशुद्ध चैतन्य स्वरूप वस्तु को परिग्रह नहीं कर सकते, भय होता है-पीछे कहीं हमारे बड़े साध की "मैं" खोजाय! किन्तु इसबार आशा हुई है, असुर क्रुद्ध होकर युद्धार्थ कात्यायनी के पास आये हैं, सुतरां उनका प्रलय अवश्यम्भावी है।

इस मन्त्र में अम्बिका देवीको ही कात्यायनी कहा गया है। कात्य शब्दका अर्थ—ब्रह्मज्ञ पुरुष। वे जिनको अयन अर्थात आश्रय करते हैं, सो ही है कात्यायनी। ब्रह्मज्ञ पुरुषगण एक मात्र चितिशक्ति अर्थात् अम्बिकादेवी का ही सर्व्वतोभाव से आश्रय करके रहते है, इसीसे मां हमारी कात्यायनी नाम से प्रसिद्ध है साधक शीघ्र ही ब्रह्मविद् होंगे इसीसे ऋषिने यहां पर मा हमारी को कात्यायनी नाम से अभिहित किया है।

ततः प्रथममेवाग्रे शरशक्त्यृष्टि वृष्टिभिः ।
ववर्षुरुद्धतामर्षास्तां देवीममरारयः ॥२९॥
सा च तान् प्रहितान् वाणाञ्छूल चक्रपरश्वधान ।
चिच्छेद लीलयाध्मातधनुर्मुक्तै र्महेषुभिः ॥३०॥

अनुवाद—इसके बाद प्रथम ही क्रोध से उद्धत असुरगणों ने देवी के प्रति शर, शक्ति एवं ऋषि अस्त्रसमूह वृष्टिधारा की तरह वर्षण करना आरम्भ किया, एवं देवी भी असुर-निक्षिप्त वाण सूल चक्र एवं परशु प्रभृति अस्त्र समूहों को अवलीलाक्रम से शब्दायमान धनु से विमुक्त महाशर समूह प्रयोग करके छिन्न करने लगी।

व्याख्या। युद्धक्षेत्र में जो पहिले अस्त्र प्रयोग करता है, उसे आततायी पक्ष कहते हैं, एवं जो बाद में अस्त्र प्रयोग करता है, उसे आत्मरक्षी पक्ष कहते हैं, युद्ध शास्त्र में ऐसा ही कहा गया है। कुरुक्षेत्र युद्ध में प्रथम कौरव पक्ष शखंध्वनि करके युद्ध में प्रवृत्त हुये थे, इसी लिये दुर्योधनादि आततायी पक्ष एवं पाण्डवगण आत्मरक्षी पक्षरूपसे वर्णित हुआ है। यहां भी देकते हैं असुरगण ही पहिले मातृ अङ्गमें शस्त्राघात करने को उद्यत हैं। वे आत्माको हनन करना चाहते हैं, इसीसे हैं आततायी। शास्त्रमें उक्त है-आततायी को निर्विचार हत्या करे। इसीसे मा हमारी अचिरात् (शीघ्र ही) इनको हत्या करके, स्नेह की सन्तान को अभयपद पर प्रतिष्ठित करेंगी। इस बार हम असुरगणों के अस्त्रप्रयोग का रहस्य समझने की चेष्टा करेंगे। घृणालज्जामय जातिकुल प्रभृति सस्कार समूह अस्मिता के विशेष व्यूहमात्र हैं। वे स्व स्व विशिष्ट भावों के द्वारा आत्मबोध को विशोषित करने का प्रयास करते है, ये ही असुरगणों के मातृ-अंग में अस्त्र निपेक्ष हैं। पूर्व्वोक्त घृणालज्जादि विशिष्टभाव समूह आतमबोध के साथ ऐसी जकड़ गये हैं कि, पुनः पुनः विचार के द्वारा आत्मा का असङ्गत्व निर्णित होने पर भी ये सब भाव पुनः पुनः आत्मबोध को

विशिष्ट कर डालते हैं। सर्व्वथा असङ्ग आत्माको किसी प्रकारसे विशेषित करना ही असुरों का अस्त्र प्रयोग है।

इसी प्रकार उदायुध प्रभृति असुरगण अर्थात् घृणा लज्जादि पाश समूह पुनः पुनः विशुद्ध चितिशक्ति के अंग में नाना भावरूप अस्त्र-शस्त्र प्रयोग करने लगे, तब मा हमारी शब्दायित धनु से महाइषु निक्षेप करके असुर-निक्षिप्त अस्त्रों को विनष्ट करने लगी। शब्दायित धनुसे महा इषु निक्षेप करना ही उपनिषत प्रतिपाद्य उपासनाका रहस्य है। प्रणवरूप धनुपर आत्मबोध रूप शर संयुक्त करके पुनः पुनः ब्रह्म लक्ष्य मे निक्षेप करने होता है। ऐसा करने ही से आत्मा ब्रह्म स्वरूपमें अवस्थान करती है: सुतरां घृणा लज्जादि विशिष्ट भाव समूह अन्तर्हित हो जाते हैं। आत्मा ब्रह्म स्वरूप से अपने को विच्युत वा पृथकरूप से दर्शन करती है तभी तो उनको अष्टपाश रूपी असुरगणों के अस्त्राघात सह्य करने होते हैं। केवल पूर्वोक्त शर प्रयोग से अर्थात् उपासना रूप तीव्र प्रयत्न के फल से ही आत्माके निर्विशेष स्वरूप की उपलब्धि होती है।

साधक! तुम भी अपने बहुजन्म सञ्चित अष्टपाशरूपी आसुरिक भाव को लेकर माके अङ्गमें निक्षेप करो। तुम मा की कृपासे अचिर-काल में पाशमुक्त होओगे—जीवत्व विदूरित होगा, शिवत्व लाभ होगा। और यदि मातृचरणों में सर्वतोभाव से आत्मसमर्पण कर चुके हो, तो फिर तुमको कुछ भी नहीं करने होगा, साधन-समरमें प्रविष्ट साधकगणों की तरह तुमको भी मा स्वयं ही अष्टपाश से मुक्त कर लेंगी।

तस्याग्रतस्तथा काली शूलापातविदारितान्।
खट्वाङ्गप्रोथितांश्चारीन् कुर्व्वती व्यचरत्तदा ॥३१॥

अनुवाद—तब काली अरिगणों को शूलाघात से विदीर्ण एवं खट्वाङ्ग द्वारा प्रोथित करके उनके (आम्बिका के) सम्मुख भाग में विचरण करने लगीं।

व्याख्या। अब देवशक्ति समूह का पृथक पृथक भाव से असुर क्षय करने का विवरण वर्णित होगा। पहले ही काली वा चामुण्डा शक्ति की बात होती है। उन्होंने कितने ही असुरों को शूलाघात से विदीर्ण, और कितनों को खट्वाङ्ग द्वारा प्रोथित किया। यद्यपि काली शक्ति के विनिष्क्रमण काल में विशेष भाव से शूलास्त्र का कोई उल्लेख नहीं है, केवल असि, पास, खट्वाङ्ग, इन्हीं तीन अस्त्रों का उल्लेख है, तथाति समझने होगा—यह अष्ट शक्ति जब ईशान ही का विभिन्न प्रकाशमात्र है, तो ईशान का विशेष अस्त्र शूल प्रत्येक शक्तिपर ही है। शूलास्त्र सम्बन्ध में विशेष व्याख्या द्वितीय खण्ड में की गई है। शूल शब्द से साधारणतः त्रिशूल ही समझा जाता है। त्रिपुटी ज्ञान ही त्रिशूल है। असुर निधन के लिये ऐसा अव्यर्थ अस्त्र और नहीं है। महिषासुर से शुम्भतक प्रधान-प्रधान असुर समूह सभी इसी शूलाघात से विलय प्राप्त हुए हैं।

साधक! द्वितीय खण्ड में त्रिशूल नामसे ज्ञान की त्रिपुटी समझे थे, और यहाँ पर उसे आनन्द की त्रिपुटी कहकर समझ लेना। तीनों आनन्द और उनका अनुभव एवं आनन्दका अनुभवकर्ता, इन्हीं को आनन्द की त्रिपुटी कहते हैं। एक ही आनन्द वस्तु इस त्रिविध स्पन्दन से प्रतिनियतत (सबसमय) प्रकाश पा रही है। यह जब सम्यक् रूप से उपलब्धि किया जा सके, तभी असुर कुल निर्मूल होता, इसी से कहता था—असुर-निधन के लिये त्रिशूल अस्त्र ही विशेष कार्यकारी है।

काली—प्रलयङ्करी शक्ति इस तरह से आनन्द की त्रिपुटी प्रयोग करके षड़शीतिसंख्यक उदायुधवंशीय असुरगणों को निहत करके, अम्बिका देवी के अग्रभाग में आनन्द से विचरण करने लगी। पूर्व में ही कह चुका हूं—विशुद्धा चित्तिशक्ति के सम्मुख भाग में ही प्रलय-शक्ति विराज करती है। कारण सर्वभावों का विलय नहीं होंने से परमोत्माबोध उद्भासित नहीं होता। इसीसे मंत्र में 'तस्यातोव्यचरत्' इस प्रकार वाक्य का प्रयोग हुआ है। "तस्याग्रतः पदसे तस्याः शद्बका विसर्ग लोप होने से भी सन्धि हुई है, सो आर्ष प्रयोग है। अच्छा जो हो, यद्यपि इस मंत्रमें उदायुध-असुर का निधन वर्णित नहीं हुआ तथापि समझ लेना होगा—शुम्भ के आदेश से जो आठ असुर-सम्प्रदाय युद्धार्थ निर्गत हुये हैं, जिनको हमने घृणालज्जादि अष्टपाशरूपसे समझ लिया है, इस बार वे ही अष्ट पाश रूपी आठ असुर-सम्प्रदाय अम्बिका के शरीर से विनिर्गत अष्टशक्ति कर्त्तृक क्रम क्रम से निहत हो रहे हैं। उनमें से प्रथम ही चामुण्डाशक्ति ने उदायुध नामक असुर को अर्थात जीव की घृणा नामक प्रथम पाश को विलय कर दिया। एक मात्र अखंड आनन्द सत्ता व्यतीत और कहीं भी कुछ भी नहीं है इसकी उपलब्धिकर सकने ही से जीवका भेद ज्ञान सम्यक्अपनीत होता है। भेदज्ञान दूरी भूत होने ही से जीवका घृणा नामक संस्कार हमेशा के लिये विलुप्त हो जाता है। इसी प्रकार साधक प्रथम पाश से विमुक्त होकर शिवत्व लाभ के पथपर अग्रसर होने लगता है।

कमण्डलु जलाक्षेप हतवीर्य्यान् हतौजसः।
ब्रह्माणी चाकरोच्छत्रून् येन येन स्म धावति ॥३२॥

अनुवाद—ब्रह्माणी युद्ध क्षेत्र के जिस जिस अंशमें द्रुतवेगसे गमन करती थी, कमंडलु-जलनिक्षेप से उसी अंश के शत्रुओंको हतवीर्य और हतोद्यम करती जाती थी।

व्याख्या। जिस शक्ति के प्रभाव से सृष्टि के अव्यक्त बीज समूह पुनः कार्य के उपयोगी हो जाते हैं, वह शक्ति ही सृष्ट जीवों का जीवन है। सोई ब्रह्माणी के कमण्डलु स्थित जल है। यही जल अर्थात् जीवनीशक्ति निक्षेप करके ब्रह्माणी असुरों को हतवीर्य एवं हतोद्यम करने लगीं। ब्रह्माणी के कमंडलु-जलनिक्षेप रूप कार्य द्वारा जीव समूहों की पुनराय प्राणोत्पादन की सामर्थ्य अर्थात् बीजों का बीजत्व विनष्ट होता था! साधक याद रखना—मा जब तक इस प्रकार ब्रह्माणी मूर्ति से आविर्भूत होकर सृष्टि के बीजाधार से जल वा जीवनी शक्ति को अपसारित न कर दें, तब तक जन्म मृत्यु का स्रोत निरुद्ध नहीं होता। साधकों की अपनी चेष्टा से यह किसी प्रकार भी सम्पन्न नहीं हो सकता। हमारी पुञ्जीभूत इच्छाओं के तल देश में कहां पर कौन संस्कार छिपे हैं, सो हम नहीं जानते, जान नहीं सकते किन्तु मा की तीव्र दृष्टि से वे सभी उद्भासित हो पड़ते हैं। इन्हीं छिपे संस्कार समूहों को प्रकट करके उनकी जीवनी शक्ति विनष्ट कर देना ही ब्रह्माणी शक्ति का कार्य है। साधकगण विशेषभाव से लक्ष्य करेंगे—साधना के पथ में जितना ही वेशी अग्र-सर हुआ जाता है उतना ही बीच बीच में नानारूप प्रतिकूल संस्कार अति तीव्र वेग से प्रकट होने लगते हैं। एवं उन्हीं के प्रभाव से अनेक साधक बिलकुल हताश और भग्नोद्यम हो पड़ते हैं। ऐसे समाचार गुरु के समीप में उपस्थित होना आवश्यक है। वे समझा देंगे ऐसी घटनाओं में हताश होने का कोई कारण नहीं। वह असुर कुल की जोवनी शक्ति नाशक पूर्वायोजन है। ब्रह्माणी के इस कमण्डलु-जल निक्षेपका रहस्य समझ सकनेसे फिर साधकों को किसी प्रकार हताश वा भग्नोद्यम होनेकी आशंका नही रहेगी। और एक बात, यद्यपि इस मंत्र में विशेष भाव से उक्त नही हुआ, तथापि समझ लेने होगा कि ब्रह्माणी शक्ति कर्तृक ही चतुरशीति संख्यक कंबु नामक असुरकुल निहत हुआ था। इसी तरह से मा हमारी भेद ज्ञानमूलक लज्जा वा आत्म सकोच रूप द्वितीय पाशको छिन्न कर देती हैं। स्थूल बात,

विपर्य्यय-ज्ञान विलुप्त होने पर साधक जितना ही अद्वय सत्ताकी ओर अग्रसर होता जाता है, उतने ही यावतीय भेद ज्ञान एवं तज्जन्य (उनसे पैदा हुए) नानारूप संस्कार विलय प्राप्त होते जाते हैं। इसमें असम्भवता एवं अस्वाभाविकता कुछ नहीं।

माहेश्वरी त्रिशूलेन तथा चक्रेण वैष्णवी।
दैत्यान् जघान कौमारी तथा शक्त्यातिकोपना ॥३३॥

अनुवाद। माहेश्वरी त्रिशुल द्वारा, वैष्णवी चक्रद्वारा एवं कौमारी शक्ति अस्त्रद्वारा अतिशय क्रोध के साथ दैत्यवृन्द को निधन करने लगीं।

व्याख्या। माहेश्वरी वैष्णवी एवं कौमारीने त्रिशुल चक्र एवं शक्ति अस्त्र प्रयोग से यथाक्रम से कोटिबीर्य धौम्र एवं कालक नामक असूर समूह को निहत किया। त्रिशुल चक्र एवं शक्ति शब्दकी व्याख्या इसके पूर्व विशेषभाव से की जा चुकी है। पूर्वोक्त असूरत्रय यथा क्रमसे भय शंका एवं जुगुप्सा नामक जीवों की तृतीय चतुर्थ एवं पंचम पाश हैं; यह प्रथम ही कहा जा चुका है। हमारी मा ने माहेश्वरी विज्ञानमयी मूर्ति से आविर्भूत होकर त्रिशुल अर्थात् आनन्दमय त्रिपुटी-प्रयोग से अतिप्रबल मृत्युभय रूप संस्कार को विलय कर दिया। जो मरण त्रास ज्ञानवानों का भी विदूरित नही होता, मा हमारी ने आज माहेश्वरी मूर्त्ति से प्रकटित होकर उसे भी विनष्ट कर दिया। वैष्णवी ने प्राणमयी स्थिति शक्ति रूप सेआविर्भूत होकर सुदर्शन चक्र अर्थात् दिव्य दृष्टि प्रयोग से आशंकारूप चतुर्थ पाश छिन्न किया। प्रियवस्तु वा व्यक्ति का विनाश हो सकता है, ऐसी आशंका उन्नत स्तर के साधकगणों में भी देखी जाती है। मा हमारी ने वैष्णवी मूर्त्ति से प्रकटित होकर उसका भी विलय साधन किया। इसी प्रकार कार्त्तिकेय शक्ति अर्थात् देवसेना-परिचालनकारिणी शक्तिने आविर्भूत होकर

भेद ज्ञान मूलक जुगुप्सा नामक संस्कार विनष्ट किया। भेदज्ञान जितना क्षीण होता जाता है, गोपनेच्छा आत्मसंकोच प्रभृति उतना ही विनष्ट होता है। साधक! देखो—मा जिसको पाशमुक्त करके शिवत्व प्रदान करती हैं, ठीक ऐसे ही करके उसके समस्त बन्धन निज हाथ से छिन्न कर देती हैं। जो मातृचरणों में सर्वतोभावसे शरणागत हो सके हैं, देखा जाता है—एकमात्र वे ही इस प्रकार के सुयोग और सौभाग्य लाभ से धन्य हो जाते हैं। इसीसे कहता हूं प्रियतम साधक-वृन्द! मातृ-चरणों में सर्वथा शरणागत होने के लिये यथासाध्य प्रयत्न प्रयोग करो।

ऐन्द्रीकुलिशपातेन शतशो दैत्यदानवाः।
पेतुर्विदारिताः भूमौ रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥३४॥
तुण्डप्रहारविध्वस्ता दंष्ट्राग्रक्षतवक्षसः।
वराहमूर्त्या न्यपतंश्चक्रेण च विदारिताः ॥३५॥
नखैर्विदारितांश्चान्यान् भक्षयन्ती महासुरान्
नारसिंही चचाराजौ नादापूर्णदिगम्बरा ॥३६॥

अनुवाद। इन्द्राणी ने वज्रपात के द्वारा शत-शत दैत्य दानवों को विदीर्ण करके भूतल पर गिरा दिया। उनके देह से रुधिर वर्षने लगी। वाराही शक्ति ने असुरगणों को स्वकीय तुण्ड प्रहारसे विध्वस्त किया और दन्ताघात से उनका वक्षःस्थल क्षतविक्षत एवं अस्त्राघातसे उनको विदीर्ण करके निपातित करने लगीं। इसी तरह नारसिंही शक्ति भी अन्य असुरों को नखों के द्वारा विदीर्ण करके, भक्षण करने लगीं एवं घोर नाद से दिङ्मण्डल परिपूर्ण करके युद्ध स्थल में विचरण करने लगीं।

व्याख्या। इन तीन मंत्रों में इन्द्राणी, वाराही एवं नारसिंही शक्ति का असुरक्षय विवरण वर्णित हुआ है। शुम्भने जो आठ सम्प्रदाय असुरों को युद्धार्थ प्रेरण किया था, उनमें मात्र तीन ही अवशिष्ट है। उनके बाद दौहृंत, मौर्य एवं कालकेय हैं। इन्द्राणी, वाराही एवं नारसिंही मूर्त्ति से प्रकटित होकर हमारी मां ने इन असुरत्रय को भी निहत किया। आध्यात्मिक भावसे इनको कुल, शील और जातिरूप से व्याख्या की गई है। ये तीन ही जीवके षष्ठ, सप्तम और अष्टम पाश हैं। इस कुल शील और जातिरूप पाश के हाथ से परित्राण पाने के लिये साधकगण शिखा-सूत्र त्याग सन्यास ग्रहण यथेच्छा आहार विहार प्रभृति कितने-कितने उपाय अवलम्बन करते हैं। किन्तु अति-अल्पसंख्यक साधक ही यथार्थ इन सब बन्धनों के हाथ से मुक्त हो सकते हैं। बन्धन अर्थ बोधक पश धातु से पाश शब्द निष्पन्न हुआ है। सुतरां पाश मुक्त होना और बन्धन मुक्त होना एक ही बात है। मां जिसको चाहती हैं उसको सर्वविध बन्धनों से मुक्त कर देती है, इसीसे देखता हूँ मां हमारी नाना मूर्त्ति से नाना भावों से सन्तान को पाशमुक्त कर रही है। धन्य साधक! इसबार तुम अष्ट-पाश मुक्त होकर शिवत्व प्राप्ति के योग्य हुये। धन्य तुम्हारी मातृ-चरणों में शरणागति! प्रारब्ध संस्कारों में ये अष्ट पाश के संस्कार अति प्रवलभाव से अवस्थान करते हैं। सचित और आगामी संस्कारों में ये जो न रहते हों सो नहीं, तब हाँ इसके पहले ही मा की कृपा से वे अश्लेष एवं विनाश प्राप्त हो चुके हैं। विशुद्ध अद्वय ज्ञान में उपस्थित होने के लिये प्रबल प्रारब्ध ही विशेष अन्तराय हैं, इसीसे माने इनको नानारूप से विनष्ट कर दिया हैं, कितनों को भोगों के भीतर होकर कितनों को संयम के भीतर होकर, कितनों को स्वप्नके भीतर होकर, विलय किया है कौन संस्कार किस प्रकार के भावसे क्षय प्राप्त होता हैं, सो निश्चय करके कहना असम्भव है। माकी महती इच्छा कितने तरह के भावों से प्रकटित होकर कितनी तरह से स्नेहभरी सन्तान को पाशमुक्त कर देती है, उसे साधकगण सामान्यमात्र ही लक्ष्य कर

पाते हैं। अच्छा जो हो, हम यहां पर देख रहे हैं—मा विभिन्न मूर्ति से प्रकटित होकर बिभिन्न संस्कारों को क्षय कर दे रही हैं।

चण्डाट्टहासैरसुराः शिवदूत्याभिदूषिताः ।
पेतुः पृथिव्यां पतितां स्तांश्चखादाथ सा तदा ॥३७॥

अनुवाद। शिवदूती देवी के (अम्बिका के शरीर से आविर्भूत चण्डिका देवी क) प्रचण्ड अट्टहास्य से असुरगण अभिदूषित अर्थात मूर्छित होकर भूतल पर निपतित होने लगे, तब वे स्वयं उनको भक्षण करने लगी।

व्याख्या। शिवदूती अर्थात् चण्डिका देवीभी पूर्वोक्त अष्टमातृकाओं के साथ एकत्रित होकर असुरकुल क्षय करने लगीं। अट्टहास्यही इनका युद्ध-साधन अस्त्र हैं। प्रलय की अट्टहासी ने असुरों के हृदय में ऐसी भीति का सञ्चार कर दिया था कि, वे मूर्छित होकर भूतल पर निपतित होने लगे, एवं देवी स्वयं उनको भक्षण करने लगीं। यावतीय भेद भ्रान्तिही शिवदूत कर्त्तृक निधनयोग्य असुर है। जिनकी प्रेरणा से विज्ञानमय महेश्वर ईशान दौत्यकार्य्यमें नियुक्त हुये थे, वे—सोई शिवदूती—सोई ज्ञानमयी महती शक्ति भी—आज असुर निधन को उद्यत हुई। उनके आविर्भाव से सर्वविध भेद भ्रान्ति विदूरित होगी उसमें फिर विचित्रता ही क्या? भेद पांच प्रकार होता है:—(१) जीव और ब्रह्म भेद, (२) जीव और ईश्वर भेद, (३) जीवोंके साथ जीवोंका भेद, (४) जीव और जड़ भेद एवं (५) जड़ों के साथ जड़ों का भेद। ये सब भेद-भ्रान्तिरूप असुर एकबार अद्वय ज्ञान के प्रकाश पाने से अचिरात् मूर्छित् और निपतित होते हैं। "एकमेवाद्वितीयम् तत्वमसि" प्रभृति मन्त्रों का उच्चारण एवं उनके साथ अद्वयज्ञान के क्षणिक प्रकासरूप हासी, भेदभ्रान्ति रूप असुर समूह को क्षण काल में ही विलय कर देती है। इसके पूर्व वे ज्ञानमय सत्ता के ऊपर हो

अधिष्ठित थे। तब उन्हें ठीक अज्ञान कहकर पकड़ नहीं सके; किन्तु इसबार अखण्ड ज्ञानमय सत्ता प्रकाशित होने ,से वे मूर्च्छित हो पड़े। बाद में उन सबको शिवदूती ने स्वयं ग्रास कर डाला। इसी से मंत्र में "तांश्चखाद—उन असुरोंको भक्षण किया" ऐसे वाक्य का उल्लेख हुआ।

साधक देखो, जितने परिमाणमें ज्ञानका प्रकाश आकर पड़ता है, उतने ही परिमाण में अज्ञान के भेद-भ्रान्तिरूप असुर निर्मूल होते रहते हैं। इसी से तो पहले ही से कहता आ रहा हूं—अरे, तुमलोग अज्ञान दूर करने की चेष्टा मत करो, केवल ज्ञान के उदयकी ओर लक्ष्य राखो। अज्ञान दूर करना ही जीवन का उद्देश्य नहीं, आलोक दर्शन वा ज्ञान लाभ करना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। ज्ञान लाभ होने से अज्ञान-अन्धकार अपने आपही भाग जाता है। किन्तु वह और बात है—

इति मातृगणं क्रुद्धं मर्दयन्तं महासुरान्।
दृष्ट्वाभ्युपायैर्विविधैर्नेशुर्देवारिसैनिकाः ॥३८॥

अनुवाद। इस प्रकार नाना उपायों से मातृगण महासुरगणों को विमर्दित करती हैं देखकर, दैत्यसेना अदृश्य हो गई अर्थात भाग गई।

व्याख्या। मा एका अद्वितीया होते हुये भी आज मातृगणरूप से ब्रह्माणी प्रभृति विभिन्न शक्ति रूप से असुरगणोंको—यावतीय द्वैत प्रतीति समूह को—विमर्दित करने लगीं। उसके फल से असुर कुल बिनष्ट होने लगा। साधक! लक्ष्य करना—द्वैत-प्रतीति समूह विशुद्ध बोध के उदय से एक एक करके विनष्ट हो जाती हैं मा की कृपा से पञ्चविध भेद-भ्रान्ति अष्टविध पाश इसी तरह से अदृश्य हो जाते हैं। अदर्शनार्थक नश धातु' से 'नेशु" पद निष्पन्न हुआ। बोध वस्तु जब स्वप्रकाश रूपसे उद्भासित होती हैं, अर्थात् [illegible] अपने

को आपही प्रकाश करती हैं, तब भेद-ज्ञान समूह अथवा भेद ज्ञान-मूलक विभिन्न संस्कार समूह अपने आपही विलुप्त हो जाते हैं। अब देखो साधक, मा ने तुमको धीरे धीरे कहाँ से कहाँ लाकर उपस्थित किया है। मनो राज्य से विज्ञान राज्य में विज्ञान से भावातीत क्षेत्र में ले आई हैं! अब तुमको कुछ भी नहीं करना पड़ा। तुम मातृ अंकस्थ नग्न शिशु हो, तुम सरल प्राणोंसे केवल 'मा मा' बोलकर ही निश्चिन्त हो। इसके बाद क्या करने होगा, किस प्रकार तुम्हारे बहुजन्म संचित दुरपनेय संस्कार राशि को विलय करना होगा, उन सब विषयों में फिर तुमको लक्ष्य करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं केवल मा के खेला समूह प्रत्यक्ष करते जाना ही तुम्हारा कार्य्य है। भ्रम से भी मत सोचना, तुम्हारी कठोर साधन किंवा सुदृढ़ भक्ति के बल से ऐसा हो सकता है। यदि सो होता तो साधक वा भक्तिमान् मात्र ही मुक्तिलाभ कर सकते। स्मरण करो—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्येव आत्मा वृणुते तनुँ स्वाम्" जो आत्मा को वरण करता है जो आत्मा को जीवन ही का एक मात्र लक्ष्य जानकर आत्मचरणों में आत्मसर्पण करता है, एकमात्र उसके निकट ही आत्मा अपना स्वकीयस्वरूप सम्यक्-रुप से उद्भाषित करती है।

पलायन परान् दृष्टवा दैत्यान् मातृगणार्दितान्।
योद्धु मभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महासुरः ॥३९॥
रक्तनबिदुर्यदा भूमौ पतत्यस्य शरीरतः।
समुत् पतति मेदिन्या स्सत् प्रमाण स्तदासुरः ॥४०॥

अनुवाद। मातृगण कर्त्तृक विमर्दित दैत्यगणों को पलायन तत्पर देखकर अति क्रुद्ध रक्तबीजनामक असुर युद्धार्थ उपस्थित हुआ। उनके

शरीर से एक विन्दू रक्त भूतल पर निपतित होने से, ठीक उसी तरह के प्रमाण विशिष्ट और एक असुर भूमितल से पुनः उठ खड़ा होता।

व्याख्या। यह रक्तबीज ही शुम्भ का शेष सेनापति है। इसके बाद एकमात्र निशुम्भ अवशिष्ट रहा, उसको तो फिर सेनापति नहीं कहा जा सकता। जो हो, इस रक्तबीज का रहस्य अति विचित्र है, थोड़ा धीर भाव से इस तत्व में अवगाहन करना होगा। मा आनन्दमयी महाशक्ति। तुम धीरूप से धारणावती मेधारूप से आत्म प्रकाश करो। तुम्हारा यह अति गहन लीला रहस्य हमारी इस क्षीण बुद्धि में उद्भाषित हो। तुम्हारी कृपा से, ततोधिक तुम्हारे स्नेह से इस दुरधिगम्य मधु चक्र से आनन्दमय विज्ञानमधु पान करके हम धन्य हों। जगत के लोग तुम्हारे इस अपूर्व्व लीला-रहस्य को अवगत होकर, तुमको सरल प्राणों से मा कह कर पुकारना सीखें। दुःख सन्तापमय विश्व फिर से आनन्द में प्रतिष्ठित हों।

'मैं जीव' इसी भाव का नाम रक्तबीज है। मैं अर्थात् आत्मरूपी बीज जब जीवत्वरूप विशेषण द्वारा रक्त अर्थात् रञ्जित होता है, तभी उसे रक्तबीज कहा जाता है। बीज एकमात्र परमात्मा मा हमारी हैं। उनमें जब जीवत्वरूप-द्वैतज्ञानरूप भाव की रञ्जना होती है, तभी विशुद्ध बोधवस्तु स्वजातिय विजातीय एवं स्वगत भेद विशिष्ट हो पड़ती है, निरंजन बीज का यह जो अभिरञ्जन भाव हैं इसीका नाम है रक्तबीज। रक्तबीज का यह विशेषत्व है कि इसके शरीर से एक बिन्दु रक्त भूपतित होते मात्र और एक रक्तबीज उत्पन्न होता हैं, रक्त अर्थात् रञ्जित होना रूप भाव जब ही भूपतित होता है, पार्थिव भावों के भीतर आ पड़ता है स्थूल भावों में आ पड़ता है, तभी फिर जीवभाव फूट उठता है! रञ्जित होने का भाव जव तक रहेगा, तव तक वह भूपतित होगा ही सुतरां निरञ्जन बीजको भी अभि रञ्जित करेगा ही। सहस्र-साधना, सहस्र-ज्ञानालोचना; सहस्त्र अनुभूति भी 'मैं जीव' इस बोध को सम्यकरूप से विजय नहीं कर सकती। अद्वैततत्त्व प्रतिपादक एकमेवाद्वितीयम्, अयम् आत्मा

ब्रह्म, तत्वमसि, प्रभृति श्रुतिवाक्य के यथायथ अनुशीलनके फल से साधक जव जीव-ब्रह्म की भेद-भ्रान्ति के परपार चलेजाने को उद्यत होता है, अर्थात् अद्वय ब्रह्म स्वरूप साक्षात् करने को यत्नवान होता है, तत्क्षणात् यह रक्तबीज आविर्भूत होकर—'मैं जीव' रूप से फूट उठता है (खिल उठता है वा जाग उठता हैं)। यह जीवत्वरूप अज्ञान ही साधक की उस उद्वयगति को निरुद्ध करके खड़ा हो जाता है। साधकगण निज निज जीवन में इसे अहर्निश अनुभव करते हैं। मां की विशेष कृपा व्यतित यह भयङ्कर असुर निहत नहीं होता। जो यथार्थ अद्वयतत्व उपलब्धि के निकटवर्ती हुये है, जो अस्मिता को वा बुद्धि में प्रतिविम्बित चिदाभास को भी असुर बोलकर समझ सके हैं, केवल वे ही इस रक्तवीज रहस्य की उपलब्धि कर सकेंगे। अरे, 'मैं जीव' इस भाव को विचार की सहायता से सहस्रधा विनष्ट करने पर भी वह जैसा था, फिर ठीक वैसा ही फूट उठता हैं। केवल विचार क्यों, योगवल से चित्त निरुद्ध करने पर भी इस रक्तबीजके हाथ से परित्राण नहीं पाते। जिस मुहूर्त में निरोधसे व्युत्थान होता है, उसी मुहूर्त में ही 'मैं जीव यह भाव सवांगे फूट उठता हैं। फिर जो मैं वहीं मैं। पराभक्ति वाअकैतव प्रेमके बल से आत्मसङ्गत होने पर भी, आत्महारा होने पर भी, फिर परक्षण में ही यह भाव फूट उठता हैं। तैसे ही मैं जीव कहकर आत्मा से बहु दूर जा पड़ता हैं अपने को सम्पूर्ण ब्रह्म से पृथक वस्तु जानकर प्रतीत होने लगता है, यह ही रक्तबीज का अत्याचार है। इस प्रकार साधक, तुम विचार के ही पथ में अग्रसर होओ,अथवा योगबल से चित्त निरुद्ध ही करो अथवा पराभक्ति की सहायता से आत्महाराही होओ, इस रक्तबीज का अत्याचार सर्वत्र समानभाव से देखोगे। उसका विनाश किसी तरह नहीं होता—'मैं जीव' यह भाव किसी प्रकार भी सम्यक रूपसे विसार नहीं हुआ जाता। साधारण कहावत भी है—जैसे रक्तबीज का झाड़। रक्तबीज किसी तरह भी विनष्ट नहीं होना चाहता। जो रुद्रग्रन्थिभेद के साधक हैं; केवल वे ही इस रक्तबीज असुर के

अनिर्व्वचनीय अत्याचार को रोम रोम में उपलब्धि कर सकते हैं। औरों के निकट ये सब बातें प्रहेलिका के समान होना अस्वभाविक नहीं।

सुनो— तुम बात बात में कहते हो, जीवात्मा और परमात्मा। वास्तविक तो आत्मा मात्र आत्मा ही है। इनमें जीव वा परम कोई विशेषण नहीं। उन्हीं आत्मा में जब जीव भाव प्रिकल्पित होता है, तभी वे रक्त होते हैं अर्थात रञ्जित होकर प्रकाश पाते हैं। और जब कोई तरह की भावरञ्जना नहीं रहती तभी वे शुद्ध निरञ्जन परमात्मा नाम से अभिहित होते हैं। वास्तव में किन्तु आत्मा का कोई नाम वा विशेषण नहीं है, रह भी नहीं सकता। ये आत्मा जब तक जीव भाव को प्रकाशित करेंगे, समझने होगा—उतने दिन तक रक्तबीज निहत नहीं हुआ। जब तक देह है, मन हैं, इन्द्रियाँ हैं, तब तक रक्त बीज भी है। तब बात यही है कि, यद्यपि वह खूब ही सत्य है, तथापि अद्वयज्ञान रूपिणी मा के वक्ष में सम्यक् आत्महारा होने पर रक्तबीज की पारमार्थिकसत्ता किन्तु बिलकुल ही विलुप्त हो जाती है। वह क्षीण रक्त होकर विलय प्राप्त होता है। ये सब बात इसके बाद ही में मिलेगी।

हे मा; इतने दिन तो इस रक्तबीज को देख नहीं पाया, इतने दिनों तक यह अजेय असुर हमारे ही वक्ष में अवस्थान करता हुआ हमारा ही रक्त शोषण करता हुआ परिपुष्ट होता रहा है, सो समझ में ही नहीं आया। मैं ही जो मा, मै ही जो तुम, मैं ही जो आत्मा, यह बात तुम्हारी कृपा से जितनी स्पष्ट भाव से समझ सक रहा हूं; जितना ही तुम्हारे प्रज्ञालोक से हृदयाकाश उद्भासित होता है; उतना ही मानो इस असुर का अत्याचार विशेषभाव से मर्मपीड़ा दायक होता है। में जो निर्मल, मैं शुद्ध, मैं बुद्ध, मैं महान, मैं जो नित्यमुक्त मैं विशुद्ध बोधस्वरूप हूं, मुझमें कोई विशेषता नहीं, कोई मलिनता नहीं, मुझ से किसी गुण को सम्बन्ध नहीं, रोग शोक जन्म मृत्यु कुछ भी नहीं, मुझमें संसार कहने को, स्वर्ग नरक कहने को, धर्मा-

धर्म कहने को कुछ भी नहीं, ब्रह्मत्व ही तो मेरा यथार्थ स्वरूप है, मैं जो ब्रह्म ही हूं—अन्य कुछ नहीं, इसे सहस्रवार सुनकर: सहस्रवार मनन करते हुये भी फिर मैं जीवरूप से प्रतिभात हो पड़ता हूं। क्यों मा इस प्रकार स्वरूप से च्युत होने होता है? क्यों मा इअ प्रकार असुर अत्याचार सह्य करना होता है? क्यों मा मैं ब्रह्म होते हुए भी क्षुद्रता और मलिनता लेकर रहूंगो? क्यों मा मैं पूर्ण ज्ञानमय होते हुए भी अल्पज्ञ जीवरूप से अवस्थान करूँगा? क्यों मा मैं शाश्वत नित्य निरामय होते हुए भी रोग शोक जन्म मृत्यु के भीतर अवस्थान करूँगा? हे माँ, जब तक नहीं समझ सका, तब तक इस यातना का अनुभव ही नहीं हुआ। किन्तु अब तो मुहूर्त भर भी सह्य नहीं होता। मा मा, मा हमारी ! जीवत्व ब्रह्मत्व की इतनी विभिन्नता देख कर समझ कर उपलब्धि करके, और तो एक मुहुर्त्त भी अब यहाँ पर रहने की इच्छा नहीं होती ? आहा? जहाँ पर तुम्हारा पूर्ण आनन्दमय भेदातीत निरञ्जन स्वरुप नित्य विराजित हैं, वहाँ पर जाने के लिये, वहाँ पर नित्य अवस्थान करने के लिये बड़ी ही इच्छा होती है मा ! मुझे ले चलो मा? ले चलो ! इस असुर अत्याचार इस जीवत्व के वन्धन में से मुझे निरंतर (हमेशा के लिये) मुक्त कर दो मा? और तो मेरा अपना कहने को कोई नहीं है ! और तो किसी को नहीं देख रहा हूं ! केवल तुम—केवल तुम ही मेरी मा, तुम ही मेरा सर्वस्व, तुम ही मेरा मैं हो मुझे ले चलो। मैं अपने से अग्रसर नहीं हो सकता, मैं बहुत दिनों से इस रक्तबीज के अत्याचार सह्य करते करते उसे प्रेय मानकर समझ बैठा हुँ। ऐसा ही अभ्यास हो गया है कि तुमको छोड़कर इसी रक्तवीज को लेकर रहना ही अच्छा लगता है। तुम ही और थोड़ी उतर आओ, तुम ही स्वयं आकर मेरा हाथ पकड़ कर ले जाओ, मैं हमेशा के लिये रक्तबीज के हाथ से परित्राण पाऊँ। मैं ब्राह्मी स्थिति लाभ करके धन्य होऊँ, तुमको मा कह कर पुकारना सार्थक हो। मा मा मा ! साधक, यदि यथार्थ ही अपने को रक्तवीज के अत्याचार से उत्पीड़ित मानकर समझे हो, तो

ऐसे ही करके रोओ—रोदन कर सकने ही से मा स्वयं आकर रक्त बीज निधन करेंगी। किन्तु यह सब और बात है।

———

युयुधे स गदापानि रिन्द्रशक्त्या महासुरः।
ततश्चैन्द्री स्ववज्रेण रक्त बीजमताड़यत् ॥४१॥
कुलिशेनाहतस्याशु वहु सुस्राव शोणितम्।
समुत्तस्थूस्ततोयोधा स्तद्रूपास्तत्पराक्रमाः ॥४२॥

अनुवाद—वह महासुर रक्तबीज हाथ में गदा लेकर इन्द्रशक्ति के साथ युद्ध करने लगा। तव इन्द्राणी भी स्वकीय वज्र द्वारा रक्तबीज को आहत करने लगी। बज्राहत रक्तबीज की देह से बहुत परिणाम से रक्त स्राव होता था, उस रक्त से तादृश (उसी के समान) पराक्रम शाली एवं उसी प्रकार आकार विशिष्ट असुरगण उत्थित होने लगे।

व्याख्या—क्रम से अष्टमातृका-शक्ति के साथ रक्तबीज का युद्ध वर्णित होगा। प्रथम ही इन्द्राणी के साथ इसका युद्ध आरम्भ हुआ। उसने बज्र द्वारा रक्तबीज को आघात किया। पूर्व कहा जा चुका है—पाणिन्द्रिय के अधिपति हैं इन्द्र। पाणि शब्द का अर्थ—आदान शक्ति, एवं वज्र—तड़ित शक्ति। "मैं जीव" यह भाव पाणि प्रभृति विभिन्न इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध विशिष्ट होकर ही प्रकाश पाता है। साधन बल से मा की कृपा से साधक की पाणिप्रभृति इन्द्रियों की शक्ति जब परमात्म भाव से परिभावित होना आरम्भ करती है, तभी उसका जीवभाव क्रम क्रम से विशीर्ण होता जाता है यह ही इन्द्राणी के बज्र प्रहार द्वारा रक्तबीज की देह से बहु रुधिर-स्राव रूप से वर्णित हुआ है। यद्यपि मंत्र में सब इन्द्रियों का उल्लेख नहीं तथापि एकमात्र पाणीन्द्रिय द्वारा ही सब इन्द्रियों के उपलक्षण समझना चाहिये। असल बात यह है कि, इन्द्रियों का आश्रय करके

ही जीवभाव परिपुष्ट होता है। किन्तु मा की कृपा से वे जितनी ही सत्ताहीन होने लगती है जीवभाव भी उतना ही विशीर्ण होना आरम्भ करता है। तब यहां पर विशेषभाव से लक्ष्य करने का विषय यह है कि, कितना ही विशीर्ण क्यों न हो, कितना ही रक्तपात क्यों न हो, जीवभाव जैसा था ठीक वैसा ही रह जाता है। एकमात्र इन्द्रिय के विलय से वा संहरण से जीवभाव किसी प्रकार भी विशीर्ण नहीं होता—विलय प्राप्त नहीं होता। केवल एकमात्र क्यों समस्त इन्द्रियों के विलय होने से भी अर्थात् प्रज्ञालोक के द्वारा जीवभाव सहस्रधा क्षत विक्षत होने पर भी "मैं जीव" यह द्वैत प्रतीत निःशेषित नहीं होना चाहती।

———

यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः।
तावन्तः पुरुषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः ॥४३॥

अनुवाद—उसके (रक्तबीजके) देह से जितनी रुधिर विन्दु निर्गत होने लगी, उतने ही रक्तबीज की तरह, बल एवं विक्रम सम्पन्न पुरुष अर्थात् असुर सब उत्पन्न होने लगे।

व्याख्या—जिस मुहुर्त्त में पाणिप्रभृति इन्द्रियों की शक्ति परमात्म सत्ता में विलीन होना आरम्भ करती है; उसी मुहुर्त्त में ही इन्द्राणी प्रभृति शक्ति के साथ रक्तबीज का इस प्रकाप युद्ध संघटित होता है। इन्द्राणी प्रभृति मातृगण आज प्रलय शक्ति रूप से आविर्भूता है; सुतरां नाना भाव से रक्तबीज को निहत करने को उद्यता हैं। इन्द्राणी को व्रजप्रहार से—आदान शक्ति के सम्पूर्ण संहरण से, रक्तबीज जितना ही आहत अर्थात जीवभाव जितना ही विशीर्ण होने लगता है उतना रुधिरस्राव अर्थात रञ्जित होने का भाव बहुधा विभक्त हो पड़ता है। इसके पूर्व जो इस प्रकार रञ्जित नहीं होता था, सो नहीं तब

उस समय यह बहुभाव रञ्जनारूप व्यापार परिलक्षित नहीं होता था। अब वह प्रज्ञा के आलोक से उद्भासित हुआ है, इसीसे यह सूक्ष्मतम दोष राशिरूप असुर कुल को लक्ष्य करने की सामर्थ्य हुई है। एक विन्दु रुधिर से फिर जो तादृश शक्तिमान—तादृश वीर्य बल और विक्रम सम्पन्न असुरों का उद्भव किस प्रकार होता है, सो पूर्व कहा जा चुका है। वीर्य शब्द का अर्थ प्रभाव, बल—शारीरिक शक्ति एवं विक्रम—उत्साह है। अच्छा जो हो, विषय को जटिल करने से कुछ लाभ नहीं। "मैं जीव" यह भाव नाना उपायों से पुनः पुनः विशीर्ण होने पर भी फिर परक्षण में ही देखा जाता है कि वह ठीक पूर्व जैसा ही बल वीर्य एवं विक्रम सम्पन्न होकर फूट उठा है। "मैं जीव" इस प्रकार के विशिष्ट भाव का उदय होता है तभी तो साधक ब्रह्म क्षेत्र से दूर में अवस्थान करने को वाध्य होता है। केवल इस एक बात के प्रति लक्ष्य रखने से ही रक्तबीज का युद्ध-रहस्य सहजबोध्य होगा।

ते चापि युयुधुस्तत्र पुरूषा रक्तसम्भवाः।
समं मातृभिरत्युग्र-शस्त्रपातातिभीषणम् ॥४४॥
पुनश्च वज्रपातेन क्षतमस्य शिरोयदा।
ववाह रक्तं पुरूषास्ततो जाताः सहस्रशः ॥४५॥

अनुवाज—वे रक्त सम्भूत असुरगण अति उग्र अस्त्र शस्त्र प्रयोग से मातृगणों के साथ भीषण युद्ध करने लगे। इन्द्राणी ने पुनः वज्र प्रहार से इनका शिरोदेश क्षत विक्षत कर दिया; तब उनसे वहुत रक्त स्राव होने लगा, पुनराय उक्त रक्त से सहस्र सहस्र असुर उत्पन्न हुये।

व्याख्या—असुरणग अति भीषण युद्ध करने लगे। अति उग्र अस्त्र शस्त्र-प्रयोग का तात्पर्य्य—दुरपनेय द्वैत संस्कारों का सम्बन्ध।

साधक गण जब बुद्धि से सम्पूर्ण पृथक रूप से आत्म सत्ता उपलब्धि करने का प्रयास करते है, तब पुनः पुनः जीवत्व संस्कार—भेदज्ञान का संस्कार फूट उठने लगता है एवं साधक को अद्वय सत्ता से विच्युत कर डालता है; यह ही रक्तबीज के भीषण युद्ध का रहस्य है।

इन्द्र शक्ति एकवार वज्रपात करती हैं, तैसे ही असुरों के अंग प्रत्यंग क्षत विक्षत होकर रुधिर स्राव होने लगता है। पुनराय उसमें से असंख्य रक्तबीज उत्पन्न होते है। तात्पर्य यह है कि मैं जीव इस भाव को कितना ही क्षत विक्षत क्यों न किया जावे, वह किसी भी प्रकार विनिष्ट नहीं होना चाहता ; वरं सहस्रगुणा परिवर्द्धित होता है। यद्यपि यह वृद्धि अज्ञान अवस्था की तुलना में खूब ज्यादा नहीं, तथापि ज्ञानालोक जितना समुज्वल होता जाता हैं, जीवभावको अनिष्ट कारिता उतने ही तीव्रभाव से अनुभूत होती जाती है, इसी से मंत्र में सहस्र सहस्र असुर उत्पत्ति का विषय वर्णित हुआ है। साधक ! मैं जीव इस बोध के प्रति विशेषभाव से लक्ष्य करने ही से समझ सकोगे सहस्र सहस्र रक्तबीज उत्पन्न होते है या नहीं ! आत्मज्ञान जितना समुज्वल होता जाता है, रक्तबीज की संख्या मानो उतनी ही परिवर्द्धित होती जाती है अनुभूति की बात भाषा में और कितनी कही जा सकती है ?

वैष्णवी समरे चैनं चक्रेणाभिजघान ह ।
गदया ताड़यामास ऐन्द्री तमसुरेश्वरम् ॥४६॥
वैष्णवी-चक्रभिन्नस्य रुधिरस्राव सम्भवैः।
सहस्रशो जगद्व्याप्तं तत् प्रमाणै र्महासुरैः ॥४७॥
शक्त्या जघान कौमारी वाराही च तथासिना ।
माहेश्वरी त्रिशूलेन रक्तवीजं महासुरम् ॥४८॥

अनुवाद —इन्द्राणी जैसे असुर श्रेष्ठ रक्तवीज को वज्राघात से विताड़ित करती थीं, वैष्णवी शक्ति भी उसी प्रकार युद्धस्थल में इनको चक्र के द्वारा आहत एवं गदा प्रहार से विताड़ित करने लगी। वैष्णवी के चक्र से विदीर्ण रक्तबीज की देह से जो रुधिर स्राव होता था, उससे तत् प्रमाण महासुरगणों ने समुत्थित होकर समस्त जगत् परिव्याप्त कर लिया। तब कौमारी शक्ति—अस्त्र प्रयोग से बाराही असि के आघात से एवं माहेश्वरा त्रिशूलाघात से रक्तबीजगणों को निहत करने लगी।

व्याख्या—विष्णु शक्ति एवं उनकी गदा और चक्र का रहस्य पूर्व में व्याख्यात हो चुका है। चिति शक्ति के विभिन्न प्रकाश समूह जब जीव भाव के प्रतिकूल में दण्डायमान होते हैं, तब उनके प्रबल आक्रमण से वे अवश्य विखण्डित होते रहते हैं, किन्तु अनादिजन्म-संचित जीवत्व के जो विशिष्ट संस्कार हैं, सो किसी प्रकार भी सहसा दूरीभूत नहीं होना चाहते। इसको आश्रय करके ही अस्मिता अपनी विशिष्ट सत्ता को अक्षुन्न राखने का प्रयास पाता हैं।

रक्तबीज की देह से जो रक्तस्राव होता था, उससे असंख्य रक्त बीज ने उद्भूत होकर समग्र जगत् को परिव्याप्त किया। प्रज्ञा के आलोक प्रकाश से में जीब यह भाव जितना ही विशीर्ण होता जाता है, उतना ही यह जीवभाव मानों अमितबल और सर्वव्यापी रूप से प्रकाश पाता है। कारण, अब तक जीवभावातिरिक्त और कोई भाव प्रत्यक्षीभूत नहीं हुआ। विशोका ज्योतिही कहो, बुद्धि तत्वही कहो, किम्बा महत्-तत्व ही कहो, सब भाव ही जीवभाव के साथ अन्वित होकर—मिलकर—प्रकाश पाते थे; इसी से इतने दिनों तक मात्र जीवभाव एक रूप से ही लक्षित होता था, किन्तु अब मा की कृपा से थोड़ा थोड़ा करके विशुद्ध बोध उद्भासित होता है, क्षीण-प्रभा रेखा की तरह अद्वयज्ञानालोक आकर निमेषार्द्ध काल के लिये भी जीवभाव को विलय कर देता है; अब विभिन्न भावों को पृथक

पृथक रूप से लक्ष्य करने की सामर्थ्य हुई है, इसी से अब जीवभाव के प्रति लक्ष्य पड़ते ही, वह असंख्य एवं अमित बलशाली रूपसे प्रतीत होने लगता है। जीव भाव वास्तव में एक होने पर भी वह क्षण क्षण में उदय होता है इसी से तो उसे असंख्य एवं जगत्व्यापी कहा जाता हैं। जगत् में जिस तरफ ही दृष्टिपात करो, जगत् के जिस किसी भाव को ग्रहण करो, सभी में होकर मैं जीव यह भाव सर्वाग्रे फूट उठता है, इसी से रक्तबीज असंख्यरूप से प्रतिभात होता रहता है।

जो हो, रक्तबीज की संख्या इस प्रकार उत्तरोत्तर परिवर्द्धित होते जाते पर भी, मातृशक्ति समूह स्व स्व अस्त्र-शस्त्र प्रयोग से रक्तबीज को क्षय करने के लिये प्राणपण चेष्टा करने लगी। कौमारी देवी शक्ति-अस्त्र प्रयोग से, वाराही अद्वयज्ञानरूप तीक्ष्ण खड़गाघात से एवं माहेश्वरी आनन्दमय त्रिपुटी रूप त्रिशूलाघात से रक्तबीज की संख्या ह्रासकरने के लिये यथा साध्य प्रयत्न प्रयोग करने लगी। मा हमारी नाना रूप से अविर्भूत होकर, नाना शक्ति मूर्ति से प्रकटित होकर, अनादि जन्म संचित जीवभाव को विशीर्ण करने का प्रयास पाने लगी। धन्य मा की दया, यह दया भाषाद्वारा प्रकट नहीं होती, यह ही तो यथार्थ मातृत्व हैं! हमारे कहाँ क्या भेदज्ञान है, हमारे कहाँ क्या घाव है, उसे दूर करने के लिये, हमको निरवच्छिन्न आनन्दमय मातृअंक में स्थान देने के लिये, इस प्रकार यत्न ऐसा प्रयास एकमात्र मा को छोड़कर और कौन करता है? ओरे मैं जो मातृ-अंक स्थित नग्न शिशु हूँ।

———

स चापि गदया दैत्यः सर्व्वा एवाहनत् पृथक।
मातृः कोपसमाविष्टो रक्तबीजोमहासुरः ॥४९॥
तस्याहतस्य बहुधा शक्ति शूलादिभिर्भुवि।
पपात यो वै रक्तौघस्तेनासञ्छतशोऽसुराः ॥५०॥

अनुवाद—वह महासुर रक्तबीज भी तब कोपाविष्ट होकर गदा द्वारा मातृशक्ति समूह को पृथक पृथक भाव से आघात करने लगा (और दूसरी ओर मातृशक्ति निक्षिप्त) शक्ति शूलादि अस्त्रों के द्वारा बहुधा आहत होने की वजह से; उसके शरीर से जो रक्तप्रवाह भूतल पर निपतित होता था, उससे शत शत (अर्थात असंख्य) असुर उत्पन्न होने लगे।

व्याख्या—ऐन्द्री वैष्णवी माहेश्वरी प्रभृति देव शक्ति समूह प्रत्येक ही पृथक पृथक भाव से जीव भाव का सम्यक विलय करने के लिये उद्यत हुई। स्व स्व अस्त्र-शस्त्र प्रयोग से रक्तबीज के निधन करने की चेष्टा करने लगी। रक्तबीज किन्तु किसी प्रकार भी विलय नहीं होने चाहता। विशेष अध्यवसाय-प्रयोग से कुछ क्षण के लिये अव्यक्त भाव में रहने पर भी व्युत्थान अवस्था में फिर भी 'मैं जीव" ऐसा एक व्यक्त भाव फूट उठता है। अष्टमातृका शक्ति के प्रबल आकर्षण से विशुद्ध बोधमय स्वरूप की ओर लक्ष्य रखने के फल से, जीव भाव कुछ क्षण के लिये अव्यक्त क्षेत्र में अदृश्य हो जाता है, किन्तु परक्षण में ही फिर "मैं जीव" यह व्यक्त भाव प्रकाश पाता है। यही रक्तबीज का गदा प्रहार है। गद् धातु का अर्थ व्यस्त वाक्य। प्राचीन टीकाकार गोपाल चक्रवर्ती ने भी एक स्थान में गदा शब्द का व्यक्त वाक्यरूप अर्थ किया है। मातृकागण पृथक पृथक भाव से रक्तबीज को ध्वंस करने की चेष्टा करने लगीं, रक्तबीज भी उनके सामने अपने व्यक्त भाव को पुनः पुनः दिखाने लगा। जो हो, रक्तबीज को निधन करना तो दूर की बात है, अस्त्राघात से उसके शरीर में से जो रक्तप्रवाह बहने लगा, उससे ससंख्य असुर आविर्भूत हुये। पूर्ववर्ती मन्त्र में इसी रुधिर से असुर आविर्भाव का रहस्य कहा जा चुका है। स्थूल बात यह है कि; जीवभाव को जितना ही विलय करने की चेष्टा क्यों न करो, किसी प्रकार भी वह सम्यक रूप से विलय होना नहीं चाहता, वरं और भी मानो परिवर्धित एवं बल वीर्य सम्पन्न होकर प्रकाश पाता है। पुरुषार्थ प्रयोग से जीवत्व विलय

एकान्त ही असम्भव है। तब हाँ जहाँ स्वयं मा ही पुरुषार्थ रूप से प्रकाशित हों, उस जगह की बात स्वतन्त्र है।

तैश्चासुरासृक सम्भूतैरसुरैः सकलं जगत्।
व्याप्तमासीत्ततो देवा भयमाजग्मुरुत्तमम् ॥५१।

अनुवाद--रुधिर सम्भत उन रक्तबीज नामक असंख्य असुरो कत्त क समग्र जगत् परिव्याप्त होगया है देखकर देवतागण अतिशय भीत हुये।

व्याख्या—देवतागण--इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य वृन्द जगदव्यापी रक्तबीज असुर की सत्ता देख कर भयार्त्त हो पड़े। जिधर ही दृष्टि पात करते हैं जिधर ही अवधान प्रयोग करते हैं, उधर ही असंख्य रक्तबीज, उधर ही "मैं जीव" इस द्वैतभाव के द्वारा विशुद्ध चैतन्य के उत्पीड़न दिखाई पड़ता है। जब हजारों चेष्टा करने पर भी इस दुरपनेय जीवभाव के हाथ से किसी प्रकार परित्राण नहीं पाया जाता, तब यथार्थ ही प्रबल भय एवं अत्यन्त नैराश्य आ उपस्थित होते हैं। इसी भय और नैराश्य के भीतर होकर साधकों के हृदय में एक तीव्र विरह फूट उठता है। वह विरह यथार्थ असह्य ही बोध होने लगता है। जब देखता है; प्रियतम के साथ किसी प्रकार भी नहीं मिलित हुआ जाता, किसी भी प्रकार से परम प्रेमास्पद के हृदय से हृदय मिलाकर अपने को नहीं खो दिया जा सकता, तब साधकों का कष्ट यथार्थ ही असहनीय हो उठता है। अतिस्वच्छ बुद्धि रूप परकोटा की आड़ में प्रियतम को देखा जाता है, बुद्धि की अड़ाल में से ही प्रियतम का अपरूप रुप देखकर मुग्ध होने होता है, प्रियतम के प्राप्त करने की आशा दिन दिन परिवर्द्धित होती है, अथच उस बुद्धि की चहर दीवारों को भंग करके प्रियतम के चरणों में सर्वतोभाव से मैं को नहीं ढाल सकता। सुतरां दिन दिन विरह वेदना परिवर्द्धित होती है एवं यह जीवत्व असहनीय यातनाप्रद मालूम पड़ता है। अरे वह जो अति पवित्र, अति विशुद्ध है, वह जो मेरा सर्वभावातित निर-ञ्जन है, वह जो मेरा परम प्रेममय आत्मा है, वह जो मेरा आनन्द-

मय जीवन बल्लभ है, वह जो मेरा मधुमय जीवन सर्वस्व है, में उसमें कैसे जाकर समा जाऊँ ? वे ब्रह्म मैं क्षूद्र जीव । मैं किस प्रकार उनमें मिल जाऊँगा ? दो असमान वस्तुओं का मिलन हाता है क्या ? मैं जीव यह बोध जितने दिनों तक अपनीत नहीं होगा उतने दिनों तक बुद्धि के परस्पर अवस्थित परमप्रियतम के साथ किसी प्रकार भी नहीं जाकर मिल सकूंगा। आधूनिक कोई-कोई वैष्णव सम्प्रदाय के साधक भगवान के साथ भक्तों का मिलन एकान्त असम्भव और नितान्त अन्याय कह कर घोपणा करते हैं। वे यदि वेदके "तत्वमसि" प्रभृति महावाक्य चतुष्टय के अर्थ के प्रति थोड़े विशेष भाव से प्रणिधान करें, तो निश्चय ही समझ सकेंगे कि इन वाक्य चतुष्टय के भीतर होकर ही परमप्रेम सूचित हुआ है। धन्य हैं वे ऋषिगण जिनके हृदय में सर्वप्रथम यह अपूर्व सम्बेदन फूट उठा था जो परम प्रेमास्पद के चरणों में अपने को सम्पूर्णभाव से बिलीन करके प्रेम की पराकाष्ठा में उपनीत हुये थे। विन्दुमात्र भेदज्ञान रहते भी तो प्रेम की पूर्णता नहीं होती, हो ही नहीं सकती, इसे समझ कर ही उपनिषद् ऋषिगण "अयमात्माब्रह्म" कहकर ब्रह्म समुद्र में अपनी पृथक सत्ता को सम्यक भाव से मिला देते थे। आज उनके मुखोच्चारित उन्हीं पवित्र महावाक्य को श्रवण करके, उनके ही पदचिन्हों का अनुसरण करके, कितने युग युगान्तरों पर भी जीव परम प्रेम और परम ज्ञान का सन्धान पाकर जीवन धन्य कर रहे हैं। वैष्णव शास्त्र वर्णित गोपीप्रेम एवं राधा प्रेम जो क्या वस्तु है, यहाँ पर नहीं आने से, किसी प्रकार भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

साधक ! जब तक 'मुझे' (मैं को) —मा की आत्मा की यथार्थ उपलब्धि नहीं कर सकोगे, जबतक मा का स्वरुप सम्यक् उद्भासित नहीं देखोगे, तब तक विरह वेदना किसी तरह भी दूर नहीं होगी। मैं जीव, ऐसी द्वैत प्रतीति रहते किसी भी प्रकार मिलन नहीं होता। याद रक्खो; अद्वयज्ञान ही है मिलन एवं भेदज्ञान ही है विरह। जिनका कभी भी प्रियतम के साथ मिलन संघटित नहीं हुआ।

प्रियतमका विरह क्या वस्तु है, इसे वे किसी प्रकार भी नहीं समझ सकते। किन्तु वह और बात हैं।

उपनिषद् कहती है। "द्वितीयात् वै भयं भवति"। द्वैतज्ञान होनेसे ही भय आपतित होता है। इसी से मंत्र में उक्त हुआ है—देवतायण अगणित रक्तबीज असुर देखकर भीत हुये थे। यहाँ पर उपनीत हो सकने से, इस रक्तबीज समर में उपस्थित होने की सामर्थ्य लाभ करने से, तब इस उपनिषद् वाक्य का रहस्य समझा जा सकता है। भय जो क्या बस्तु है, उसकी उपलब्धि होती है। अरे! जगत में जो तुम भय भय करके संकुचित होते हो, वह और कितना भय है? वह तो भय का आभासमात्र है। भय की अति दूरबर्ती छाया मात्रा है। यथार्थ भय यहाँ पर आने से समझ में आता है। यह जो थोड़ा सा भेद, यह जो थोड़ा-सा द्वैत है, वह किसी प्रकार भी अपसृत नहीं होता! इसी से भय भी दूर नहीं होता।

मंत्र में 'भयमाजग्मुरुत्तमम्' बात में और भी थोड़ा रहस्य है। यहाँ पर भय को उत्ताम कहा गया है, जागतिक यावतीय भय अधम हैं। एकमात्र यही जीव ब्रह्म मिलन के सन्धि क्षण में जीवत्वरूप भेद-ज्ञानसेही जो भय आपतित होता है,वह ही उत्तम भय नाम से प्रसिद्ध है। साधक! कब तुम प्रियतम के तीव्र आकर्षण से देह, मन, इन्द्रिय प्रभृति परित्याग करके विज्ञानमय क्षेत्र में उपनीत होओगे, कब विज्ञान के परपार स्थित परमात्मा के लोकातीत स्वरूप को देख कर एकान्त मुग्ध होओगे, कितने दिनों में अभया को स्मरण करके, इस उत्ताम भय के स्वरूप को अवगत होकर अभय पद में प्रतिष्ठित होओगे।

तान् विषण्णान् सुरान् दृष्ट्वा चण्डिका प्राह सत्वरा।
उवाच काली चामुण्डे विस्तरं वदनं कुरु ॥५२॥

अनुवाद—देवतागणों को इस प्रकार विषण्ण देखकर चण्डिका सत्वर होकर बोलीं, (हे देवतागणों, तुम विषण्ण मत होओ)। फिर काली से बोलीं—हे चामुण्डे! अपना वदन (मुख) विस्तृत करो।

व्याख्या—"मैं जीव" यह भाव किसी प्रकार भी अपनीत नहीं होना चाहता, किसी तरह भी निष्कल ब्रह्मसमुद्र में अवगाहन नहीं किया जाता। इसे देखकर देवतागण एकान्त विषादग्रस्त हो पड़े थे। इसी से मा हमारी ने विषण्ण देवतागणों से, "मा विषीदत तुम विषण्ण मत होओ" कहकर अभय प्रदान किया। इस प्रकार जब देवतागण द्वैतज्ञान के द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, विषादग्रस्त होते हैं, तभी अद्वयज्ञान रूपिणी मा हमारी इसी प्रकार की अभयवाणी से देवतागणों के हृदय से विषाद शल्य विदूरित कर देती है।

इस मंत्र में प्राह एवं उवाच, ऐसे समानार्थ-बोधक शब्द दो रहने से, कोई-कोई प्राचीन टीकाकार गणने "मा विषीदत" इस वाक्य का अध्याहार करके अर्थ के सामञ्जस्य की रक्षा की है। हमने उन्हीं के पदाङ्क अनुसरण करके पूर्वोक्त रूप व्याख्या की है। "तत्व प्रकाशिका" ने किन्तु "प्राहसत्वरा" एक समस्त पद को स्वीकार करके, प्राह शब्द का अर्थ किया है युद्ध।

अच्छा जो हो, मा ने एक तरफ जैसे अभयवाणी से देवता वृन्दों का विषाद विदूरित किया, दुसरी ओर तैसे ही रक्तबीज के बध का भी उद्यम किया। उद्यम के प्रथम में ही चामुण्डा शक्ति को वदन (मुख) विस्तृत करने का आदेश किया। इस वदन विस्तार की प्रयोजनीयता परवर्ती मंत्र में वर्णित होगी।

मच्छस्त्रपात सम्भूतान् रक्तबिन्दून् महासुरान्।
रक्तबिन्दोः प्रतीच्छ त्वं वक्त्रेनानेन वेगिता ॥५३॥
भक्षयन्ती चार रणे तदुत्पन्नान् महासुरान्।
एवमेव क्षयं दैत्यः क्षीणरक्तो गमिष्यति ॥५४॥
भक्ष्यमानास्तया चोग्रा न चोत्पत्स्यन्ति चापरे ॥५५॥

अनुवाद—मेरे अस्त्राघातसम्भूत रक्तबिन्दुओं को एवं रक्तबिन्दु सम्भूत असुरों को तुम सवेगसे (विस्तृत) मुख में ग्रहण करो। इसी तरह रक्तबिन्दु सम्भूत असुर वृन्दों को भक्षण करते करते रणस्थल में विचरण करो। इस प्रकार से दैत्य रक्तबीज क्षीणरक्त होकर विनाशको प्राप्त होगा। तुम्हारे कर्त्तृक इस प्रकार भक्षित होने से फिर कोई असुर उग्रभावापन्न नहीं रह सकेगा, एवं अपर अभिनव असुर कुल भी समुत्पन्न नहीं हो सकेंगे।

व्याख्या—चण्डिका देवी ने प्रलयङ्करी कालीशक्ति को वदन विस्तारपूर्वक अस्त्र द्वारा क्षत-विक्षत रक्तबीज के रुधिर बिन्दुओं को एवं रुधिरोत्पन्न असुरो को ग्रास करने का आदेश किया। यथार्थ ही संहारिणी शक्ति जीव भाव को समूल ग्रास न करने से इस रक्तबीज-बध का उपाय नहीं होता। जीव भाव के बीज तक को ग्रास करने होगा। यद्यपि जबतक शुम्भ बध नहीं होता, तबतक जीवभाव के सूक्ष्मबीज रह जाते हैं, तथापि जो व्यक्त भाव साधकों को जीव-रूप से प्रतिभात कर डालते हैं, अद्वय ब्रह्म से पृथक किये रखते हैं, उन व्यक्त जीवभावों को सर्वतोभाव से यहाँ विलय करने होगा यह ही चामुण्डा के प्रति मा का आदेश है। संहारिणी शक्ति यदि असुरों को इस प्रकार से ग्रास करती रहे, रक्तबिन्दुओं को भूतल पर पतन का अवकाश ही नहीं रहेगा, सुतरां भूपतित रक्तबिन्दु से फिर अभिनव असुरों का उत्थान भी सम्भव नहीं होगा। इसीप्रकार रक्तबीज क्षीणरक्त होकर विनाश को प्राप्त होगा।

खुलाशा कहें पूर्व में उक्त हुआ है, 'मैंजीव' यह जो प्रतीति है, इसका यह मैं होता है बीज एवं जीवत्व होता है रक्त। कोई न कोई विशिष्ट भाव रहता है, तभी तो मैं रूपी बीज जीवत्व-रूप-रक्त द्वारा अभिरञ्जित होता है। अब प्रलयङ्करी चामुण्डा मा यदि कृपा करके हमारी यावतीय विशिष्टताओं को ग्रास करें अर्थात अनादि जन्म सञ्चीत इस जीवभाव को किसी विशिष्टता के साथ सम्बन्धयुक्त न होने दें (विशिष्टता के साथ सम्बन्धयुक्त होना ही रक्त बिन्दु का

भूतपन है) तो फिर जीवभाव की वा रक्तवीज की परिवर्द्धन शक्ति न रहेगी। जीवभाव, उठ खड़ा होकर, किसी भी विशिष्टता आश्रय लेकर मैं को रञ्जित करने के पूर्व ही यदि चामुण्डा के कराल कवल में प्रवेश करे, तो फिर रक्तबीज का अस्तित्व न रहेगा। थोड़ा गंभीर रहस्य है। शारिरीक भाष्य में जो युष्मत् एवं अस्मत् प्रत्यय गोचर विषय एवं विषयी का परस्पर अध्यास वर्णित हुआ है, उस अध्यास का असली स्वरूप इस रक्तबीज समर में उपनीत साधकों के सामने प्रत्यक्ष होता है। अहं प्रतीति गोचर वस्तु का स्वरूप सम्यक प्रकाशित होने के पूर्व ही अनात्मभाव वा जीवभाव फूट उठता है। शत चेष्टाओं द्वारा भी इस अनात्म-प्रतीतिके हाथ से परित्राण नहीं पाया जाता, यह हो तो रक्तबीज का समर है। मान लो तुम अद्वय स्वरूप में उपनीत होने को उद्यत हो। उसी समय पूर्वसंचित संस्कारों के वश तुमको विशुद्ध चित् स्वरूप से विशिष्ट चैतन्य में अवतरण करना पड़ा। वह विशिष्टता मन, वुद्धि, इन्द्रिय रूप सूक्ष्म ही हो, अथवा देह किंवा रूप रसादि विषय रूप स्थूल ही हो, तुमको किन्तु उस विशुद्ध क्षेत्र से विशिष्टता में उतरना ही पड़ता है। इस अद्वय ज्ञान में ठहरने का उपाय नहीं। अरे, "मा को देखता हूँ" "मा का ध्यान करता हूँ" "परमात्मा का साक्षात्कार लाभ करता हूँ" ये सब भी तो द्वैत ज्ञान हैं। ये भी तो जीव भाव हैं। मैं परमात्मा से एक पृथक हूँ—इस प्रकार थोड़ा सुक्ष्म भाव रहता है तभी तो पूर्वोक्त रूप भेद ज्ञान समूह फूट उठते है। ये ही तो रक्तबीज है। इनका विलय करने के लिये सर्व भावों का एकान्त विलय आवश्यक है। नहीं तो कोइ तरह की कुछ विशिष्टता रहने ही से मैंत्व रञ्जित हो पड़ेगा। सुतरां जिस किसी भी प्रकार से हो, इस रञ्जन भाव को अर्थात रक्त विन्दुओं को विलय करके शुद्ध आत्मा रूप में अव्यय बीज रुप में अवस्थान करने होगा, एकाकी होने होगा। ऐसा होने ही से रक्तबीज असुर विनष्ट होता है। तब अस्मिता और ममता मात्र अवशिष्ट रहती है। आओ साधक ! हम "जय काली" बोल

कर प्रलयंकरी चामुण्डा शक्ति के शरणागत हों। वे स्वकीय सर्वग्रासी बदन मण्डल विस्तारित करके रुधिर सह रक्तबीजों को ग्रास करेंगी। तब हम जीव भाव के हाथ से सम्यक् परित्राण लाभ करके अद्वैत तत्व में उपनीत होगें। हमारा जन्म मृत्यु रुप संसार प्रबाह चिरकाल के लिये (हमेशा के लिये) निरूद्ध हो जायेगा।

इत्युक्त्वा तां ततो देवी शूलेनाभिजधान तम् ।
मुखेन काली जगृहे रक्तबीजस्य शोणितम् ॥५६॥

अनुवाद—काली को इस प्रकार आदेशकरके चण्डिका देवी ने स्वयं रक्तबीज को शूलाघात किया। कालिका देवी भी तभी विस्तृत मुख से उसका शोणित समूह पांन करने लगी।

व्याख्या—मा के शूलाघात वाक्य का तात्पर्य--आनन्दमय ज्ञानालोक सम्पात है। शूल शब्द का तात्पर्य इसके पूर्व अनेक बार व्याख्यात हो चुका है। शूल ही मा का प्रधान अस्त्र है। द्वैत प्रतीति रूप असुरकुल एकमात्र विशुद्ध ज्ञानालोक व्यतीत अन्य किसी प्रकार से भी समूल बिनष्ट नहीं होता। साधक! मत समझ बैठना, ज्ञान के एक महूर्त मात्र प्रकाश से ही तुम्हारा समस्त अज्ञान हमेशा के लिये विध्वस्त हो जावेगा एवं ज्ञानमयी अवस्था सहज हो जायगी सो नहीं होता। थोड़ा-थोड़ा करके ज्ञान का प्रकाश होता है, थोड़ा थोड़ा करके ज्ञान दृढ़भूमिक हो जाता है, थोड़ा थोड़ा करके अज्ञान विनष्ट होता है। तब जो सुनते हो, "हजार वर्षों का अन्धकार घर भी एक ही मात्र दीप शलाका से आलोकित हो जाता है" इसका तात्पर्य यही है कि--एक बार मात्र विशुद्ध ज्ञानालोक प्रकाश पाने से जीव फिर कभी भी अज्ञान अन्धकार में डूबा नहीं रह सकता! दिन दिन उस क्षणदृष्ट ज्ञानालोक को ही ओर तीव्र पुरुषकार के साथ अग्रसर होता रहता है। फिर कभी भी भ्रान्ति ज्ञान के मोह में मुग्ध नहीं होता।

अज्ञान जो धीरे-धीरे समूल विनाश को प्राप्त होता है, भगवान के वाक्य द्वारा यह विशेष भाव से प्रमाणित होता है। वे बोले हैं—"समिद्ध अग्नि जैसे ईन्धन समूह को भस्मसात् कर देती है, ज्ञानरूप अग्नि भी उसी प्रकार सर्व कर्म्मों को अर्थात अज्ञान को भस्मीभूत कर देती है।" इस वाक्य में हमारा वर्त्तमान प्रस्ताव का लक्ष्य करने का विषय यह है कि, ईन्धन समूह के साथ अग्नि संयोग होते मात्र वह जिस प्रकार भस्म रूप में परिणत नहीं होता, सम्यक् भस्मीभूत होने में समय की आवश्यकता होती है, ज्ञानाग्नि संयोग से अज्ञान-ईन्धन भी उसी प्रकार क्रम क्रम से विनष्ट होता है। जो इस बात को स्वीकार न करें, वे थोड़े सोच कर देखें—जब तक देह एव जगत् का भान है, तब तक अति अल्पमात्र होने पर भी, आभास मात्र होने पर भी, बाधितानुवृत्ति होने पर भी, अज्ञान है, उसका सम्यक् विलय नहीं हुआ, यह स्वीकार करने ही होगा। ज्ञान की किन्तु ऐसी एक समुज्वल अवस्था है, जहाँ पर उपनीत होने से, फिर भी देहादि अनात्म वस्तु का भान ही नहीं होता। योगवाशिष्ठ ने इसे पदार्थाभाविनी रूप षष्ठ भूमिका एवं तत्परवर्ती तुरीयगा रूप सप्तम भूमिका नाम दिया है। यद्यपि वर्त्तमान काल में ऐसी उच्च भूमिका के साधक एकान्त दुर्लभ हैं; तथापि कहने होगा—उक्त प्रकार का ज्ञान एकान्त असम्भव नही। मा की कृपा से साधकों के तीव्र पुरुषकार एवं वैराग्य के फल से उक्त रूप समुज्वल ज्ञान का प्रकाश होना खूब ही सम्भव है।

खैर, हम प्रसंग से थोड़ा दूर आ गए हैं। आओ, आलोचना के विषय के समीप जाऐं। इसके पहले कह रहा था कि माँ शूलाघात से रक्तबीज की देह को क्षतविक्षत कर रही थी, और प्रलयंकरी काली अपने मुंह को खोल कर उन क्षतों से प्रबाहित लोहू को पीने लगी। साधक! सच ही ऐसी घटना होती है। एक ओर से अद्वयज्ञान का प्रकाश! क्षनभर के लिये फैल कर भेदज्ञान को—जीवत्व बोध को गहरी चोट पहूँचाता है, फिर दूसरी ओर से काली शक्ति सर्वग्रासिनि

मूर्ति से सर्वभवों को जीवभावों को ग्रास किया करती है। जीवत्वरूप लोहू रहने से हीतो बार बार रक्तबीज का आविर्भाव होता है। किन्तु इस बार हमारे माँ स्वयं काली मूर्ति से उन लोहुओं को पी रही है, अतः इस बार रक्तबीज का वध अवश्यम्भावी और आसन्न हैं।

ततोऽसावाजधानाथ गदया तत्र चण्डिकाम।
न चास्य वेदनां चक्रे गदापातोऽल्पिकामपि ॥५७॥

अनुवाद—बाद में उस रक्तबीज ने युद्धस्थल में चण्डिका देवी को भी गदाघात किया था। किन्तु उस गदाघात से देवी को अति अल्प मात्र भी वेदना नहीं हुई।

व्याख्या—इसके पूर्व में रक्तबीजने अष्ट मातृ का शक्ति को गदा का प्रहार किया था, इस बार चण्डिका देवी को भी गदाघात किया। किन्तु मा की ऐसी ही महिमा है, उससे उन्होंने विन्दुमात्र भी वेदना का अनुभव नहीं किया। आसुरिक भाव समूह जितनी ही विशिष्टता लेकर प्रकाशित हों, "मैं जीव" यह भाव जितना पुनः पुनः व्यक्त हो उठे, उससे मा के अङ्ग में—अद्वय क्षेत्र में—विशुद्ध चिन्मय स्वरूप में किसी तरह की विशिष्टता प्रकाश नहीं पाती इसीसे तो किसी प्रकार का वेदन अर्थात अनुभूति नहीं फूटा सकता। मा हमारी जैसी नित्यशुद्धा निरञ्जना निर्विकारा थीं ठीक तैसी ही हैं, विन्दु मात्र विकार भाव उनको स्पर्श नहीं करता। बुद्धिमय क्षेत्र की जो कुछ विशिष्टता है, सो चित्त क्षेत्र में कभी भी उपस्थिति नहीं हो सकती। वेदना शब्द का अर्थ विशिष्ट अनुभूति। जीव भाव जितना ही बलवान हो, जितनी ही आत्मा को जीवत्व के मोह में मुग्ध करने की चेष्टा करे, उससे वहाँ पर—उस विशुद्ध परमात्म क्षेत्र में किन्तु कोई भी संक्षोभ उपस्थित नहीं होता। इसीसे मंत्रमें उक्त हुआ है—मा के अङ्ग में अति अल्पमात्र वेदना भी प्रकाश नहीं पायी।

साधक! पहिले से ही इस वेदन किंवा अनुभूति की बात कहता आ रहा हूँ। अनुभूति पकड़ कर तव साधना राज्य में अग्रसर होने

होता है। अनुभूति ही आत्मा, अनुभूति ही मा है। पहिले विशेष विशेष भावों की सहायता से विशेष अनुभूति अवलम्बन करके अग्रसर होने होता है। बाद में यहाँ आने पर इस रुद्रग्रन्थि भेद के क्षेत्र में उपस्थित होने से, अनुभूति की यह जो विशिष्टता है, सो दूरीभूत हो जाती है, केवल अनुभूति ही रहती है। यह अनुभूति निरवच्छिन्न आनन्दमय है, इसमें कोई तरह की विशिष्टता नहीं रहती।

सुनो—यदि प्राण-प्रतिष्ठा में अभ्यस्त हुए हो, तो निश्चय ही बेदन बा अनुभूति नामक वस्तु को समझ सके हो। अच्छा, इस बार दर्शन, श्रवन, मनन प्रभृति इन्द्रिय-व्यापार, क्षिति, अप् तेज प्रभृति तत्व किंवा रूप रसादि विषय, ये सभी जो एक एक प्रकार अनुभूति मात्र हैं, इसे सम्यक् रूप से उपलब्धि करने का सहज उपाय बोल दे रहा हूं—अनुभूति पकड़ कर बिषय की ओर आने होता है, फिर विषय पकड़ कर अनुभूति की ओर जाने होता है। कुछ दिनों तक इस प्रकार से अभ्यास करने से ग्राह्य एवं ग्रहण अर्थात विषय एवं इन्द्रियाँ अनुभूतिमय होने लगेंगे। तव दर्शन कहने से बोध का दर्शन श्रवन कहने से —बोध का श्रवण, ऐसा अनुभव होने लगेगा। यह अवस्था थोड़ी परिपक्व होने से, तब इन दर्शन श्रवणादि विशेष विशेष भावों को परित्याग करके केवल अनुभूति—केवल बोध को पकड़ कर रहने की चेष्टा करनी होगी। प्रथम प्रथम इस निर्विशेष बोध को पकड़ने जाने ही से पश्चात्पद होने होगा, मानो एक भयानक बैद्युतिक शक्ति जोर करके उस स्थान से हटा देगी, तथापि पुनः पुनः चेष्टा करोगे, एवं "मा गोदी पर लो, मा गोदी पर" लो बोल कर कातर प्राणों से रोते रहोगे। तब मा की कृपा से उसमें क्षणकाल स्थिति प्राप्त कर सकोगे। "केवलं ज्ञान मूर्ति" गुरू क्या वस्तु हैं, सो समझ सकोगे। पूर्वमें जो अनुभूति की बिशिष्टता कही, वही है ज्ञान की ग्रन्थि। इस ग्रन्थि का भेद करने के लिये इसी प्रकार तीव्र प्रयत्न एवं मा की कृपा के ऊपर निर्भर करने होता है। इस रुद्रग्रन्थि का भेद होने से क्या होता है, सो फिर पुस्तक में लिखकर जनाने की

आवश्यकता नहीं। साधक! स्वयं ही उसे सम्यक् समझ सकेगा। संक्षेप में इतना ही मात्र बोल रखता हूँ—जीवन्मुक्ति नाम से जो एक बात केवल पुस्तक में पढ़कर एवं लोगों के मुख से सुनते आ रहे हो, सो स्वयं ही उपलब्धि कर सकोगे। किन्तु ये सब और बातें हैं—

——

तस्याहतस्य देहात्तु बहुसुस्रावशोणितम।
यतस्ततस्तद्वक्त्रेण चामुण्डा सम्प्रतीच्छति ॥५८॥
मुखे समुद्गता येऽस्या रक्तपातान्महासुराः।
तां श्चखादाथ चामुण्डा पपौ तस्य च शोणितम् ॥५९॥

अनुवाद—(मातृ शूलाघात से) आहत रक्तबीज के शरीर के जिस जिस स्थान से शोणितस्त्राव होता था, चामुण्डा उसी उसी जगह स्वकीय मुख द्वारा इस शोणित को ग्रहण करने लगीं एवं उनके (चामुण्डाके) मुख में रक्तपात वशतः जो सब असुर उद्भूत होते थे, चामुण्डा उनको भी भक्षण एवं रक्तबीज का रुधिर पान करने लगीं।

व्याख्या—जहाँपर रुधिर क्षरण, वहीं है चामुण्डा का कराल मुख। जीवत्व के द्वारा जैसे ही विशुद्ध बोध उपरञ्जित होना आरम्भ हुआ, तैसे ही (झट) करालवदन मुख व्यादान करके प्रलयंकरी काली उसी भाव को ग्रास करती रहती हैं। एक तरफ जैसे प्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) आकर पड़ता है, दूसरी ओर तैसे ही सर्वभाव—जीवभाव प्रलय के कवल में ढलने लगते हैं इस बात को भली प्रकार समझा देने ही के लिये इन कुछेक मन्त्रों में प्रायः एक ही बात पुनः पुनः कही गई है। इसमें पुनरुक्ति नहीं, यह घटना—यह प्रज्ञालोक सम्पात एवं अनात्म भाव का विलय, वास्तव में पुनः पुनः ही होता है।

चण्डिका के शूलाघात से आहत रक्तबीज के शरीर से निर्गत रुधिर प्रवाह चामुण्डा के मुख में निपतित होने लगा, कारण उन्होंने पूर्व से ही अपना कराल मुख अतिशय विस्तृत कर रक्खा था। मुख गह्वर में निपतित रुधिर से जो सब असुर उत्पन्न होते थे, चामुण्डा उनको ग्रास करने लगीं। यहाँ पर आपत्ति हो सकती है—पूर्व में कहा जा चुका हैं, रक्त 'बिन्दु' भूमि तलपर निपतित होने ही से रक्त-बीज के तुल्य बल और विक्रमशाली असुर उत्पन्न होते हैं, किन्तु यहाँपर कहा, चामुण्डा के मुख में निपतित रुधिर से भी असुर उत्पन्न होते थे, यह कैसे संगत हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि, चामुण्डा के मुख में भी भूमि की सत्ता अर्थात् क्षितितत्व का अंश है, सुतरां चामुण्डा के मुख में भी असुरों की उत्पत्ति खूब ही सम्भव है। और वास्तव पक्ष में तो; "रक्तबिन्दुर्यदाभूमौ" इत्यादि मंत्र में भूमि शब्द विशिष्टता मात्र को लक्ष्य करके ही उक्त हुआ हैं; सुतरां कोई भी विशिष्टता पाने ही से रक्तबीज उत्पन्न हो सकता है। अथवा वहाँपर भूमि शब्द का अर्थ पार्थिव देह है। ऐसा अर्थ समझ लेने से तो फिर कोई संशय नहीं रहता। जबतक पार्थिव देह है, तबतक जीवत्व बोध उदय होगा ही। पार्थिव भाव के सम्बन्ध वशतः ही विशुद्ध चिद्वस्तु विशिष्ट भावसे वा जीवभाव से प्रतिभात होती है। यद्यपि मा हमारी यहाँ प्रलयङ्करी मूर्ति से आविर्भूत होकर कराल मुख विस्तारपूर्वक रक्तबीज के रक्त को भूतल पर पतित होने नहीं देतीं, यद्यपि जीवत्व-प्रतीति को स्थूल देह के साथ सम्बन्ध विशिस्ट नहीं होने देतीं, यद्यपि जीवत्व बोध फूटते न फूटते ही ग्रास कर डालती हैं, तथापि यह जो अति अल्प जीव भाव, यह जो अति अल्प विशिष्टता प्रकाश पाती है, वह पार्थिव देह के साथ सम्बन्ध है तभी तो प्रकाश पाती है। इस प्रकार जबतक पार्थिव देह विषयक बोध होगा, तबतक रक्तबीज का रक्त भूतल पर निपतित होगा ही। रुधिर समूह चामुण्डा के मुख में अर्थात् प्रलय कवल में निपतित होने के समय पार्थिव देह विषयक बोध के साथ सम्बन्ध विशिष्ट होकर

ही निपतित होता है, इसीसे मन्त्र में चामुण्डा के मुख में भी असुरोत्पत्ति की बात कही गई है।

——

देवीशुलेन वज्रेण बाणैरसिभि ऋष्टिभिः।
जधान रक्तबीजं तं चामुण्डापीत शोणितम।६०॥

अनुवाद-चामुण्डा ने रक्तबीज का रुधिर पान कर लिया, चण्डिका देवी शूल, वज्र, वाग, असि एवं ऋष्टि अस्त्र के द्वारा रक्तबीज को आहत करने लगीं।

व्याख्या। अब रक्तबीज ध्वंस के मुख में आया है। एक तरफ जैसे पुनः पुनः प्रज्ञा के आलोक-सम्पात रूप मा के शूल वज्रादि अस्त्र-प्रहार हो रहे हैं, दूसरी तरफ तैसे ही 'भाव रंजना होते ना होते ही प्रलयंकरी शक्ति सर्व्वभाव को ग्रास कर डालती हैं। मन्त्र में शूल, वज्र, बाण, असि एवं ऋष्टि, इन पांच अस्त्रों का उल्लेख है, उनका आध्यात्मिक अर्थ—विश्वास अनुभव युक्ति शास्त्र एवं कृपा। ये ही पांचों रक्तबीज निधन के यथार्थ अस्त्र हैं। इनमें से एक के ही द्वारा यह असुर निहत नहीं होता। युगपत् (एक साथ) इन सब अस्त्रों का प्रयोग एकान्त आवश्यक है। एक तरफ अस्त्र प्रयोग, दूसरी ओर संहारिणी शक्ति का आकर्षण, इस प्रकार दोनों ओर से रक्तबीज पर आक्रमण किया जाय, तभी इसका निधन अवश्यम्भावी है।

साधक! तुम सर्वप्रथम "जीवो ब्रह्म व ना परः" इस ज्ञान में वज्रवत् दृढ़ विश्वास की प्रतिष्ठा करो, यही है प्रथम अस्त्र। बाद में बुद्धितत्व में अवस्थान पूर्वक स्वप्रकाश स्वरूपा चितिशक्ति की ओर पुनः पुनः लक्ष्य करना, अर्थात् विशिष्ट अनुभूति को लेकर निर्विशेष अनुभूति में उपस्थित होने की चेष्टा करना, यही है द्वितीय अस्त्र। इसके बाद युक्ति की सहायता से, विचार की सहायता से समझना कि वास्तविक सत्ता एकमात्र चितिशक्ति की ही है। दृश्य रूप से

ज्ञेय रूप से विशिष्ट रूप से जो कुछ प्रतिभात हो रहा है, सो सब पारमार्थिक सत्ता विहीन एक प्रकार का व्यवहार मात्र है। जो व्यवहारिक है उसका वस्तुत्व नहीं हो सकता, व्यवहार का पृथक अस्तित्व तीनों ही काल में नहीं, रह ही नहीं सकता। इस प्रकार एवं अन्यान्य नाना प्रकार युक्तियों की सहायता से विशिष्ट सत्ता विषयक प्रतीति को विनष्ट करने की चेष्टा करना। वेदान्त शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म विचार, यहीं पर उपस्थित हो सकने से अर्थात् रक्तबीज समर में उपनीत हो सकने से तब कहीं उपयोगी होता है। अन्यथा उपयुक्त अधिकार लाभ के पूर्व में इस प्रकार के विचार क्षेत्र में प्रवेश करने से प्राय ही अनर्थ घटता है, साधक की उन्नति का पथ— यथार्थ सत्य वस्तु लाभ का पथ विघ्नपूर्ण हो जाता है। इससे याद रखना साधक! मात्र रक्तबीज बध के लिये ही ब्रह्म बिचार रूप अव्यर्थ अस्त्र प्रयोग आवश्यक है। अच्छा जो हो, यह ही तृतीय अस्त्र है। अतः पर शास्त्रीय प्रमाणों की सहायता से अद्वय स्वरुप के उपलब्धि की चेष्टा करना। उपनिषत् प्रभृति शास्त्रोक्त लक्षणों के साथ स्वकीय अनुभवों की तुल्यता है या नहीं, इसका लक्ष्य साधक मात्र को ही करना एकान्त आवश्यक है। "तत्वमसि" प्रभृति महा-वाक्य-चतुष्टय, "एकमेवाद्वितीयम्" "नेहनानास्तिकिञ्चन" इत्यादि एकत्व-प्रतिपादक शास्त्र वाक्यों के अवलम्बन से स्वकीय अद्वय स्वरूप को सम्यक् रूप से परिग्रह करने की चेष्टा करे, यह ही चतुर्थ अस्त्र। और पञ्चम अस्त्र है कृपा! मा की विशिष्ट विशेष रूपसे) कृपा लाभ करने के लिये जिस कातर प्रार्थना का प्रथम ही अवलम्बन किया है, उसीको शेष पर्य्यन्त धारण कर रखने की चेष्टा करना। कृपा ही शरणागत् भाव का अवश्यम्भावी फल है। आत्मलाभ के लिये आत्म कृपा ही प्रधान अवलम्बन है। कृपा की उपलब्धि होने से और जो कुछ भी है सो अनायास से लाभ हो जाता है। इसीसे देखा जाता है, पूर्वोक्त पांचों ही प्रायः व्युतक्रम से फलदायक होते हैं। अर्थात् सर्वप्रथम में मा की कृपा का अनुभव होता है; फिर विश्वास दृढ़

प्रतिष्ठित होता है फिर शास्त्र वाक्यों की अर्थ प्रतीति होती है, अतः पर युक्ति वा विचारों की सामर्थ्य आती है, सर्व शेषमें अनुभूति को लक्ष्य करके निर्विशेष स्वरूप में उपनीत होने की योग्यता लाभ होती है। जो हो, मे पञ्चविध उपाय, पूर्वोक्त शूलादि पञ्चविध अस्त्र रूप से यथा योग्य समझ लेने ही से इस मन्त्र का रहस्य अति स्पष्ट भाव से समझ सकोगे। तब हाँ एक बात है जो यहाँपर विशेष स्मरण योग्य है—"चामुण्डापीत शोणितम्"। चामुण्डा जबतक रक्तबीजका शोणित पान नहीं करें, तबतक किसी की सामर्थ्य नहीं कि उसे निर्मूल कर सके। इसीलिये प्राणपण से प्रलयंकरी शक्ति की कृपा की ओर लक्ष्य रखने होता है। याद रखने होगा—साधकों का पुरुषकार (पुरुषार्थ) माकी कृपा के द्वारा ही सम्यक् प्रकटित होता है।

——

स पपात महीपृष्ठे शस्त्रसङ्घसमाहतः।
नीरक्तश्च महोपाल रक्तबीजो महासुरः ॥६१॥

अनुवाद—हे महीपाल! इसी प्रकार शस्त्र सङ्घ द्वारा समाहत होकर क्षीणरक्त महासुर रक्तबीज महीपृष्ठ पर निपतित हुआ।

व्याख्या—पूर्वोक्त विश्वास अनुभव युक्ति शास्त्र प्रमाण एवं कृपा रूप शस्त्रसंघ द्वारा समाहत होकर रक्तबीज महीपृष्ठ पर निपतित हुआ—जड़त्व में परिणत हुआ, अर्थात् निहत हुआ। जड़त्व एवं दृश्यत्व एक ही बात है। जीव भाव अब तक मैं रूप चेतन वस्तु के साथ युक्त होकर कर्ता भोक्ता बना हुआ था! जो स्वरूपतः जड़ वा दृश्य है, सो ही अब तक चेतन रूप से—द्रष्टा रूप से प्रतिभात हो रहा था; किन्तु आज चैतन्य के यथार्थ स्वरूप के प्रकटित होने से, वह दृश्यत्व में परिणत हुआ है। मैं वस्तु अब दृश्य वा जीव नहीं है। मैं तो द्रष्टा—चेतन है। अबतक विपर्यय ज्ञान था, इसीसे बीजरूपा आत्मा विपर्यस्त भाव से जीव रूप से प्रतिभासित होती

थीं। किन्तु अब हमारी मा ने सर्व प्रथम ही धूम्रलोचन वध करके उस विपर्यय ज्ञान को विनष्ट कर दिया है। उसीके अवश्यम्भावी फलसे आज जीव भाव का भी अवसान हुआ है।

सुनो—वास्तव में जीव बोल कर पृथक् कुछ नहीं है, दृश्य बोल कर पृथक् कुछ नहीं है, कभी था किंबा रहेगा, यह भी नहीं हो सकता। एकमात्र विशुद्ध बोधस्वरूप वस्तु ही नित्य विद्यमान है। वह पूर्ण आनन्दमय, चिर मधुमय एवं सर्वथा अमृतमय है। पूर्णज्ञान और निरवच्छिन्न आनन्दस्वरूप वस्तु में अज्ञान और निरानन्द कभी भी नहीं, रह भी नहीं सकता। इस प्रकार के ज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठित होने का नाम ही रक्तबीज बध हैं; कारण इस प्रकार ज्ञान के उदय होने से फिर जीवभाव नामक कुछ भी नहीं रहता उस समय फिर बिजरूपी मैं वस्तु जीवत्व द्वारा अभिरञ्जित नहीं होती। अज्ञानताबशतःही इस प्रकार की जड़ चैतन्य संमिश्रणरूप प्रतिति होती है। साधक! इतने दिनों में तुम्हारा अज्ञान बिनष्ट हुआ है, चैतन्य स्वकीय स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ है, सुतरां जीबरूप से अब कुछ भी प्रतिभात नहीं होगा।

महर्षि मेधसने यहां पर राजा सुरथ को महीपाल कहकर सम्बोधन किया। साधक! तुम भी महिपाल होओ। चैतन्यस्वरूप तुम्हारे आश्रयमें होकर ही तो मही वा जड़त्व प्रकाश पाता है, तुमही तो मही को पालन करते हो, रक्षा करते हो, अर्थात् अज्ञान को परिपुष्ट करते हो, इसे अच्छी तरह समझ सकने से देखोगे—मही नामक फिर कुछ भी नहीं, एकमात्र चैतन्य स्वरूपबस्तु तुमही स्वयंनिस्त उद्भासित हो रहे हो, कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप व्यबहार तुममें किसी काल में भी नहीं थी, अभी भी नहीं, भबिष्यत में भी नहीं रहेगा। साधक कब तुमभी सुरथकी तरह महीपालत्व का मिथ्याभिमान परित्याग करके यथार्थ महीपाल होओगे? कब तुम्हारा रक्तबीज असुर निहत होगा? कब तुम इस प्रकार निरबच्छिन्न आनन्दमयसत्ता में प्रतिष्ठित होओगे?

ततस्ते हर्षमतुलमवापुस्त्रिदशा नृप ।
तेषां मातृगणो जातो ननर्त्ता सृङ्मदोद्धतः ॥६२॥

इतिश्रीमार्कण्डेय पुराणे सावर्णिक मन्वन्तरे देवी–महात्म्ये
रक्तबीज वधः ।

अनुवाद । हे नृप ! उस समय देवतागण परमानन्द को प्राप्त हुये एवं मातृगण भी रक्तबीज के असृक्पान-जनित आनन्द से उद्धत नृत्य करने लगीं।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय
देवी-माहात्म्य प्रसंगमें रक्तबीज वध ।

व्याख्या । वास्तविक ही आज देवतागणों का आनन्द अतुलनीय हैं बहुकाल के सञ्जित जीवत्वरुप, मलिनता के संसर्ग से देवतागण विमुक्त हुये हैं,' जड़त्व का संस्पर्श कट गया है । शुभ्र आत्मज्योति-समुद्भासित हो उठी हैं, सुतरां विशिष्ट चैतन्य समुह निर्विशेष अखण्ड आनन्दमय सत्ता के सम्बन्ध को लाभ करके अतुल हर्ष को प्राप्त हुए । और ब्रह्माणी प्रभृति मातृशक्ति गणभीं असृक्मदोद्धत होकर नृत्य करनेलगी । असृक शब्दका अर्थ रक्त; सोई मद अर्थात् हर्ष वा आनन्द हैं । जीवभावरूप असृक् अर्थात् भावरञ्जना समूह आनन्दमयी चितिशक्ति के सम्बन्ध से विशिष्ट हुआ, मातृशक्तिगणों की प्रलयलीला सार्थक हुई है; इसीसे वे उद्धत माव से ताण्डव नृत्य करने लगीं, अर्थात् विभिन्न शक्ति समुह निर्मल बोध प्रवाह रूपसे अभि-व्यक्त होने लगी ।

आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें ही जीवभाव अवस्थित है अर्थात् ब्रह्म ही मानो जीवरुपसे प्रकटित हो रही हैं; साधक अबतक ऐसे ज्ञानमें बिच-रण करनेमें अभ्यस्त था, किन्तु आज मा की कृपा से ऐसे स्थान पर आ उपस्थित हुआ है, जहाँ पर फिर जीवत्व नामक कुछ भी खोजने से नहीं पाया जाता । जीवभावीय परिच्छिन्नता के द्वारा आनन्द का जो एक सीमावद्ध भाव था, इस रक्तबीज-बधसे उसका सम्यक्

अवसान हो गया है। रक्तबीज बध होने ही से आनन्द की परिच्छिन्नता विदूरित होती है। पृथक पृथक रूपसे व्यष्टि भाव के भीतर होकर बिन्दु बिन्दु आनन्द का सन्धान नहीं लेने होता। सर्व्व विध विशिष्टता परित्याग पूर्वक आनन्द स्वरूप आत्मा ही सर्वथा प्रकाशित होने लगती हैं। उस समय तो विश्वमय केवल आनन्द! असीम आनन्द। निरावाच्छन्न आनन्द। आनन्द व्यतीत कहीं भी कुछ भी नहीं ? एक आनन्दस्वरुप मैं (वा अहं) परमप्रियतम मैं, अमृतमय मैं सर्वत्र उद्भासित हो रहा है। मेरे (मैं के) आनन्द का आदि नहीं, अन्त नही' उद्वेलन नही, मैं—महान्—प्रशान्त, धीर स्थिर हूँ। साधक को ऐसी अनुभूति प्राप्त होती है। उस अवस्था में जीव जगत्, जन्म मृत्यु, रोगशोक, चन्द्र सुर्य, आकाश नक्षत्र, सभी एक घन आनन्दमय सत्ता के द्वारा परिपूर्ण हैं बोध होने लगता है, सुतरां देवता गणोंको अर्थात् इन्द्रयाधिष्ठित चैतन्यवृन्द को अतुल आनन्द उपस्थित होता है, एवं मातृगण—ब्रह्मणी प्रभृति शक्तिगण आनन्दसे उद्दाम नृत्य करने लगती हैं। आओ साधक ? तुमभी इस आनन्द का सन्धान लेकर आनन्दमय होओ—धन्य होओ। सत्य में और प्राण में प्रतिष्ठित हुए हो, अब आनन्द में प्रतिष्ठत होकर अपने निरवच्छिन्न आनन्दमय स्वरूप को उपलब्धि करके जगतके द्वार द्वार आनन्द वितरण करके घूमो। श्री गुरु का मङ्गलमय आशीर्वाद तुमलोगों को धन्य करके इसप्रकार विश्वमङ्गलमें प्रणोदित करे! निरानन्द जगतमें फिरसे आनन्द की हंसी खिल उठे!

इति साधन समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्या में रक्तबीज वध।

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य ।

———

रुद्र ग्रन्थिभेद

निशुम्भवध

राजोवाच ।

विचित्र मिदमाख्यातं भगवन् भवता मम ।
देव्याश्चरितमाहात्म्यं रक्तबिजवधाश्रितम् ॥१॥
भूयश्चेच्छाम्यहं श्रोतुं रक्तविजे निपातिते ।
चकार शुम्भो यत् कर्म्म निशुम्भश्चातिकोपनः ॥२॥

अनुवाद । राजा (सुरथ) बोले—हे भगवन्! आपने रक्तबीजवध प्रसंग में देवी को इस विचित्र चरित-माहात्म्य का जो वर्णन किया (उससे) पुनः श्रवण करने की इच्छा होती हैं—रक्तवीज के निहत होने पर अति कोपन शुम्भ एवं निशुम्भ ने किस प्रकार कार्य किया था ।

व्याख्या । यथार्थ में रक्तबीज वध बड़ा ही विचित्र है। देवीका यह अभूतपूर्व चरित - महत्तम श्रवण करके जीवभाव-विलय कामी—साधकगण निश्चय ही मुग्ध होंगे । जिस चरित में एका अद्वितीया मा हमारी बहुशक्ति रूप से प्रकट होकर जीवभाव को प्रलय कवलित करती हैं, जिस चरित में मा हमारी स्वयं निर्विकल्प होते हुये भी शुलादि अस्त्र प्रयोग से असुर कुल को विमथित करती है, जिस चरित में माँ हमारी अनादि जन्म सञ्चित संस्कार राशि को उन्मूलित कर देती हैं, उस अपूर्व चरित को जितना ही श्रवण किया जाय, उतना

ही विस्मय विह्वल होने होता है। इसीसे तो राजा सुरथ ने "विचित्र मिदमाख्यातंदेऽमाश्चरितमाहात्म्यम्" कहकर इसकी विचित्रता प्रतिपादन की है। केवल मा का यही चरित माहात्म्य ही विचित्र हो सो नहीं इसके वक्ता विचित्र इसके श्रोता भी विचित्र हैं। और भी बिचित्र वे हैं—जो इसकी उपलब्धि करते हैं। इसीसे उपनिषत् कहती हैं 'आश्चर्य्योवक्ता कुशलोऽस्यलब्धा"! भगवान ने भी स्वयं कहा है – "आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्य्यवद् वदति तथैव चान्यः'। यथार्थ में इस तत्व के श्रोता वक्ता उभय ही विचित्र हैं। वक्तव्य विषय किन्तु तदपेक्षा भी और विचित्र है—आश्चर्य है। इतनी सहज सरल स्वप्रकाश वस्तु को प्राप्ति करने के लिये, कितनी विचित्रतामयी घटनावली में होकर जीव को जाने होता है, उसको सोचने पर भी बिस्मित नहीं होने होता हैं क्या? जिनको छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं, जो नित्य प्रकटित हैं, बिल्कुल सहज हैं, उनको समझने में, उनको प्राप्त करने में इतनी अवस्थाओं में, होकर अग्रसर होने होता है—इसे सोचकर देखने में बिस्मित नहीं होने होता है क्या? और, मैं हूं, यह कितना सहज है, कितना स्वाभाविक है, कितना प्रकाशशील है? आनन्दमयी मा हमारी ऐसे ही स्वाभाबिक, ऐसे ही स्वप्रकाश हैं। अथच स्वकिय स्वरूप को उद्भासित करने के लिये हमको लेकर उन्हें कितनी लील वैचित्र प्रकाश करनी होती है। धन्य है उनको जो-अति सुप्रकट होते हुये भी चिरलुक्कायित हैं, इसी नित्य सिद्धवस्तु को प्राप्त करनेके लिए कितने सहस्र ग्रन्थ कितने प्रकार के उपदेश, कितनी रकम की शिक्षा और साधन प्रणाली जगत में प्रचलित हुई हैं, उनके सोचने पर भी बिस्मित होने होता है। धन्य हैं वे, और धन्य हैं उनके अचिन्तनीय लीला रहस्य!

अच्छा जो हो, रक्तबीज के निधन पर भी जो कुछ अवशिष्ट रहता है, किस प्रकार उसका अवसान होता है, इसके जानने के लिये साधकों का कौतूहल परिवर्द्धित होता है, इसीसे महाराज सुरथ

"भूयश्चेच्छोम्यहं श्रांतु" कहते हुए निशुम्भ और शुम्भ निधन रहस्य को श्रवण करने के लिए आग्रह प्रकाश कर रहे हैं। राजा सुरथ राज्य भ्रष्ट होकर प्रथम जब महर्षि मेधस के निकट उपस्थित हुए, तब उन्होंने जो "भगवन्" सम्बोधन किया था, वह गुरु के सामने समुदाचारमात्र की सूचना कर रहा था। और आज यहाँ पर जो "भगवन्" शब्दका प्रयोग किया है, सो यथार्थ भगवद् दर्शन की सूचना कर रहा है। ठीक ऐसे ही शिष्य जितना उन्नत होता जाता है, उतनी ही गुरू में भगवत् सत्ता विशेष रूपसे दर्शन करने की सामथ्य प्राप्त करती है, अथवा गुरु में भगवत् ज्ञान जितना वेशी सत्यमें प्रतिष्ठित होता जाता है, शिष्य उतना ही; उन्नत होता जाता है।

———

ऋषिरूवाच

चकार कोपमतुलं रक्तबीजे निपातिते।
शुम्भासुरो निशूम्भश्च हतेष्वन्येषु चाहवे ॥३॥

अनुवाद। ऋषि बोले—रक्तबीज और अन्यान्य असुरगणों के निहत होने पर, शुम्भ और निशुम्भ असुर ने अतुलनीय कोप प्रकाश किया था।

व्याख्या। शुम्भ निशुम्भ के—अस्मिता और ममता के जो प्रधान अबलम्बन थे, एक एक करके वह सभी विलय को प्राप्त हो चुके है, आश्रय करके खड़ा हो सके, ऐसा अब कोई नहीं है। इस अवस्था में इनको नैराश्य अवसाद और अवर्णनीय दुःख उपस्थित होना उचित है, किन्तु सो नहीं हुआ। अतुलनीय क्रोध उपस्थित हुआ। यह क्रोध अतुलनीय है। जो क्रोध आत्मस्वरूप प्रकाश का हेतु है, जगत् में उस क्रोध की तुलना कहाँ? भगवान ने कहा है—"कामात् क्रोधो भीजायते" कामना से ही क्रोध का आविर्भाव होता है। शुम्भ और निशुम्भ अम्बिकाकी कामना कर रहे है, और

नाना कारणों से उनकी वह कामना पूर्ण नहीं हो रही है पुनः पुनः भग्नमनोरथ होने होता है, इसी से क्रोध का आविर्भाव हुआ यह क्रोध ही उनको सर्वतो भाव से विलय करा देगा। कामना से जिस क्रोध का आविर्भाव होता है, वह क्रम क्रम से किसप्रकार के परिवर्त्तनोंमें होकर परिणाम में विनाश के रूपमें आकर पर्यवसित होता है, सो भी भगवानने स्पष्ट भावसे ही कहा है—"क्रोधाद्भवति सम्मोहः"। क्रोध से सम्मोह उपस्थित होता है। आत्मा के स्वप्रकाशत्व आनन्दमयत्व के देखने को अस्मिता एकान्त मुग्ध हो पड़ता है! निज अस्तित्व विसर्ज्जन देकर भी आत्मा को प्राप्त करने को एकान्त लालायित होता है। इसी का नाम है सम्मोह। "सम्मोहात स्मृति विभ्रमः" मोह से ही स्मृति विभ्रम उपस्थित होता है। परम प्रेममय परमात्मस्वरुप में एकान्त मुग्ध होने से अपनी पृथक अस्तित्व विषयक स्मृति विलुप्त हो जाती है। "स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः" स्वकिय सत्ता की विस्मृति होते ही से बुद्धिनाश होती है। बुद्धि इन्द्रियाहृत विषय समूह की प्रकाशक मात्र है। जब चित्त में और कई वृति प्रवाह नहीं चलता, प्रकाश्य रूपसे कुछभी नहीं रहता तब प्रकाशक जो बुद्धि है, उसका भी अवसान हो जाता है। इस प्रकार स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश होती है। "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"। बुद्धिनाश होने से ही प्रणाश अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे नाश उपस्थित होता है—अस्मिता को जो आत्मातिरीक्त पृथक सत्ता है, सो सम्यक विलुप्त हो जाति है। पूर्व में कह चुका हूँ—बुद्धि और अस्मिता अभिन्न है; सुतरां बुद्धिनाश एवं अस्मितानाश एक ही बात है। क्रोधसे ही इस प्रणाश वा बुद्धि नाशकी सूचना होती है। इसीसे ऋषिने कहा है—शुम्भ निशुम्भ ने अतुलनिय क्रोध प्रकाश किया था। जिस कोपमें मैंत्व बिलय हो जाती है, जगत्में उसकी तुलना नहीं होती अच्छा जो हो' "मैं जीव" इस भाव के बिलय होने के बाद ही आत्मा को आत्मसात् करने के लिए अस्मिता क्षेत्र में एकबार शेष उद्यम प्रकाश पाता है। उसीका वहीर्लक्षण है क्रोध। फल है किन्तु बिपरीत—

आत्मा अस्मिता के आत्मसात् न होकर के, अस्मिताही आत्माके आत्मसात् होगी क्रम से हम यही देखेंगे।

———

हन्यमानं महासैन्यं विलोक्यामर्षमुद्वहन् ।
अभ्यधावन्निशुम्भोऽथ मुख्ययासुरसेनया ॥४॥
तस्याग्रतस्तथापृष्ठे पार्श्वयोश्च महासुराः ।
सन्दष्टौष्ठपुटाः क्रुद्धा हन्तुं देवीमुपाययुः ॥५॥

अनुवाद। माहसैन्यगणों को निहत देखकर अत्यन्त क्रोधान्वित निशुम्भ प्रधान असुर-सैन्य समभिव्यहार से युद्धार्थ अभिधावित हुआ उसके आगे पीछे उभय पार्श्व में क्रुद्ध महासुरगण ओष्ठ दंशन करते हुए देवी की हत्या करने के लिए चल पड़े।

व्याख्या। शुम्भ निशुम्भ दोनों भ्राताओं में निशुम्भने ही प्रथम युद्ध यात्रा की थी। अस्मिता और ममता इन दोनों में ममता ही आगे आत्मप्राप्ति के लिए अग्रसर होती है—"मेरीआत्मा" कहकर अम्बिका को ग्रहण करने के लिए उद्यत होती है। निशुम्भ—ममता के अग्रभागमें आत्मप्राप्ति की वासना, पृष्टदेश में जगद्भोग की वासना, उभयपार्श्व में अनन्त ऐश्वर्य विकाश की वासना, ये हा तो मुख्य असुर है, ये असुर सैन्यगण क्रोध से ओष्ठ चबाते हुए देवी के साथ युद्ध करने के लिए दौड़े। यहां पर आशंका हो सकती है कि इस के पूर्व रक्तबीजवध में जीवभाव पर्यन्त का विलय हो चुका है, फिर सामने पीछ पार्श्व में ये वासना रूपी असुर सब कहाँ से आगये! उसका समाधान यह है कि—मधुकैटभ से शुरू करके रक्तवीजवध पर्यन्त जिग असुरों के निधन की बात कही गई है, उसमें जीव भाविय यावतीय संस्कार विलय वही रहस्य व्याख्यात हुआ है। अब ईश्वर भावीय संस्कार नाश की वात कही जावेगी। सुतरां निशुम्भ के

आगे पश्चाते एवं पार्श्वदेश में जो सब असुर सैन्य की बात कही गई है, उसको ईश्वर भावीय संस्कार श्रेणी समझ लेने से फिर कोई संसय नहीं उठेगा। साधक! विशेषभाव से याद रखना—इस निशुम्भ और शुम्भ वध में ईश्वरत्व विषयक संस्कार क्षय वर्णित होगा। परमात्मस्वरूप में पहूंचने के लिए जैसे जीवभावीय संस्कार समूह अन्तराय है, ईश्वरत्व के संस्कार भी ठीक उसी प्रकार प्रतिबन्धक हैं। जीवत्व एवं ईश्वरत्व इन दोनों ही का विलय करने ही से अम्बिका को प्राप्त किया जाता है। यथार्थ ही जो मुक्ति कामी हैं, यथार्थ ही जो इहामुत्रफलभोगविरागी हैं, अर्थात् ईश्वरत्व पर्यन्त की उपेक्षा करते हैं, केवल वे ही इस अद्वय अमृतमय आत्मस्वरूप के साक्षात्कार करने में समर्थ हैं।

अच्छा जो हो, निशुम्भ सदलबल से युद्धार्थ उपस्थित हुआ। "मेरी आत्मा" कहता हुआ आत्मा के साथ आत्मियता करके अपनी विशिष्टता अक्षुन्न रहने को उद्यत हुआ। उद्देश्य यही है कि आत्माको आत्मीय कर सकने से ही ईश्वरत्व प्राप्त होगा; स्वाधीन-भावसे मुक्त प्राणोंसे जगतरूप ऐश्वर्य विलास संभोग किया जायगा। यही निशुम्भ के युद्धाभियान का रहस्य है।

साधक! यहाँ तक आ पहुंचने से, जान सकोगे—ईश्वरत्व क्या एवं प्रेम भक्ति हीं क्या है; साधारणतः तुम जहाँ पर प्रेमभक्तिकी आलोचना करते हो, वह यथार्थ प्रेमभक्ति का स्थान नहीं है। और जब तक तुम निशुम्भ की तरह "मेरी आत्मा" कहते हुये आत्माके साथ आत्मियता नहीं कर सकोगे, जबतक आत्मस्वरूप का आभास नहीं पाओगे, तब तक प्रेम भक्ति के विषय की आलोचना करने का अवसर कहाँ? "मेरी आत्मा" इस वाक्य के बोलने और समझने की सामर्थ्य तभी होती है; जब मेरा कहने को और कुछ नहीं रहता। (सबकी ममता त्यागि बटोरी, बाँधहि मोहि प्रीति की डोरी।)। सर्व-भाव के विलय न होने तक, चित्तका भावस्रोत निरुद्ध न होने तक, मेरे भगवान्, मेरी मा, मेरी आत्मा प्रभृति आत्मीयता बोधक वाक्य

प्रयोग की सार्थकता उपलब्धि नहीं होती। साधक का जब एकमात्र आत्माही लक्ष्य हो पड़ता है, और कुछ भी बोधमय क्षेत्र में फूटने का अवसर नहीं पाता, तब ही आत्माके साथ आत्मीयता करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। ऐवं तभी यथार्थ प्रेम भक्ति के अपूर्व रसास्वादन की योग्यता प्राप्त होती है।

देखो साधक! निशुम्भका प्रायः सर्वस्व विनष्ट हो चुका है, तथापि "अपनी अम्बिका को मैं चाहता हूं" कहता हुआ वह किस प्रकार तीव्र वेगसे अग्रसर हो रहा है। ठीक इसी प्रकार तुम आकुल आग्रह से अग्रसर होओ। ईश्वरत्व की लालसा मत रखना। लाभ हानिका विचार मत करना, केवल प्रेमसे आत्म विस्मृत (आत्मभोला) होने की चेष्टा करो। तुम भी निशुम्भ की तरह "मेरी आत्मा, मेरी मा" कहते हुए अग्रसर होओ, निश्चय, माको पाओगे 'मेरा' शब्द बिलकुल भूल जाओगे एवं केवल आत्मस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होओगे।

———

आजगाम महावीर्यः शुम्भोऽपि स्वबलैर्वृतः।
निहन्तुं चण्डिकां कोपात् कृत्वा युद्धन्तु मातृभिः ॥६॥

अनुवाद। महावीर्य शुम्भने भी स्वकीय सैन्य से परिवृत होकर युद्धमें मातृगणों के साथ चण्डिका को निहत करने के लिये सक्रोध से (समर क्षेत्र में) आगमन किया।

व्याख्या। ममता के साथ साथ अस्मिताने भी युद्ध यात्रा की। पूर्व ही बता चुका हूँ—ममता और अस्मिता परस्पर सहकारी हैं। ईश्वरत्व की—नानाविध ऐसी विभूति के संस्कार रूप असुर सैन्यदल से परिवेशिष्टत होकर स्वयं शुम्भ भी निशुम्भके साथ सक्रोध से युद्ध क्षेत्रमें आ पहुँचा। शुम्भ अम्बिका के पाणिग्रहण का अभिलाषो

है। अम्बिका के शरीर से निर्गत अष्टमातृ शक्ति सह चण्डिका को निहत कर सकने से ही अम्बिकादेवी एकाकिनी हो जावेंगी, एवं ऐसा होने ही से शायद शुम्भ की वह अभिलाषा पूर्ण हो जावें, इसीसे मन्त्र में "निहन्तुं चण्डिकां कोपात् कृत्वा युद्धन्तु मातृतिः" ऐसा उल्लेख है।

सुनो—अस्मिता से पृथक आत्मा नामक एक जन हैं, वे ही यथार्थ ईश्वर हैं, उनको आयत्त (वशमें) करलेने ही से यथार्थ ईश्वरत्व प्राप्त होगा, ऐसा सोचकर ही अस्मिता का इतना आग्रह है, इतना दृढ़ प्रयत्न है। अस्मिता अपने ही को आत्मा वा ईश्वर कहकर जानने की चेष्टा करता है, किन्तु बीच-बीच में विशुद्ध आत्मस्वरूप का आभास देखने में आता है इसलिये स्वकीय स्वरूप की अपूर्णता विशेष भाव से अनुभव करता है, इसीसे आत्मा को प्राप्त करके उस अपूर्णता को दूर कर स्वयं पूर्ण होना चाहता है। उसको अभिप्राय ही यह है कि, मुझे छोड़कर और जो एकजन "मैं" की सत्ता देखनेमें आती है, उसे किसी भी प्रकार से पृथक भाव से नहीं रहने दिया जायगा, या तो यह मैं उस मैं में मिलकर एक हो जाय, नहीं तो वह मैं इस मैं में हमेशा के लिये मिल जायगा। दो मैं की सत्ता किसी प्रकार भी सह्य नहीं की जायगी। अस्मिता क्षेत्र में पहुँचे हुये मुमुक्षु साधक के बिना ये सब बातें समझ सकोगे क्या? जब तक आत्मस्वरूप का आभास नहीं पाया जाता तबतक अस्मिता ही आत्मा नहीं, यह पहिले किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता। क्रम से जितना आत्मसान्निध्य प्राप्त होता है, उतना ही उसे आयत्त करने को आग्रह आता जाता है।

ततो युद्धमतीवासीद्देव्या शुम्भ निशुम्भयोः।
शरवर्षमतीवोग्रं मेघयोरिव वर्षतोः॥ ७॥

अनुवाद। बादमें देवी के साथ शुम्भ और निशुम्भ का भीषण युद्ध आरंभ हुआ। जलवर्षण कारी दो मेघों की तरह वे दोनों प्रबल वेग से शर वर्षण करने लगे।

व्याख्या। ममता "हमारी आत्मा कहकर आत्माको आत्मीय करने की प्राणपण से चेष्टा करने लगा, और अस्मिता "मैं ही आत्मा हूँ" कहकर यथाथ आत्मसत्ता का निरास करने का प्रयास करने लगा। यह ही 'शुम्भ निशुम्भ के समर का रहस्य है, जो "तत्व-मसि' प्रभृति महावाक्यके मनन एवं निदिध्यासन करने के अभ्यासी हैं, वे इस अस्मिता ममता के सूक्ष्म अथच भीषण आक्रमण को लक्ष्य कर सकेंगे। यथार्थ ही जिसको चरमतत्व एवं परमधाम बोलकर समझा गया है, उसे जबतक अपने में न लाया जा सके, तबतक साधक को किसी प्रकार भी शान्ति वा विश्राम नहीं। इसी लिये साधकगण इस क्षेत्र में आकर आत्म प्राप्ति करने के लिये विपुल अध्यवसाय प्रयोग करते हैं। पातजंल योगसूत्रमें उल्लिखित है "तीव्रसंवेगाना-मासन्नः" तीव्र संवेग सम्पन्न साधकगणों के पक्षमें ही आत्मलाभ आसन्न होता है। और वास्तविक अनुभूति क्षेत्रमें भी देखा जाता है कि ऐसा तीव्र संवेग एकान्त ही स्वाभाविक भावसे आउपस्थित होता है। नदी जहाँ पर समुद्रके सन्निहित है, वहाँ पर श्रोत का वेग भी बड़ा प्रबल होता है। साधक जितना आत्मसान्निध्य प्राप्त करता है, उसका अध्यवसाय भी उतना ही प्रबल होता है। यह ही शुम्भ निशुम्भ कत्तृक अति उग्र शर वर्षण का रहस्य है। मन्त्रमें मेघ के साथ इसको उपमा दी गई है। इसका भी कुछ उद्देश्य है। मेघ जैसे जल अनवरतः वर्षण करके अपनी सत्ता खो बैठता है; आस्मिता ममता भी उसी प्रकार तीव्र वेग से अध्यवसाय प्रयोग रूप शरवर्षण करके शीघ्र ही अपनी सत्ता खो बैठेंगे। तब तो फिर एक मात्र आत्मसत्ता ही विद्यमान रहेगी। अस्मिता और ममता नामक कुछ भी नहीं रहेगा। क्रमसे हम वही देखेंगे।

——

चिच्छेदास्ताञ्च्छरांस्ताभ्यां चण्डिकाशु शरोत्करैः ।
ताड़यामास चाङ्गेषु शस्त्रौघैरसुरेश्वरौ ॥८॥

अनुवाद । दोनों असुरों के छोड़े हुये वाणों को चण्डिका देवी भी शीघ्र शर समूह द्वारा छिन्न करने लगीं, एवं नानाविध अस्त्र-शस्त्रके प्रयोग से दोनों असुराधिपतियों के अङ्गों को क्षत विक्षत करने लगीं ।

व्याख्या । शुम्भ और निशुम्भ ने बहुत संख्यक शरनिक्षेप किये किन्तु सभी व्यर्थ हुए, क्योंकि चण्डिका मा हमारी स्वकीय शर प्रयोग से उन सबको छिन्न करने लगीं । अधिकन्तु चण्डिका के अस्त्राघात से दोनों असुरों के अङ्ग क्षत विक्षत होने लगे । इन शर प्रयोगों का रहस्य यद्यपि पूर्व मे अनेकवार कहा जा चुका है, तथापि यहाँ पर पुनरुल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। "प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्य-मुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥" इस उपनिषत् प्रतिपाद्य शरनिक्षेप की चरम उत्कषता यहीं पर है—इस शुम्भ-निशुम्भ समर में ही परिलक्षित हाती है । साधक जितना ही प्रणवधनु अवलम्बन करके ब्रह्मलक्ष्य से आत्मशर के निक्षेप करता है, उतनी ही साधक की अपनी पृथक सत्ता क्षीण होती जाती है। यथार्थ सत्ताका सन्धान जितना ही मिलता है, जीवभावीय पृथक सत्ताकी मूल उतनी ही विनष्ट होतो जाती है । असुराधिपति दोनों के शर व्यर्थ होना एवं क्षत विक्षत अङ्ग होनेका यही तात्पर्य है । चण्डिका के शर प्रयोग से चिति सत्ता का पुनः पुनः क्षण स्थायी प्रकाश समझ लेनेसे ही यह रहस्य सम्पूर्ण उपलब्धि योग्य होगा। निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा मा, नित्यस्वस्थ नित्य-निर्विकार हैं, उनको "हमारी" करने की जितनी चेष्टा की जायगी, मैंत्व उतना ही क्षीण होता जायगा। आत्मा का वह नितान्त निर्मल स्वरूप का आभास जितना ही उज्ज्वलतर रूपसे साधक के सन्मुख प्रकाशित होता जायगा,अस्मिता वा ममता भी उतनी ही क्षीणसे क्षीणतर होती जायगी। साधक, इस तत्वके प्रति विशेष लक्ष्य

रख सकने से ही इस शुम्भ-निशुम्भ के युद्ध रहस्य को समझ सकोंगे।

निशुम्भो निशितं खड्‌गं चर्म्म चादाय सुप्रभम्।
अताड़यन् मूर्द्धिण सिंह देव्या वाहनमुत्तमम् ॥ ९ ॥

अनुवाद। (उस समय) निशुम्भने शाणित असि एवं अति उज्वल चर्म (ढाल) के ग्रहणपूर्वक देवी के उत्तम वाहन सिंहके मस्तक पर आघात किया।

व्याख्या। महिषासुर युद्धमें भी एकबार सिंह के मस्तक पर इस प्रकार आघात देखा गया था। निशुम्भने भी शाणित असि एवं चर्म ग्रहण करके सिंहके मस्तक पर उसी प्रकार आघात किया। मातृशक्ति परिचालक यन्त्रको अर्थात् जीवरूपी सिंहको अकर्म्मन्य कर देना ही निशुम्भका अभिप्राय है। जीव-सिंहक उद्यम विहीन कर सकने ही से अम्बिका निशुम्भकी अधीनता स्वीकार कर लेंगी, यही उसका उद्देश्य है

एक यहाँ पर आपत्ति उठ सकती है कि, यहाँ पर फिर जीव सिंह कहाँ से आया? रक्तबीज बधमें होतो जीव भावका विलय हो चुका है। विशेष बात—बुद्धिमें प्रतिविम्बित जो चित् है, वही तो जीवका यथार्थ स्वरूप है, सोई यहाँ पर शुम्भासुर रुपसे वर्णित हो रहा है, तो फिर देवीका वाहन सिंह कहाँ से आवेगा? यह आपत्ति भी ठीक है। इसका उत्तर भी यही है कि, यद्यपि वास्तव दृष्टि से चिदाभास से अतिरिक्त जीव नामक कुछ नहीं है, तथापि जबतक अस्मिता ममता है, तबतक ऐसी एक शक्ति रहती है; जो इन दोनों को भी विलय करने की चेष्टा करती है। वह जो शक्ति है, यद्यपि उसमें 'मैं जीव' कहने को कोई तरह का अभिमान नहीं है, तथापि वह भी आत्माका ही एक विशिष्ट प्रकाश है, इसे किसी प्रकार अस्वीकार भी नहीं

किया जाता। और वह विशिष्टता ही यहाँ पर देवी का वाहन, सिंह है।

इस मन्त्रमें वाहनका एक विशेषण है—उत्तम। इसके पूर्व देवी का जो वाहन था, सो अपेक्षाकृत स्थूलाभिमानी थी, किन्तु यह आनन्दमय कोषका अति सूक्ष्मतम शक्ति प्रवाह है। यहाँ पर किसी प्रकार की स्थूलत्व की अभिव्यक्ति नहीं है। इसीसे इसे उत्तम वाहन कहा गया है। सुनो, सुषुप्तिकाल में जीव आनन्दमय कोषमें अवस्थान करता है, उस समय स्थूल किंवा सूक्ष्म विषयक कोई ज्ञान ही नहीं रहता, किन्तु अज्ञान-विषयक जो ज्ञान रहता है, उसे पकड़ सको तो देवी के इस उत्तम वाहन सिंह का रहस्य समझा जा सकता है।

ताड़िते वाहने देवी क्षुरप्रेणासिमुत्तमम्।
निशुम्भस्याशु चिच्छेद चर्म्मचाप्यष्ट चन्द्रकम्॥१०॥

अनुवाद। वाहनके आहत होने से देवी ने क्षुरप्र नामक अस्त्र द्वारा निशुम्भकी उत्तम असि और अष्टचन्द्र-चिन्हित चर्म (ढाल) को छेदन कर दिया।

व्याख्या। देवी ने अपने उत्तम वाहन सिंह को आहत होते देख कर क्षुरप्र नामक अस्त्रके प्रयोग से निशुम्भकी उत्तम असि एवं अष्टचन्द्र चिन्हित चर्म्म को छिन्न कर दिया। क्षुरप्र--क्षुर सदृश (छुरा जैसा) एक प्रकार शणित अस्त्र विशेष। इसका आध्यात्मिक अर्थ आत्म स्वरूप-प्रकाशक शक्ति विशेष। जिस प्रकाश शक्तिके प्रभाव से ईश्वर भावीय बिक्षेप समूह निवारित होते हैं। सोई यहाँ पर क्षुरप्र नामक अस्त्ररूपसे वर्णित हुआ है। द्वितीय खण्डमें चिक्षुरके निधन में जो विक्षेप निवृत्तिकी बात कही गई है वह जीव भावीय विक्षेप है। और इस अस्मिता क्षेत्र में जो विक्षेप निवृत्ति की बात कही गई है उसे ईश्वर भावीय विक्षेप समझने होगा, कारण इस अस्मिता क्षेत्र में

जीवभावीय विक्षेप की तो कोई सम्भावना नहीं। अच्छा जो हो, देवी ने क्षुरप्र अस्त्र प्रयोग से निशुम्भ की उत्तम असि एवं चर्म्म उभय छिन्न कर दिये। असि—शब्द से यहाँ पर भेद ज्ञान अर्थात् ईश्वर भावीय विक्षेप शक्ति एवं चर्म्म शब्दसे आत्मस्वरूप आवरक शक्ति विशेष जाननी होगी।

मन्त्रमें चर्म्म को अष्ट चन्द्र चिन्हित कहा गया है, और भी एक रहस्य है। इसके पूर्व जो अष्ट पाशोंका विलय वर्णित हुआ है उनका शेष चिन्ह स्वरूप जो सूक्ष्मतम बीज है सोई यहां पर अष्टचन्द्र चर्म नामसे उक्त हुआ है। साधारण भाषामें चर्म्म अस्त्रको ढाल कहा जाता है। यह आवरण शक्ति का ही नामान्तर मात्र है। स्वप्रकाश आत्मशक्ति जब निशुम्भ को ममत्वको विलय करने के लिये उद्यत होती है तब वह सूक्ष्मतम बीजरूपी आवरणशक्ति के प्रभावसे अपने को आवृत करके राखने की चेष्टा करता है, यही ममता का स्वभाव। माने इसबार उसे भी विनष्ट कर दिया।

छिन्ने चर्म्मणि खड्गे च शक्तिं चिक्षेप सोऽसुरः।
तामप्यस्य द्विधा चक्रे चक्रेणाभिमुखागताम ॥११॥

अनुवाद। चर्म्म एवं खड्ग के छिन्न होने से, उस असुर ने शक्ति अस्त्रको निक्षेप किया। अपने अभिमुखी आते देख उस अस्त्र को भी देवीने चक्र अस्त्रके प्रयोग से द्विधा कर डाला।

व्याख्या। असि और चर्म्म छिन्न हो गया देखकर निशुम्भ ने शक्ति अस्त्र का प्रयोग किया। देवी ने उसे भी द्विखण्डित कर डाला पूर्वोक्त आवरण और विक्षेप शक्ति जिसमें से उद्भूत होती हैं, वह मूल अज्ञान स्वरूप पदार्थ भी तो शक्ति विशेष है, इसका कहना ही क्या है। अज्ञान की शक्ति स्वरूपता वेदान्त शास्त्र में भी विशेषभाव से स्वीकृत हुई है। अच्छा जो हो, अज्ञानरूप मूल शक्ति से प्रकाशित

आवरण और विक्षेप नामक शक्तिद्वय जब विनष्ट हो जाती हैं, तब निशुम्भ शेष चेष्टावत् अपना समस्त अध्यवसाय प्रयोग करके उस मूल-अज्ञान शक्ति को ही पकड़कर रखने की चेष्टा करता है। मन्त्र में यही शक्ति अस्त्र प्रयोग रूपसे वर्णित हुआ है। माने चक्र अस्त्र प्रयोग से उसे भी व्यर्थ कर डाला। चक्र शब्द का अर्थ सुदर्शन चक्र अर्थात जगत् चक्र। पूर्वमें यह चक्र रहस्य विशेषभावसे व्याख्यात हो चुका है। अच्छा जो हो, ममता जब ही 'हमारी आत्मा' कहकर आत्माको परिग्रह करने के लिये अग्रसर होती है तब ही मा हमारी इस जगत् चक्रको सम्मुखीन करके उसे प्रतिनिवृत्त कर देती है। तात्पर्य यह है कि, साधक जब अज्ञानवशात हमारा कहकर आत्मा को पकड़ने की चेष्टा करता है, तब भी ठीक आत्माको नहीं पकड़ा जाता। आत्मा की विभूति समूह अर्थात ईश्वर भावीय संस्कार समूह आकर सन्मुख उपस्थित होते हैं एवं उन्हीं का ऊपर ममत्व जन्मता है। किन्तु अनात्म भावों के प्रति जो ममत्व है, सो तो इसके पूर्व ही सम्पूर्ण विलुप्त हो चुका है, पर वैराग्य के प्रभाव से जीव भावीय एवं ईश्वर भावीय यावतीय विभूतियां ही तो त्याग वा ग्रहण के सम्पूर्ण अयोग्य हैं, यह सम्यक् रूपसे उपलब्धि हो चुकी है। ममता अब तो एकमात्र आत्माही को चाहती है, अन्य और कोई भी प्रलोभन उसे अब मुग्ध नहीं कर सकता, इसीसे मा जितना जगत चक्र वा आत्मा विभूतिका प्रलोभन दिखाकर ममत्व की अग्रगति को निरूद्ध करने की चेष्टा करती हैं ममत्व उतना हीं और उल्लास से तीव्र उत्साह से आत्माभिमुखी अग्रसर होने की चेष्टा करता है। यद्यपि ममत्वका यह प्रयास अर्थात आत्माको आत्मीय करने का प्रयत्न प्राय निष्फल ही होता जाता हैं, तथापि इस प्रकार का प्रचेष्टा भी की एक विशेष उपकारिता हैं। साधक मूल अज्ञान शक्ति के से जितनी बार आत्माको आत्मीय करने की चेष्टा करता है, उतनी बार ही थोड़ा-थोड़ा (कुछ न कुछ) ममत्वबोध क्षीण होता जाता है। सुतरां जो मा के चक्र अस्त्र प्रयोग से निशुम्भ की शक्ति हीनता का विषय वर्णित

हुआ है, वह साधक मात्र का ही अनुभव योग्य विषय है। उन्नत स्तर के अनुभूति सम्पन्न साधकगण स्वकीय अनुभव का विश्लेषण करने ही से इस रहस्य का सन्धान पावेंगे।

——

कोपाध्मातो निशुम्भोऽथ शूलं जग्राह दानवः
आयान्तं मुष्टिपातेन देवी तच्चाप्यचूर्णयत् ॥१२॥
आविध्याथ गदां सोऽपि चिक्षेप चण्डिका प्रति।
सापिदेव्या त्रिशूलेन भिन्ना भस्मत्वमागता ॥१३॥
ततः परशुहस्तं तमायान्तं दैत्यपुंगवम्।
आहत्य देवी वाणौघैरपातयत भूतले ॥१४॥

अनुवाद। बादमें निशुम्भ दानव ने कोपप्रज्वलित होकर शूल ग्रहण किया। देवी ने भी उस शुल को भी आते से आते ही मूष्टिपात द्वारा चूर्ण कर डाला निशुम्भ ने तब गदा घुमाकर चण्डिका के ऊपर निक्षेप की। देवी के त्रिशूलाघात से वह गदा भी बिदीर्ण एवं भस्मीभूत हो गई। बाद में परशु हाथ में लिये आते हुए उस दैत्यपुङ्गव को देवी ने वाण समूहों के द्वारा आहत करके भूतलपर गिरा दिया।

व्याख्या। इन तीनों मन्त्रोंमें भी निशुम्भ एवं चण्डिकादेवी का परस्पर अस्त्र प्रयोग बर्णित हुआ है। निशुम्भ ने शूलास्त्र फेका, देवीने मुष्टिपात से उसे चूर्ण कर दिया। फिर निशुम्भ जब परशुका आघात करने को उद्यत हुआ, तब देवी ने बाणों के प्रयोग से उसे मुच्छित करके भूतल पर गिरा दिया। शूल—स्वरूप बिषयक ज्ञान, गदा-व्यक्तवाक्य प्रयोग— स्रोत आदि पाठ महत्व कीर्त्तन प्रभृति, परशु–द्वैत प्रतीति। इन सव अस्त्र शस्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या पुनः पुनः उल्लेख करना निष्प्रयोजन है। खास बात यह है कि ममता बारम्बार नाना प्रकार के उपायों से अपनी बिशिष्टता रक्षा करता हुआ

आत्मा को आत्मीय करनेकी चेष्टा करता है। 'मैं बना रहूँ, और मेरा कहने के लिये भी तुम्ही एकमात्र रह जाओ" यह जो भाव है,यह ही निशुम्भ के नाना प्रकार अस्त्र प्रयोग रूप से बर्णित हुआ है। साधक ! जीवन में यदि किसी को यह भाव सत्य ही सत्य आवे तो वह धन्य हैं यह मुक्त कण्ठ से कहा जा सकता है, प्रेम भक्ति अनुशीलत की यही तो चरम अवस्था है, यह बात सत्य है, किंतु यहाँ पर रहने से भी नहीं चलेगा, और भी अग्रसर होने होगा। इसीलिये निशुम्भ कितनी ही चेष्टा करे, कितनी ही प्रेमभक्ति का अनुशीलन करके आत्मरस आस्वादन की चेष्टा करे, स्वकीय विशिष्टता रक्षा करने॰ का कितना ही प्रयास पावे,मा तो उसे व्यर्थ कर ही देगी; इसीसे देखा जाता हैं चण्डिका देवी भी नाँना अस्त्र प्रयोग करके, अर्थात् पुनः पुनः अद्वय ज्ञान के आलोक सम्पात से ममता की उस विशिष्टता को विनष्ट करने की चेष्टा कर रही हैं। उसी के फल से अर्थात आत्मा की स्वप्रकाशत्व-शक्ति के प्रभाव से ममता का विशिष्ट प्रकाश क्रम से क्षीणबल होता हुआ मूर्च्छित होता है—द्वैतप्रतिति कुछ काल के लिये विलय प्राप्त हुई है। ममता की जो एक पृथक सत्ता है, उसका अनुभव न कर सकना ही मूर्च्छित होना है। वैष्णव शास्त्र में भी प्रेम धर्म अनुशीलन के परिणाम स्वरूप ऐसी मूर्च्छा की बात बर्णित हुई है। जब "हमारे हमारे" कहते हुये आत्मा को पकड़ने जाने में 'हमारा' बोध बिलुप्त हो जाता है; केवल आत्म स्वरूप ही उद्भासित होने लगता है, तबही यथार्थ प्रेम की उदय होता है साधक ! यहाँ पर मूर्च्छा शब्द से चैतन्य का विलोप मत समझ बैंठना। स्वयं चैतन्य स्वरूप के समीपस्थ होने से जीव कभी भी चैतन्य हीन नहीं हो सकता। यदि ऐसा देखो—कि कोई भगवान का नाम स्मरण वा कीर्त्तन करते करते अचैतन्य (बेहोश) हो पड़ा है, तो समझना-वह अभी भी चैतन्य वस्तु का स्वरूप समझ ही नहीं सका है। उसके निकटस्थ होना तो दूर की बात है। जो चैतन्यमय को स्पर्श करने में अचैतन्य हो पड़ता है, वह अभी

मनोमय क्षेत्र को परित्याग करके कुछ भी ऊपर नहीं उठ सके हैं, यह स्थिर सिद्धान्त जानना।

तस्मिन्निपतिते भूमौ निशुम्भे भीमविक्रमे।
भ्रातर्य्यतीव संक्रुद्धः प्रययौ हन्तुमम्बिकाम् ॥१५॥

अनुवाद। भीम विक्रम भ्राता निशुम्भ के पृथ्वी पर मूर्च्छित होने से शुम्भ ने अतिशय क्रुद्ध होकर अम्बिका के हत्या करने को गमन किया।

व्याख्या। निशुम्भ ठीक ही भीमविक्रम है। साधक, यह ममत्व ही एक दिन स्थुल में—संसार के कामिनी काञ्चन में आकृष्ट था। कितनी चेष्टा कितने कठोर प्रयत्न से एवं कितने दीर्घ काल से उसे उस आकर्षण से छुड़ाकर धर्म के भीतर लाये थे, तब इसी ममता ने धर्म को ही हमारा कहकर ग्रहण किया था! फिर बहुत दिनों में-बहुजन्मों के बाद मा की कृपा से, श्री गुरु की अहैतुकी अनुप्रेरणा से उस धर्म संस्कार को भी छुड़ाकर ममता को यथार्थ साधना राज्य में ला उपस्थित किया, उसने वहाँ पर भी साधना ही को हमारा कहकर समझ लिया। अब बहु सुकृति के फल से इतने दिनों में उसने आत्म-स्वरूप का सन्धान पाकर आत्मा को हमारा सर्वस्व है कहकर समझा है। देखो साधक, यह ममता कहाँ से कहाँ आपहुँचा है, समस्त प्रलोभनों का परित्याग करके, स्थूल सूक्ष्म यावतीय भावों का परित्याग करके कारणतत्त्व में आ उपस्थित हुआ है, कितनी निम्न अवस्था से कितनी उच्च अवस्था में आपहुँचा है, तथापि ममता का जो स्वभाव है, उसे परित्याग नहीं कर सका। ममता अब आत्माव्यतित और कुछ नहीं चाहता, जगत् संसार समस्त परित्याग करके आत्मलाभ प्रयासी हुआ है। किन्तु यह भी भेदज्ञान मात्र है, इसलिये मा हमारी इस को भी निधन करेंगी।

साधक ! एक बात का यहाँ पुनः पुनः स्मरण करा देना आवश्यक है कि, इस रुद्रग्रन्थि के स्तर में प्रवेश करने पर जिन सब जगहों में भेद ज्ञान का उल्लेख है, उसमें स्वगत भेद मात्र ही लक्षित हुआ है, सजातिय किंवा विजातिय भेद की तो कोई बात ही इस स्तर में नहीं हो सकती। अच्छा जो हो, अब निशुम्भ मा के अद्वय स्वरूप प्रकाश से कुछ काल के लिए मूर्च्छित हो गया; अर्थात् ममत्व का अब विकाशभाव नहीं रहा। इसलिये शुम्भ अस्मिता स्वयं ही अति शीघ्र अम्बिका के हनन करने को उद्यत हुआ। आत्मा का हनन कर सकने ही से अस्मिता और ममता, उभय भ्राता ही निरुपद्रव से अवस्थान कर सकेंगे। किन्तु हाय वह तो असम्भव है।

स रथस्थस्तथात्युच्चै र्गृहीतपरमायुधैः।
भुजैरष्टाभिरतुलै र्व्याप्याशेषं वभौ नमः ॥१६॥

अनुवाद। वह शुम्भासुर रथ पर आरोहण करके अतुलनीय अष्ट संख्यक हस्त द्वारा नाना रूप श्रेष्ट अस्त्र धारण पूर्वक आकाश मण्डल परिव्याप्त करके शोभा पाने लगा।

व्याख्या। शुम्भ रथस्थ। रथ—देह। देह त्रिविध—स्थूल सूक्ष्म ओर कारण। शुम्भ का रथ कहने से यहां पर कारण-देह ही समझनी होगी। क्योंकि स्थूल वा सूक्ष्म देह में जो आत्माभिमान था, वह तो अनेक पूर्व ही विनष्ट हो चुका है।

अष्टभुज—अष्ट सात्विक भाव। आकाश मण्डल-विज्ञान मय व्यापक आकाश। अस्मिता कारण देह के आश्रय से अष्ट सात्विक भाव समन्वित होकर विज्ञानमय आकाश परिपूर्ण करके शोभा पाने लगा। प्रेम भक्ति के अनुशीलन से पुलक अश्रुकम्प प्रभृति आठ विध सात्विक लक्षणों का प्रकाश होता है। याद रक्खो साधक! ये स्थल में नहीं अप्राकृत क्षेत्र में हैं। अच्छा जो हो, "व्याप्याशेषंवभौनभः"

यह ही शुम्भ का अर्थात् अस्मिता का यथार्थ स्वरूप है। अस्मिता क्षेत्र में पहुँचने पर साधक की ठिक ऐसी ही अवस्था उपस्थित होती है—अति स्वच्छ चैतन्यमय सर्वव्यापक आकाश मैंत्वमय होकर प्रकाश पाने लगता है। उस समय स्थूल और सूक्ष्म देह विषयक प्रतीति ही नहीं रहती। अतुलनीय अनिर्वचनीय आनन्द का वह मैंत्वमय बोध मानो बिलकुल ही डुब जाना चाहता हैं; इसीसे सात्विक लक्षण समूह प्रकाश पाने लगते है। यहीं पर आ उपस्थित होने से आत्मा का-हमारी अम्बिका मा का परम रूप दूरसे प्रत्यक्ष होने लगता है, सर्व भावों के साथ अन्वित मैं कभीं भी अम्बिका के इस स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। सर्वभावों से एकान्त विरक्त बिना हुए—उलङ्ग (नग्न) मैं बिना हुये, भावातिता दिगम्बरी मा के अङ्क में आरोहण नहीं किया जाता। किन्तु वह और बात है—

—

तमायान्तं समालोक्य देवी शंखमवादयत् ।
ज्याशब्दञ्चापि धनुषश्चकारातीव दुःसहम् ॥१७॥
पूरयामास ककुभो निजघन्टास्वनेन च ।
समस्त दैत्यसैन्य नां तेजोवधविधायिना ॥१८॥

अनुवाद —उसको (शुम्भ को) आते देख कर देवी ने शंख ध्वनि और धनु की अतीव दुःसह, ज्या ध्वनि कीं। एवं समस्त दैत्य सैंना की तेजोनाशक स्वकीय असाधारण घण्टा ध्वनि द्वारा सम्पूर्ण दिक मण्डल परिपूर्ण कर लिया।

व्याख्या—सर्व्वतोव्यापी अस्मिता को देखकर देवी चण्डिका ने शंख, घण्टा एवं ज्याध्वनि की। शंख-घण्टा ध्वनि—अनाहतनाद। धनु की, ज्या ध्वनि—प्रणव-नाद। नाद यहाँ पर वैखरी नहीं, मध्यमा पश्यन्ती प्रभृति सूक्ष्मनादो ही की बात यहाँ पर कही जाती है। जबतक द्वैत प्रतीति है, तब तक नाद भी रहेगा ही। तब हाँ

प्रभेद है स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व लेकर। अच्छा जो हो, दैत्य सैन्यकगणों के तेजो वीर्य को विनाश करने के लिये ये सूक्ष्म नादत्रय विशेष अवलम्बन स्वरूप होते हैं। जब ही आसुरिक भावों के द्वारा उत्पिड़ित होना पड़े, तब ही अनाहतनाद में अभीनिवेश स्थापन पूर्वक एकतान से प्रणवादि मन्त्र जप करने लगने से वह अत्याचार प्रशमित हो जाता है। देवी माहात्म्य के प्रारम्भ से ही यह बात कही जा रही है। स्थूल असूर—काम क्रोधादि बृत्ति, किम्बा सूक्ष्म असुर—अस्मिता प्रभृति, सभी अनाहतनाद समन्वित प्रणव ध्वनि से अभिभूत हो पड़ते हैं। उनका तेजो वीर्य ह्रास पाता है। पूर्व में कहा जा चुका है, मा स्वयं ही युद्ध करती हैं, इन सब मन्त्रों में भी वही स्पष्ट भाव से उल्लिखित हुआ है। ध्यानादि करना आरम्भ करने किंबा आसुरिक बृत्तिनिचय के दमन करने की चेष्टा करने में शरणागत साधकगण निश्चय ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं—अन्तर से मा ही समयानुरूप साधना करती रहतीं हैं (वा करने लगती हैं), अर्थात् उपाय सब मामों अपने आप ही आकर उपस्थित होते रहते हैं, याद रक्खो साधक! यही देवी का प्रतीकार बा मातृ समर हैं।

ततः सिंहो महानादैस्त्याजितेभ महामदैः।
पूरयामास गगन गान्तथोपदिशो दश ॥१९॥
ततः काली समुत्पत्य गगनक्ष्मामताड़यत्।
कराभ्यां तन्निनादेन प्राक्स्वनास्ते तिरोहिताः ॥२०॥

अनुवाद—बाद में सिंह हस्थियों की महामदनाशक गर्जन करने लगा, उससे आकाश, पृथवी एवं दशोदिक् परिपूर्ण हो गई। और काली आकाश में उत्पतित होकर करद्वय द्वारा पृथ्वी को बिताड़ित

करने लगी, उस ताड़न ध्वनि से पूर्वोस्थित शब्द सब तिरोहित हो गये।

व्याख्या—अनाहत-नाद एवं प्रणवध्वनि के साथ सिंहनाद वा जीव की उल्लास सूचक जय ध्वनि ने मिलित होकर धरणी और गगन मण्डल को परिपूर्ण कर लिया। अर्थात क्षितितत्व से लेकर व्योम तत्व पर्यन्त समस्त तत्व ही विक्षोभित हो उठे। यहाँ पर भी स्थूल क्षित्यादि पञ्च भूतों की बात नहीं कही गई है। अस्मिता को विशेष विशेष व्यूहरूप क्षिति प्रभृति की अति सूक्ष्मतम अवस्था को लक्ष्य करके ही मन्त्र में धरणी और गगन मण्डल वाक्य कहा गया है। इस मन्त्र में सिंहनाद शब्द का एक विशेषण है "त्याजितेभमहामदैः।" हस्तीका महामदनाशक,ईभ—हस्ती अर्थात मन। उसका जो महा-मद—मत्तता अर्थात चञ्चलता, सो जीव-सिंह के भीषण निनाद से 'त्यजित' अर्थात विदुरित हो गई।

साधक, जब देखो—सूक्ष्मतम अनाहत-नाद के साथ परम सूक्ष्म प्रणवध्वनि उठ रही है, तब तुम भी महोल्लाससे जयध्वनि करके मनो-रूप मत्त हस्ती की दुर्दमनीय चञ्चलता को विशीर्ण कर देना। तुम्हारी आशा पूर्ण होगी। अच्छा जो हो, जब इस प्रकार विभिन्ननाद समन्वय ने धरणी एवं गगन मण्डल को परिपूर्ण कर लिया, तब काली संहारिणी शक्ति ने स्वकीय करद्वय द्वारा क्षिततल सन्ताड़ित किया। अर्थात क्षितितत्वीय बोध को विलय कर दिया—बोध का जो क्षिति-तत्वात्मक विकाश वा स्फूरण है, उसे प्रहत किया। उस ताड़ित ध्वनि से पूर्व कथित समस्त ध्वनि तिरस्कृत हो गई। कारण क्षिति तत्व का आश्रय करके ही यावतीय भाव वा ध्वनियों का विकाश होता है, जब वह क्षिति तत्व ही काली के करप्रहार से स्वयं विशीर्ण हो गया, तो फिर तदाश्रित विशेष विशेष भाव या ध्वनि समूह अपने आपही निरस्त हो जायेंगे। इसीसे मन्त्र में "प्राकस्वनास्ते तिरोहिताः" ऐसा उल्लेख देखा जाता है। साधक! यहाँ पर क्षितितत्व शब्द से

अस्मिता का स्थूल बोधात्मक स्फुरणमात्र समझना, तभी ये सब बातें अनायास में हृदयंगम कर सकोगे।

अट्टाट्टहासमशिवं शिवदूती चकार ह।
तैः शब्दैरसुरास्त्रेसुः शुम्भः कोपं परं ययौ ॥२१॥

अनुवाद—शिवदूती ने अमङ्गल जनक अट्टहास्य किया। उस शब्द से असुरगण सन्त्रस्त हो गये, एवं शुम्भ अतिशय कोपान्वित हुआ।

व्याख्या। शिवदूती—जिन्होंने पहिले ईशान को दूत रूप से नियुक्त करके शुम्भ को युद्ध से प्रतिनिवृत्ति करने का प्रयास किया था उन्हीं चण्डिका देवी ने असुरपक्ष का अमङ्गल जनक अट्टहास्य किया। उस भीषण हास्य ध्वनि से असुरगण वित्रस्त एवं शुम्भ कोपान्वित हुआ। हास्य—आनन्दमय आत्मरूप का विकास। विद्युत्रेखावत्—कौंधा की न्याईं उस वाक्य मन के अगोचर परमात्मसत्ता का क्षणिक विकास ही शिवदूती का हास्य है। यह हास्य ही असुर गणों के पक्ष में अशिव अर्थात बड़ा ही अमङ्गलजनक है, क्योंकि यह हास्य ही असुरभावसमूह को विलय कर देता है। परमात्मा के इस प्रकार क्षणिक विकास ही से वह सब एकांत सन्त्रस्त भितीविह्वल हो पड़ते हैं, कारण क्षणकाल के लिये अपनी विशिष्ट सत्ता को खो बैठते हैं। वह कैसी भीतिदायक अवस्था है? असुरगण जब इस प्रकार स्वकीय सत्ता खोने लगते हैं, उस समय प्राणप्रण से अपनी विशिष्टता को पकड़ रखने की चेष्टा करते हैं।

साधक! इस प्रकार एकबार मा की हाँसी प्रकाश पाने से ही जीवकी पृथक सत्ता विषयक प्रतीति विलुप्त होने लगती है, एवं आसुरिक भाव समूह भी संत्रस्त होते हैं। पश्चान्तर में समुदय आसुरिक भावों के केन्द्र स्वरूप सुम्भ का अर्थात् अस्मिता का क्रोध उद्दीपित हो उठता है, जो आत्म प्रकाश उसकी विशिष्टसत्ता के

विनाश करने को उद्यत है उसे ध्वंस करने के लिये तब वह बद्धपरिकर होता है।

——

दुरात्मं तिष्ठ तिष्ठेति व्याजहाराम्बिका यदा।
तदा जयेत्यभिहितं देवैराकाशसंस्थितैः ॥२२॥

अनुवाद—"हे दुरात्मन्? तिष्ठ तिष्ठ", अम्बिका जब शुम्भ का यह वाक्य कह रही थीं, उस समय आकाशस्थित देवतावर्ग जय-ध्वनि कर उठे।

व्याख्या—मा ने शुम्भ को "दुरात्मन्" कहकर सम्बोधन किया। अस्मिता आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र होते हुए भी आत्मस्वरूप में परिचित होना चाहता है, यही है अस्मिता का दुष्टभाव, इसीसे माने उसे 'दुरात्मा' कहा "तिष्ठ तिष्ठ"—ठहर ठहर, क्षणकाल अपेक्षाकर शीघ्र ही तु बिलय प्राप्त होगा—मा के वाक्य से यही भाव प्रकाश पा रहा है। माने जब इस प्रकार अचिर काल ही में शुम्भ के विनाश की सूचना की, तब विज्ञानमय आकाशमण्डल में अवस्थित विशिष्ट चैतन्यवर्ग रूपी देवतावृन्द महोल्लास से जयध्वनि कर उठे। अचिर ही में वे असुरों के अत्याचार से विमुक्त होंगे, और उनको अस्मितारूप दुर्जय असुर के अधीन नहीं रहने होगा। अमृतमय आत्मसत्ता सम्भोग के शुभ दिन प्राय आगत है, इसी के उल्लास से ही देवगणों की जयध्वनि है।

साधक! साधना के मार्ग में अग्रसर होते होते ऐसे शुभलक्षण देखने ही से जानना—तुम्हारी आशा पूर्ण होने में अब बिलम्ब नहीं। देवतागण जबतक आत्माभिमुखी न होते हैं। तुम्हारे इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवृन्द जबतक महोल्लास से अमृत-सम्भोग के अभिलासी न हो, तबतक आत्म लाभ की आशा विड़म्बना मात्र है। जब देखो,—इन्द्रिय मन प्राण बुद्धि एकसुर से सम्मिलित होकर महोल्लास से

आत्माभिमुखी धावित हो रहे हैं, तवही जानना तुमको मातृलाभ अवश्यम्भावी है। केवल मा मा बोलकर रोते रहो, और बोलो—"काछे ऐसे हाते धरे, नियेजाओमा कोले करे। आमि दू वाहू तूले मा मा बोले, घरेर छेले जाईमा घरे।" अर्थात्—पास आओ मा! हाथ पकड़कर गोदी में लेकर लेचलो। मैं फिर दोनों हाथ उठाकर (ताली बजाता) मा मा बोलता हुआ घरकी सन्तान मैं मा घर चलूं। (करावलम्ब मम देहि मातः अन्कस्थ कुरुमा निकटस्थ होवो ? माताहि पुत्रः व्यवधान नास्ति, सच्चित्स्वरूपं सुखरूप होवो, स्वात्मरमणं निज-बोधरूपं आनन्द भूर्तें प्रतिष्ठा होवो) सरल प्राणों से इसप्रकार कह उठने से ही मा आवेंगी, देवतावर्ग तुम्हारे सहाय होंगे। तुम्हारी मैंत्व का विलय होगा मातृवक्ष में हमेशा के लिये मिल जाओगे।

———

शुम्भेनागत्य या शक्तिर्मुक्ता ज्वालाति भीषणा।
आयान्ती वह्निकूटाभ सा निरस्ता महोल्कया ॥२३॥
सिंहनादेन शुम्भस्य व्याप्तं लोक त्रयान्तरम्।
निर्घातनिःस्वानो घोरो जितवानवनीपते ॥२४॥

अनुवाद—शूम्भ ने देवी के निकट आगमन पूर्वक अति भीषण अग्नि शिखा-विशिष्ट शक्ति अस्त्र प्रयोग किया। अग्नि शिखा की तरह आता हुआ वह अस्त्र आते न आते ही देवी के महोल्का अस्त्र द्वारा निरस्त हो गया। शुम्भ ने तब सिंहनाद से त्रिलोक परिपूण किया, किन्तु हे अवनिपते ? देवी की भीषण वज्रध्वनि ने उसकी उस ध्वनि को भी अभिभूत कर दिया।

व्याख्या—इस मन्त्र में शूम्भ का भाग्यविपर्यय, विशेषभाव से वर्णित हुआ है। उसका शक्ति-अस्त्र एवं भीषण सिंहनाद दोनों ही व्यर्थ हो गये। अस्मिता स्वकीय शक्ति प्रयोग करके आत्मा को

सर्वभावों के भीतर लाकर विशेष भाव से भोग करना चाहता है, यही शुम्भ के शक्ति-अस्त्र प्रयोग का रहस्य है। यह शक्ति भीषण अग्नि शिखाकी न्याय प्रतीयमान होतीं है, कारण. जब इस अस्मिता का प्रकाश होता है, तब सर्वव्यापी एक मैंत्वमय घनसत्ता आत्म स्वरूप आच्छादन कर डालती है। किन्तु आत्मा का स्वप्रकाशभाव तदपेक्षा भी घन एवं समुज्वल है, इसीसे क्षणभर के लिये वह आत्मस्वरूप का आभास अस्मिता के उपर निपतित होकर उसको निरस्त करदेता है। यही मा के महोल्का प्रयोग का रहस्य है। जब जब अस्मिता अपनी विशिष्ट सत्ता को तीव्र अध्यवसाय से प्रकाश करने की चेष्टा करता है तब तब ही (मा का) आत्मा का स्वप्रकाश स्वरूप क्षणभर के लिए उद्भासित होता है; सुतरां उसके सब शक्तिप्रयोग व्यर्थ होजाते हैं।

शक्ति अस्त्र को व्यर्थ होते देखकर शुम्भ ने भीषण सिंहनाद किया। मा की वज्रध्वनि से वह भी व्यर्थ हो गया। यथार्थ में शुम्भ की मैंत्व-ध्वनि द्वारा त्रिलोक परिपूर्ण हो जाता है। अस्मिता देखता है—"मैं को छोड़कर और कहीं भी कुछ भी नहीं है, सर्वभावों से मैं ही हूँ।" यही तो शुम्भ का सिंहनाद है। किन्तु हे अवनीपते सुरथ ! अब प्रकृति विपर्य्यस्त हुई है, निर्घात निःस्वन उत्थित हुआ हैं। अन्तरिक्ष में वज्रध्वनिवत् आकस्मिक भीषण निःस्वन उठने से, शुम्भ का वह सिंहनाद निर्जित हो गया है। यह आकस्मिक वज्रध्वनि और कुछ नहीं है विद्युत विकाशवत् क्षणस्थायी आत्मविकाश मात्र है। आत्मा के ही विकाश से अस्मिता दुर्ब्बल हो पड़ता है, जिनके अस्तित्वमें संशय आता है, "मै हूँ" अर्थात् अस्ति नामक जो एक प्रतीति हो रही है, यह अस्तित्व मेरा है न आत्मा का है, ऐसे ज्ञान का आभास आने लगता है। जितने परिमाण में यह ज्ञान प्रकाश होता जाता है, उतने ही परिमाण में अस्मिता दुर्ब्बल होता जाता है। क्षण भर के लिए भी नित्य-अस्तित्व का विकाश होने से, प्रतिबिम्बस्वरूप का अस्तित्व क्षीणबल विना हुए नहीं रह सकता। जो साधक हैं, सो इन सब बातों को रोम रोम में अनुभव कर सकेंगे।

शुम्भमुक्ताञ्छरान देवी शुम्भास्तत् प्रहिताञ्छरान ।
चिच्छेद स्वशरैरुग्रैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥२५॥
ततः साचण्डिका क्रुद्धा शूलेनाभिजधान तम् ।
स तदाभिहतोभूमौ मूर्च्छितो निपतात ह ॥२६॥

अनुवाद—देवी शुम्भनिक्षिप्त शतसहस्र वाण समूहों को एवं शुम्भ भी देवी कर्तृक निक्षिप्त सहस्र सहस्र वाण समूह को स्वकीय अत्युग्र शर प्रयोग से च्छिन्न करने लगे। बाद में चण्डिका देवी ने क्रुद्ध होकर शुम्भ को शूल द्वारा आघात किया, शुम्भ आहत होकर मूर्च्छित अवस्था में भूतल पर निपतित हुआ।

व्याख्या—आत्मा एवं अस्मिता में युद्ध। विम्व एवं प्रतिविम्व का समर, साधक! लक्ष्य करो—तुम्हारा सर्वभावों के साथ अन्वित यह जो मैं है वह किसी भी तरह अपने स्वरूपको नहीं खोना चाहता नाना भावों से, नाना आश्रयों से अपने 'मैंत्व' की रक्षा करने का प्रयास करता है। यही शुम्भ का शत सहस्र शर निक्षेप है। और देवी चितिशक्ति भी मुहुर्मुहू स्वकीय स्वरूप को प्रकटित करके अस्मिता के उन विशिष्ट आश्रय समूहों को विनष्ट करती हैं, यह ही मा के साथ शुम्भ का समर रहस्य है!

बाद में चण्डिका देवी के शूलाघात से शुम्भ मूर्च्छित हुआ। शूलाघात शब्द का तात्पर्य ज्ञानमय सत्ता का विकाश, यह पहले भी अनेकवार कहा गया है। 'मैं' जो 'ज्ञ' स्वरूप वस्तु हूँ, इसमें ज्ञाता ज्ञेयादि विशिष्ट कोई भाव नहीं है, ऐसी उपलब्धि को लक्ष्य करके ही यहाँ पर शूलाघात शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस मुहूर्त्त में ऐसी अनुभव प्रकाश पाता है, उसी मुहूर्त्त में अस्मिता मूर्च्छित वा अदृश्य होती है। क्षणभर के लिये अस्मिता का विभूत्व व्यापकत्वादि धर्म तिरस्कृत रहता है ऐसा हमारी माँ का आत्मविकाश हैं। उनके विकाश से सर्वभाव विलय को प्राप्त होते हैं, कुछ भी नहीं रहता, रहता क्या है, सो भी भाषा में ठीक ठीक नहीं कहा जाता, क्योंकि

वह 'मैं' वर्जित 'मैं' है! अथवा मैं का यथार्थ स्वरूप है? वही तो यथार्थ-मैं है, वही तो 'सोऽहं," वही तो आत्मा है; वहाँ पर चन्द्र सूर्य का विकाश नहीं, वहाँ पर ग्रह नक्षत्र का विकाश नहीं है; वहाँ पर विद्युत प्रकाश नहीं पाती अग्नि भी वहाँ पर प्रकाशहीन है, ऐसा ही 'ज्ञ' स्वरूप, केवलानन्द स्वरूप वह आत्मा—मैं हैं। इसका विद्युत्वत विकाश होते ही अस्मिता कुछ क्षण के लिए मूर्च्छित हो पड़ता है।

——

ततो निशुम्भः संप्राप्य चेतनामात्तकार्मुकः।
आजधान शरैर्देवीं कालीं केशरिणं तथा ॥१७॥
पुनश्च कृत्वा बाहूनामयुतं दनुजेश्वरः।
चक्रायुधेन दितिजश्छादयामास चण्डिकाम् ॥२८॥

अनुवाद—बाद में निशुम्भ होश में आकर धनुर्धारण पूर्वक शर समूहों के द्वारा काली को एवं केशरी को आहत करने लगा। पुनः दनुजाधिपति दितितनय निशुम्भ ने अयुतबाहू प्रसारित करके चक्रायुध द्वारा चण्डिका को आच्छन्न कर लिया।

व्याख्या—निशुम्भ अबतक मूर्च्छित ही था। मा के शूलाघात से शुम्भ के मूर्च्छित होनेपर निशुम्भ की मूर्च्छा भंग हुई, वह धनुर्धारण पूर्वक काली एवं केशरी को लक्ष्य करके शर निक्षेप करने लगा। अस्मिता और ममता ठीक ऐसे ही भाव से साधक को उत्पीड़ित करते रहते हैं। एक के निर्जित होने पर दूसरे का प्रभाव विस्तृत होता है। "हमारी आत्मा" कहकर आत्माभिमुखी अग्रसर होना ही ममता के शर प्रयोग का रहस्य है। निशुम्भ का विशेष क्रोध संहार शक्ति के ऊपर एवं देवी के वाहन सिंह पर है। कारण इस संहार शक्ति ही के लिए तो, कहीं भी कुछ भी नहीं है, ये काली ही तो "हमार" नामक कहने को कुछ नहीं रक्खा है, सर्वस्व ग्रासकर लिया

है। और केशरी भी एकान्तभाव से जीवभाव का हननेच्छू है; सुतरां इन दोनों पर निशुम्भ का शर प्रयोग रूप आक्रमण चलने लगा।

इस मन्त्र में निशुम्भ को दनुजाधिपति एवं दितिज कहा गया है। दनु एवं दिति एक ही के विभिन्न नाम हैं—ये हैं कश्यप-पत्नी। खण्डनार्थक 'दो' धातु से दनु एवं दिति शब्द निष्पन्न हुआ हैं। जो शक्ति अखण्ड बोध को खण्डित करती है, अर्थात् भेद ज्ञान को धारण करती हैं, सोई दिति वा दनु है। कश्यप शब्द का अर्थ है पश्यक अर्थात् द्रष्टा। व्याकरण विधि के अनुसार अक्षर विपर्यय होकर पश्यक शब्द कश्यप रूप से प्रयुक्त होता है। यह हमारी ही स्वकपोल कल्पित व्याख्या नहीं है, वैदिक निरुक्तकार ने स्वयं ऐसो व्याख्या की है। कश्यप के दो पत्नी थीं—दिति एवं अदिति। सर्व भाव प्रकाशक ब्रह्म की द्विविध शक्ति है; एक वहिर्मुखी दूसरी अन्तर्मुखी। दनु वा दिति की सन्तानों को दानव वा दैत्य एवं अदिति की सन्तानों को आदित्य वा देवता कहा जाता है। एक दल बहिर्मुख, दूसरा दल अन्तरमुख है। एक दल आत्मभाव को खण्डित करता है, दूसरा दल आत्म सत्ता में युक्त रहता है।

अच्छा जो हो, "हमारा वा मेरा" यह ज्ञान ही भेद ज्ञान का सर्वप्रथम बीज है। बास्तव में तो मैं व्यतीत कहीं भी कुछ भी नहीं है, यही है सत्यज्ञान। किन्तु जिस किसी भी कारण से इस अखण्ड मैं के ऊपर जब एक "मेरा—हमारा" बोध फूट उठता है, तबही मैं को छोड़कर और एक कुछ द्वितीय वस्तु का भास होने लगता है! अर्थात् अनात्मवस्तु की सत्ता-विषयक प्रतीति होने लगती हैं, यह ही यावतीय असुरभाव का स्वरूप है। इसी से असुरों को दितिज वा दनुज कहा जाता है। ममता यावतीय भेद ज्ञान का आश्रय है इसीसे निशुम्भ को यहाँ पर दनुजेश्वर कहा गया है।

निशुम्भ ने अयुत अर्थात् दश सहस्रवाहू विस्तार पूर्वक चक्रायुध द्वारा चण्डिका को आच्छन्न कर लिया। यह बात जरा सोचने का विषय है। ममता का शेष आक्रमण—आत्मा के प्रति ममत्व बोध

है। इसी ममत्व बोध से ही आधुनिक वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई है। हमारे प्रभु, मेरे पिता, मेरे सखा, मेरे बन्धु, मेरे पति इत्यादि प्रकारों से परमात्मा के साथ संबंध स्थापन पूर्वक जो साधना अनुष्ठित होती है, उनकी परिसमाप्ति यहीं पर है इसी निशुम्भ वध में। हमारा-मेरा कहने को और कुछ भी नहीं रह जाता, सब "मैं" हो जाता है, जबतक "मेरा" शब्द कहने में आत्मा व्यतीत और कुछ रह जाय, तबतक तो साधक का 'मेरा' शब्द बोलना भी ठीक ठीक नहीं होता। जब सर्वभाव विलय को प्राप्त होते है, जब सन्मुख में स्वप्रकाश आत्मस्वरूप उद्भासित होता है। तब ही आत्मा के प्रति यथार्थ ममत्व बोध प्रकटित हो सकता है। इसके पूर्व जो ममत्वबोध का भाव देखने में आता में, वह तो प्रवर्तक अवस्थामात्र है। यही यथार्थ ममत्वबोध ही अयुत हस्तोंसे चक्र अस्त्र प्रयोग करके चण्डिका को आच्छन्न करने को उद्यत होता हैं। दश इन्द्रिय मार्ग से सहस्र अर्थात् असंख्य भावों की सहायता से आत्मा में जो ममत्वबोध को स्थापन करने को चेष्टा करता है? इस प्रकार ममत्व बोध की सहायता से आत्माने जो सब भाव अर्पित होते हैं, वे फिर अपने आप ही ममत्वबोध में लौट आते हैं, पुनः आत्माभिमुखी प्रेरित होते हैं, और ममत्व प्रतीति में ही लौट आते हैं। इस प्रकार चक्राकार गति को लक्ष्य करके ही मन्त्र में "चक्रायुधेन" वाक्य उक्त हुआ है। ठीक ठीक ध्यानावस्था आने से ही इन बातों की सत्यता की उपलब्धि होती है। आत्मा का स्वरूप दर्शन, आत्मा का आह्वान श्रवण; आत्मा की सुगन्धि ग्रहण, आत्म रस आस्वादन प्रभृति इन्द्रय व्यवहारों का अवलम्बन करके ही—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" शब्दहीन स्पर्शहीन रूपहीन परमात्मा के अभिमुखी होने होता हैं। इस प्रकार अयुतबाहु विस्तार करके ही भावातीत स्वरूपपर आक्रमण करने होता है। साधक! ये सभी किन्तु वैष्णवों की भाषा में अप्राकृत क्षेत्र की बातें हैं। यद्यपि अस्मिता ममता प्रभृति सूक्ष्मतम तत्व समूह भी प्रकृति हों के अन्तरगत है,

तथापि ये इतने ज्यादा चैतन्यधर्मी हैं कि अप्राकृतिक कहने से कोई हानि नहीं होती। इस क्षेत्र के दर्शन श्रवणादिक व्यवहार समूह तो साधारण इन्द्रिय व्यवहार नहीं है, इसका धीमान् साधकों के प्रति कहना ही क्या है।

ततो भगवती क्रुद्धा दुर्गा दुर्गार्त्ति नाशिनी।
चिच्छेद तानि चक्राणि स्वशरैः सायकांश्चतान्॥२६॥

अनुवाद—दुर्गम में निपतित जनगणों की कातरताहारिणि भगवती दुर्गादेवी ने क्रुद्धा होकर निशुम्भ निक्षिप्त चक्र एवं वाणों के समूह को स्वकीय शर प्रयोग से छिन्न कर दिया।

व्याख्या—दुर्गत सन्तान ने दुर्गा कहकर, आर्त्तिहरा मा कहकर पुकारा हैं, असुरों के अत्याचार से परित्राण पाने का कोई उपाय न देखकर, सर्वाश्रया मा को सरलप्राणों से दुर्गा कहकर पुकारा है; तभी तो भगवती षड़ैश्वर्यशालिनी मा हमारी क्रुद्धा चण्डिकामूर्ति से ममता के यावतीय शर प्रयोगों को व्यर्थ कर दे रही हैं। मा का अस्त्र एवं स्वशर, अर्थात् आत्म शर। आत्म स्वरूप-प्रकाश रूप शर को निक्षेप करके क्षण क्षण में मा हमारी एक एक बार चपला (विद्युत) की तरह जब स्वयं उद्भासित होती है, तबही असुर के यावतीय अस्त्र प्रयोग और उद्यम व्यर्थ हो जाते हैं। कारण आत्मा का स्वरूप ऐसा ही है उसके उदय होने पर फिर किसी की भी सत्ता का खोजने पर भी पता नहीं लगता। सर्व सत्ताओं के बिलयकारी आत्मसत्ता का विकाश होते ही ममतादि भेदज्ञानात्मक वृत्तियों का प्रभाव क्षीण से भी क्षीणतर हो जाता है। योगशास्त्रकार ने इसे "प्रक्षीण क्लेशावस्था कहा है। जो चित्त की बृत्तियों को निरुद्ध करके, इस अस्मिता प्रभृति क्लेश को तनु अर्थात् क्षीण करने की इच्छा करते हैं, उनका उपाय स्वतन्त्र है (उनकी दूसरी बात है)। हमने चिर पुरातन एक मार्ग

का सन्धान पाया है, उससे समझ में आया है—जितनाही मा हमारा का आत्म प्रकाश होता. जाता है, उतने ही क्लेश समूह भी प्रक्षीण होते जाते हैं। सो भी मा का यह आत्मप्रकाश शरणागत भाव के भीतर होकर ही सहज में हो जाता है। सत्य और प्राण प्रतिष्ठा ही ऐसी साधन की भित्ति है किन्तु ये सब बातें यहाँ पर अप्रासङ्गिक हैं।

ततो निशुम्भो वेगेन गदामादाय चण्डिकाम्।
अभ्यधावत वै हन्तुं दैत्यसेनासमावृतः ॥३०॥
तस्यापतत एवाशु गदां चिच्छेद चंडिका।
खड्गेन शितधारेण स च शूलं समाददे ॥३१॥

अनुवाद—इसके बाद निशुम्भ दैत्य सेना के परिवेष्टित होकर गदा ग्रहण पूर्वक चण्डिका को हत्या करने के लिये खूब वेग से अभिधावित हुआ। (गदा हस्ते) आपतित निशुम्भ की उस गदा को चण्डिकाने तीक्ष्णधार खड्ग द्वारा शीघ्र ही छिन्न कर डाला। निशुम्भने ने तब शूलास्त्र ग्रहण किया।

व्याख्या—गदा शूल प्रभृति का अर्थ पूर्व कहा जा चूका है। साधारण बात ममता पुनः पुनः 'मेरी' कहकर आत्मा को परिग्रह करना चाहता है, चण्डिका भी स्वकीय स्वरूप-प्रकाश रूप तीक्ष्णधार खड्गाघात से ममता के उन सभी उद्यमों को विनष्ट कर देती हैं। भेद-ज्ञान नाशक विशुद्ध अद्वयज्ञान के प्रकाश ही को यहां तीक्ष्णधार खड्ग कहा जाता है पुराणादि शास्त्रों में विज्ञान ही असिरूप से उल्लिखित हुआ है। भले ही अल्पकाल के लिये "एकमेवाद्वितीयम्" उद्भासित हो, याबतीय भेदज्ञान तत्क्षणात् निरस्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में पड़ कर ममता अगत्या अपना सर्वशेष अस्त्रशूल ग्रहण करता है। जिस ज्ञान सत्ता में ममता रूप अज्ञान प्रतिष्ठित है, उसी ज्ञान को यहाँ पर त्रिशूल कहा गया है। त्रिपुटी ज्ञान ही यह त्रिशूल है। "अपनी (मेरी)

आत्मा को मैं साक्षात् कर रहा हूं" ऐसे भाव में जो स्वगत भेदमय त्रिपुटी ज्ञान विद्यमान है, वह ही है निशुम्भ का शूलास्त्र।

शूलहस्तं समायान्तं निशुम्भमरार्दनम्।
हृदि विव्याध शूलेन वेगाविद्धेन चण्डिका ॥३२॥
भिन्नस्य तस्य शूलेन हृदयान्निःसृतोऽपरः।
महावलो महावीर्य स्तिष्ठेती पुरुषो वदन् ॥३३॥

अनुवाद—अमर विजयी (असुर) निशुम्भ शूल हाथ में ले आगमन कर रहा है देखकर, चण्डिका ने अतिवेग से स्वकीय शूल निक्षेप पूर्वक उसका हृदय देश विद्ध कर लिया। शूलाघात से उसका (निशुम्भ का) हृदयदेश इस प्रकार विदीर्ण हुआ, उस में से और एक महावल और महा वीर्य सम्पन्न पुरुष "तिष्ठ" (ठहर) यह वाक्य बोलता बोलता निर्गत हुआ।

व्याख्या—निशुम्भ की शूल अर्थात् पूर्वोक्त त्रिपुटीज्ञान को व्यर्थ करके, चण्डिका मा हमारी ने शूलाघात से—अद्वयात्मस्वरूप प्रकाश से उसका हृदय विद्ध किया। अरे, इस प्रकार विना हृदय विद्ध किये, इस प्रकार द्वैतज्ञान के विना बिदीर्ण किये, इस प्रकार अद्वयतत्व उद्भासित नहीं करने से तो हमारा और कोई उपाय ही नहीं रहता। मा! आज तुमने इस मुक्ति मन्दिर के द्वार पर आकर जिस अद्वय शूलाघात से भेदज्ञान का हृदय बिदीर्ण किया, यह शूलाघात न मालूम कब कौन अतित युग से आरम्भ हो रहा है, कौन स्मरणातीत काल से यह हृदय कितना क्षत विक्षत हो रहा है, तथापि जागृत नहीं हुआ। अरे जब मैं मेरा कहकर बड़े आदर से धनैश्वर्य को जकड़ के पकड़ता था, तबतो नहीं समझा था कि इस धनैश्वर्य रूप से तुम्हीं हो मा हमारी। मैं तो भेद ज्ञान से उसे जड़ पदार्थ मानकर पकड़ता था, और तुम भी ठीक इस प्रकार करके तीव्र यातना दायक

अथच ज्ञानमय शूल के आघात से इन सबको हमारे पास से हटा देती थीं। मैं तब "हा हतोस्मि" कहता हुआ रो उठता था। फिर जब स्त्री पुत्र कन्या बन्धु बान्धव प्रभृति को मेरे कहकर जकड़े रखता था तब भी नहीं समझा – कि ये सब भी मा तुम्हारे व्यतीत और कुछ नहीं है, इसीसे तुम उन सब को भी इसी प्रकार शूलाघात से हटा कर, मेरे हृदय देश को क्षत विक्षत कर देती थीं। उसी समय परम-प्रियतम आत्मा हमारी, तुम थोड़ी, थोड़ी करके इस विशीर्ण हृदय के एक कोने में आकर स्थान ग्रहण करती थीं। इस प्रकार एक दिन नहीं; कितने दिन कितने जन्मों से तुम्हारे शूलाघातों को हृदय पातकर लिया है। रोआ हुँ, असह्य बेदन यातना भोग कीं है, तिस पर भी फिर भेद ज्ञान में मुग्ध हुया हुं तुमको भुला दिया है। फिर भी तुमने मुझे जगाने के लिये शूल आघात किया है। फिर हृदय पातकर उसी क्षत विक्षत हृदय में तुम्हारा शूलाघात सह्य किया है। तुम्हारी वह कृपा कठोर मूर्ति उस समय देखते हुए भी नहीं देखी, समझते हुए भी नहीं समझे। जड़त्व के मोह मे आच्छन्न होकर तुम्हारी कृपा का उपेक्षा करके कितना न वहिर्मुखी दौड़ा हुँ। तब तुम्हारे वह शूलाघात बड़े ही यन्तणादायक थे। आज किन्तु तुम्हारा यह शूलाघात सम्पूर्ण भावेन वाञ्छनीय मानकर हृदय में ग्रहण कर रहा हुँ। अब और कहने कीं कुछ नहीं है मा, केवल मा बोलते बोलते ऐसे ही मेरा कन्ठ निरुद्ध हो जाय।

अच्छा जो हो, यह ममत्व पहले जड़ पदार्थ के आश्रय से प्रकाश पाता है, क्रम से जड़ाश्रित चैतन्य में, बाद में विशुद्ध चैतन्य में पर्य्यवसित होता है। इस प्रकाश ममत्व जब विशुद्ध चैतन्याभिलाषी होता है, तब ही यथार्थ भक्ति वा प्रेम धर्म का अनुशीलन होने लगता है। क्रम से आत्मप्रेम जितनी गंभीरता लाभ करता है, उतना ही ममत्व वोध ढक जाता है। जब मात्र विशुद्ध वोध रूप आत्मसत्ता प्रकाश पाती हैं, तब ही ममता निहत होती है। चण्डिका के शूलाघात से निशुम्भ के हृदय विदारण का यही संक्षिप्त रहस्य है।

मन्त्र में और एक बात हैं—निशुम्भ निहत होने पर भी उसके हृदयमें से महाबल सम्पन्न और एक पुरुष निर्गत हुआ था। यह पुरुष अन्य कोई नहीं ममताधिष्ठित चैतन्य है। जिस चैतन्य-सत्ता पर अधिष्ठित होकर ममत्व रूप एकविशिष्ट भाव प्रकाश पाता है, वह विशिष्ट चैतन्य ही निशुम्भ का हृदयनिःसृत पुरुष है। ममत्व रूप विशिष्ट भाव के विनष्ट होने पर भी तदधिष्ठित चैतन्य का विलय नहीं होता। विशेषतः वह निर्गत होते ही देवी को "तिष्ठ" ऐसे शब्द का प्रयोग करने लगता है। अभिप्राय यही है कि—मैं जब तक मौजूद हुं, तब तक हे देवी, तुम कितने ही निशुम्भ को हत क्यों न करो, मैं इच्छा करूँ तो फिर ऐसे सहस्र निशुम्भों की सृष्टि कर सकता हूँ। साधक! बीज रहने से अन्कुर उत्पन्न होने में क्या देरी?

तस्य निष्क्रामतो देवी प्रहस्य स्वनवत्ततः।
शिरश्चिच्छेद खड्गेन ततोऽसावपतद्भुवी ॥३४॥

अनुवाद—तब देवी ने अट्टहास्य करके खड्ग द्वारा उस हृदय निष्क्रान्त पुरुष को शिरश्छेद कर दिया। वह भुतल पर निपतित हुआ।

व्याख्या—चण्डिका के खड्गाघात से—अद्वयज्ञानालोक सम्पात से, ममताधिष्ठित चैतन्य का शिरच्छेद अर्थात् उत्तमोङ्ग विच्छिन्न हुआ। "मैं ममतामय" ऐसे अभिमान का नाश ही निशुम्भ के हृदय निःसृत पुरुषका शिरश्च्छेद है। शुम्भ का जो निशुम्भ विषयक अभिमान है, वह ठीक ऐसे ही विनष्ट होता है। अर्थात् शुम्भ जो मन में सोचता है—"मेरा निशुम्भ नामक भ्राता है" वह भाव दूरीभूत हो जाता है। अरे, ममता भी तो अस्मिता ही का एक प्रकार विशिष्ट भाव मात्र है! मा के स्वरूप प्रकाश वा अद्वयज्ञान के उदय रूप शाणित खड्ग के आघात से यह विशिष्टता भी विदूरित

होता है ममता हमेशा के लिये विलय प्राप्त हुआ। अब शुम्भ सम्पूर्ण रूप से निःसहाय हो गया। साधक, पूर्व में कह चुका हुँ—सम्पूर्ण रूप से एकाकी नहीं हो सकने से, उन परम एक को नहीं पकड़ा जा सकता। देखो, इतने दिनों के बाद शुम्भ यथार्थ रूप से एकाकी हो सका है, सुतंरा अब अद्वय तत्व में उपनीत होने में और देरी नहीं होगी। ममता ही यावतीय भेदज्ञान अर्थात् निरानन्द की जड़ है। अब वह जड़ नष्ट हों चुकी है सुतंरा आनन्दमय स्वरूप में उपनीत होना अब एकान्त ही सम्भव हो गया है। प्रिय साधक,—अब उल्लास के साथ गाओ तो देखें—"आनन्दे जगत् भरा, आनन्दमय हेरी धरा तभी तो माने दिया धरा, अहा ? क्या आनन्द दिया ढाले। मा हैं मौर आनन्दमयी, मैं हुँ मा क़ो आह्लाद पुत्र, आनन्द मय हेरी भुवन, निरानन्द दूरे फेले॥" (आनन्द में आनन्द है, आनन्द परमानन्द है। आनन्द सब आनन्द है, आनन्द ही आनन्द है)।

ततः सिंहश्चखादोग्र दंष्ट्राक्षुण्ण शिरोधरान्।
असुरांस्तांस्तदा काली शिवदूती तथा पुरान॥३५॥

अनुवाद—तदनन्तर सिंह-निशुम्भ की सेना को तीक्ष्ण दाँत द्वारा ग्रीवादेश विदीर्ण करता हुआ भक्षण करने लगा। और तब शिवदूती ने भी उसी तरह अपर असुरों को भक्षण किया।

व्याख्या—देवी का उत्तम वाहन जीव रूपी सिंह ममता के अनुचर वर्ग को चर्व्वण करने लगा। और देवी शिवदूती भी अन्यान्य असुर भाव समूहों को ग्रास करने लगीं। ममता विनष्ट हो चुकी है, सुतरां तदाश्रित यावतीय संस्कार तो इस प्रकार अनायास में ही विनाशको प्राप्त होंगे ही, इसका कहना ही क्या हैं। पूर्व कह चुका हूँ ईश्वर भावीय संस्कार समूह ही शुम्भ निशुम्भ का सैन्यदल है। ईश्वरत्व प्राप्ति की आकांक्षा—विराट ऐश्वर्य भोग की वासना इतने

दिनों तक ममता के अन्तर निहित थी, अब तो विशुद्ध अद्वयतत्व प्रकाश होने से, विशिष्टभाव से ईश्वरत्व भोग की स्पृहा भी सम्यक् रूप से विलुप्त हो गई। ईन ईश्वरभावीय संस्कारों के नष्ट करनेके लिये साधक स्वयं एवं शिवदूती और ब्रह्माणी प्रभृति अष्टशक्ति, सभी एक साथ चेष्टा करने लगे, सुतरां अल्पकाल में ही असुरसैन्यगण के विनष्ट करनेमें समर्थ हुए। परवर्तिमन्त्र में अष्टशक्ति का असुर निधन वर्णित हुआ है।

कौमारी शक्ति निर्भिन्नाः केचिन्नेशुर्महासुराः।
ब्रह्माणीमन्त्रपूतेन तोयेनान्ये निराकृताः ॥३६॥
माहेश्वरीत्रिशूलेन भिन्नाः पेतुस्तथापरे।
वाराही तुण्डघातेन केचिच्चूर्णी कृताभुवि ॥३७॥
खण्डखण्डञ्च चक्रेण वैष्णव्या दानवाः कृताः।
वज्रेण चैन्द्रिहस्ताग्र-विमुक्तेन तथापरे ॥३८॥

अनुवाद—कुछे तो महासुर कौमारी देवी के शक्ति-अस्त्रमे विदीर्ण हुए। और कुछ ब्रह्माणी मन्त्रपूत जल के द्वारा निराकृत हुए। इसी-प्रकार कुछेक माहेश्वरी के त्रिशूलाघात से, और कुछ वाराही के तुण्डाघात से चूर्णीकृत हो भूतल पर निपतित हुये। और वैष्णवीशक्ति चक्रास्त्र के प्रयोग से दानवगणों को खन्ड खन्ड करने लगीं। इन्द्राणी-शक्ति भी स्वहस्त से वज्र निक्षेप करती हुई अपर असुरो को निहत करती थीं।

व्याख्या—ममता निपतित है, तदाश्रित असुरकुल मातृगण कर्तृक विमर्दित हैं। यद्यपि मन्त्र में कौमारी ब्रह्माणी माहेश्वरी वाराही वैष्णवी और इन्द्राणी, इन छः शक्तियों का उल्लेख है, तथापि उपलक्षण वशतः यहाँपर अष्टशक्ति समझनी होगी। इन्होंने इसके पूर्व रक्तबीज वध के समय घृणा लज्जा प्रभृति अष्टपास रूपी अष्टविध

असुरकुल को निहत किये हैं, फिर यहाँ पर भी ईश्वरत्व के जो अष्ट ऐश्वर्य हैं, अर्थात् अणिमा प्रभृति अष्टविध श्रेष्ठ विभूति लाभ के वासनारूप सूक्ष्म संस्काररूपी असुर समूह हैं, उनको भी बिलय किया। यथार्थ आत्मज्ञान के पक्ष में ईश्वरत्वाभिमान भी प्रवल अन्तराय हैं। ईश्वरत्व के प्रति वैराग्य नहीं आने से ममतारूपी असुर निशुम्भ निहत नहीं होता। अनेक साधक यहीं पर आकर अष्ठऐश्वर्य के प्रलोभन में—ईश्वरत्व की आकांक्षा में मुग्ध हो पड़ते हैं। बिशुद्ध आत्मज्ञान को सुषुप्तिवत् एक मूढ़ अवस्था समझकर उससे प्रतिनिवृत्त हो जाते हैं। बहु सुकृति के बल से, श्री गुरू की अहैतुकी कृपा से, मा के अतुलनीय स्नेह से साधक इस ऐश्वर्य-संकट से परित्राण पाते हैं। जबतक ममता है, तबतक ईश्वरत्व के प्रलोभन में मुग्ध होना खुब ही स्वाभाविक है। मा की विशिष्ट कृपा के बिना मा के इसी प्रकार अष्ट शक्ति रूप से प्रकटित बिना हुए, साधकों का जो अष्ट ऐश्वर्य के प्रति-प्रलोभन है किसी प्रकार भी विदूरित नहीं हो सकता। जीवभाव के प्रति वैराग्य एकान्त दुर्लभ नहीं, कारण वह अनादि जन्मों से भोग किया जा रहा है। जो बहुदिनयावत् उपभोग किया जाता है, उसके प्रति स्वतः ही कुछ वैराग्य आ उपस्थित हो सकता है। किन्तु ईश्वरत्व अति दुर्लभ है। समष्टि बुद्धि में वा महतत्व में अधिष्ठित न हो सकने तक ईश्वरत्व के स्वरूप की भी उपलब्धि नहीं होती। साधक जब तीव्र आग्रह से केवल परमात्म सत्ता की ओर लक्ष्य रखता हुआ अग्रसर होता है, तब मार्ग में इस अपूर्व ईश्वरत्व भोग का सुयोग उपस्थित होता है। ऐसे साधक जगत में खूब कम ही हैं, जो इस ईश्वरत्व को भी तृणवत् तुच्छ करते हुए अग्रसर हो सकें। एकमात्र महाशक्तिरूपिणी मा जिनके हृदय में अमित बल एवं पर वैराग्यरूप से प्रतिष्ठित हुई हैं, केवल सोई इस दुर्दमनीय प्रलोभन के हाथ से परित्राण पा सकते हैं। साधन समर के साधकगण प्रथम से ही मातृचरणों की शरणागत सन्तान है, वे नहीं जानते जीवत्व, नहीं जानते ईश्वरत्व, वे न जानते हैं बन्धन और न जानते मुक्ति, वे ज्ञान भी नहीं जानते

भक्ति भी नहीं जानते, जानते हैं केवल "मा" वे तो सभी अवस्थाओं में सर्वतोभाव से मातृअन्कस्थ नग्न शिशु हैं। इसी से तो मा हमारी विशिष्ट भाव से प्रकटित होकर—अपने को अष्टशक्ति मूर्ति में विभक्त करती हुई, उनका जो अष्ट ऐश्वर्य के प्रति प्रलोभन है उसे सम्यक् दूरीभूत कर देती है; सुतरां ईश्वरत्व-संकट से मुक्त होकर जगत् को तृणीकृत करते हुए महोल्लास से परमानन्दमय परमात्मक्षेत्र की ओर अग्रसर होते जाते हैं। चण्डितत्व में यह ही सुस्पष्टरूप से वर्णित हुआ है।

केचिद्विनेशुरसुराः केचिन्नष्टा महाहवात्।
भक्षिताश्चापरे काली-शिवदूती-मृगाधिपैः ॥३९॥

इतिश्रीमार्कण्डेय पुराणे सावर्णिक मन्वन्तरे देवी-महात्म्ये
निशुम्भ-वध

अनुवाद—कितनेक असुर युद्ध में निहत हुये, कितनेक युद्ध क्षेत्र में से अदृश्य हो गये, और अवशिष्ट असुर काली शिवदूती एवं सिंह कर्त्तृक भक्षित हुए।

इतिश्री मार्कण्डेय पुराणान्तरगत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवीमहात्म्य प्रसंग में
निशुम्भ-वध

व्याख्या—शुम्भ को छोड़कर और सभी असुर विध्वस्त हो गये। इस मन्त्र में असुरगणों की दुर्दशा वर्णन करते हुए ऋषि बोले—कुछ तो असुर निहत, कुछेक पलायमान एवं अवशिष्टों को काली शिवदूती और सिंह ने भक्षित किया। इसमें जो निहत हो चुके सो तो और पुनरावर्त्तन नहीं करेंगे। तात्पर्य्य यह है कि कुछेक आसुरिक-संस्कार तो हमेशा के लिये विलय को प्राप्त हुए, उनका अब वाधितानुवृत्ति न्याय से पुनरावर्त्तन नहीं होगा। और कुछेक संस्कार (आहार-विहारादि) व्युत्थित अवस्था में पुनरावर्त्तित होते हैं; इन्हीं को मन्त्र में पलायन-

कारी सैन्य दल कहा गया है। इसके पूर्व भी स्थान-स्थान पर ऐसी बात कही गई है, उसमें पुनरुक्तिदोष नहीं हुआ। क्योंकि अत्यन्त गहन यह तत्व है, और अति दुरधिगम्य इस अद्वयतत्व की उपलब्धि है, सुतरां इन सब बातों की पुनः पुनः आलोचना ही आवश्यक हैं। अद्वयतत्व में उपनीत होने से यावतीय संस्कार विलुप्त हो जाते हैं। फिर उसमें से व्युत्थित अवस्था में (उठने पर) जीव भावीय कुछेक संस्कार प्रकाश पाते हैं। जब तक स्थूल देह रहती है तबतक वह रहते अवश्य हैं, किन्तु कुछ भी अनिष्ट संघटन करने में, अर्थात् पुनः भ्रान्तिज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं कर सकते, कारण उनमें कि पारमार्थिकत्वबुद्धि बिलकुल नष्ट हो जाती है। और कुछेक संकार रहते हैं, जो (धर्मप्रतिष्ठा ज्ञानदान लोकशिक्षा प्रभृतियों) सर्वतो भाव से मातृ-संकेत से मातृ इच्छा से परिचालित होते हैं। मा की विशिष्ट प्रेरणा व्यतीत उन सबकी विशेष कोई कार्यकरिता प्रकाश नहीं पाती। ऐसे संस्कारों को ही लक्ष्य करके मन्त्र में शिवदूती कर्तृक असुर भक्षण का विषय वर्णित हुआ है। मा शिवदूती ने जिन्हें ग्रास किया है—आवश्यक होने से अर्थात् महती शक्ति की विशेष प्रेरणा होने से, वे सब संस्कार भी प्रादुर्भूत होसकते हैं, किन्तु उनकी कोई प्रकार की अनिष्टकारिता नहीं रहतीं, क्योंकि वे सर्वतोभाव से महती इच्छा ही का अनुवर्त्तन करते हैं। सुतरां साधक को भी विशिष्ट भाव से मुग्ध नहीं कर सकते सीधी बात यह है कि—एक बार अद्वयतत्व का साक्षात्कार प्राप्त होने से साधक को भेद भ्रान्ति वा बन्धन भय मृत्युभय हमेशा के लिये दूरिभूत हो जाते हैं। बाद में जबतक स्थूलदेह रहती है, तबतक साधक मात्र प्रारब्ध संस्कारों के क्षय की अपेक्षा करता रहता है, एवं प्रारब्ध क्षय होने पर विदेह कैवल्य प्राप्त करता है।

आओ साधक अब हम मा के चरण स्मरण करते हुए शुम्भवध रहस्य अवगत होने की चेष्टा करें। प्रवल प्रारब्ध संस्कार के विद्यमान रहते शुम्भ वध नहीं होता—यथार्थ अद्वैततत्व उद्भासित

नहीं होता। आओ हम मा मा पुकारते हुये रोवैं। आओ हम केवल मा को ही देखने के लिये और भी आग्रहान्वित हौं। आओ हम ईश्वरत्व-भोगों की स्पृहा पर्य्यन्त संयत करते हुये अकैतव (अकृत्रिम) प्रेममें आत्म भूला होने का यत्न करैं। कृपामयी मा निश्चय ही हमको स्नेहमय बक्ष में लेकर अपने उसी निरञ्जन क्षेत्र में लेजायेंगी। हमारी समस्त आशायें पूर्ण हौंगीं।

इति साधन-समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्या में निःशुम्भ वध समाप्त

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य

रुद्र ग्रन्थिभेद।

शुम्भवध।

ऋषिरुवाच।

निशुम्भं निहितं दृष्ट्वा भ्रातरं प्राण सम्मितम्।
हन्यमानं बलञ्चैव शुम्भः क्रुद्धोऽब्रवीद वचः ॥१॥
बलावलेपदुष्टे त्वं मा दुर्गे गर्व्वमावह।
अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे चातिमानिनी ॥२॥

अनुवाद—प्राणतुल्य भ्राता निशुम्भ निहत एवं सैन्यदल बिनष्ट हो गया है देखकर, शुम्भ क्रोधान्वित होकर बोला—हे दुर्गे ? तुम बल के गर्व से अतिशय उद्धत होगई हो। गर्व मत करो। क्योंकि तुम अतिमानिनी (गर्विता) होते हुए भी अपरोंके बल का आश्रय करके युद्ध कर रही हो।

व्याख्या—शुम्भ का प्राण प्यारा सहोदर निशुम्भ निहत हो गया है, अस्मिता की एकान्त सहायक ममता यावतीय द्वैत संस्कारों के साथ विनाश को प्राप्त हो चुकी है, अब अस्मिता सहायहीन मात्र अकेला है, तथापि हताश भाव नहीं, अवसाद नहीं है उत्साह है प्रतिहिंसा का प्रतिदान का वा आत्मदान का तीव्र आग्रह। इसीसे मन्त्र में उक्त हुआ है शुम्भ क्रोध में भर कर देवी से बोला हे बलावलेप दुष्टे-हे बलगर्व-जनित-उद्धत भावापन्ने ? हे दुर्गे ? तुमको अतिशय बल-गर्वित देख रहा हूँ ठीक किन्तु ऐसे गर्व करने योग्य तो तुम में कुछ भी नहीं। कारण, दूसरों के बल से तुम बलीयसी हो। ब्रह्माणी प्रभृति मातृ का शक्तिगणों के बल का आश्रय करके ही तुम युद्ध कर रही हो एवं असुर निधन करने में समर्थ हो रही हो इसमें तुम्हारा अपना महत्व क्या है, कि जिससे तुम अपने को अतिमानिनी-अतिशय गर्वित कहकर समझ सको ?

देवी के प्रति कहे जाने वाले शुम्भ के वाक्य क्या सुन्दर है ? आत्मा-चिति शक्ति मा हमारी यथार्थ में अति गर्विता हैं। और द्वितीय तो कोई हैं नहीं ? जो आत्मा के गर्व को क्षुन्न करे, ऐसा तो कुछ भी है नहीं ? आत्मा ही तो यथार्थ में हैं ? जो यथार्थ में हैं, गर्व ही (गौरव ही) तो उनका स्वरूप है। मा को ऐसा गर्व क्यों है, उसे परवर्त्ती मन्त्र में खुद ही कहेंगी। साधक ? साधन-समर के प्रारम्भ देवी सूक्त में जिस "मैं" को अन्वेषण करने का इङ्गित किया गया था, नानास्तरों में होकर नाना प्रकार की अवस्था विपर्य्यय में होकर इतने दिनों में आकर उसी मैंके समीप उपस्थित हुए हो ? आज मैं रूपी मा का अक्षुन्न (अबाध) प्रभाव, अक्षुन्न गौरव देख रहे हो धीरे अति सावधानी से अग्रसर होओ।

एक—प्रतिबिम्ब में, एवं दूसरा—बिम्ब में। एक अस्मिता दूसरा आत्मा वा चितिशक्ति। एक चिदाभास, अन्य स्वयं चित् इतने दिनों में अब उभय परस्पर सम्मुखीन हुए हैं। ओ प्रियतम साधक ? कितने युग युगान्तर कितने जन्मान्तरों की अक्लान्त साधनाओं के फल

से—नहीं नहीं, मा के गुरु के हमारे के-प्रबल स्नेह के आकर्षण से आज तुम अम्बिका मा आत्मा के सन्मुख आ उपस्थित हुए हो। अहो धन्य हो तुम ? और धन्य है तुम्हारा पुत्रत्व ! किन्तु वह और बात है—

सुनो—अस्मिता का स्वभाव ही यह है कि वह अपने को ही महान् रूप से ईश्वर रूप से देखना चाहता है। पक्षान्तर में यह है कि आत्मा को अनणु अस्थूल अह्रस्व अदीर्घ इत्यादि सर्व विशेष विवर्जित किम्भूत किमाकार वस्तु मान बैठता है। ऐसी अवस्था में अपना मनमना विचार करता रहता है—सर्व भावातीत वाक्य मन के अगोचर वस्तु को जड़ कहने ही में क्या हानि है ? उसका फिर गर्व करने को क्या है ? किन्तु आत्मा को बिलकुल जड़-पदार्थ ही कैसे कहा जाय ? यावतीय शक्ति तो उसी में प्रतिष्ठित है इसे तो प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। यह शक्ति समूह यदि ना रहे—अर्थात् कोई प्रकार की शक्ति का यदि प्रकाश न रहे, तब तो (शायद) खूब सम्भव है आत्मा जड़वत् हो पड़ेगी, तभी हो भी सकता है की उसे अपने वश में किया जा सके। ऐसा विचार करता हुआ ही देवी को अन्य के बल से बलीयसी कहकर शुम्भ ने कटाक्ष किया था। अभिप्राय यही है कि असुर नाशिनी विभिन्न शक्तियों का आश्रय नहीं लेने से, चितिशक्ति सम्भवतः परिग्रह योग्य हो सके।

शुम्भ ने देवी से जो सब बातें कहीं थी, उनमें शुम्भका और भी एक गुढ़ अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है ! तत्व प्रकाशिका ने उस अभिप्राय को प्रकट किया है। प्रथम मन्त्र का अन्वय करें। "हे बलावले हे अपदुष्टे, हे दुर्गे त्वं मा सुतरां गर्व्वं आवह। या त्वं अन्यासां बलमाश्रित्व युध्यसे अतएव अतिमानिनी" अब शब्द का अर्थ करो—बलवान् अबलयति या सा बलावला, तस्याः सम्बोधने बलाबले। जो बलवान को भी अबल अर्थात् हीनबल करने में समर्थ हैं वही हैं बलावला उन्हीं के सम्बोधन में "बलाबले" पद का प्रयोग हुआ है। जो मा हमारी अति प्रबल अहंकारादि भाव समूहों को सम्पूर्ण हीन-बल करती हैं, वे ही तो यथार्थ बलावला हैं। एवं यावतीय दुष्टभाव

भेदभाव जिनको निकट सम्पूर्ण क्षीण हो जाते हैं अवगत हो जाते हैं, सोई हैं अपदुष्टा, उन्हीं के सम्बोधन में "अपदुष्टे" पद का प्रयोग है। और दुर्गा शब्द का अर्थ है दुर्गतिहरा अथवा दुर्ज्ञ यतत्व-स्वरूपा उन्हीं के सम्बोधन में दुर्गे हैं, एवं त्वं मा—तुमही तो हो मा, क्योंकि सर्व भावों को धारण एव पोषण तुमही तो करती हो, मातृत्व धर्म पूर्णरूप से एक मात्र तुम्हीमें सम्यक् रूप से सुप्रकटित है, सुतरां त्वं गर्व्व आवह—तुमही यथार्थ गर्व्व कर सकती हो। तुम्हारे ही प्रकाश से सर्वभाव प्रकाशित हैं। तुम्हारी ही सत्ता द्वारा सर्वभाव सत्तानय हैं, तुम्हारे ही चैतन्य द्वारा सर्वभाव सञ्जीवित हैं, सुतरां गर्व्व करने का अधिकार एक मात्र तुम्ही को है।

अन्यासां बलमाश्रित्य युद्धसे—तुम औरों के बल के आश्रय करके ही युद्ध करती हो, तुम स्वयं तो निर्व्विकार—सर्व विकार विवर्जित हो, तुम निर्गुण और निष्कल हो, तुम को युद्ध करने ही से परबल का आश्रय लेने होता है अर्थात् परा प्रकृति का आश्रय लेने होता है। गीता में भगवान ने भी इसी परबल हीको "आत्ममाया वा स्वकीया प्रकृति कहा है—यथा, "अजोऽपि सन्न व्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म-मायया।" निर्गुण निरञ्जन आत्मा को युद्ध करने के लिये, अर्थात् द्वैत प्रतीति में आने के लिये प्रकृति वा स्वकीय शक्ति का आश्रय लेने होता है। हमको जैसे किसी वस्तु का रूप ग्रहण करना हो तो दृक्-शक्ति का आश्रय लेने होता है, शब्द श्रवण करने के लिये श्रवण शक्ति का आश्रय ग्रहण करने होता है, ठीक तैसे हीं निरञ्जन आत्मा को भावरञ्जना में आने के लिये शक्ति का आश्रय लेने होता है। यह शक्ति समूह आत्मा ही के आश्रय से प्रकाश पाती है एवं आत्मा ही से समुद्भूत होती है। यह बातें इसके पूर्व देवों के शरीर में से चण्डिका प्रभृति शक्ति के निष्क्रामण—प्रस्ताव में विशेष भाव से समझ चुके हो। जो मा हमारी सर्वशक्तियों की सम्भव स्वरूपा है, जो मा हमारी सर्व शक्ति की एकान्त आश्रय स्वरूप है, वे फिर अतिमानिनी

क्यों न होंगी ? मान् धातु का अर्थ है पूजा। मा हमारी अतिशय पूज्या अतिशय गौरविता हैं। मा व्यतीत और किसी को भी गर्व्व करने का अधिकार नहीं हैं। अरे गर्व्व तो "मैं को लेकर है?" मैं जब एक मात्र मा ही हैं, और कोई जब मैं नहीं मैं कहने का अधिकार जब और किसी को भी नहीं है, तो फिर जो में हैं,सोई तो गौर विनी हैं वे ही तो अतिमानिनी हैं।

समझे पाठक, जिन्होंने माको पाया है, जो आत्मज्ञ पुरुष होते हैं, उनको अहंकार नहीं रहता क्यों ? जो यथार्थ अहं रूपिणी हैं, उसका साक्षात्कार करने ही से मिथ्या अहं—प्रतिबिम्ब अहं हमेशा के लिये तिरोहित हो जाता है। तभी तो महापुरुषगण ब्रह्मविद् पुरुषगण सर्वतो भाव से अहंकार शून्य होते हैं। याद रक्खों—माको अहंको विना देखे किसी प्रकार भी अहंकार दूरीभूत नहीं होता। अहंकार दूर करने के लिये अपने को दीन हीन पतित मानकर समझने की चेष्टा मत करना, ऐसे भावों में भी अहंकार रहता है। यथार्थ अहं को देखो—मिथ्याभिमान अपने आप ही भाग जायगा।

——

देव्युवाच।

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥३॥

अनुवाद—देवी बोली—इस जगत में एकमात्र मैं ही तो हूँ, मुझसे भिन्न अपर दूसरा कौन है? अरे दुष्ट! देख मेरी विभूति समूह मुझ में ही प्रवेश करती है।

व्याख्या—इतने दिनो में मा हमारी अपना स्वरूप निजमुख से कह रहीं हैं। कितने ही शास्त्र ग्रन्थों की आलोचना करो, कितनी ही कठोर साधना क्यों न करो, मा स्वयं जबतक अपना परिचय प्रदान

न करें, तबतक किसी की सामर्थ्य नहीं कि, माका, स्वरूप-उपलब्धि कर सके। माको पाने के लिये—मा के स्वरूप को समझने के लिये, मा को वरन करने होता है, मातृ चरणों में आत्म समर्पण करने होता है। कन्या जैसे वरको वरण करती है—सर्वतोभाव से आत्म समर्पण करती है, ठीक उसी भाव से आत्म समर्पण करने होता है, तभीमा हमारी स्वकीय स्वरूप को उद्भासित करती हैं। यही बात नाना प्रकार से नाना स्थानों में पुनः पुनः कही गई है। जिन्होंने प्राणपण प्रयत्न से उसका अनुशीलन किया है वे ही माके स्वरूप उपलब्धि करने में समर्थ हुऐ हैं, उन्हीं के सामने माके आत्म परिचय प्रदान की सार्थकता है। अच्छा जो हो, माने कहा—अत्र जगति—इस जगत में, एकैवाहं एक मात्र मैं ही (हूँ)। द्वितीया का ममापरा-मुझसे अपर द्वितीय और कौन है? "अत्र जगति" इस अधिकरण बोधक पद का प्रयोग देखकर अनेक व्याख्याकारों ने अनेक रकम अर्थ किये हैं, हम उन सब सूक्ष्म विचार के कोलाहलों में नहीं जाँयेंगे। सरलतापूर्वक जो समझा जा सके, उसीके जानने की चेष्टा करेंगे। "इस जगत्" रूप से जो कुछ प्रतीयमान हो रहा है, सो सभी एकमात्र मैं—मा हूं। जबतक जगत की प्रतिति है, तबतक जगत को पृथक कुछ न जानते हुए मैं रूप से ही समझे। वास्तव में मैं की सत्ता व्यतीत जगत की पृथक सत्ता नहीं है। यह जगत मैंका ही स्थूल रूप है। साधक। जगत कहने से मन बुद्धि प्रभृति को भी समझना।

"द्वितीया का ममापरा" इस वाक्य के द्वारा सर्वविध द्वैतका प्रतिषेध किया गया है। श्रुतिका "एकमेवाद्वितीयम्" वाक्य जैसे सजातीय विजातिय एवं स्वगतभेद रहित एक अद्वितीय वस्तुका प्रतिपादक है, माका यह "एकैवाह जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा" वाक्य भी ठीक उसी प्रकार है, तब हाँ थोड़ा विशेषत्व है। पूर्वोक्त श्रुति वाक्य के अर्थ की पर्य्यालोचना करने से सर्वभेदविवर्जित एक वस्तु की सत्ता मात्र जानी जाती है, उस वस्तु का स्वरूप क्या है, सो ठीक समझ में नहीं आता। वस्तु का स्वरूप जानने के लिये फिर—

"अस्थूलमनणु" प्रभृति, एवं "सत्यंज्ञनमानन्द" प्रभृति परोक्ष वाक्यों का, एवं "अहं ब्रह्मस्मि, तत् त्वमसि" प्रभृति प्रत्यक्ष वाक्यों की साहयता लेनी होती है। किन्तु देवी के आत्म परिचय प्रदान-वाक्य में "एका एवं अहं" ऐसी प्रत्यक्षता बोधक शब्द के उल्लेख रहने से सत्ता एवं स्वरूप, उभय ही युगपत् (एक साथ) सुप्रकाशित हुए हैं। माको केवल वाक्य मन के आगोचरा कहकर छोड़ देने से निश्चिन्त होकर नहीं रहा जाता। क्योंकि सन्तान तो मा को देखना चाहती है, समझना चाहती है, पकड़ना चाहती है? सुतरां "अस्थूल अनणु अह्रस्व' कहने से तो सन्तान की आकांक्षा निवृत्त होगी नहीं? इसीसे हमारी मा ने 'अहं' कह कर एकान्त प्रत्यक्षआत्मस्वरूप को प्रकाश किया है। अति दुराचार व्यक्ति भी इसे जानता है एवं अनुभव करता है। मा कभी भी किसी के सामने आत्मगोपन नहीं करती वे सभी को प्रत्यक्ष हैं। तभी तो गीता में दुराचार व्यक्ति को भी भगवद् भजन की योग्यता वर्णित हुई है। किन्तु वह कुछ और बात है—

साधक! देवी-सूक्त के प्रारम्भ में "अहं रुद्रेभिः" इत्यादि मन्त्र में अहं की सूचना की गई थी, नाना भावों के भीतर होकर—सत्य प्राण एवं आनन्द–प्रतिष्ठा में होकर उस एक ही मैं की नाना प्रकार व्याख्या विश्लेषण चला आ रहा है। किन्तु उस अहं यथार्थ स्वरूप क्या है, सो अबतक ठीक-ठीक नहीं समझा जा सका, इसीसे मा हमारी स्वयं कृपा करके उस अज्ञान को दूर किये दे रही हैं, अपना स्वरूप आप ही प्रकटित कर रही हैं (सोई जाने जाहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुम्है ह्वै जाई) श्रुति ने जिक 'एकम् एव' कहा है, माँने उसे "एक एव" कहा। अद्वितीय अहं वस्तु जो शक्तिस्वरूप है सो "एका" इस स्त्रीलिङ्ग प्रयोग द्वारा स्पष्टरूप से प्रकटित हुआ है। साथ ही साथ "अत्रजगति" पदके द्वारा उनकी शक्तिस्वरूपता ही विशेष रूप से समर्थित हुई हैं। यह केवल हमारी ही बात नहीं, श्रुति एवं दर्शन शास्त्र ने भी इनको चितिशक्ति कहते हुए स्वीकार किया हैं।

इस सम्बन्ध में इसके पूर्व अनेक विचार किया जा चुका है। आओ साधक! अब हम बिचार की ओर न जाकर मातृवाक्य को शिरोधार्य्य कर लें। जबतक हम "अत्र जगति" इस जगत में हैं, अर्थात् जबतक जगत नामक एक ज्ञान प्रकाश पा रहा है जबतक माको शक्ति रूप ही कहकर ही मानलें। यह शक्ति बहु नहीं, एका अद्वितीया है। इस जगत में जिधर ही देखोगे, उधर ही देखो—मा हमारी एका अद्वितीया हैं। प्रत्येक जीव में ही वे "अहं" रूपसे नित्य प्रकाशित हैं। यह अहं अद्वितीय हैं। उसका द्वितीय कोई नही। केवल जीव क्यों—प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पत्र, प्रत्येक वालुकणा की ओर देखो, देखोगे सभी एक अद्वितीय है। स्थूल में आकर भेद ज्ञान में भी आकर माका एकत्व अद्वितीयत्व किञ्चित्मात्र क्षुन्न नहीं हुआ। जड़क्षेत्र छोड़कर चैतन्यराज्य में प्रवेश करने पर, वहाँ पर तो भेद का लेशमात्र भी अनुभूत नहीं होता, इसीसे क्या स्थूल में क्या सूक्ष्म में क्या कारण में, सर्वत्रही मा हमारी एका अद्वितीया अहं स्वरूप से नित्य विराजिता हैं। यही है मा का स्वरूप। 'द्वितीया का ममापरा" इन अंश का और भी एक प्रकार अर्थ हो सकता है। "ममापरा द्वितीया का" मैं (मुझ अहं) से अपर द्वितीया जो कुछ प्रतीत होता है सो "का" तुच्छा परिहार्य्या" अर्थात अकिञ्चित्कर है। अहं व्यतीत जो कुछ प्रतीत होता है, सो सर्वतोभाव से परिहार्य्य योग्य है। क्योंकि वह कुछ वस्तु ही नही, वह तो अहं का व्यवहार मात्र है। अहं ही एकमात्र वस्तु है। और जो कुछ अहं के साथ मिलकर प्रकाश पाता है, सो वस्तु नही—व्यवहार मात्र है। व्यवहार कभी भी वस्तु नहीं होता, हो नहीं, सकता। तुम्हारे आहार विहारादि व्यापार जैसे कोई वस्तु नही, तुम्हारे ही एक प्रकार व्यवहार मात्र है, ठीक वैसे ही यह परिदृश्यमान जीव जगत अहं के—आत्मा के—मा हमारी के व्यवहार मात्र हैं। इसीसे वेदान्तवादीगण जगत का पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नही करते, व्यवहारिक सत्ता मात्र कहते हैं। सत्य ही इस जगत की कोई वास्तविक

सत्ता नहीं।

अच्छा जो हो, अब हम देवी—वाक्य के अपरार्द्ध को समझने की चेष्टा करेंगे। देवी ने कहा—"पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद् विभूतयः" ओ दुष्ट पश्य, मद् विभूतयः मयि एव विशन्ति। "विशन्ति" यह क्रिया पद है एवं "ओ" यह है सम्बोधन सूचक अव्यय। "ओरे दुष्ट ? देख—मेरी विभूति सब मुझमें ही प्रवेश करती है ? ।" अस्मिता प्रतिविम्ब स्वरूप होते हुये भी विम्ब के धर्म को आत्मसात् करना चाहता है— अहं न होते हुये भी अहं रूपसे परिचित होना चाहता है, यही है उसका दुष्टभाव; इसीसे माने उसे, ओ दुष्ट कहकर सम्बोधन किया।

मद् विभूति—मेरी विभूति आत्मविभूति। जो कुछ बहुत्व जितनी रकम की शक्ति हैं, सो सभी हैं आत्मविभूति ? विभूति कभी भी आश्रय की सत्ता को छोड़कर पृथक सत्ता विशिष्ट वस्तु नहीं होती। जैसे किसी वाग्मी पुरुष की वक्तृता शक्ति उक्त पुरुष की सत्ता व्यतीत पृथक सत्ता विशिष्ट कोई वस्तु नहीं, वह इसी पुरुष ही का एक प्रकार विभूति वा व्यवहार मात्र है; ठीक तैसे ही यह जगत् यह अनन्त शक्ति, आत्मा की विभूति व्यतीत अन्य कुछ नहीं है, उन्हीं का एक प्रकार व्यवहार मात्र है, एका अद्वितीया अम्बिका मा हमारी जब विभूतिमयी होकर प्रकाश पाती हैं, तब ही उनमें वहुत्व परिलक्षित होता है। वास्तव में किन्तु वे—एकैवांह जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा हैं।

देवी के इस वाक्य द्वारा शुम्भ को यह भी कहा गया कि, "मैं ही तो एकमात्र मैं हूं" मैं व्यतीत दूसरा और तो कोई 'मैं' नहीं ? अतएव हे शुम्भ ? तू फिर एक पृथक मैं कैसे हुआ ?"

जो भी हो, शुम्भ जब ब्राह्माणी प्रभृति शक्ति वर्ग का विकाश देखकर अम्बिका के बहुत्व में संशयापन्न हुआ है, तो मा हमारी भी कृपापूर्वक स्वकीय विभूति समूह को संहरण करती हुई शुम्भ को बोली— देख मेरी विभूति मुझ में ही प्रवेश करती है ?

ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणी प्रमुखालयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका ॥४॥

अनुवाद। बाद में वह ब्रह्माणी प्रमुख शक्ति समूह देवी के शरीर में लय को प्राप्त हुई। तब अम्बिका एकाकी रह गई

व्याख्या। मा की इच्छामात्र से अष्टशक्ति रूप विभूतियाँ देवी के शरीर में लीन हो गया। चितिशक्ति से पैदा हुई नाना शक्ति स्वकीय कारण अर्थात् चैतन्य में ही विलीन हो गई। व्यवहार निवृत्त हुआ। अब मा हमारी एका अद्वितीया सर्वभेदरहिता, पूर्णा आनन्दस्वरूपा स्वस्था हैं। अभी भी किन्तु शुम्भ है, देवी वाक्य है? पाठक! इसमें द्वैताभाव की आशंका मत करना, मा को भाषा के अन्दर लाने से, समझने वा समझाने की चेष्टा करने ही से, वे द्वैत हो पड़ती हैं। वास्तव में किन्तु द्वैत कहने को कुछ नहीं है। कैसे एक अखण्ड आनन्दस्वरूप वस्तु स्वकीय एकत्व को सम्यक् अक्षुन्न रखते हुये बहुरूप से—बिश्व रूप से प्रकटित होती है, सो इसके पूर्व विशेष रूप से कहा जा चुका है। आधुनिक मायावादियों के साथ यहाँ पर हम एकमत नहीं हो सकते, वे इस मद्विभूति अर्थात् आत्म विभूति स्वरूप इस बहुत्व को "भ्रान्ति" वा मिथ्या कहकर प्रचार करते हैं, और हम उसे आत्मबिलास आत्ममहत्व कहकर समझते हैं। जबतक द्वैत प्रतीति है, सहस्रबार भ्रान्ति कहने पर भी वह उड़ नहीं जाती, और जब अद्वय स्वरूप उद्भासित होता है तब मिथ्या वा भ्रान्ति कहने के लिये कुछ भी नहीं रहता। सुतरां जबतक साधना नामक, उपलब्धि नामक, महावाक्यार्थ—विचार नामक कुछ रहता है, जबतक समझने वा समझाने को कुछ है, तबतक उसे भ्रान्ति न कह-कर लीलाविलास कहकर जानने ही से सर्व सामञ्जस्य हो जाता है! उपनिषत् एवं वेदान्त सूत्र में भी इस बहुत्व को लीलाकैवल्य रूपसे समझाने की चेष्टा की गई है। उन्होंने किन्तु मिथ्या किंवा भ्रान्ति, ऐसा शब्द कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। निर्गुण वस्तु में लीला विलास कैसे रहता है, ऐसी आशंका ऋषियों को प्राण में कभी भी

नहीं उठती थी। उनमें क्या नहीं है एवं क्या नहीं रह सकता (हो सकता), सो कौन कहे ?

साधक! तुम देवी-माहात्म्य की इस अपूर्व वाणी को याद रखना -- साधना का मार्ग सुगम होगा। इस जगत को, इस बहुत्व को "मदविभूति" कहकर समझना। मेरी ही इच्छा बहु रूप से अभिव्यक्त है; इसी से मैं बहुत्वदर्शी हूं। और जब मैं एकत्वाभिलाषी होउँगा, तो फिर बहुं कहने को कुछ नहीं रहेगा। सब भेद मुझ में ही विलीन हो जायगा। यह ही सत्य ज्ञान है।

——

देव्युवाच।

अहं विभूत्या बहूभिरिह रूपैर्यदास्थिता।
तत् संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव ॥५॥

अनुवाद। देवी बोली—मैं विभूति विशिष्ट होकर जो बहु रूप से अवस्थान कर रही थी, उसे संहरण कर लिया : अब मैं एकाही अवस्थित हूं। (हे शुम्भ! तुम) इस युद्ध में स्थिर होओ।

व्याख्या—देवी जब एका अद्वितीया हैं, तो भी किन्तु उनका वाक्य असम्भव नहीं है, वह वाक्य कैसा है उसे तत्वदर्शीगण समझ सकेंगे। यद्यपि मा हमारी "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्" यद्यपि मा हमारी "महतः परं ध्रुवम्" तथापि उनका वाक्य प्रयोग एवं शुम्भ के साथ समर एकान्त असम्भव नहीं है। अरे, जब अति स्वच्छ महत्तत्व में आत्मबोध को उपसंहृत करते हुये चितिशक्तिरूपिणी अम्बिका की ओर लक्ष्य किया जाता है, उस समय उनमें से जो प्रज्ञा का आलोक आकर महत्तत्व प्रतिबिम्बित चिदाभास में पड़ता है, वही तो मातृवाक्य वा मातृसमराभिनय है। साधक, एक एकबार के प्रज्ञालोक के पड़ने से अनेक धाँधों दूर हो जाता है, अनेक असुर निपातित होते हैं; अनेक अभूतपूर्व तथ्यों का आविष्कार होता है।

अच्छा जोहो, देवी ने शुम्भ से कहा—मै विभूति विस्तारपूर्वक जो बहुरूप से विराजकरती थी, अब मैंने उसका संहरण किया। देख, अब मैं एका हूँ, किन्तु सावधान, तू इस युद्ध में स्थिर हो। माके इस वाक्य का तात्पर्य्य अति स्फुट है। मा ने कहा—सन्तान, तू मेरे बहुत्व दर्शन की प्रयासी थी। इसी से मैं तेरी ही इच्छा से विभूतिमयी होकर बहुरूप से विराज कर रही थी। इतने दिनों तक तो तुमने मुझे चाहा नहीं, मेरी विभूति चाही थी, अपने कल्पित मैत्व को सजाना चाहा था, इसीसे मैं भी "बहुभिरुपैः आस्थिता" थी तुम्हारी ही अभिलाषा पूरी करने के लिये मुझे बहुत्व विभूति विस्तार करना पड़ा था, किन्तु आज इतने दिनों के बाद तुम्हारी सब साध मिटी है, बहुत्व सम्भोग की वासना विदूरित हुई है, आज तुम ईश्वरत्व पर्य्यन्त को तृणीकृत करके, केवल मुझे ही चाहते हो। अब और तुम मेरी विभूति नहीं चाहते, केवल मुझे चाहते हो। इतना प्रेम है तुम्हारे प्राणों में ? धन्य हो तुम, केवल मेरे ही लिये मुझे चाहते हो ! आओ—देखो, यह मैं एका अद्वितीया स्वरूप से प्रकटित हो गई, मेरा बहुत्व संहृत हो गया किन्तु तुम स्थिर होकर युद्ध करो तो देखूं ?

मा के इस "स्थिर होओ" वाक्य में कुछ रहस्य है। यहाँ पर आकर—इस एकत्व के समीपस्थ होकर स्थिर रहना बड़ा दुरूह काम है। समस्त प्रकार की विशिष्टतायें यहाँ पर विशीर्ण हो पड़ती हैं। यद्यपि सर्वत्व—बहुत्व विदूरित हुआ है, तथापि अस्मितारूप विशिस्टता तो मौजूद है, वह तो अभी भी विलय को प्राप्त नहीं हुई है। आत्मा के सन्निहित होने से वह विशिष्टता भी विलुप्त हो जाती है; सुतरां यहां पर स्थिर रहना सहज साध्य नहीं है इसीसे मा आदर करके कहती हैं—"स्थिरोभव।" अस्मिता जबतक स्थिर रह सकेगी, स्वकीय विशिष्टता को जबतक सुरक्षित रख सकेगी, तब तक ही मा का आनन्द-विलास इस साधन-समर का अभिनय चलेगा ; सुतरां शुम्भ का इस समय स्थिर होना ही एकान्त आवश्यक है, किन्तु सो और कबतक ?

ऋषिरुवाच ।

ततः प्रववृते युद्धं देव्याः शुम्भस्य चोभयोः ।
पश्यतां सर्व्वदेवानामसुराणाञ्च दारुणम् ॥६॥
शरवर्षैः शितैः शस्त्रैस्तथास्त्रैश्चैव दारुणैः ।
तयोर्युद्धमभूद्भूयः सर्व्वलोक भयंकरम् ॥७॥

अनुवाद—बादमें देवासुरगणों के सम्मुख देवी एवं शुम्भ इन दोनों का दारुण युद्ध आरम्भ हुआ। पुनः पुनः दारुण शरवर्षण एवं शाणित अस्त्र शस्त्र प्रयोगरूप सर्व्वलोक-भयंकर संग्राम हुआ था।

व्याख्या—देवी एवं शुम्भका युद्ध दारुण और सर्वलोक भयङ्कर ही है ठीक? एक ओर अस्मिता स्वकीय विशिष्टता अक्षुन्न रखने का प्रयासी है, तो दूसरी ओर आत्मा का स्वप्रकाशत्व उस विशिष्टता को विलय करने के लिये उद्यत है। एक प्रतिबिम्व तो, अपर (दूसरा) बिम्ब, इन दोनो का युद्ध दारुण ही होता है। जबतक प्रतिबिम्ब अपने को प्रतिबिम्ब मानकर नहीं समझ लेता, तबतक ही बिम्बके साथ प्रतियोगिता करता हुआ स्वयं पृथक सत्ताविशिष्ट वस्तु रूपसे प्रतिपन्न होने की चेष्टा करता है। सुतरां यह भयंकर युद्ध अनिवार्य है।

देवी एवं शुम्भ का युद्ध सर्वलोक भयंकर है। सर्वरूप से जो कुछ आलोकित वा प्रकासित होता है, वही है सर्वलोक। यथार्थ में यह युद्ध सर्वलोकों की सत्ता है। अस्मिता के न रहने से तो सर्व नामक कुछ रहता नहीं। यद्यपि इसके पूर्व में यावतीय असुर भावों का निधन वर्णित हुआ है, तथापि जानने होगा—यदि अस्मिता अक्षुन्न रहेगी तो फिर उन विनष्ट असुर भावों का पुनः आविर्भाव होने में विलम्ब नहीं होगा, क्योंकि वे अस्मिता ही के विभिन्न स्फुरण व्यतीत और कुछ नहीं हैं। यहाँ तक के असुरभाव निधन से यही स्थिरीकृत हुआ है कि उनकी विशिष्ट (अलग) कोई सत्ता नहीं है। विभिन्न स्फुरणों

का समूह विनष्ट होकर अखण्ड अस्मितारूप में मिल गया है। किन्तु अस्मिता के रहने से, फिर स्फुरण उठने की खूब ही सम्भावना है। पातञ्जल दर्शन में ठीक इसी अवस्था को लक्ष्य करके कहते है— "जो प्रकृति में लीन हो जाते हैं, उनका पुनः आविर्भाव होता है।" प्रकृति पर्यन्त का विलय न कर सकने तक यथार्थ आत्मस्वरूप प्रकटित नहीं होता, जीव मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। अस्मिता विलय एवं प्रकृति लय एक ही बात है। महत्तत्वकी अति सूक्ष्मतम बीजावस्था ही सांख्यदर्शन कथित प्रकृति है। सर्वभाव सूक्ष्मरूप से प्रकृति ही में अवस्थान करते हैं। हम अस्मिता का जो स्वरूप यहाँ पर देख रहे हैं,' उसे गुणत्रय की साम्यावस्थारूप प्रकृति कहने में भी कोई हानि नहीं। सांख्य की भाषा में शुम्भ के साथ देवी के इस युद्ध को पुरुष के सन्मुख भाग से प्रकृति का पलायनोद्यम (भागने की चेष्टा) कहा जा सकता है। वेदान्त की भाषामें इसो को माया की अध्यास निवृत्ति कहते हैं। भक्तों की भाषा में इसे भक्त एवं भगवान का एकान्त मिलन कहते हैं। जो भी हो यह अति दारुण (भीषण) एवं सर्वलोकों के पक्ष में (नानात्व के लिये) एकान्त ही भयंकर है यह बात खूब ही सत्य है।

— —

दिव्यान्यस्त्राणि शतशो मुमुचे यान्यथाम्बिका।
बभञ्ज तानि दैत्येन्द्रस्तत् प्रतिघातकर्तृभिः ॥८॥
मुक्तानि तेन चास्त्राणि दिव्यानि परमेश्वरी।
बभञ्ज लीलयैवाग्र हुन्कारोच्चारणादिभिः ॥९॥

अनुवाद। बाद में अम्बिका ने जो शत शत अस्त्र सब निक्षेप किये, दैत्यराज शुम्भ ने प्रतिघातकारी स्वकीय अस्त्रों के प्रयोग से उनको काट दिया। और असुराधिपति ने जो सब दिव्य अस्त्र निक्षेप किये, परमेश्वरी ने उन सब अस्त्रों को प्रचण्ड हुँन्कार प्रभृति के

द्वारा अनायास में काट डाला।

व्याख्या। अम्बिका के सब अस्त्र दिव्य—स्वप्रकाश। आत्मसत्ता जितनी ही प्रकाशित होती जाती है, अस्मिता अपनी विलीन की आशन्का से उतना ही अस्थिर हो जाता है; ऐसी अवस्था में वह नाना उपायों से नानाभावों से स्वकीय विशिष्टता को अक्षुन्न रखने का प्रयास करता है, अर्थात् आत्मा के स्वप्रकाशत्वको नाना उपायों से आवृत रखने की चेष्टा करता है, सुतरां देवी का अस्त्र प्रयोग व्यर्थ हो जाता है,। अरे, जीव क्या सहसा ब्रह्मत्व स्वीकार करना चाहता है? वह प्राणपण से अपनी विशिष्टता, अपनी भेदप्रतीति की रक्षा करना चाहता है। अस्मिता जब आत्मस्वरूप की ओर लक्ष्य करता है, तब तो क्षणभर के लिये आतमा के स्वयंप्रकाशभाव प्रत्यक्ष करके अपने विशिष्ट अस्तित्व को खो डालता है। और जब फिर अपनी विशिष्ट सत्ता के प्रति लक्ष्य करता है, तब मानो आत्मा का यह स्वप्रकाशभाव अभिभूत हो पड़ता है। यही देवी और शुम्भ का युद्ध रहस्य है। परवर्ती कईएक मन्त्रों में भी यह नाना भावीय अस्त्र प्रयोगरूप से वर्णित होगा; सुतरां यह बातें विशेषभाव से स्मरण रखने से, साधकगणों के पक्ष में देवी और शुम्भ के समररहस्य को समझ लेने में कोई कष्ट नहीं होगा।

मन्त्रमें उक्त है—देवीने हुन्कार-उच्चारण से शुम्भ-निक्षिप्त सब अस्त्रों को व्यर्थ कर दिया था। हुंकार—प्रलयात्मक बीज। यह पहले भी कहा जा चुका है। यद्यपि इस परमात्म क्षेत्र में प्रलय शक्ति का कोई तरह का विशिष्ट प्रकाश नहीं है, तथापि वह स्वभावतः ही भेदज्ञान के पक्षमें प्रलयात्मक है, कारण, स्वप्रकाश आत्म सत्ता के उद्भासित होने से, अस्मिता का प्रलय अवश्यम्भावी है। इसीसे, मन्त्र में प्रलय सूचक हुंकरादि के उच्चारण से देवी कर्त्तृक शुम्भ के अस्त्रों की व्यर्थ होने की बात कही गयी है। सीधी बात यह है कि, प्रतिबिम्ब जब बिम्ब के प्रति लक्ष्य करता है, तब अपनी सत्ता खो बैठता है, और अपनी विशिष्ट सत्ता के प्रति लक्ष्य करने

से, विश्वस्वरूप उसके सामने आवृत रहता है। यही ही परस्पर के अस्त्र प्रयोग का रहस्य है।

ततः शरशतैर्देवी माच्छादयत सोऽसुरः।
सापि तत् कुपिता देवी धनुश्चिच्छेद चेषुभिः ॥१०॥
छिन्ने धनुसि दैत्येन्द्रस्तथा शक्तिमथाददे।
चिच्छेद देवी चक्रेण तामप्यस्य करस्थिताम् ॥११॥
ततः खड्गमुपादाय शतचन्द्रञ्च भानुमत्।
अभ्यधावत तां देवीं दैत्यानामधिपेश्वरः ॥१२॥
तस्यापतत एवाशु खडगं चिच्छेद चण्डिका
धनुर्मुक्तैः शितैर्वाणैश्चर्म्मचार्ककरामलम् ॥१३॥

अनुवाद। बाद में उस असुर ने शत-शत वाणों के प्रयोग से देवी को आच्छन्न करडाला। देवी ने भी कुपित होकर वाणों के द्वारा असुर के धनुष को छेदन कर दिया। धनुः छिन्न होने पर दैत्यराजने शक्ति अस्त्र ग्रहण किया, किन्तु देवी ने असुर के करस्थित उस शक्ति अस्त्र को भी चक्र प्रयोग से छेदन कर दिया। तब असुराधिपति खड्ग और उज्जवल शतचन्द्र नामक चर्म (ढाल) ग्रहण करके देवी के प्रति अभिधावित हुआ। उस (खड्ग चर्मधारी शुम्भ) को आते न आते ही चण्डिका देवी ने धनु से मुक्त शाणित शर प्रयोग से अति शीघ्र वह खड्ग एवं सूर्य किरणवत् निर्म्मल चर्म को छिन्न कर दिया।

व्याख्या। इन चार मन्त्रों में भी देवी एवं महासुर शुम्भमें परस्पर के प्रति विभिन्न अस्त्र प्रयोगों का वर्णन हुआ है। पहिले शुम्भ ने शत शत वाण प्रयोग से देवी को आच्छन्न किया और देवी ने कुपित हो कर शुम्भ के धनुः का छेदन किया। अस्मिता प्रणवधनु पर स्वकीय विशिष्ट आत्मबोधरूपशर संयुक्त करके ब्रह्म लक्ष्य में निक्षेप कर रहा

था। यद्यपि यह पूर्व में सर्व श्रेष्ठ साधना रूप से व्याख्यात हुआ है, तथापि यहाँ पर यहीअब असुरके अस्त्रके त्रयोग रूप से वर्णि त हुआ है। इस प्रकार प्रणवधनु से आत्मशर निक्षेप कार्य में द्वैत प्रतीति अवस्थित है, सुतरां प्रणवादि मन्त्र का उच्चारण एवं आत्मशर निक्षेप, यह भी असुर ही का अत्याचार मात्र है। आत्मा मा हमारी इतना भी भेद ज्ञान नहीं रखने देगी। तभी तो स्वकीय स्वप्रकाश शक्ति रूप शर के प्रहोग से क्षणभर में ही शुम्भ के प्रणवधनुः को छिन्न कर दिया। शुम्भका उद्यम व्यर्थ हुआ। ठीक ऐसे ही मुमुक्षु साधक जब विशिष्टि साधना की सहायता से स्वकीय पृथकत्व रक्षा करने का प्रयास करता है, तब मा हमारी उन विशिष्टता को विनष्ट कर देती हैं।

इसके बाद में शुम्भने शक्ति अस्त्र ग्रहण किया। "मैं ही हूं आत्मा ऐसी बोध शक्ति को दृढ़प्रयत्न से पकड़ रखना ही शुम्भ का शक्ति ग्रहण है। किन्तु हाय देवी ने उसे भी छिन्न कर दिया। यथार्थ आत्म प्रकाश ठीक ऐसा ही सर्वतो भेदी है कि, वहाँ पर विन्दु मात्र भी भेद ज्ञान नही रह सकता। जो हो, देवी के सुदर्शन वा दिव्य दृष्टि रूप चक्र अस्त्र के प्रयोग से अर्थात् सर्वतोभेदी प्रकाश सत्ता के प्रभाव से अस्मिता का जो विशिष्ट आत्म बोध था, सो सम्यक्रूप से अभिभूत हो पड़ा। ऐसी अवस्था में शुम्भ हतास होकर खड्ग एवं चर्म को ग्रहण पूर्वक देवी के अभिमुखी होकर धावित हुआ, देवी ने धनुर्मुक्त शर प्रयोग से उसे भी छिन्न कर दिया। खडग भेदज्ञान, चर्म आवरण। यह पूर्व भी कहा जा चुका है। एकान्त रूपसे ही जब अस्मिता आत्म प्रकाश के सामने स्वकीय विशिष्टता को लेकर अवस्थान करने में समर्थ नहीं होता है, तब फिर अगत्या भेद ज्ञान और आवरण का आश्रय ग्रहण करता है। एक ओर से तो आत्माभिमुखी लक्ष्य को परित्याग करता है, और दूसरी ओर से स्वकीय पृथकत्व को पकड़ रखने की चेष्टा करता है, यह ही शुम्भ के चर्म और खड्ग-प्रयोग का रहस्य है। अस्मिता का भाव यही है कि, "आत्मा हैं रहो, उन्होंके प्रकाश से

मैं प्रकाशित हूं, इसे भी स्वीकार करता हूँ, तथापि मेरी जो कुछ विशिष्ट सत्ता है, उसे क्यों परित्याग करने जाऊँ ? मैं ठीक हूँ। दूर से ही अम्बिका का सर्व मनोहर रूप देखता हुआ आनन्द में मुग्ध रहूंगा, उनके समीपस्थ होने की -उनमें आत्मसत्ता मिला देने का क्या प्रयोजन है ?" ठीक ऐसे ही अनेक वैष्णव साधक भी यहाँ पर आकर प्रति निवृत्त हो बैठते हैं। वे किसी भी प्रकार भगवान के साथ मिल जाना नहीं चाहते। सान्निध्य मात्र लाभ करके भगवत् रसास्वादन को ही वे परम पुरुषार्थ समझते हैं। वास्तव में तो किन्तु रसास्वाद भी मुक्ति मार्ग का विघ्न है। शास्त्रों में आत्मज्ञान प्राप्ति के मार्ग में जो सब अन्तराय उल्लिखित है, उन्हीं में रसास्वाद भी एक अन्यतम विघ्न है। यद्यपि निशुम्भ बध में भी यह कहा गया है, तथापि यहाँ पर जो पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ इसका कहना ही क्या है। क्योंकि शुम्भ और निशुम्भ एक ही विशिट बोध के द्विविध प्रकाश मात्र हैं। अच्छा जो भी हो, विशिष्ट भावसे भगवद् रस के आस्वादन को परम पुरुषार्थ मान बैठने से, सहसा अद्वयतत्व उद्भासित नहीं होता। और इस अद्वैतज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो सकने से भी जीव मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। जो कहते हैं मुक्ति वाच्छनीय नहीं है, भगवत् प्रेम रस का अस्वादन ही एकान्त वाच्छनीय है, सो नहीं जानते कि, जबतक मुक्त नहीं हुआ जाता है, तबतक यथार्थ प्रेम हो ही नहीं सकता। अनन्य-भक्ति ही यथार्थ प्रेम हैं। किन्तु यह सब और बाते हैं जो प्रथम ही से आत्म समर्पण योग का अनुशीलन करते है, उन को यहाँ पर आकर इस चिदाभास रूप में इस अस्मिता रूप में अव स्थान करके, स्वकीय विशिष्टता अक्षुन्न रखने के लिये दृढ़ प्रयत्न करने पर भी स्नेह विह्वला मा हमारी उनके उन सब प्रयत्नों को व्यर्थ कर देती है। स्नेह की सन्तान को जब तक सम्यकरूप से आत्मसात् नहीं कर लेती, तबतक किसी भी प्रकार उसे नहीं छोड़ती। शुम्भ के पुनः पुनः अस्त्रप्रयोग व्यर्थ होने का यही रहस्य है।

शुम्भ ने जो शतचन्द्र नामक चर्म (ढाल) ग्रहण किया था, मन्त्र में

उसे सूर्य किरण की न्याई निर्मल कहा गया है वास्तव में इस अस्मिता क्षेत्र का आत्मस्वरूप-आवरक भेदज्ञान अतिशय उज्ज्वल है। पूर्व में महिषासुर प्रभृति ने भी इसी प्रकार खड्ग चर्म ग्रहण किया था, शुम्भ का खडगचर्म तदपेक्षा भी अतिशय निर्मल है। क्योंकि, अस्मिता के साथ आत्मा का जो भेद है, वह अति सामान्य, भेद का आभास मात्र है, साधारणतः वह प्रायः अभेदरूपसे हो प्रतिभात होने लगता है। इसीसे, इसे उज्ज्वल और निर्मल कहा जाता है। जैसे किसी कांचाधार के मध्य स्थित अग्निशिखा के उत्ताप और आलोक से स्वच्छ कांचाधार भी अतिशय (उज्ज्वल) उत्तप्त और आलोकित हो जाता है, एवं दूर से यह कांचाधार आवरण ही अग्निरूप से प्रतिपन्न होने लगता है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा के एकान्त सान्निध्यवशतः अतिशय स्वच्छ अस्मिता भी बहु परिमाण में आत्मधर्मी हो जाती है, एवं स्वयं ही आत्मारुप से प्रतिपन्न होने का प्रयास करता है। इसी भाव को समझाने के लिये मंत्र में "चर्म्म चार्ककरामलम्" कहा गया है। साधक, कुछ धीर भावसे स्वकीय अनुभूति की ओर लक्ष्य करने ही से इस रहस्य को हृदयङ्गम् करने में समर्थ होओगे।

हताश्वः स तदा दैत्यश्छिन्नधन्वा विसारथिः।
जग्राह मुद्गरं घोरमम्बिकानिधनोद्यतः ॥१४॥
चिच्छेदापततस्तस्य मुद्गरं निशितैः शरैः।
तथापि सोऽभ्यधावत्तां मुष्टिमुद्यम्य वेगवान् ॥१५॥

अनुवाद। अश्वहीन छिन्न धनु एवं सारथी विहीन वह असुर अम्बिका निधन को उद्यत होकर मुद्गर धारण किया। वह मुद्गर आते न आते ही देवी ने शाणित शराघात से छिन्न कर दिया। तथापि वह (शुम्भ) मुष्टि उद्यमन पूर्वक देवी के अभिमुख धावित हुआ।

व्याख्या। इन्द्रिय अश्व, प्रणव धनुः एवं बुद्धि सारथी ये सभी

विनष्ट हो चुके हैं। सभी प्रयोग व्यर्थ हो गये हैं—इन्द्रिय समूह अस्मिता के विशेष विशेष व्यूह होते हुये भी अब अस्मिता के सहायता कल्प से नहींउपस्थित होते। प्रणवादि मन्त्र का उच्चारण जो था,सोभी निरुद्ध हो गया है। इसके बाद भी सारथी—निश्चयात्मिका वृत्तिरूपा बुद्धि जो है, उसकाभी अब प्रकाश नहीं। विषय रहने से तभी तो बुद्धि का प्रकाश समझा जाता है। विषय नामक कुछभी नहीं है सुतरां बुद्धि भी विलुप्त है। अब असुर नितान्त निरुपाय होकर। घोर मुगदर उठाया, अर्थात् अस्मिता मूढ़भाव द्वारा आच्छन्न हो पडा। "मैं किसी भी प्रकार आत्माभिमुखी नहीं होऊंगा, आत्मा के सामने किसी भी प्रकार आत्मसमर्पण नहीं करूंगा, जैसे हूं तैसे ही रहूंगा, तथापि निज सत्ता को कभी भी आत्मसत्ता में विलीन नहीं होने दूंगा।" अस्मिता का ऐसा जो दृढ़ प्रत्यय है, उसी को लक्ष्य करके ही मन्त्रमें शुम्भ का मुद्गर ग्रहण कहा गया है। "इस प्रकार मूढ़ अवस्था में अवस्थान कर सकने ही से स्वकीय विशिष्ट सत्ता अक्षुन्न बनी रहेगी; पक्षान्तर में, आत्मस्वरूप भी आवृत रहेगा।" अस्मिताके एसे भाव को लक्ष्य करके ही मन्त्रमें "अम्बिकानिधनोद्यतः" पद प्रयुक्त हुआ है। आत्मस्वरूप को आवृत रखने का जो उद्यम है उसी को अम्बिका—निधन का उद्यम कहा गया है।

अस्मिता के इस प्रकार अपनेको अज्ञानावृत रखना चाहने पर भी, मा किन्तु उसे छोड़ नहीं देगी; उन्होंने निश्चित शर प्रयोग से अर्थात् यावतीय द्वैत प्रतीति विलयकारक आत्मस्वरूप प्रकाश से शुम्भ का जो घोर मुगदर है—अस्मिता का जो मूढ़ भाव है विनष्ट कर दिया। माँ हमारी इस समय अतिकोपना-चण्डिका हैं—उनके क्रोध का उदय हुआ है,सुतरां मैत्व को अस्मिता को किसी भी प्रकार अब पृथक भावसे नहीं रहने देंगी। अस्मिता को अपनी विशिष्टता रक्षा करने के हजार चेष्टा करने पर भी चण्डिका माँ हमारी उसे व्यर्थ कर ही देंगी, कारण: एक दिन यह 'मैं ही' मातृचरणों में आत्म समर्पण करने को उद्यत हुआ था। जबतक उस समर्पण की परिसमाप्ति नहीं होगी, तबतक अब

वे किसी भी प्रकार परित्याग नहीं करेंगी, साधक! विपद में पड़के ही हो, अशक्त होकर ही हो, और बिना जाने ही हो, एक दिन जब "मामेकं शरणं" लिये हो, आत्मा के--मा हमारी के शरणागत हुये हो तो फिर अब किसी भी प्रकार रक्षा नहीं (नहीं बच सकते) जो यथार्थ में मैं हैं, वे प्रकाशित होंगी ही। तुम्हारे कल्पित मैंत्व को जिस किसी भी प्रकार से विनष्ट करेंगी ही? यह ही चण्डीतत्व का विशेष रहस्य है। चण्डिका देवी की यही विशेष कृपा है। तभी तो देखो, अस्मिता का मूढ़ अवस्था रूप शुम्भका मुद्गर प्रयोग भी, चण्डिका के स्वप्रकाश-शक्ति प्रभाव से व्यर्थ हो गया।

इतनी विफलताओं में भी मैंत्व हताश वा निष्क्रिय नहीं हुआ। मन्त्र में उक्त हुआ है—मुग्दर-प्रयोग व्यर्थ होता देखकर शुम्भ तब मुष्टि उद्यमन पूर्वक देवी के अभिमुख धावित हुआ। मुष्टि-विक्षेप शक्ति। अस्मिता विक्षेप-शक्ति के प्रभाव से आत्मसत्ता को दूर हटा देना चाहता है। आत्मसत्ता दूरीकृत होने ही से अस्मिता स्वप्रतिष्ठ हो सकेगा। साधक! यहाँ पर जो विक्षेप की बात कही गई है, सो चित्तक्षेत्र का विक्षेप नहीं है। यह है अस्मिता क्षेत्र का विक्षेप— अति सूक्ष्म। चित्त-विक्षेप रूप असुर चिक्षुर के निधन का विवरण तो महिषासुर वध प्रसंग में ही व्याख्यात हो चुका है, यहाँ पर वैषयिक स्पन्दन रूप विक्षेप की बात ही नहीं है; सांख्यो की भाषा में इस अस्मिता के विक्षेपको, प्रकृति के परिणाम धर्म की सूक्ष्मतम बीज अवस्था कहा जा सकता है; वेदान्त की भाषा में इसे, अज्ञान का-- माया का सूक्ष्मतम अध्यासधर्म का बीज कहा जाता है। सीधी बात यह है कि, किसी भी प्रकार बिन्दुमात्र भेदज्ञान का सूक्ष्मतम बीज रहने से, समय पर वही फिर स्थूल में घनीभूत होकर भेद-ज्ञान रूप से प्रकाश पा सकता है, इसी से मा हमारी उस सूक्ष्मतम बीज पर्य्यन्त को नहीं रक्खेंगी। इसी से उन्होंने स्वयं ही शुम्भ को मुष्टि उद्यत करके अपनी ओर अभिधावित होने के लिये प्रेरणा की, अर्थात् अस्मिता की अन्तर्निहित सूक्ष्मतम विक्षेप-शक्ति को उद्बुद्ध करा

दिया। अरे, मा हमारी के स्व प्रकाश-स्वरुप के सामने कुछ भी फिर छिपा हुआ नहीं रह सकता ?

स मुष्टिं पातयामास हृदये दैत्यपुङ्गवः।
देव्यास्तश्चापि सा देवी तलेनोरस्यताड़यत् ॥१६॥
तलप्रहाराभिहतो निपपात महीतले।
स दैत्यराजः सहसा पुनरेव तथोत्थितः ॥१७॥

अनुवाद। दैत्यपुङ्गव शुम्भने देवी के हृदय देशमें वह मुष्टि निपातित की। देवी ने भी उसके वक्षःस्थल में करतल द्वारा आघात (चपेटा घात) किया। करतल प्रहार से अभिहत होकर दैत्यराज भूतल पर निपतित हुआ एवं सहसा पुनः उत्थित हुआ।

व्याख्या। आत्माभिमुखी तीव्र आकर्षण की उपेक्षा करके, सूक्ष्मतम विक्षेप शक्ति के आश्रय से अनात्मबोधरूपी अस्मिता की स्वकीय सत्ता रक्षा करने की चेष्टा करना ही देवीके हृदय में असुर का मुष्टि प्रहार है। आत्मा को दूरस्थ करना ही अस्मिता का उद्देश्य है, किन्तु कार्यतः सो नहीं होता। अस्मिता जितना आत्माको दूरस्थ एवं उत्पीड़ित करने का प्रयास पाता है, आत्मा उतनी ही सन्निहित होती जाती हैं। शुम्भने देवी के हृदय में मुष्टि प्रहार किया, देवी ने भी शुम्भ के वक्षस्थल में करतल प्रहार किया। उभय ने उभय का हृदय स्थान आहत किया। हृदय कहने से यहाँ केन्द्र स्थान समझने होगा। अनन्त शक्ति का जो केन्द्र है, वही है मा का हृदय देश एवं व्यापक अस्मिता जिस सूक्ष्म केन्द्र से प्रकाश पाता है, वही शुम्भ का वक्षस्थल वा हृदय हैं। ये दोनों हृदय जबतक एक हृदय में परिणत नहीं होजाते तबतक किसीभी प्रकार भेद प्रतीति दूरीभूत नहीं होती। और हृदय का मिलन न होने तक केवल अङ्गस्पर्श से विरह वेदना दूरीभूत नहीं होती ? वेदान्त दर्शन में हृदय शब्द का अर्थ आत्मा ही

किया है। (हृदि अयम् इति हृदयम्) प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मा हृदय देश ही में विशेष भाव से प्रकटित है, इसीसे आत्माका अन्य नाम है हृदय। सुतरां हृदय का मिलन कहने से, आत्ममिलन ही समझ में आता है। जबतक आत्माके आत्मसातकृत नहीं हुआ जाता, तबतक हृदय मिलन नहीं होता, और हृदय मिलनबिना हुये अनादि जन्मों की विरह ज्वाला बिदूरित नहीं होती।

हे मा ! कितने दिनों से—किसी स्मरणातीत काल से तुम्हारे ही हृदय में अपना हृदय मिला देने के लिये दौड़ता आ रहा हूं, एकबार केवल मा बोलकर तुम्हारे हृदय देशमें प्रवेश करूँगा इसीलिये, कितने लक्षलक्ष जन्म मृत्यु, कितनी रोग शोक की यातनायें सह्य करता आ रहा हूं, किन्तु नहीं सका। किसी भी प्रकार तुममें आत्मभोला नहीं हो सका, हे मेरी चिर-विश्राम, हे मेरी चिरशान्ति, किसी भी तरह तुममें नहीं मिल जा सका केवल विरह का दावानल जलता हुआ इस संसार संतप्त हृदय को और भी विदग्ध कर रहा हूं। तुम्हारे वक्षः में वक्षो मिलन करने में क्या शान्ति है, सो अनुभव करने की योग्यता पर्य्यन्त प्राप्त नहीं हुई ? हे मा, इसबार सो शेष करो। अब तो बहुत दिनों की संचित मिलन वासनाको पूर्ण करो, अब तो इतने दिनों बाद आओ, तुम हम एक हो जायं यथार्थ में मा, तुम्हारी विरह अब हम भोग करना नहीं चाहते। तुम्हारे विरह की क्या ही मर्मभेदी पीड़ा है, सो अब जानने को बाकी नहीं मा ? अब शुम्भ की तरह हमारे भी हृदय देश में करतल प्रहार करो। हमारे हृदय में जो कुछ मलिनता है, सो दूर हो जावे, तुम्हारे पवित्र अङ्ग स्पर्शसे यह हृदय भी पुण्य पूत होवे। आज, शुम्भ धन्य है, धन्य है शुम्भ का समराभिनय। आज तुम ने मा कर-प्रहारच्छल से शुम्भ का हृदय स्पर्श किया है। शुम्भअब विशिष्ट भाव से प्रकाशित नहीं होगा। तुम्हारे पवित्र स्पर्श से वह भी पवित्र होकर तुममें मिल जावेगा। (अहा ? शुम्भ यथार्थ में तुम्हारे ही लिये तुमको चाहता है ? सर्व्वस्व जा चुका है। तथापि तुम्ही को चाहता है, इसीसे मां शूम्भ के प्रति तुम्हारी यह विशिष्ट कृपा है।

सुनो, अस्मिता वास्तव में आत्मा ही को चाहता है, आत्मा में मिल जाने से ही, उसे यथार्थ शान्ति प्राप्त होगी। तब हाँ, यह जो पुनः पुनः अस्त्र प्रयोग रूप समराभिनय देखने में आता है, सो पूर्व संचित भेद ज्ञान मूलक दुरपनेय संस्कारों के सूक्ष्मतम प्रकाश को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। इस पार्थिव जगत में भी अनेक समय देखा जाता है—कि जो जिसका एकान्त प्रिय है, समय विशेष में सो उसके सन्निहित होने पर भी, प्राण प्राण में उसके साथ मिलन की एकान्त वासना रहने पर भी कार्यतः किंतु स्वयं दूरस्थ होने का प्रयासी होता है, ठीक ऐसे ही शुम्भ अम्बिका के सर्व मनोहर रूप में मुग्ध अस्मिता, सत्य सत्य ही आत्मा को आत्मसमर्पण करने के लिये उद्यत है, किन्तु बहुँजन्म संचित अभ्यासवशतः स्वकीय उस विशिष्टता को परित्याग नहीं कर सकता, इसीसे आत्मप्रेम आत्म-समररूप में परिणत होता है। अति अपूर्व है यह तत्त्व।

साधक देखो, तुम भी शुम्भ की तरह मातृ हृदय में कितने न मुष्टि प्रहार करते हुये मा को प्रतिनिवृत्त करने में प्रयासी होते हो। किन्तु थोड़ा ही पश्चादूपद होने से—मा की ओर से मुख फिराते ही हृदय में वैसी एक अव्यक्त ज्वाला होने लगती है। फिर मातृ आकर्षण अनुभव करते हो। फिर उस अपरूप रूप को देखने के लिये लालायित होते हो। क्रोध करके, रूठ करके, प्रहार करके दूर हटा देते हो और अब "तुम्हें नही देखूँगा" कहकर नयनद्वय मुद्रित करते हो, किंतु फिर उनको देखने के लिये व्याकुल होते हो। उनको बिना एकबार देखे नहीं रहा जाता। क्यों ऐसा होता हैं? मा का आकषण है। मा जो तुम को नही छोड़ती, तुम्हारे उनको छोड़ देने पर भी तुम को आत्मलीन करना चाहती है, इसीसे ऐसा होता हैं।

अच्छा जो हो, अस्मिता के ऊपर आत्मा के स्वप्रकाश-स्वरूप के विशेष उद्भासन को ही लक्ष्य करके मन्त्र में देवी के करतल-प्रहार की बात कही गई है। यहां पर थोड़ी साधना की बात भी बोल रक्खें गुरु के हृदय के साथ स्वकीय हृदय को मिला देसकने से ही यह

देवी और शुम्भ के परस्पर हृदय देश में आघात का रहस्य समझा जा सकता है। यथार्थ में वह मिलनानन्द दुःसह हो उठता है—मानो आनन्द का यातना है ऐसा मालूम होता है। उस समय इसे आनन्द का प्रहार वा पीड़न बिना कहे नहीं रहा जाता। अनुभव सम्पन्न साधक इसे सहज ही में समझ लेंगे।

उत्पत्य च प्रगृह्योच्चैर्देवीं गगनमास्थितः।
तत्रापि सा निराधारा युयुधे तेन चण्डिका ॥१८॥
नियुद्धं खे तदा दैत्यश्चण्डिका च परस्परम्।
चक्रतुः प्रथमं सिद्धमुनि विस्मयकारकम् ॥१९॥

अनुवाद - शुम्भ उत्पतित होता हुआ देवी को ग्रहण पूर्वक आकाश में अवस्थान करने लगा। चण्डिका किन्तु वहाँ पर भी उसके साथ युद्ध करने लगी। उस समय आकाश में दैत्य और चण्डिका का परस्पर ऐसा युद्ध हुआ कि उससे सिद्ध मुनिगणों को भी विष्मय जन्मा था।

व्याख्या—अस्मिता ने जब देखा कि, किसी भी उपाय से आत्मा को आत्मसात् नहीं किया जाता, वरं निज को ही आत्मा में आत्म सात् हो जाना पड़ता है, तब उपायान्तर के अभाव से देवी को लेकर शून्य में उत्पतित हुआ, अर्थात् आत्मा को शून्यत्व अनुभव करने की चेष्टा की। आत्मा नामक वास्तव में कुछ भी नहीं, आत्मा तो शून्य मात्रा है, अभाव ही तो आत्मा का स्वरूप है? जो अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, इत्यादि नेति नेति मुख से प्रतिपाद्य है, सर्वभावों का अभाव ही जिसका स्वरूप है, सो शून्य व्यतीत और क्या हो सकता है? (यही आधुनिक बौद्धवाद है, पूर्व में इसकी आलोचना की जा चुकी है) यथार्थ में अनेक साधक यहाँ पर आकर भी आत्मा को गाढ़सुषुप्तिवत् एक अभाव स्वरूप वस्तु मान बैठते हैं, एवं सर्वभाव

विलय करके शून्यरूप में अवस्थान करना ही जीव का चरम पुरुषार्थ समझते हुए अभावस्वरूप से—शून्य रूप में अवस्थान को ही आत्मस्थित वा ब्राह्मीस्थिति मान बैठते हैं। इस अवस्था को लक्ष्य करके ही मन्त्र में देवी को लेकर शुम्भ का आकाश में उत्पतन कहा गया है। किन्तु हाय ? शून्य में अवस्थान करने पर भी शुम्भ का परित्राण नहीं, यहाँ आकर भी देवी शुम्भ के साथ युद्ध करने लगीं। शून्य वा अभाव कहकर आत्मा का बारम्बार निषेध करने पर भी उस अभाव के विज्ञातृरूप से जो रह जाती हैं, वे ही तो आत्मारूप से आत्मप्रकाश करती हैं। सुतरां शून्य कहने से ही परित्राण कहाँ पाया जाता है ? शून्य है, इस वाक्य के कहने के लिये आत्मा का प्रयोजन हो पड़ता है। अस्मिता आत्मा को प्रतिषेध करना चाहता है और आत्मा शून्य के विज्ञातृरूपसे, स्वयं पूर्ण होकर शून्यवाद का निराकरण करती हुई अवस्थान करती है, यही देवी और शुम्भ के आकाश में परस्पर युद्ध का रहस्य है।

यह आकाश युद्ध यथार्थ में विस्मयकर है। एक ओर आत्मा निषिद्ध होते हुये भी मात्र शून्य रूपमें पर्य्यवासित होते हुये भी पूर्णत्व-स्वप्रकाशत्व लेती हुई अभीव्यक्त होती है। और दूसरी ओर जिसकी परमार्थतः कोई सत्ता ही नहीं है, सो अस्मिता स्वयं सत्ताविशिष्ट होने को उद्यत होता है। सुतरां यह युद्ध बड़ा ही विस्मयकर है। यह ठीक है कि सबके पक्ष में बिस्मयकर न हो सके, किन्तु जो सिद्ध है, जो मुनि हैं अर्थात् जो आत्मलाभ से चरितार्थ हैं, जो मननशील योगी हैं, उनके सामने तो युद्ध वास्तव में विस्मयकर है। इसी से मन्त्र में इस युद्ध को "सिद्ध मुनि विस्मयकारक" कहा गया है। सत्यही साधक व्यतीत इस युद्ध का रहस्य कोन समझेगा ? एकबार मालूम पड़ता है—आत्मा शून्य मात्र है, फिर मालूम पड़ता है—नो आत्मा शून्य नहीं, आत्माही पूर्ण है।

———

ततो नियुद्धं सुचिरं कृत्वा तेनाम्बिका सह ।
उत्पात्य भ्रामयामास चिक्षेप धरणीतले ॥२०॥
स क्षिप्तो धरणीं प्राप्य मुष्टिमुद्यम्य वेगितः ।
अभ्यधावत दुष्टात्मा चण्डिकानिधनेच्छया ॥२१॥

अनुवाद—अनन्तर दीर्घकाल तक उसके साथ युद्ध करती हुई अम्बिका देवी ने शुम्भ को ऊर्द्ध उत्क्षेप पूर्वक घूर्णन करतः धरणी पृष्ठ पर निपातित किया। निक्षित और भूमितल प्राप्त वह दुष्टात्मा शुम्भ पुनः मुष्टि उद्यमन पूर्वक चण्डिका के निधन करने की इच्छा से सवेग से अभिधावित हुआ ।

व्याख्या—यह आकाश युद्ध—यह शून्यत्व का धान्धा दीर्घकाल चलता है, अधिकांश साधक ही वाक्य मन के अगोचर वस्तु को सुषुप्तिवत, अज्ञानवत, शून्यवत, एक कुछ है ऐसा समझने लगते हैं। आत्मा जो स्वयंप्रकाश वस्तु हैं, उन्हें सहस्रबार नहीं है नहीं है कहने पर भी इसी निषेध के विज्ञातृरूपसे वे स्वयं रह जाती हैं, इसे प्रथमतः न समझ सकने पर भी साधकमात्र ही शेष में इसकी उपलब्धि कर सकते हैं। जिस दिन आत्मा का पूर्णत्व आनन्दमयत्व उद्भासित होता है उसी दिन ही यह शून्यत्व का धाँधा चला जाता। और उसीदिन से ही अस्मिता अपने अस्तित्व में सन्दिहान हो पड़ता है आत्माका तो प्रतिषेध किसी प्रकार भी नहीं होता ? तो क्या 'मैं' कहकर जो समझता हुँ सो नहीं है ? इसप्रकार अपना अस्तित्व विषयक संशय और आशंका उपस्थित होती है। मन्त्र यही शुम्भका शून्य मार्ग में घूर्नन रूप से वर्णित हुआ है। अस्मिता की उस समय की अवस्था यथार्थ में विघूर्णित मस्तक-पुरुष की तरह हो पड़ती है। क्या सर्व्वनाश। मैं ही नहीं है ? तो क्या मैं भी स्थूल जगत की तरह दृश्य मात्र —कल्पना मात्र हूँ ?" ऐसे भाव को लक्ष्य करके ही मन्त्र में देवी कर्तृक शुम्भ का धरातल में निक्षेप वर्णित हुआ है। जब आत्मसत्ता

कुछ विशेष भावसे प्रकाशित होने लगती है, तब प्रत्येक ही साधक के हृदय में ऐसा भाव उपस्थित होता है।

अच्छा जो हो, इस बार शुम्भ का शेष चेष्टा। देवी कर्त्तृक निक्षिप्त और धरणी प्राप्त होते हुये भी अर्थात् स्थूल जगतकी तरह दृश्य-कल्पित-तुच्छ अकिञ्चितकर रूप से प्रतीयमान होते हुये भी एक बार अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिये वह दुरात्मा—वह मिथ्याभिमान रूपी अस्मिता फिर चण्डिका निधन की इच्छा से मुष्टि उत्तोलन किया। चण्डिका का निधन करना ही शुम्भ का अभिप्राय है। किसी भी प्रकार से आत्मसत्ता को तिरस्कृत कर सकने से ही अस्मिता की अपनी सत्ता अक्षुन्न बनी रहेगी, इसीसे मन्त्र में शुम्भका पुनः मुष्टि उद्यमान कथित हुआ है। यद्यपि चण्डिका को सम्पूर्ण निधन करना एकान्त ही असम्भव है, तथापि जितना सम्भव हो सके उनके निकटसे दूर रह सकने से भी अस्मिता की अभीष्ट सिद्ध होगी। इसी लिये ही शुम्भ का यह पुनः मुष्टि-उद्यमन रूप विशेष प्रयत्न प्रकाश पा रहा है। इ का कहना ही क्या है कि यही शुम्भ का चरम उद्यम है।

तमायान्तं ततो देवी सर्व्व दैत्यजनेश्वरम्।
जगत्यां पातयामास भित्वा शूलेन वक्षसि ॥२२॥

अनुवाद—वह सर्व दैत्याधिपति जब (इस प्रकार से) आने लगा, तब देवी ने शूल के द्वारा उसका वक्षः स्थल विदीर्ण कर भूतल पर निपातित किया।

व्याख्या—इतने दिनों में शुम्भका अवसान हुआ। अस्मिता सर्व-विध द्वैत प्रतीति का आश्रय है इसीसे, यहाँ पर शुम्भ को सर्व दैत्याधि-पति कहा गया है। यावतीय अनात्मप्रतीति जो है सो एकमात्र मैत्व की आश्रय से अवस्थित है इसे थोड़ा धीर भाव से सोचने ही से सब समझ सकते हैं। यद्यपि साधारण भावसे मैं कहने से—स्थूल देह से लेकर बुद्धि पर्य्यन्त, एवं पाप पुण्य धर्माधर्म प्रभृति समन्वित कुछ

प्रतीयमान होता है तथापि जो अस्मिता क्षेत्र के साधक हैं, वे इस सर्व भावों द्वारा अन्वित अथच एकान्त अलग मैंत्व को विशेष भाव से पकड़ वा समझ सकते हैं। जबतक केवलानन्दमय 'ज्ञ' स्वरूप का आभास भी नहीं आता, तबतक इस मैंत्वका विकाश नहीं होता। बहु जन्म का सुकृति के फलसे, श्रीगुरुकी अहेतुकी कृपासे, माके अतुलनीय स्नेह से, साधक विशुद्ध बोधमात्र स्वरूप में उपनीत होकर, इस मिथ्याभिमान वा अस्मिता रूपी असुर के हस्त से चिर परित्राण प्राप्त करते हैं। यही शुम्भवध का रहस्य है।

देवी के शूलाघात से महासुर शुम्भ जगतीतल पर निपतित हुआ। केवलानन्दमय बोधस्वरूप का सम्यक प्रकाश होना ही देवी का शूलाघात है! पूर्व में शूल शब्द का आनन्दमय त्रिपुटीरूप अर्थ किया गया था। किन्तु यहाँ पर शूल शब्द से त्रिपुटी विहीन केवलानन्दमय 'ज्ञ' स्वरूप समझने होगा। उसके उदय में अस्मिता अर्थात् यावतीय अनात्मभावों का बीज सम्यक विलय प्राप्त होता है। "जगत्याँ पातयामास"—माने शुम्भ को जगत् में निपातित किया। जगत् अर्थात् दृश्य वा जड़वस्तु कहने को जैसे कुछ भी नहीं है, न कभी था, कभी रहेगा भी नहीं, ठीक तैसे ही मैंत्व कहने को कुछ भी नहीं है, तथा एवं न रहेगा। जो है, अस्तिरूप से जिसकी उपलब्धि होती है, सो मैं नहीं आत्मा है। जो मैं अबतक सर्व्वाधिपतिरूपसे प्रतीत होता था, जो मैं इतने दिन तक सर्व्वभाव का ज्ञाता और अधिष्ठातृ रूप से प्रतीत होता था सो मैं नहीं है—तीनों काल में ही नहीं है।

साधक! यही है शुम्भवध। जिस मैं को लेकर कितने लक्ष लक्ष जन्म मृत्यु के पेषण सह्य किये हैं, जिस मैं को लेकर कितना स्वर्ग नर्क भ्रमण किया है, जिस मैं को कितनी बार कितने रकम साजों से सजाया है, जिस मैं को वद्ध समझकर उसे मुक्त करने के लिये कितनी कठोर साधना की हैं, आज देखो वह मैं ही नहीं है—तीनों काल में ही नहीं है। तुम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा हो। तुम अभय अमृत सत्य हो? तुम ब्रह्म ही हो? तुममें जन्म मृत्यु नहीं, वन्धन मुक्ति भी

नहीं। तुम नित्य मुक्त हो। यही है परमलाभ। यह है परम पुरुषार्थ। पूर्व कहा था, मैं को नहीं खोने से मा को नहीं पाया जाता। आज इतने दिनों में मैं को खोया है, आज मैं निपतित है, मातृस्वरूप—आत्मस्वरूप स्वतः उद्भासित है। इसीका नाम है मातृलाभ।

अब सुनो—शुम्भ शब्द का अर्थ है नित्य निहत। पूर्व में शुन्भ धातु का अर्थ शोभा बताया था। इसी शुन्भ धातु का और भी एक अर्थ होता है—वध। जिसका वध हुआ ही रक्खा है—जो नित्य ही निहत है अर्थात् जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसका नाम है शुम्भ। शुम्भ को दार्शनिकों की भाषा में असम्भव भविष्यत् कहा जाता है। मैं एवं मैं के आश्रित यह जगत् नितान्त असम्भव वस्तु है। ब्रह्म में जगत् नामक कोई कुछ भी नहीं है, कभी न रहेगा ही। यही है सत्य। इस सत्य में प्रतिष्ठित होने ही का नाम यथार्थ सत्य-प्रतिष्ठा वा ब्राह्मीस्थिति है।

योगवाशिष्ठ ग्रन्थ में श्री रामचन्द्रजी के प्रश्न से जगत् का स्वरूप समझाते हुए श्रीवशिष्ठदेव ने जो कहा है, उसका संक्षिप्त मर्म यहाँ पर कुछ कहना आवश्यक है। "किसी अराजक राज्य में एक राजा वास करता था, वह अविवाहित था उसके दो पत्नी थीं, दोनों ही बन्ध्या। उनके दो पुत्र मृगया खेलने के लिये एक वृक्षहीन अरण्य में प्रवेश किये"। इत्यादि उपाख्यान जैसे कुछ भी नहीं, केवल धात्री क्रोड़स्थ अनाविष्ट शिशु को शान्त करने के लिये कुछेक शब्द मात्र हैं, ठीक वैसे ही यह जगत्, यह मैं, यह चिदाभास, यह अस्मिता है, है इन में कुछ भी नहीं। एक मात्र आत्मा—मा-ही हैं। वे ही है सत्, वे ही चित्, वे ही आनन्द है। और कहीं भी कुछ नहीं है।

साधक, एक दिन गीतातत्व के अवसान में श्री गुरु के मुखोच्चारित अपूर्व वाणी—'मामेकं शरणं व्रज', श्रवण करके मुग्ध हुआ था, अपने मैं को उन्हीं के चरणों में शरणागत किया था। इतने दिनों के बाद उसकी सार्थकता देखने को मिली। देखो—तुम्हारी उस शरणागत मैं को कितने विभिन्न भावों में होकर क्रम क्रम से पवित्र करके, मा ने

आज आत्मसत्ता में मिला लिया। तुम्हारी शरणागति का यथार्थ फल प्राप्त हुआ। जीव तुम ब्रह्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हुए। बोलो-धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम। धन्योऽहं धन्न्योऽहं ब्रह्मानन्दं विभाति मे स्पष्टं। धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षतेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्य अज्ञानं पलायितं कापि। धन्पोऽहं धन्योऽहं कर्त्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्। धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्व्वमद्य सम्पन्नम्।"

स गतासुः पपातोर्व्यां देवीशूलाग्रविक्षतः।
चालयन् सकलां पृथ्वीं साब्धिद्वीपां सपर्व्वताम्॥२३॥

अनुवाद— देवी के शूलाग्र द्वारा विशेष रूप से आहत होकर वह असुर गतप्राण होता हुआ, ससागरा सद्वीपा सपर्व्वता समस्त पृथ्वी को परिचालित कर भूमितल पर निपतित हुआ।

व्याख्या—शुम्भ जब देवी के शूल से आहत और गतासु होकर भूतल पर निपतित हुआ था, तब समुद्र द्वीप पर्वतादि सह समूचा पृथ्वी कम्पित हो गयी थी, यही मन्त्र का साधारण अर्थ है। पूर्व में कहा जा चुका है—गुणत्रय के परस्पर संक्षोभ—तारतम्य वशतः जो सप्तधा भेद होते हैं, वही सात समुद्र हैं, एवं मूलाधारादि जो सात अनुभूति केन्द्र हैं वही सप्त द्वीप हैं, एवं स्थूल-जड़त्व बोध ही पर्वत स्थानीय है। अस्मिता के विनाश में ये सभी विचलित हो उठते हैं। कारण, ये सभी मैंत्व के विभिन्न विकाश मात्र हैं। मैंत्व के विनष्ट होने पर फिर इनकी सत्ता कैसे रहेगी ?

जबतक प्रारब्ध कर्म समूह का सम्पूर्ण निःशेष नहीं होजाता, तबतक ये देहादि विषयक बोध अर्थात् अनात्म बोध का पुनरावर्त्तन होता है। साधक जब आत्मस्वरूप में अवस्थान करता है, तबतो इनका चिन्हमात्र नहीं रहता किन्तु आत्मस्वरूप व्युत्थित होते ही फिर अनात्म बोध फूट उठता है। सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति होने पर भी रज्जू विषयक यथार्थ ज्ञान का निश्चय होने पर भी सर्पज्ञान समकालीन के उत्पन्न

भीति हृत्कम्प प्रभृति लक्षण कुछ काल तक रह जाते हैं। आत्मा के प्रकाश से अस्मिता तक अर्थात् प्रकृति पर्य्यन्त यावतीय अनात्म वस्तु की सत्ता का सम्पूर्ण बोध हो जाता है, तथापि यावत प्रारब्ध है इनका अनुवर्त्तन होता है। फलस्वरूप स्थूल देह धारण, लोकशिक्षा, उपदेश, शास्त्र-प्रणयन, धर्मप्रतिष्ठा प्रभृति कर्मों का अनुष्ठान होता है। योगदर्शन में इसे 'निर्माण—चित्तका फल' कह कर वर्णन किया है। अर्थात् आत्मज्ञपुरुष अस्मिता मात्र से विश्वमङ्गल के लिये अभिनव चित्त का निर्माण करके उसी निर्माण चित्त के सहारे नानाविध लोकहितकर कार्यों का अनुष्ठान करते रहते हैं। योगदर्शन जिसे निर्माणचित्त कहता है, वेदान्त उसी को बाधितानुवृत्ति कहता है। वस्तुतः उभय मत में कोई विरोध नहीं है। अच्छा जो हो, साधक जब अस्मिता पर्य्यन्त को परित्याग पूर्वक आत्मस्वरूप में प्रवेश करने को उद्यत होता है, तब यथार्थ में पृथ्वी समुद्र द्वीप एवं पर्वत अर्थात् स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर कम्पित हो उठते हैं, कारण ये अब हमेशा के लिये सत्ताहीन होने जारहे हैं। किसी किसी साधक की तो समाहित होने के पूर्वक्षण में देहादि का अल्पाधिक कम्प स्थूल में भी परिलक्षित होता है। जो हो, जबतक निरवच्छिन्न भाव से आत्मस्वरूपमें अवस्थिति नहीं होती, तबतक देहादिका अनात्म वस्तुओं का भाव होगाही। प्रारब्ध के निःशेषरूप से क्षय प्राप्त होने पर साधक विदेह कैवल्य प्राप्त होता है, तब तो फिर अनात्म वस्तुओं का भाण भी नहीं होता। प्रारब्ध संस्कारों में जो आत्मज्ञान प्राप्ति के विशेष अन्तराय हैं, उन्हीं को हमने इसके पूर्व प्रबल प्रारब्ध नाम से समझा था। इन प्रबल प्रारब्ध संस्कारों के क्षय प्राप्त होते ही आत्मज्ञान उद्भासित होता है। इसी को साधना की भाषा में रुद्रग्रन्थीभेद कहते हैं। यह जगत्, यह देहादि जो हैं विज्ञान मात्र हैं, ऐसी प्रतीतिका नाम ही है रुद्रग्रन्थि। इसके भेद होने ही को रुद्रग्रन्थिभेद कहते हैं। वस्तुतः जगत् कहने को, देह कहने को, अनात्म बोलकर कहीं भी कुछ भी नहीं है, कभी न था न कभी रहेगा। जगत की सत्ता तीनों ही काल

में नहीं है। एक अद्वितीय आत्मा—मा हमारी नित्य विराजिता हैं। आत्मातिरिक्त कहीं भी कुछ भी नहीं है। ऐसी उपलब्धि में उपनीत होने ही का नाम रुद्रग्रन्थि भेद है। जो चिन्मात्र स्वरूप हैं उसमें चेत्य नामक कुछ नहीं, रह भी नहीं सकता। जो मात्र अनुभूति स्वरूप है, उसमें अनुभाव्य नामक कुछ नहीं, रह भी नहीं सकता, वास्तव में तो इस क्षेत्र में इस परमात्म स्वरूप में जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय कुछ भी नहीं है। आत्मा तो नित्य स्वच्छ, नित्य निरञ्जन, नित्य विशुद्ध है। क्या तुमने समझा साधक! रज्जू में सर्प भ्रान्ति होती अवश्य है, किन्तु रज्जू में इसके लिये सर्प नामक कभी भी कुछ नहीं होता। रज्जू का सर्पभाव जैसे कभी नहीं, ठीक तैसे ही आत्मा में जगद्भाव कभी भी नहीं है। इसप्रकार के भाव की आत्मोपलब्धि होने के बाद, व्युत्थित अवस्था में आत्मा के प्रति जो स्वाभाविक एकान्त अनुराग रहता है, उसी को अहैतुक भक्ति कहते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के आत्माराम श्लोक में इसी अहैतुकी भक्ति की ही कथा वर्णित हुई है। आत्माके प्रति एकान्त अनुराग एवं जगत का सत्ताभाव विषयक निश्चय-ज्ञान, ये उभय ही साधक को सर्वथा निस्पृह अर्थात् परवैराग्यवान् बनाये रखते हैं। जो हो, इसी प्रकार से मा की कृपा से साधक का ब्रह्म—विष्णु और रुद्रग्रन्थि भेद होता हैं, साधक जीवन्मुक्त होता है, उसके सारे बन्धन नाश होजाते हैं, और वह नित्यमुक्तता का आस्वाद पाता है।

——

उत्पातमेघाः सोल्का ये प्रागासंस्ते शमययुः।
सरितो मार्गवाहिन्यस्तथासंस्तत्र पातिते ॥२४॥

अनुवाद—पूर्व में जो सब मेघ उल्कायुक्त होकर उत्पात सूचक थे, शुम्भासुर के निपातित होने से, अब वह प्रशान्त भाव धारण किये, एवं सरित् समूह मार्गवाहिनी हुई। (पूर्व में ये उन्मार्गगमी थे।)

व्याख्या —मैं नहीं सुतरां उत्पात भी कुछ नहीं पूर्व जो दुर्वह संसार चिन्ता का भार था, अब मैं के अभाव से सो सम्पूर्ण दूरीभूत हो चुका है। संसार चिन्ता (परिवारिक जन) की बात छोड़दो, पूर्व साधना राज्य ही की कितनी दुश्चिन्तायें थीं। किस प्रकार यह दुर्ज्जय मन और दुर्ज्जय इन्द्रियों को विध्वंस किया जायगा। किस प्रकार सिद्धि शक्ति लाभ होगी, किस प्रकार अनादि जन्मसञ्चित कर्मराशि क्षय प्राप्त होगी, इत्यादि कितनी दुश्चिन्तायें थीं, ये दुश्चिन्तारूप मेध समूह फिर कितनी हताशता, कितने अविश्वास और सन्देह रूप उल्कायुक्त थे, अब उन्होंने प्रशान्तभाव धारण किया है। अब चिन्ता करने को कुछ नहीं, और करने को भी कुछ नहीं हैं, हताश नामक न कुछ है, और न आशा नामक ही कुछ है। मैंत्व बोध का विलय के साथ ये सव अपने आपही विलय को प्राप्त हो गये, इसी से मन्त्रमें उत्पात सूचक मेध समूहों का सौम्यभाव धारण वर्णित हुआ है और सरित सब अर्थात् देहस्थ शक्तिप्रवाह समूह निज निज पथ में प्रवाहित हुये। इसके पूर्व साधना के लिये ही हों, और सांसारिक भार के चिन्ता से ही हों, ये उत्पथगामी थे, अब तो और दुश्चिन्ता नहीं है सुतरां ये सब अपने पथ में शान्त-भाव से प्रवाहित होने लगे। मैंत्व विलय के बाद साधक की स्थूल देह पर्य्यन्त अनेक प्रशान्तभाव को धारण कर लेती है। जबतक शुम्भ रहता है, जबतक अस्मिता का प्रभाव विद्यमान रहता है, तबतक नानारू उत्पात, नानारूप उच्छृङ्खलता देखने में आती है, परन्तु उसके विलय होने पर सभी सौम्यभाव धारण करते हैं, सभी प्रशान्त हो जाते है। आत्म साक्षात्कार लाभ के बाद साधक में जो सब लक्षण प्रकाश पाते है, वही इस मन्त्रमें एवं परवर्त्ती कईएक मन्त्र में वर्णित हुये हैं। अनुभूति सम्पन्न साधकगण निश्चय ही इन सब लक्षणों को लक्ष्य करसकते हैं।

— —

ततः प्रसन्नमखिलं हते तस्मिन् दुरात्मनि ।
जगत् स्वास्थ्यमतीवाप निर्म्मलं चाभवन्नभः ॥२५॥

अनुवाद—उस दुरात्मा असुर के निहत होने से, अखिल संसार ने प्रसन्नता लाभ की, जगत ने स्वास्थ्य लाभ किया एवं आकाश अतिशय निर्म्मल हो गया।

व्याख्या—अस्मिता के विनष्ट होने से अखिल संसार यथार्थ में प्रसन्नता लाभ करता है। पहले जिस ओर दृष्टिपात किया जाता था, उस ओर ही मानो एक अनियम उच्छृङ्खलता दृष्टिगोचर होती थी, कारण तबतो "मैं कर्त्ता" यह बोध था, अब तो सो नहीं है, अब जिधर ही दृष्टिपात करो उधर ही प्रसन्नभाव परिलक्षित होता है। एक मात्र आत्मसत्ताही तो अब सम्यक् भाव से उभ्दासित है, ऐसी उपलब्धि में अवस्थान कर सकने से, अप्रसन्नता नामक कुछभी नहीं रह-सकता। साधक! तुम्हारा भी मैं जब इस प्रकार विनाश को प्राप्त होगा, तब तुम भी अखिल संसार को प्रसन्नमय दर्शन करोगे।

"जगत् स्वास्थ्यमतीवाप"—जगत् ने स्वास्थ्य लाभ किया। स्वमें अवस्थान करने का नाम ही स्वस्थ्य, अर्थात् आत्मस्थ है। स्वस्थ के ही भाव को स्वास्थ्य कहते हैं। अब आत्मसत्ता सर्वत्र सुप्रकाशित है, सुतरां जगत् भी स्वस्थभाव में ही अवस्थित है। जगत् नामक अब और पृथक कुछ भी नहीं है, स्व हो गया है।

आकश निर्मल हो गया। विज्ञानमय आकाश में अब कोई प्रकार की मलिनता अर्थात् विविशष्टता नहीं है। पहिले बहुत्व के आवरण से विज्ञानाकाश मलिन था, अब अस्मिता बिलय के साथ ही साथ बहुत्व प्रतिति का उच्छेद हो गया है, सुतरां वह सर्वतोभाव से निर्मल होगया है।

——

ततो देवगणाः सर्व्वे हर्ष-निर्भर-मानसाः ।
बभुबुर्निहते तस्मिन् गन्धर्व्वा ललितं जगुः ॥२६॥
अवादयंस्तथैवान्ये ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
ववुः पुण्यस्तथा वाता, सुप्रभोऽभूद्दिवाकरः ॥२७॥

अनुवाद—उस असुर के निहत होने से देवतागण अतिशय हृष्ट चित्त हुये। एवं गन्धर्वगण सुमधुर गान करने लगे। और कुछेक गन्धर्व वाद्य ध्वनि करने लगे, अप्सरागण नृत्य करने लगीं, पुण्यवायू प्रवाहित होने लगा, एवं दिवाकर उज्वल प्रभाविशिष्ट हुए।

व्याख्या—शुम्भ के पतन से देवता गन्धर्व अप्सरा चन्द्र सूर्य सभी आनन्दित हैं। सभी स्व स्व शक्ति के अनुसार आनन्द प्रकाश करने लगे। इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यरूपी देवताबृन्दों को अब उद्विग्नता नहीं है, इन्द्रियां भी प्रशान्त हो गई हैं। चैतन्य राज्य अक्षुन्न है। देवगणों के यज्ञभाग अपहरण होने की अब आशंका नहीं है, सुतरां वे अब हर्ष निर्भरमानस हुए हैं। और गन्धर्वगण—नादाधिष्ठित चैतन्यबृन्द सुमधुर संगीत करने लगे। आनन्द-मङ्गल गान करते हुये लब्ध आनन्द को और भी विवर्द्धित करने लगे। अबतक ये गन्धर्वगण शुम्भ के प्रभाव से अभिभूत थे। इसीसे ये तान-लय हीन नानाविध शब्दों के अभिघात में लगे हुये थे। अब वही शब्दाधिष्ठित चैतन्यबृन्द प्रशान्त होकर, शब्दों को सुनियन्त्रित करने लगे।

सुनो—आत्मलाभ के बाद साधक के उच्चारित शब्द मधुर हो जाते हैं। उसके कण्ठस्वर में एक सुमधुर आकर्षणभाव रहता है। प्रथम यही शब्द जिस भाव से उच्चारण करता था, वे सबके चित्ताकर्षक नहीं होते थे, किन्तु अब गाली देने पर भी वे मधुर होते हैं, जिसको गाली दी जाती है, सो भी मर्म्मान्तिक दुःख अनुभव नहीं करता, वरं अन्दर अन्दर में आनन्दित हो जाता है। गन्धर्वगणों की प्रसन्नता का यही फल है।

अप्सरागण नृत्य करने लगीं—पुलक एवं अङ्गकम्पनादिरूप सात्विक

भाव प्रकाश पाने लगे। योग की प्रथमावस्था में ये चित्त विक्षेप सहकारी थे इससे साधना के अन्तराय स्वरुप थे, किन्तु अस्मिता बिनाश के बाद, स्वप्रकाश आनन्दमय आत्मस्वरुप में उपनीत होने के समय जो अङ्ग कम्पनादि होता है, वह आनन्द सूचक है विक्षेप कारक नहीं। आत्मा में विक्षेप नामक कुछ नहीं है, विक्षेप तो चित्तही का धर्म है, सुतराँ यहाँ पर अङ्गकम्पनादि रुप वाह्य विक्षेप परिलक्षित होने पर भी उससे आत्मोपलब्धि में कुछ भी व्याघात नहीं होता, वरं विशेष आनन्दोपलब्धि ही की सूचना करता है।

वबुः पुण्यास्तथा वाताः—पुण्यवायू प्रवाहित हुई। आत्मसाक्षात्कार के बाद सत्य सत्यही वायुमण्डल पवित्र और आनन्द मय ही मालुम होने लगता है, उससमय तो मधुमय आनन्दमय प्रियतम आत्माही का स्वरुप सर्वत्र प्रतिभात होने लगता है इसीसे सत्यदर्शी ऋषियों के स्वर में स्वर मिलाकर बोलने की इच्छा होती है— 'मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।' एक गीत में सुना था-तोमाते जखन मजे आमार मन, तखनि भुवन हय मधुमयी (तुममें जब हमारा मन विभोर हो जाता है तब सारा भुवन मधुमय होजाता है।)

इस प्रकार केवल वाह्य वायुमण्डल ही जो पुण्यमय आनन्दमय होता हो सो नहीं, आभ्यन्तरिक प्राणादि पञ्चवायु भी तब तो पवित्र और मधुमय हो उठता है। इसके पूर्व हमने इस प्राणादि पञ्चवायु के सम्बन्ध में विशेष कुछ आलोचना करने का सुयोग नहीं पाया, सुतरां अप्रासङ्गिक होने पर भी यहां पर ही संक्षेप में इसकी आलोचना करनी पड़ी। आन्तर वायु पाँच हैं, यथा—प्राण अपान व्यान उदान समान। साधारणतः ये वायु रुपसे ही परिचित हैं। वास्तविक किन्तु वायु इनका अति स्थूल रुप है। हम यहाँपर इस स्थूल रुप के सम्बन्ध में कोई अलोचना नहीं करेंगे, कारण उसका स्वरुप, क्रिया एवं स्थान तो अनेक ही जानते हैं। केवल आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणादि के जिन स्वरुपों की उपलब्धि होती है, उसके कहने की चेष्टा करेंगे।

प्राणादि पंच भी करण विशेष हैं। जीवों के करण द्विविध हैं—

अन्त:करण एवं वाह्य करण। अन्तःकरण हैं चार—मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार और वाह्यकरण हैं त्रिविध—ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय एवं प्राणादि पञ्च। सत्व रजः और तमोगुण से यथा क्रमसे उक्त त्रिविध करण उत्पन्न होते हैं। जैसे सत्वगुण के करण ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाश भाव प्रधान है, एवं रजोगुण के करण कर्मेन्द्रियों में क्रियाभाव प्रधान है, उसी प्रकार तमोगुण के करण होने से ही प्राणादि का धृतिभाव प्रधान है। प्राण कहने से वहीरागत बोधविशेष का धृतिभाव समझ में आता है। अर्थात वाह्य वस्तुओं के संस्पर्श से जो आभ्यन्तरिक बोध विशेष फूट उठता है, उस बोध का जो अधिष्ठान है, उसको धर के रखना ही प्राण का कार्य है। मानलो—तुम तृष्णार्त्त होकर जल पान कर रहे हो। यहाँपर इस जलरुप वाह्य वस्तु के साथ कन्ठनाली प्रभृति के संस्पर्शवशतः पिपासा निवृत्तिरुप एक बोध फूट उठा, जो शक्ति इस बोध को धरके रखती है सोई है प्राण।

शरीरस्थ मलापनयनकी जो शक्ति हैं उसका जो अधिष्ठान हैं, उस को धारण करना ही अपान का कार्य है। अङ्गप्रत्यङ्ग परिचालन की जो शक्ति है, उसका जो अधिष्ठान है, उसे धारण करना ही व्यान का कार्य है। इसी प्रकार शरीरस्थ रस रक्तादि धातुगत जो बोध है, उसका जो अधिष्ठान है उसे धारण करके रखना ही उदान का कार्य है, एवं अन्न पानादि द्वारा शरीर गठन करने की जो शक्ति है, उसके अधिष्ठान को धारण करके रखना ही समान का कार्य है। इन्हीं पञ्चविध धृतिशक्तियों के द्वारा ही यह स्थूल शरीर गठित स्थित एवं लय प्राप्त होता है। और यही जब प्रतिलोम भाव से क्रिया करती है, तबही शरीर विनाश को प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों की न्याई ये भी अस्मिता ही का विभिन्न स्फुरण है। ये पञ्चप्राण शक्तियाँ ही प्राणमय कोष का यथार्थ स्वरुप है।

अच्छा जो हो मातृलाभ के बाद अर्थात् परमात्म स्वरुप से व्युत्थित होने पर जो केवल चित्तही का प्रशान्त भाव होता हो, सो नहीं, चित्त की प्रसन्नता हेतु जैसे ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों की प्रसंन्नता

होती है, तैसे ही प्राणादि पञ्चभूतों की भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। उसके फलस्वरूप स्थूल शरीर पर्य्यन्त आनन्दघनरूपसे बोध होने लगता है। शरीर के प्रत्येक परमाणु ही मानो आनन्द के कण हैं, ऐसी प्रतीति होती है। शरीरस्थ वायु प्रवाह पुण्यमय होने का यही लक्षण है।

अरे, एकबार आत्मबोध में उपनीत होनेसे—एकबार हमारी आदरणीय मा की गोदी में उठने से, सत्य ही ऐसा होता है। प्राण मन इन्द्रिय, यहाँ तक कि स्थूल देह पर्य्यन्त एक अपूर्व रससे रसमय हो पड़ती है। अपार्थिव है वह रस, अननुभूत है उसका आस्वादन विस्मयकर है वह मिलन रहस्य, निरवच्छिन्न आनन्द ही है उसका स्वरूप।

जज्वलुश्चाग्नयः शान्ताः शान्तदिग् जनितस्वनाः ॥२८॥

इति श्रीमार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्मये शुम्भवधः।

अनुवाद—होमाग्नि सब शान्तभाव से, प्रज्वलित होने एवं उत्पातसूचक दिग् निस्वन समूह ने प्रशान्त भाव धारण किया।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवी माहात्म्य प्रसङ्ग में शुम्भवध।

व्याख्या—होमाग्नि—शरीरस्थ तेजस्तत्त्व। इसीके पूर्व यह नाना रूप उत्पात सूचना करता था, अब शान्त भाव धारण किया है। प्रथम वासना के अभिघात सुख दुःख के अभिघात साधक के चित्त को सर्व्वदाही चञ्चल करके रखते थे। सुतरां शरीरस्थ तेजस्तत्त्व नानाभाव से परिभावित होता हुआ नानारूप उत्पात की सूचना करता था। अब सभी शान्त हुये हैं। मैत्व नहीं, सुतरां उच्छृङ्खलता भी नहीं। पूर्व में यही विश्व यज्ञ, यह कर्मयज्ञ अहंकर्त्तृ स्वरूप बोध के ऊपर प्रतिष्ठित था, सुतराँ सभी उच्छृङ्खल, सभी अशान्त और उत्पात सूचक

थे। अब आत्मस्वरूप के उम्द्भासित होने से, सभी ब्रह्म यज्ञ में परिणत हो गया हैं। अब तो कर्म मात्र ही ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्" रूपसे अनुष्ठित होते हैं, अवतो हव्य होता अग्नि होम एवं उसका फल, सब ही ब्रह्ममय—सभी आत्ममय हैं, सुतरां कर्मयज्ञरूप अनुष्ठान समूह अब और अशान्त भाव से सम्पन्न नहीं होते।

दिग् निस्वन—अमङ्गल सूचक दूरागत ध्वनिविशेष। अहं बोध विलुप्त हुआ है, और आत्मबोध समुदित हुआ है, सर्वत्र एक मङ्गलमय आत्मा व्यतीत और कुछ भी नहीं हैं, सुतरां दिग् निस्वन वा अमङ्गल सूचक शब्द समूह सम्पूर्ण प्रशान्त हुये हैं। पूर्व में जागतिक घटना समूह का फलाफल विचार, एवं उसके लिये मङ्गलामङ्गल का विचार था, अबतो और वह भाव नहीं है, सभी मङ्गलमय है। सभी आत्ममय सभी आनन्दमय है।

साधक! यही है आनन्दप्रतिष्ठा। देखो इन पाँच मन्त्रों में सर्वत्र केवल आनन्द ही की अभिव्यक्ति वर्णित हुई है। आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त होने से, ठीक इसी प्रकार सर्व्वत्र आनन्दमय सत्ता की उपलब्धि होती रहती है। जबतक मैंत्व बोलकर एक विशिष्ट ज्ञान रहता है, तबतक इस आनन्द का सन्धान नहीं मिलता। किन्तु मा की कृपा से शुम्भ निहत होने से-अस्मिता बिलय प्राप्त होने से साधक को निरवच्छिन्न आनन्द प्राप्त होता है। किसी भी अवस्था में यह आनन्द विच्युत नहीं होता। चित्त,-विक्षेप, भोग त्याग, रोग शोक जो कोई अवस्था क्यों न आवे, इस स्वरूपानन्द की विच्युति नहीं होती। न इसका आदि है और न इसका अन्त है। एक अभिन्न पूर्ण अथव चिर नवीन है—नित्य भोग करने पर भी इसका नवीनत्व अपनीत नहीं होता (शेष नहीं होता) ऐसा मधुर है! यही वैष्णवों की भाषा में नित्य बृन्दावनमें नवधन श्याय-- नित्य तरुण, नित्य लोभनीय हैं। यह आनन्द ही सांख्यों की भाषामें पुरुष, बेदान्त का ब्रह्म, उपनिषदोंका आत्मा, गीता के श्रीकृष्ण देवी माहात्म्य की चण्डिका और हमारी मा हैं।

देखो साधक, तुम आनन्दमय हो, तुम्हारा भोग्य जगत् भी आनन्दमय है। तुम्हारे मन प्राण इन्द्रिय स्थूल शरीर पर्य्यन्त आनन्द मय है। आनन्द द्वारा ही तुम एवं यह विश्व गठित हो। आनन्द ही तुम्हारा एवं इस विश्व का उपादान है। किसी भी अवस्था में तुम आनन्द से बिन्दुमात्र विच्युत नहीं हुये हो! तुम धन्य हो! धन्य हो तुम! बोलो—'सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान्।'

इति साधन-समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्या में

शुम्भ बध।

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य

रुद्र ग्रन्थिभेद ।

शुम्भवध ।

ऋषिरुवाच ।

देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे सेन्द्राः सुरा वह्नि पुरोगमास्ताम् ।
कात्यायनीं तुष्टुवुरिष्टलम्भाद्विकाशि वक्त्रास्तुविकाशिताशाः॥१॥

अनुवाद—ऋषिबोले—उस युद्धमें देवी कर्त्तृक असुरश्रेष्ठ शुम्भ के निहत होने से, अभीष्ट पूर्ण हुआ है इससे अग्नि प्रमुख इन्द्रादि देवता-वर्ग उत्फुल्ल आनन से दिक् समूह को उद्भासित करते हुये कात्यायनी का स्तवन करने लगे ।

व्याख्या—विशुद्धबोधस्वरूप में अवस्थान काल में द्वैत प्रतीति के अभाव वशतः स्तवादि एकान्त असम्भव होने पर भी, व्युत्थान अवस्था में बाधितानुवृत्ति-न्याय से पुनः देहादि अनात्म प्रतीति फूट उठती है । सुतरां उस अवस्था में स्तव स्तुति असम्भव नहीं है, वरं होना ही खूब स्वाभाविक है ।

शुम्भ निहत हुआ है इन्द्रियादि अधिष्ठित चैतन्यवृन्दरूपी देवतावृन्दों का अभीष्ट पूर्ण हुआ, उनका अपहृत यज्ञभाग पुनः कर-तलगत हुआ है, सुतरां देवतावृन्दों के आनन्द की अवधि नहीं है । अब वे विशिष्ट चैतन्य होते हुये भी अखण्ड चैतन्य के साथ एकान्त अन्वित हैं, अखण्ड आनन्द के स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ है, इसीसे उनके मुखमण्डल में हर्षोत्फुल्लभाव प्रकाशित हो रहा है ।

यद्यपि इन्द्रही देवता प्रधान है, तथापि अग्नि देव ही को पुरोगामी कियागया है। अग्नि वागिन्द्रिय के अधिपति हैं। स्तुति भी वाक्यों की समष्टि मात्र होती है; सुतरां वागाधिष्ठित चैतन्य को अग्रगामी करसकने से ही स्तवादि कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न हो सकता है। इस प्रकार स्थिर करके ही इन्द्रादि देवतावर्ग ने अग्निदेवही को प्रधान भाव से स्तुतिके नेता किया है। वाक्य के अधिष्ठात्री देवता के प्रसन्न विना हुए, स्तोत्रादि पाठ कभीभी सत्य और प्राणमय नहीं होते।

अच्छा जो हो, देवतावृन्द की पुष्कल स्तोत्र ध्वनि ने दिक् समूह को पवित्र करदिया, विशुद्ध सत्वगुण की शुभ्र प्रभासे दिङ्मण्डल उद्भासित हो उठा, देवतागण भक्ति विनम्र मूर्त्ति से कात्यायनी का स्तवन करने लगे। कात्यायनी—जगदीश्वरी। ब्रह्मवित् पुरुषों की एकान्त आश्रयणीय हैं इससे 'मा' हमारी कात्यायनी नाम से सुपरिचित हैं : ये ही सगुण ब्रह्म हैं। स्तवादिस गुण ब्रह्म ही का तो होता है।

देवी प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्ज्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरी पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवी चराचरस्य॥२॥

अनुवाद—हे देवी! हे शरणागत-जन-दुःखहारिणी! तुम प्रसन्न होओ! हे अखिल जगत की जननी! तुम प्रसन्न होओ। हे विश्वेश्वरी! तुम प्रसन्न होओ। हे देवी! तुम इस विश्व की रक्षा करो। तुम्ही तो चराचर की (एकमात्र) अधिश्वरी हो।

व्याख्या—हे मा! तुम प्रपन्न जनों की आर्त्ति हरण करती हो। जो तुमको एकान्त आश्रय जानकर तुम्हारे ही अभय चरणों में शरण लेता है, वह फिर चाहे जितना बड़ा दुराचारी, जितना बड़ा मूर्ख ही क्यों न हो, तुम स्वयं उसकी सर्वविध आर्त्ति, सर्वविध कातरता, दीनता विदूरित कर देती हो। मा! तुम हमारे प्रति प्रसन्न होओ।

हम जिससे तुम्हारे ही चरणों में आश्रय ले सकें। अरे हमारे हृदय में ऐसा बल नहीं है, हमारे हृदय में न ऐसा विश्वास ही है, जिससे तुमको ही एकान्त आश्रय जानकर, निर्विचार से तुम्हारी गोदी में मा कहकर झाँप देकर पड़ सकें तथापि तुम हमको अपने आश्रित करलो। फिर क्यों पार्थिव बस्तुओं के आश्रय में मिथ्या-भिमान के कल्पित मैं का परिपोषण करना होगा? जिससे सर्व छोड़ कर एकमात्र तुम्हारा शरणागत होसकूं, वही करो मा, वही करो; तुम प्रसन्न होओ।

अरे 'मा' तुम अखिल जगत की मा हो, सुतरां हमारे प्रति वो तुम प्रसन्नही हो। हम कुपुत्र है इससे तुम तो फिर कुमाता हो नहीं सकती। हम अकपट प्राणों से मा बोलकर तुमको नहीं पुकारते, पुकार ही नहीं सकते। इसलिये तुम तो फिर हमें दूरमें न ही ठेल दे सकोगी। क्योंकि तुम जो हमारी मा हो। हे विश्वेश्वरी! तुम्हारे प्रसन्न होने ही से हमारे सब अभीष्ट पूर्ण होंगे। अरे (मा) कितने जन्म जन्मा-न्तरों से केवल तुम्हारी प्रसन्नता विधान के लिये कितने घात प्रतिघात कितने पेषण सह्य करता आरहा हूँ, किन्तु कहाँ, तुम जो नित्य प्रसन्ना, नित्यतृप्ता हो, इसकी उपलब्धि तो कर नहीं सका? जब तक तुम्हारा बहुभावों में आत्मप्रकाश देखूँगा, तबतक तुम्हारी प्रसन्नता को कैसे समझूंगा? अरे मा तुम्हारे मुख से निर्गत मात्र एक बात सुनने के किये कितने काल से, कितने नैराश्यों को हृदय में लुक्कायित रखता हुआ, तुम्हारे मुख की ओर देखरहा हूं—कितने आघातों को सह्य करता हुआ ज्ञाने अज्ञाने, कपटे अकपटे इच्छा अनिच्छा से मा बोलकर पुकार रहाहूँ? तुम प्रसन्न होउ मा! एकबार बोलो मैं बहु नहीं हूँ मैं एक हुं।" तुम्हारे मुख निर्गत यह एक बाणी सुन लेने ही से तो हमारा जीवन धन्य हो जाय, अनादि जन्मों का जीवत्व बन्धन खुल जाय, और तुम्हारा प्रसन्नभाव भी हमारे प्रतीति योग्य होजाय।

मा, तुम विश्वेश्वरी हो, तुम ही इस विश्व की रक्षा करती हो। यह विश्व तुमको नहीं देख पाने से, तुम्हारी सत्ता को अनुभव नहीं

कर सकने से, तुम्हारी प्रसन्नता को न समझ सकने से, बहिर्मुखी धावित हो रहा है। दिन दिन ध्वंस की ओर अग्रसर हो रहा है ओ मा बचाओ! रक्षा करो। इस बहिर्मुखी तीव्रगति से इस विश्व को बचाओ! ध्वंस से रक्षा करो। क्यों नहीं करोगी तुम जो चराचर की एकमात्र अधिश्वरी हो। स्थावर जङ्गम जहाँ पर जो कुछ है, तुमही तो उस सबकी एकमात्र नियन्त्री हो। अपने जगत की तुम नहीं रक्षा करोगी तो, और कौन करेगा मा? इसीसे कातर प्राणों से बोलता हूं, ठीक इसी प्रकार प्रति जीवों में शुम्भ वध करके ध्वंस के मुख से इस विश्व की रक्षा करो।

आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
अपां स्वरूपस्थितया त्वयैत दाप्याय्यते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये ॥३॥

अनुवाद—तुमही एकमात्र जगत की आधार स्वरूपा हो। क्योंकि महीस्वरूप से अवस्थान करती हो। फिर जलस्वरुप से अवस्थान करती हुई समग्र विश्व को आप्यायित करती हो। मा, तुम्हारा वीर्य अलंघनीय है।

व्याख्या—मा, तुम जो आधार-शक्ति रूपिणी जगद्धात्री हो, सो तुम्हारी मही मूर्त्ति को देख कर ही हम कुछ अंशों में समझ सकते हैं। मही रूपसे मृत्तिका रुपसे यावतीय पदार्थों को तुम मा की ही तरह हृदय पर लिये हुये हो। न कोई विकार है, न कोई विकल्प है, कौन अनादि काल से तुम मही रूप से मा-ही बनकर, इस जीव जगत को धारण कर रही हो। केवल यही नहीं, फिर जलमयी मूर्त्ति से सभी जीवों को आप्यायित कर रही हो-स्निग्ध कर रहीं हो। शस्यादि-रूप से क्षुधानिवृत्ति, एवं जलरूप से तृष्णानिवारण करती हुई प्रतिनियत मातृत्व का परिचय दे रही हो। माता जैसे स्तन्यपायी शिशु को वक्षपर धारण करके, स्तन्यदान से उसकी क्षुधा तृष्णा विदूरित कर देती है, ठीक उसी प्रकार मा तुम भी महीरूप से इस जीव जगत् को

हृदयपर धारण कर अपरूप से-रसरूप से प्रत्येक जीव को आप्यायित करती हो—परिपुष्ट करती हो। मा! एकाधार से तुम इस जगत का धारण एवं पोषण करती हुई जिस अतुलनिय प्रभाव का परिचय दे रही हो, तुम्हारे उस वीर्य प्रभाव को ईश्वरादि भी लङ्घन करने में समर्थ नहीं होंगे। मा, इसीलिये ही तुम अलङ्घवीर्य्या हो।

स्व ही तुम्हारा रूप है। तुम्ही तो हो आत्मा! तथापि तुमही मही स्वरूपा, अप स्वरूपा हो। सर्वभेदातीत आत्मा तुम हो, तथापि स्वगत भेद-विशिष्ट होकर क्षिति अप प्रभृतिरुप से जगत का धारण पोषणादि कार्य सम्पन्न करती हो। मा! तुम्हारा वीर्य तथार्थ ही अलङ्घनीय है।

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य वीजं परमासि माया।
सन्मोहितं देवि समस्तमेत-त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥४॥

अनुवाद—तुम वैष्णवी शक्ति हो, तुम अनन्त वीर्या हो, तुमही विश्व का वीज हो, तुमही परमा माया हो। हे देवी! तुमने इस समस्त जीवजगत को मुग्ध कर रक्खा है, फिर तुमही प्रसन्न होकर इस जगत की (जीवों को) मुक्ति हेतु स्वरूपा होते हो।

व्याख्या—मा। तुम वैष्णबी शक्ति—सर्व्व व्यापिनी जगत् पालन कारिणी महती स्थिति शक्ति हो। इस विश्व के प्रति परमाणु तुममें ही अवस्थित हैं। तुम अनन्तवीर्य्या हो; तुम्हारे वीर्य्य वैभव की सीमा नहीं। हे मा! जब तुम सर्व्वव्यापिनी वैष्णवी शक्ति रूप से सन्तान के सामने आत्मप्रकाश करती हो, तब सत्य सत्यही तुम अनन्तवीर्य्या रुपसे प्रतिभात होने लगती हो। तुम्हारे उस वीर्य प्रभाव को उस समय अतिक्रम करना वा इयत्ता करना एकान्त ही असम्भव जान पड़ता है। तुम जो केवल इस व्यक्ति विश्वरुप से आत्म प्रकाश करती हुई अनन्त वीर्य्या वैष्णवी शक्ति नाम से परिचित होते हो, सो नही; इस विश्व के वीजरुप से, इस सृष्टिप्रपञ्च के आदिम कारण रुपसे अव्याकृत

रुपसे भी तुमही अवस्थिता हो। बीज रूप से तुम परमा, एवं वैष्णवी रुप से तुम माया नामसे अभिहित होती हो। मा, इस सृष्टिप्रपञ्च रुप से—व्यक्त विश्वरुपसे तुम माया हो और सृष्टि की अव्यक्त वीज स्वरुप से तुम परमा माया हो। सांख्य शास्त्र ने तुम्हारे इस परमा स्वरुप को ही मूल प्रकृति कहा है।

मा! इस द्विविध रुप से तुम्हारा दो प्रकार कार्य देखने में आता है। जब तुम माया मूर्ति से प्रकटित होती हो, अर्थात् व्यक्त प्रपञ्च रुपसे आत्म प्रकाश करती हो, तब तो "सम्मोहितं देवी समस्तमेतत्" हो, और जब परमामूर्त्ति से प्रकटित होती हो, तब "त्वं वै प्रसन्ना भुविमुक्ति होतु" हो। एक मूर्त्ति से भोगवती, और दूसरी मूर्त्ति से तुम मोक्षदायिनी हो। माया स्वरुप से तुम समस्त जगत को मुग्ध करके रखती हो—स्वकीय स्वरुप की उपलब्धि नहीं करने देती। तब जीव नानाभावों से तुम्हारी मायिक मूर्ति दर्शन करके, उसको ही आयत्त (अपने अधिकार में) करने के लिये धावमान होता है। जो रुप रसादि वा काम काञ्चनादि विषयों के मोह में मुग्ध हैं, सो तो प्रत्यक्षभाव से ही तुम्हारे कर्तृक सन्मोहित हैं। और जो तुम्हारे शरणागत न होकर नानारुप साधनाओं का अनुष्ठान करते हैं, वे भी सिद्धि शक्ति यश प्रतिष्ठा प्रभृति में से एक न एक को लेकर मुग्ध रहते हैं। मायावी मनुष्य (वाजीगर) जैसे दुर्बल मनुष्य को सन्मोहन मन्त्र से आविष्ट कर रखता है, ठीक तैसे ही न जाने कौन आनादि काल से तुम इस जीववृन्द को आविष्ट किये हुए हो। ये किसी भी तरह से तो तुम्हें नहीं चाहते वा चाह सकते हैं, तुम्हारे दिये (जगत के) साज,खिलौनों को लिये हुए ही अपने जीवन को कृतार्थ समझते हैं। तुमको चाहने का (प्राप्त करनेका) कुछ प्रयोजन है, उसे सोच भी नहीं सकते। ऐसा ही अजेय यह मोह है। हे मा, यह जो तुम्हीं हो! तभी तो अजेय है। यदि तुम्हारे भिन्न अन्य कोई इस मोह का रुप धरके आता, तबतो इतनी चेष्टा इतनी कठोरता करके जीव इसे निश्चयही विताड़ित करने में समर्थ होता। किन्तु यह तो

अलब्धवीर्या मा तुम ही मोहरूप से सामने खड़ी होकर जीवों के आत्मदर्शन के चक्षुओं को ओट किये हुए हो। हे मा! और कितने काल—कितने काल तक "नेत्र बाँधे बैल की तरह" ऐसे घुमाओगी? एक बार अपने सन्तान को "आँखों की टोपी" खोलदो, जिससे वे तुम्हारे अभयपद् के दर्शन करके जीवन सार्थक करें।

अरी मा, तुम्ही तो इस सम्मोहिनी मूर्त्ति से हो! तुम्ही तो इन विषयों के साज से, काम काञ्चन के साज से आकर हमको प्रतिनियत मुग्ध कररही हो, इसे समझ लेने ही से तुम प्रसन्न होती हो—तुम पकड़ाई देती हो। पकड़ाई देनेही से तुम्हारी वह मोहिनी मूर्ति हट जाती है, और नित्य प्रसन्ना मूर्त्ति उद्भासित होती है। तब फिर और कोई विपद नहीं रहजाती, न कोई भय ही रहता है। तुम हो तब परमा प्रकृतिरुप से जननी रूपसे स्नेहभरे जीव को वक्षः पर धारण करके मुक्ति मन्दिर में उपनीत होती हो। इसीसे तो देखते हैं कि--देवतागण तुम्हारा स्तव करते करते-एक ओर तुम्हारी विश्वमोहिनी मूर्त्ति देखकर "सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्" कह रहे हैं और मोक्षदायिनी प्रसन्न मूर्त्ति देखकर "त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्ति हेतु" कहते हुए तुम्हारे ही चरणों में प्रणत होपड़ते हैं। मा, तुम प्रसन्न होओ! तुम जिस नित्य प्रसन्ना मूर्त्ति से हमको नियत हृदय पर धारण किये हुऐ हो, इसे समझने दो! देवताओं की तरह से हम भी मा मा कहते हुए मुक्ति मन्दिर में उपनीत हो (जा पहुँचे)।

विद्याः समस्तास्तव देवी भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः ॥५॥

अनुवाद—हे देवि! इस जगत में समस्त ही विद्या है, यह सब तुम्हारे ही भेद हैं, अर्थात् विभिन्न मूर्त्ति हैं इस जगत में सभी स्त्री, सभी तुम्हारे अंशरूप से विद्यामान हैं। एकमात्र तुम ही मातृ स्वरूपसे

सारे विश्व को पूर्ण किये हुये हो, अतएव फिर तुम्हारी स्तुति क्या ? तुम तो स्तव्य के परे हो एवं उक्तिके अर्थात् वाक्य से भी परे अवस्थिता हो (अथवा स्तव्य विषयक परापरवाक्यरूपा जो स्तुति है, सो तुम्हारे सम्बन्ध में एकान्त असम्भव है)।

व्याख्या—पूर्व मन्त्रमें कहा गया है—मा की प्रसन्नता प्राप्त होने ही से साधक का मुक्ति मार्ग उन्मुक्त हो जाता है। मा जब प्रसन्न होती हैं, तब साधक इस जगत को किस प्रकार के भावों से दर्शन करता है, इस मन्त्र में वही प्रकट किया गया है।

हे देवि !—द्योतनशीले ! "जगत्सु समस्ता विद्याः" इस जगत् में सभी विद्या है। उपनिषत् कहती है "यया तदक्षरमधिगम्यते सा विद्या" जिसके द्वारा उस अक्षर पुरुष को जाना जाता है सोई है विद्या। 'जगतसु'—अनन्त जगत में, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में, समस्त ही विद्या है। ओ मा ! जो यथार्थ में मुमुक्षु हुए हैं, जिन्होंने तुम्हारी प्रसन्न मूर्त्ति दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया है, सो सर्वत्र तुम्हारे विद्या स्वरूपही को देखते हैं। जगत में अविद्या नाम से जो ख्यात है, सो भी तो विद्या छोड़कर और कुछ नहीं है, विद्याही तो स्वल्पभाव से प्रकाशित होने के कारण, अविद्या नाम से परिचित होती है, इसे मात्र वही—तुम्हारे तत्वदर्शी सन्तानगण ही उपलब्धि कर सकते हैं। इसीसे वे 'विद्या समस्ताः' कहते हुये इस समस्तरूपिणी विद्यामूर्त्ति तुम्हारे ही चरणतलों में प्रणत हो पड़ते हैं। प्रश्न उठ सकता है—जब समस्त ही विद्या है तो शास्त्र ने अविद्या शब्द से किसका निर्देश किया है ? इस प्रश्न का उत्तर देने ही के लिये देवतागण बोले 'तव देवि भेदाः' जो अविद्या है सो विद्यारूपिणी तुम्हाराही भेद मात्र है—विभिन्न मूर्त्तिमात्र है। अरी मा ! तुम जिसको अविद्या कहकर समझते हैं, वह तो तुम्हारी ही विभिन्न मूर्त्ति है। एका अद्वितीय सर्वभेदरहिता तुमही तो विभिन्न मूर्त्ति से—बहुमूर्त्ति से समस्त रूप से—जगत् रूपसे नित्य अवस्थिता हो। मा ! यह जगत् तुम्हारा ही स्वगत भेद है।

सुतरां देवताओं के सामने समस्त हो विद्यारूप से [१] उद्भासित हैं, इसीसे वे अविद्या रूप से विद्याविरोधी रूप में कुछ भी नहीं देखते।

स्त्रियः समस्ताः समस्त रूपसे जगत रूपसे जो प्रतीत होता है, सो स्त्री अर्थात् तुम्हारी हो शक्ति मात्र हैं। विशुद्ध चैतन्य स्वरूप एकमात्र तुमही, परमपुरुष हो, समस्त रूपसे जगत रूपसे जो कुछ प्रतीती गोचर होरहा है सो सभी स्त्री—सभी तुम्हारी प्रकृति है तुम्हारी शक्ति, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारा व्यवहार है। शक्ति जैसे शक्तिमान के साथ अभिन्न भाव से रहती है, ठीक तैसे ही यह प्रकृति रूपी जगत्, परम-पुरुषरूप तुम्हारे साथ सर्वतोभाव से आलिङ्गित है। वैष्णवों की भाषा में यही राधाकृष्ण का नित्यमिलन है।

मा! यह समस्त हो सकला तुम्हारी ही कला के अर्थात् अंश के साथ नित्य विद्यमान है। सत्तारूप से चैतन्यरूप से—अस्ति-भातिरूप से तुम्हारी ही कला सर्वत्र विद्यमान है। इसीसे देवतागण कहते हैं—समस्त रूप से जो कुछ प्रतिति गोचर होरहा है, सो है सकला। तुम्हारी कलायुक्त विद्यमान नहीं होता तो तुम्हारी सत्ता और चैतन्य द्वारा उद्भासित न होता तो समस्त कहने के लिये कुछ रहता ही नहीं। यद्यपि मा, कला नामक—अंश नामक तुम में कुछ भी नहीं है, तुम तो नित्य पूर्ण हो तुम अनंश हो—तुममें अंशाशी भेद नहीं है, तथापि जबतक विशिष्ट प्रतिति है, तब तक उसे अंश ही कहने होता है। इसीसे श्रुति ने भी इस जगत को तुम्हारे एकांश में अवस्थित कहते हुये वर्णन किया है!

हे मा! इसप्रकार जो जगत् को जगत् रूपसे न देखकर विद्या रूपसे देखने में अभ्यस्त हुए हैं जो इस समस्त को तुम्हारे ही भेद रूपसे, तुम्हरी प्रकृतिरूपसे, तुम्हारी कला रूपसे अर्थात् अंश रूपसे देखने में अभ्यस्त हुए हैं केवल उन्हीं के सामने तुम्हारी प्रसन्नतामयी

(१) जो विद्या शब्द का अष्टादश विद्यारुप अर्थ करते हैं, उनके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। कारण उनका अर्थ व्याप्य है, और हमारा अर्थ व्यापक है।

मातृमूर्त्ति उद्भासित होती है। उससमय वे उच्चे स्वर से बोलने लगते हैं—"त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्"। मा तुम्हारे द्वारा यह समग्र विश्व परिपूर्ण है।

साधक! अब प्रथम खण्ड लिखित शक्ति की गोदी में सत्ता के विषय को याद करो! देखो जगतमय मात्र एक अखण्ड सत्ता ही है। वृक्ष है, फल है, फूल है, मैं हूँ, तुम हो, वह है, यह जो खण्ड खण्ड अस्ति (है द्वारा लक्षित) है, सो उसी एक अखण्ड अस्ति का ही परिचय प्रदान कररही है। वही जो अखन्ड सत्ता है, सोई चिति शक्ति, पुरुष वा मा हैं। यही सत्ता अज्ञेय, अथच "ज्ञ" स्वरूप, अग्राह्य अथच ग्रहीतृ स्वरूप हैं। जब हम विशिष्टरूप से उसे समझने की कोशिष करते हैं तब, इस अखण्ड सत्ता के साथही साथ एक शक्ति अर्थात् स्त्रीमूर्ति देखते हैं। वृक्ष है—यहाँ पर "वृक्ष" शक्ति, और "है' यही पुरुष हैं, ऐसेही सर्वत्र समझो। यह शक्ति पुरुष ही की शक्ति है, अन्य कोई नहीं। सत्ता शक्तिमति, अथवा शक्तिही है सत्तामयी! अच्छा, अब देखो, यह जो वृक्ष- इस नामरूप आकार से आकारित शक्ति या मा हैं, इन्हीने इस जगत को परिपूर्ण कर रक्खा है। देखो जीव। चारो ओर मा को छोड़कर और तो कुछ है नहीं, बोलो—त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्। इसप्रकार देख सकनेही से अर्थात् चिन्मयी महती शक्ति को इस अम्बारूप से— मा रूपसे देख सकने ही से इनकी प्रसन्नता उपलब्धि कर सकोंगे। मातृ प्रसन्नता समझ सकने ही से देखोगे "भुविमुक्ति हेतुः"—ये मा ही इस जगत् में एकमात्र मुक्ति का हेतु हैं, ये मा ही तुमको गोद में लेकर मुक्ति मन्दिर में उप-नीत होंगी। हम धन्य होओगे।

इसप्रकार स्तव करते करते देवतागण विश्वमय मातृ मूर्त्ति दर्शन करने लगे। तब विवश होकर उन्हें बोलना पड़ा "का ते स्तुति", ओ मा। तुम्हारी अब स्तुति क्या करें? सभी तो तुमहो। तुमको छोड़ कर कुछ भी तो नहीं हैं, सुतरां तुम "स्तव्यपरा" स्तव्य के परपार में अवस्थिता हो। स्तुति द्वारा तुम्हारा स्वरूप और आरोपितगुण वर्णित

नहीं होता कारण तुमतो इन सबसे अनेक ऊपर हो। केवल सोई नहीं स्तुति करने ही से उक्ति वा वाक्यों का प्रयोजन है, किन्तु तुमतो "परोक्तिः" उक्ति अर्थात् वाक्यों के भी परपार में अवस्थिता हो, अवाक्गोचरा-"न तत्र वाक गच्छति।" सुतरां जिधर हीं होकर जाँय तुम्हारी स्तुति अबतो एकान्त असम्भव है। तथापि किन्तु मा। हम वाग् विशुद्धि के लिये तुम्हारा स्वरूप, तुम्हारी महिमा बालकों की तरह कथञ्चित् कीर्त्तन करने का प्रयास कर रहे हैं। तुम क्षमा करो, मा क्षमा करो।

सर्वभूता यदा देवी स्वर्गमुक्ति-प्रदायिनी।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः ॥६॥

अनुवाद—मा, तुम जब सर्वस्वरूपा द्योतनशीला स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी हो, तुम जब नित्य स्तुता हो, तो फिर ऐसा क्या स्तव सम्भव हो सकता है, जिससे कि वह स्तुति परमोक्ति अर्थात् यथार्थ-वाक्य युक्त होंगी?

व्याख्या—हे मा। मनुष्यों के लिये, आरोपित गुणवर्णनों का नामही स्तुति है। तुममें तो ऐसे किसी गुणका अभाव ही नहीं है कि जिसका आरोप करके वर्णन किया जायगा। देवताओं के लिये स्वरूप, वर्णन ही स्तुति है। तुम्हारे लिये तो सोभी असम्भव है, कारण तुम्हारा स्वरूप तो तुम्हारे व्यतीत और कोई जानताही नहीं है, जान भी नहीं सकता, अथवा जानने के लिये द्वितीय कोई रहता भी नहीं। "वेत्तासि वेद्यञ्च" "सवेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता" (साई जाने जाहि देहु जनाई, जानय तुमही तुमहै हवै जाई) तुम्हारे स्वरूप का वेत्ता द्वितीय कोई है ही नहीं। सुतरां सब प्रकार से ही तुम्हारी स्तुति एकान्त असम्भव है। तुम सर्वस्वरूपा द्योतनशीला हो, स्वभावतः ही तम स्वर्गमुक्ति प्रदायिनी हो, स्वभावतः ही तुम नित्यस्तुता हो, तुहारी फिर स्तुति क्या हो सकती है? वाक्य मन की अगोचरा हो

तुम, सुतरां तुम्हारे सम्बन्ध में हम जो कुछ कहने जायेंगे, सो कभी भी "परमोक्ति नहीं हो सकता।

सर्वस्य बुद्धिरुपेण जनस्य हृदि संस्थिते।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तुते ॥७॥

अनुवाद—हे देवि नारायणि। तुम सर्वजीवों के हृदयमें बुद्धि रुप से अवस्थान करती हो। तुम स्वर्ग एवं मोक्षदायिनी हो, तुमको प्रणाम है।

व्याख्या—हे मा। तुहारी स्तुति करने में हम एकान्त असमर्थ हैं। इसीसे प्रणाम का अभिनय कररहें हैं। यथार्थ प्रणाम तो कब कर सकेंगे, सो तुम्ही जानो कब तुमको प्रणाम करते जाने में, इस देह मन इन्द्रिय में फिर प्रत्यावर्त्तन नहीं करेंगे, कब तुमको प्रणाम करते करते, तुम्हारे परमधाम में—कैवल्य धाम में स्थान प्राप्त करके, सो तुम्ही जानो मा। यथार्थ प्रणाम न कर सकने पर भी, हम प्रणाम के अभिनय करने की चेष्टा करेंगे, फिर तुम्हारी जिस दिन इच्छा हो, उसदिन यथार्य (प्रणाम) प्रणत करा लेना।

मा, तुम सर्व जीवों के अन्तर में बुद्धि रूप से अवस्थिता हो। जो निश्चयात्मिका वृत्ति एक ओर जगत् संस्कार एवं दूसरी ओर निर्गुण आत्मा की प्रतिच्छाया परिग्रह पूर्वक सर्व जीवों के अन्तर में विद्यमान है, उस बुद्धि रूप से भी तो तुम्ही हो मा। तुमको बुद्धिरूप से पाने ही के लिये तो ब्राह्मणगण त्रिसन्ध्या में "धियोयोन, प्रचोदयात्" कहते हुए तुम्हारे निकट से धी भिक्षा करते हैं। यही बुद्धि जब सत्वगुण प्रधान होती है—निर्मल होती है, तब इसके एक ओर स्वर्ग अर्थात ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य, एवं दूसरी ओर अपवर्ग अर्थात् मुक्ति का स्वरूप उद्भासित होता है। जीवन्मुक्त साधकगण इसी बुद्धि में अवस्थान करके ही एक ओर स्वर्गभोग, दूसरी ओर जगदतीत सत्ता का—अपवर्ग का आभास सम्भोग करते रहते हैं। इसीसे तो, तुम बुद्धिरूपसे स्वर्गापवर्गदायिनी मा हो। तुम नारायणी हो प्रति नर

में—प्रति जीव में इस बुद्धिरूपसे तुमही अवस्थान करती हो। नर समूह जिसे अयन अर्थात् आश्रय करके अवस्थित है, सों नारायणी तुमहों। तुम नारायणी हो इसी से तों हम नर हैं। हे नारायणि। तुमकों प्रणाम—कायमनोवाक्य से तुम्हारे चरणोंमें प्रणत होंता हूँ। प्रणाम ग्रहण करों मा, ग्रहण करों।

कलाकाष्ठादिरुपेण परिणामप्रदायिनि।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तुते ॥८॥

अनुवाद तुम कला काष्ठादिरूपसे (काल-परिच्छेदरूपसे) जगतका परिणाम साधन करतो हों। तुमहो इस विश्व की संहारकारिणी शक्ति हों, तुम नारायणी हों, तुमकों प्रणाम।

व्याख्या—मा, तुम काल मूर्त्ति से हमेशा विश्व के परिणाम अर्थात् परिवर्त्तन साधन करती रहती हों। कलाकाष्ठादि तुम्हारी उसी अखण्ड काल मूर्त्तिका कल्पित विभाग है। अष्टादश निमेषों की काष्ठा, त्रिशत् काष्ठा में एक कला, इसी प्रकार पल दण्ड महूर्त्त दिवस सप्ताह मास ऋतु संवत्सर युग कल्प प्रभृति, कितने कितने कल्पित बिमाग हैं। मा, तुम्हारी कालमूर्त्ति अखण्ड—अपरिच्छिन्न होंनेपर मी, हमने उसकी सत्ता की उपलब्धि करने के लिये, पूर्वोक्त प्रकार से कलाकाष्ठादिरूपसे कितने परिच्छेद किये हैं। उसी परिच्छिन्न काल रूप से तुम इस जीव जगत का हमेशा परिवर्त्तन साधन करती हों। इसी कालरूप सें तुम परिणामों के भीतर होंकर विश्वकी उपरति अर्थात् प्रलय साधन करती हो ब्रह्माविष्णु महेश्वरादि ईश्वरगणों की भी प्रलय कारिणी हों तुम। तुम्हारे सामने विश्वकी उपरति अति तच्छ है। मा तुम असीमशक्तिसम्पन्ना होंते हुये भी प्रति नर में नारायणी-मूर्त्ति सें—व्यष्टि मातृ मूर्त्ति सें अवस्थान करती हो, तुम समग्र जगत की मा होते हुये भी प्रति नर की मा हो, इसीसें तुम नारायणी हो, तुमकों प्रणाम है।

सर्व्वमंगल-मंगल्ये शिवे सर्व्वार्थ-साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ।९॥

अनुबाद—तुम सर्व मङ्गलों की मङ्गल कारिणी हो तुम शिवा, (मङ्गलमयी) हो, तुम सर्व्वाभीष्टसाधिका हो, तुम शरण्या (आश्रयणीया) हो, तुम त्रिनयना, तुम गौरी, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मङ्गल शब्द के अनेक अर्थ हैं। अभिप्रेतार्थ सिद्धि का नाम हैं मङ्गल, सबका जो मङ्गल है, वही है मङ्गल्य (स्वार्थ में य प्रत्यय)। अथवा इस जगत् में जो कुछ मगल हैं, उनका भी जो मङ्गल विधान करती हैं, सोई सर्व्वमंगल-मंगल्या हैं। लौकिक मगल आट हैं। ब्राह्मण गो हुताशन हिरण्य सर्पिः आदित्य अप् एवं राजा, ये अष्टविध मङ्गल ही सर्वमङ्गल शब्द का अर्थ है। मा हमारो इन मङ्गलों की भी मंगल बिधानकारिणी हैं। अथवा सर्व्व शब्द का अर्थ है शिव, उनकी मंगल बिधायिनी हैं। इन सब अर्थों को छोड़कर हमने सर्व्व मगलमंगल्या शब्द का और भी एक अर्थ समझा है—सर्व्व ही मंगल है, उसकी मंगल विधायिनी। सर्व्व रूप से जो कुछ उपलब्धि हो रहा है, सो चाहे मिथ्या हो, भ्रान्ति हो, वह चित छोड़कर अन्य कुछ नहीं है, साधक जब इसे समझने लगता है तब उसके समाने सभी मंगल रूपसे प्रतिभात होने लगता है। एकमात्र चित् वस्तु ही तो मंगल है, चित् व्यतीत जो कुछ है सो सभी अमंगल है। चैतन्य का विकाश रहता है तभी तो जीव जीवित अवस्था में मंगल स्वरूप है, इसी से जीवित मनुष्य के नाम के पूर्व मंगल सूचक श्री शब्द का प्रयोग होता है। गतप्राण जीव जो अमंगल स्वरूप है इस सभी जानते हैं। जो हो, सर्व्व जब चित स्वरूपमें उद्भासित होता है तब सभी मंगलमय होता है। तब फिर अमंगल कहने को कुछ नहीं रहता। उस मंगल की जो विधानकर्त्री हैं— जिनके मंगलमय प्रकाश से "सर्व" प्रकाशित है उन्हीं को हम सर्व मङ्गल-मङ्गल्ये कहकर आह्वान करते हैं। जिनके—जिन सच्चिदानन्दमयी के अनुप्रवेश से सर्व्व का

मङ्गलमय भाव है, सो सर्वमङ्गलविधायिनी होकर भी स्वयं मङ्गलमयी हैं, इसीसे देवतागण शिवे कहकर सम्बोधन कररहे हैं। ओ मा! जीव जब तुमको ऐसे भाव से सर्वावस्था में मङ्गलमयी मङ्गलदायिनी कहकर समझ सकता है, तभी सर्वाभिष्ट-साधिका रूपसे तुम्हारा प्रकाश होता है, जीवकी अभिष्ट सिद्धि होती है। जीव तब पूर्णकाम होता हुआ तुम में मिल जाता है।

मा! तुमही शरण्य—जीव की एकान्त आश्रयणीय हो। त्र्म्बके! त्रिनयने! चन्द्र सूर्य एवं अग्निरूप त्रिनेत्र लेकर, स्थूल सूक्ष्म कारण इस त्रिविध प्रकाश को लेकर नित्य ही तुम विराजमान हो और स्मृति कल्पना आशा रूप-भूत भविष्यत वर्त्तमानरूप कलात्रयदर्शी त्रिनेत्र विशिष्ट होकर तुम नित्यही वर्त्तमान हो। मा, तुम गौरी, अति मनोहरा, अति सुन्दरी अति सौम्या हो तुम नारायणी हो तुम्हें प्रणाम।

सृष्टिस्थिति विनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणी नमोऽस्तु ते ॥१०॥

अनुवाद मा, तुम सृष्टि स्थिति विनाश की शक्तिस्वरूपा ह, तुम गुणत्रय की आश्रयस्वरूपा होती हुयी भी गुणमयी हो। तुम नारायणी हो तुमको प्रणाम।

व्याख्या—चैतन्यमयी मा। शक्ति ही तो तुम्हारा स्वरूप है, सो इस जगत के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण में तुम्हारी सृष्टि स्थिति प्रलय मूर्ति के देखने ही से अनायास में समझ सकते हैं। तुमको पकड़ने का वा समझने का यदि कुछ है तो यही त्रिविध प्रकाश है। तुम सनातनी हो। तुम नित्या, अव्यक्तस्वरूपा होने परभी सृष्टि स्थिति और प्रलय मूर्ति से सर्वत्र उद्भासित होरही हो पुराण और तन्त्र शास्त्रो में वर्णित है—महाकालीसे ही, ब्रह्मा विष्णु और शिव का जन्म हुआ है, मा सत्यही तो तुमसे सृष्टि स्थिति प्रलयरूप त्रिविध शक्ति का

प्रकाश होता है। ये त्रिविध शक्ति वास्तव में विभिन्न तीन शक्ति नहीं एकही चिति शक्ति का त्रिविध स्पन्दन मात्र है। उस शक्ति का स्वरूप क्या है, सो एकान्त अव्यक्त होने पर भी, इस त्रिविध स्पन्दन के द्वारा ही उसकी सत्ता उपलब्धि योग्य होती है। हे मा ! तुम्हारा यह अव्यक्त शक्ति स्वरूप जिस प्रकार व्यक्तभावापन्न होता है, उसकी ओर लक्ष्य करके ही देवतागण कहते हैं—तुम गुणाश्रया, तुम गुणमयी हो। सत्व रजः तमः, इस त्रिगुणका आश्रय करके ही तुम्हारा यह त्रिविध स्पन्दन है। अथवा तुम्हारे स्वेच्छाकृत ये ही त्रिशक्ति त्रिगुण आख्या पाती है। गुणत्रय जब तुम्हारे आश्रय से प्रकाशित होता हैं, तो तुमही स्वयं गुणमयी होकर नारायणी मूर्त्ति से हमको अङ्क में धारण किये हो। मा तुमको प्रणाम। हे मा। हमको इस गुणमयी अवस्था में अपनी उसी सनातनी स्वरूप में—जहाँ पर सृष्टि स्थिति प्रलय का त्रिविध आवर्त्तन (चक्कर) नहीं है, वहीं पर ले चलो मां वहीं पर ले चलो।

——

शरणागतदीनार्त्त-परित्राण परायणे।
सर्व्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥११॥

अनुवाद—मा, तुम शरणागत दीन एवं आर्त्त जनों की परित्राण-परायणा हो। तुम सबकी आर्त्तिहरणकारिणी देवी हो, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा। जिस दिन जीव तुम्हारे चरणों में शरणागत, तुम्हारे अभाव से दीन एवं तुम्हारे विरह से आर्त्त हो सकता है, उस दिन ही तुम्हारे पूर्वोक्त त्रिशक्तिमयी त्रिगुणमयी स्वरूप की उपलब्धि करने में समथ होता है। और उसीदिन मा तुम भी सत्य सत्यही परित्राणपरायणा मूर्त्ति से आत्मप्रकाश करके जीव की समस्त आर्त्ति को दूर कर देती हो, तब जीव की जन्ममृत्युरूप संसारार्ति, अनन्त जीवनों का कातर क्रन्दन, हमेशा के लिये निवृत्त हो जाता है। मा, तुम्हारे चरणों में शरणागत हो सकने ही से जीव तुम्हारी प्रथम शक्ति

को अर्थात् सत्वगुणमय स्वरूप को अवधारण कर सकता है। तुम जो एकमात्र आश्रय, तुम्हारी सत्ता ही से यह जगतकी सत्ता है, इसे समझ के, सत्य सत्यही सर्व्वधर्म परित्याग पूर्वक तूम्हारे शरणागत होता है, तुम्हारे सत्वगुणमय स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है।

तब जीव को दीनता आती है। अनन्त ऐश्वर्य्यमयी तुम्हारी,——कोटि ब्रह्माण्डों की अधीश्वरी तुम्हारी लीलाविलास का दर्शन करने ही से जीवकी स्वकीय (अपनी) दीनता सम्यक् रुपसे परिष्फुट हो उठती है। मैं कितना दीन, कितना अभावग्रस्त हूं, जीव उसे समझने लगता है। "हमारी मा अनन्त ब्रह्माण्डों की अधिश्वरी है" इसे समझने लगने ही का नाम तुम्हारी द्वितीयशक्ति की अर्थात् रजोगुणमय स्वरुप की उपलब्धि है। अपनी दीनता यथार्थभाव से उपलब्धि करने की सामर्थ्य आनेही से, मातृ-ऐश्वर्य बोध किया जाता है। ना ना, मातृ ऐश्वर्य की अनुभूति ही आत्म-दीनता प्रतीति की हेतु है। मा जीव सन्तान गणोंको अपने चित्स्वरुप की विशेषभावसे उपलब्धि करानेही के लिये तो तुम्हारी रजोगुणमयी इस ईश्वरीमूर्त्ति का विकाश हुआ है।

इसकेबाद आर्त्त। तुम्हारे निरवच्छिन्न आनन्दमय स्वरुप को उपलब्धि करने के लिये जीव को आर्त्त होने होता है। इस जगत की किसी भी वस्तु में तो आनन्द नहीं है, आनन्द की भंडार तो एक मात्र तुम्ही हो, इसके समझ लेने का ही तो वहिर्लक्षण है जीवका आर्त्तभाव। तुम्हारे अभाव के लिये जो विरह वेदना है, वही तो यथार्थ आर्ति है। इस प्रकार आर्त्तभाव उपस्थित होने ही से जीव तुम्हारे आनन्दमय स्वरुपका वा तमोगुणमयी मूर्त्तिका साक्षात्कार करके धन्य होता है, निरानन्द के परपार चला जाता है।

मा, जब हम "निराश्रयं मां जगदीश रक्ष" कहते हुये एकान्त निराश्रय बोधसे तुम्हारे अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं--शरणागत होते हैं, अर्थात् मैं अब जो तुम्हाराही एकान्त आश्रित हूं, इसबात को भली प्रकार समझ सकते हैं, तबही तुम्हारा सत्स्वरूप हमारे सामने

अद्भासित होता है —हम सत्यप्रतिष्ठ होते हैं। बाद में ब्रह्माण्डमय तुम्हारा अनन्त ऐश्वर्यविलास प्रत्यक्षकरके, जब हम अपनी दीनता विशेषभाव से अनुभव करसकते हैं, जब उत्तराधिकार सूत्र से तुम्हारे उस ऐश्वर्यसम्भार को प्राप्त करने के लिये लालायित होते है, तबही तुम्हारा चित् स्वरूप उतभासित हो उठता है। तब तुमको सर्वत्र प्राण रुपसे— चैतन्यरूप से दर्शन करते हुए हम प्राणप्रतिष्ठ होते हैं। और सर्व शेषमें जब यह जन्म मृत्यु, यह, देहधारण, यह चाञ्चल्य यथार्थ ही प्राणों के भीतर एक आर्ति को फूटाने में समर्थ होते है, तबही देखते हैं—तुम आनन्दघन मूर्ति से नित्यही उद्भाषित हो रही हो। तुममें वा हममें आनन्द का अभाव वा चाञ्चल्य किसी भी कालमें नहीं। तुम हम नित्य स्थिर, नित्य आनन्दमय हैं। हे मा, हे नारायणि, हे आर्त्रिहारिणि, तुमको प्रणाम है। तुम हमें इसी प्रकार से पहिले शरणागत दीन एवं आर्त्त करलो, फिर सत्य में प्राणमें और आनन्द में प्रतिष्ठित करो हमारा प्रणाम सार्थक हो। हे मां! जब तक हममें ये तीन लक्षण प्रकाशित नहीं होंगे, तबतक तो तुम्हारी परित्राण परायणा मूर्त्ति के प्रत्यक्ष करने की आशा ही नहीं। इसीसे तुम अकृतिसन्तान को अपने आत्मप्रकाश के योग्य कर लो—शरणागत दिनार्त्त करलो।

हंसयुक्तबिमानस्थे ब्रह्माणी रुपधारिणि।
कौसाम्भःक्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ।१२।
त्रिशूल चन्द्राहिधरे महावृषभवाहिनी।
माहेश्वरीस्वरूपेण नारामणि नमोऽस्तु ते ।१३।
मयूरकुक्कुटवृते महाशक्तिधरेऽनघे
कौमारीरूपसंस्थाने नारायणि नमोऽस्तु ते ।१४।

अनुवाद—मा, तुम हंसमुक्त विमान में अवस्थान करती हुई ब्रह्माणीरूप धारण पूर्वक कमण्डलु स्थित कुशपूत वारि क्षरण करती हो। तुम नारायणी हो तुमको प्रणाम। तुम त्रिशूल, चन्द्र एवं सर्प धारण करती हुई महावृषभपर आरोहणपूर्वक माहेश्वरी स्वरूपसे आविर्भूत होती हो। हे नारायणी, तुमको प्रणाम है। तुम मयूरपुच्छ-परिशोभिता महाशक्तिधारिणी कौमारी रूपसे प्रकाशित होती। हो हे नारायणी, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, तुम ब्रह्माणी हो। विराट मनरूपसे इस विश्व कल्पना को तुमही धारण करती हो। जीवभावीयव्यष्टिमन तुम्हारा हंसयुक्त विमान है। कौशाम्भः (कमन्डलु स्थित कुशपूत बारि) क्षरण करती हो! विराट कर्माशय में से जैसे संकल्प-शक्ति की अनु-प्रेरणा करती हो जीब-कर्माशय में से वैसे ही कर्म का स्फुरण होता है। तुम जीव को जब जैसे कर्म के सन्मुखीन करती हो जीव तब तैसे ही कर्म में अभिमान करता है। तुम्हारे इस कोशाम्भः क्षरण व्यतीत जीव के कर्म पिपासा की निवृत्ति नहीं होती। तुम देवी द्योतनशीला स्वप्रकाशरूपा नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

हे मा! तुम माहेश्वरी मूर्त्ति से त्रिपुटीज्ञानरूप त्रिशूल, मनोरूप चन्द्र एवं कुलकुण्डलिनीरूप अहि (सर्प) धारणपूर्वक धर्मरूपी महा-वृषभपर आरोहण पूर्वक आविर्भूत होती हो। तुम प्रति नर मे ही इस प्रकार आत्मप्रकाश करती हो, हे नारायणि तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

मा, तुम मयूर-कुक्कुटवृता मयूरपुच्छ अथबा श्रेष्ठ मयुर परि-शोभिता हो। (कुक्कुट शब्द का अर्थ पुच्छ बा श्रेष्ठ) मा जीव जब मयूरधर्मी होता है—कुटिल बृत्तिरूप भुजङ्ग का विनाश करने को उद्यत होता है तब श्रेष्ठ मयूर परिशोभित कौमारी रुप से आबिर्भूत होकर अमर (देब) सैन्यगणों का परिचालनभार ग्रहण पूर्वक असुर कुल विनाश करने को उद्यत होती हो। जीब सन्तान तब असुरभीति से परित्राण पाते है। मा तुम स्वयं अनघा—अघ (पाप) रहिता हो,

इसीसे तुम्हारे दर्शन से जीव भी अनघ होते हैं—निष्पाष होते है। भेद ज्ञानका नाम ही है अघ द्वैतप्रतीति ही यथार्थ पाप है। मा, तुम्हारे दर्शन से जीवों की द्वैतप्रतीति का बिलय होता है। जीव ब्रह्म हो जाता है। जीवत्व रूप पाप हमेशा के लिये विनष्ट हो जाता है तुम नारायणी तुमको प्रणाम।

———

शङ्खचक्र गदा शार्ङ्ग गृहीत परमायुधे।
प्रसीद वैष्णवीरूपे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१५॥
गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रोद्धृत बसुन्धरे।
बराह रुपिणी शिवे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१६॥
नृसिंह रुपेणोग्रेण हन्तुं दैत्यान कृतोद्यमे।
त्रैलोक्यत्राणसहिते नारायाण नमोऽस्तु ते ॥१७॥

अनुवाद—मा, तुम शङ्ख, चक्र गदा एवं शार्ङ्ग धनुरूप श्रेष्ठ आयुध धारिणी वैष्णवी हो, तुम प्रसन्न होओ? हे नारायणि, तुम को प्रणाम। तुमने वराहरूप से भीषण महाचक्र धारण एवं दंष्ट्रोंद्वारा वसुन्धरा का ऊद्धार किया है। हे शिवे, हे नारायणि, तुमको प्रणाम। तुम अति उग्र नृसिंह रूप धारण पूर्वक दैत्य कुल के निहत करने को उद्यत हुई थीं, तुम त्रैलोक्यत्राणकारिणी हो तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा वैष्णबी वाराही एवं नारसिंही, इन तीनों ही रूप से हम विष्णुशक्तिरूपिणी तुम्हारी विशेष अभिव्यक्ति देखते हैं। महाप्राण रूपिणी महती स्थिति शक्ति तुम शङ्ख चक्र गदा एवं शार्ङ्ग धनुः धारण किये हुवे हो, अर्थात् व्यक्त एवं अव्यक्त नादमय इस संसार चक्र को स्नेहमय प्रणवाकर्षण से दिन दिन मोक्षाभिमुखी कर रही हो। सूरिगण अहर्निश तुम्हारे इस विश्वव्यापी परमपद को आकाशव्यापी दृक्शक्ति की तरह अवलोकन करते हैं। साधकगण भी आचमन की सहायता से स्वकीय व्यष्टि भाव को तम्हारे ही

परमपद के साथ सम्बन्ध विशिष्ट करने के प्रयासी होते हैं। तुम नारायणी हो, प्रति नर तुम्हारे ही एकान्त आश्रित है, तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम। प्रसीद—तुम प्रसन्न होओ।

माँ, तुम यदि बाराही मूर्त्ति से प्रलयपयोधिजल से निमग्न इस वसुन्धरा का उद्धार न करतीं, अर्थात् अव्यक्त—विश्वबीज को व्यक्त अवस्था में न लातीं, तो यह वसुन्धरा, यह चराचर कितने काल अज्ञान तिमिर में सुषुप्त रहता उसका कौन निर्णय कर सकता है? जीव समूह काम-कर्ममय इस स्थूल भाव का अवलम्बन करके ही जाने किंवा अजाने में मङ्गल की ओर—मोक्ष की ओर अग्रसर हो रहा है, यह तुम्हारी ही कृपा है। तुम शिवा—मङ्गलमयी नारायणी हो, तुम को प्रणाम।

हे माँ! इस बाराही मूर्त्ति के साथ ही साथ तुम्हारी नारसिंही मूर्त्ति का स्वरूप हमारे स्मृति पट पर फूट उठता है। ओफः! वह कैसा उग्र रूप था मा। दैत्य कुल निहत हुआ। हिरण्यकशिपु की स्थूल देह पर्य्यन्त तुमने स्वहस्त से खण्ड खण्ड कर दी, त्रिलोक ने असुर अत्याचार से परित्राण प्राप्त किया।

माँ, एक दिन तुम ने प्रह्लाद के प्रबल सत्यज्ञान के प्रभाव से जड़ स्फटिक स्तम्भ भेद करके स्वकीय चैतन्यमय स्वरूप को उद्भासित किया था। आज इस जड़त्व के युग में इस अनुभूतिहीन प्राणहीन मृत-कर्मानुष्ठान के युग में तुम एक बार फिर सत्यमुर्त्ति से प्रकटित होओ। जीवों के जड़बुद्धि रूप स्फटिक स्तम्भ को भेद करके चैतन्य मय आतम स्वरूप को उद्भासित करो, जीवों का संशय तिरोहित होवे। मनुष्य जड़त्व का मोह परित्याग पूर्वक चैतन्य में प्रतिष्ठित हों; फिर से सत्य का प्राणों का आनन्द का प्रवाह आकर जगत् को परिप्लावित कर दे। जगत् फिर से सत्य सत्य ही देवतावृन्दों की न्याई तुम को नारायणी मुर्त्ति से सर्वत्र सर्वदा दर्शन करके "नमोऽस्तू ते" कहता हुआ प्रणत हो? मा, सन्तान की यह आशा कितने दिनों में पूर्ण होगी?

किरीटिनी महावज्रे सहस्र नयनोज्ज्वले ।
वृत्रप्राणहरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१८॥
शिवदूतीस्वरूपेण हतदैत्यमहाबले ।
घोर रूपे महारावे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१९॥
दंष्ट्रा कराल वदने शिरोमाला विभुषणे ।
चामुण्डे मुण्डमथने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२०॥

अनुवाद—मा, तुम किरीटधारिणी, महावज्रधारिणी, सहस्र-नयन-परिशोभिता वृत्रप्राण-हरणकारिणी इन्द्राणी हो। तुम नारा-यणी हो, तुमको प्रणाम। तुमने शिवदूती रूप धारण करके दैत्य सैन्यगणों को निहत किया है। तुम भयङ्करी एवं घोर निनादकारिणी हो। तुम नारायणी हो, तुम को प्रणाम। हे चामुण्डे। तुम दंष्ट्रा कराल वदना हो, तुम्हारा विभूषण नरमुण्डमाला है, तुम मुण्डासुर मथन कारिणी हो, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, निर्मल ज्ञान-रत्नस्वरूप किरीट तुम्हारा शिरोभूषण है, इसीसे तुम किरीटिनी हो। फिर तुम ही महावज्रधारिणी हो। श्रुति कहती है—"महद्‌मयं वज्रमुद्यतम्।" मा, तुम महद्‌मय रूप वज्र उद्यत किये हुए हो। तुम्हारे ही भय से सूर्य उदय होता है, तुम्हारे ही भय से वायु प्रवाहित होती है, तुम्हारे ही भय से अग्नि ताप देती है, तुम्हारे ही भय से मृत्यु धावित होती है, तुम्हारे ही प्रशासन से यह विश्व नियन्त्रित है। यही तो मा तुम्हारी वज्रधारिणी मूर्त्ति का स्वरूप है।

तुम सहस्र नयनोज्ज्वला हो। असंख्य नेत्र हैं तुम्हारे—विश्वत-श्चक्षु हो तुम मा, प्रत्येक जीव, प्रत्येक क्षुद्रतम परमाणु पर्य्यन्त तुम्हारे उन चक्षुओं में—उस तीक्ष्ण दृष्टि में उद्‌भासित है? तुम्हारे अगोचर कहीं कुछ नहीं है। मा, अपनी स्नेहभरी सन्तान मनुष्यगण को कहो, वे जिससे सत्यच्युत होकर, असत्य के आश्रय में रहकर, तुम से छिपाकर कोई काज न करें। तुम जो विश्वतश्चक्षु रूप से

सर्वत्र अवस्थित हो, अन्तर से अन्तरतम प्रदेश में भी तुम्हारी सब प्रकाशक दृष्टि प्रसारित हो रही है, इस बात को स्मरण रख सकने से, फिर कोई असत्य मार्ग में धावित नहीं होगा। सभी सत्यपरायण होंगे, सुतरां सभी के हृदय की संकीर्णता दूर हो जायेगी।

मा, तुम वृत्रप्राणहारिणी इन्द्राणी हो। अनात्मबोधरूपी वृत्रासुर तुम्हारे ही वज्र प्रहार से निहत होता है। ब्राह्मण के अस्ति द्वारा निर्म्मित तुम्हारा वज्र है। ब्राह्मण ही मूर्त्तिमान् ब्रह्म है—जगत के एकमात्र धर्त्ता है। मा इस ब्राह्मण के अस्थि के बिना तुम्हारा वज्र निर्म्मित नही होता। ब्राह्मण के स्थूल शरीर का प्रत्येक क्षुद्रतम अश पर्य्यन्त निर्मल ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से उद्भाषित—विशुद्ध है। सुतरां केवल ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही जो ब्राह्मणगण जगत् को धारण किये हुए हों सो नहीं, उनकी भौतिक देह की अस्थि पर्य्यन्त असुर भावों का विनाश करने में समर्थ है—जगत के मंगल साधन में समर्थ है। केवल इसी बात को समझाने के लिये क्या तुमने ब्राह्मण की अस्थि द्वारा वज्र निर्माण करके असुर निधन किया था? सत्य ही मा ब्राह्मण का अस्ति बिना असुरधातक वज्र निर्मित नहीं होता तभी तो जगत् में आज तक एक मात्र ब्राह्मणगण ही असुर घातन में समर्थ हैं। ब्रह्मज्ञान के आचार्य रूप से—आसुरिक भाव समूहों के दलनकारी रूप से इस जगत में एकमात्र ब्राह्मण ही नित्य विद्यमान है। हे मां! ब्राह्मण ही तूम्हारे इस सृष्टि प्रपञ्च के गौरव के स्थानीय हैं। तूम जो मा हो, सो तूम्हारे इन ब्राह्मण सन्तान द्वारा ही जगत में प्रचारित और प्रतिष्ठित है तुम इन्द्राणी हो, तूम्हीं नारायणी हो, तूम को प्रणाम।

मां, तूम शिवदूती हो, शुम्भ बध के उपक्रम में ईशान को दूत रूप से नियुक्त करके तूम शिवदूती नाम से आख्यात हुई हो। भीषण असुर संग्राम में तूमने असंख्य असुर निधन किये हैं। तुम्हारी घोरामूर्त्ति के दर्शन से, और भयंकर नाद के सुनने से एकान्त भयातूर असुरभाव समूह शीघ्र ही बिलय को प्राप्त होते है। तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

मां, तूम चण्डमुण्ड की निधन कारणी चामुण्डा हो। तुम्हारे दंष्ट्रा कराल मुख मण्डल में द्वैत प्रतीतिरुप दैत्यकुल प्रविष्ट होकर साधकों को अद्वय ज्ञान प्रकाश का सुयोग कर देता है। तूम पञ्चाशत् मुण्डमालिनी हो। पञ्चाशत्-मातृकावर्ण रूप नरशिरोमाला तूम्हारे कण्ठदेश में बिलम्बित है। तूम नारायणी, तूमको प्रणाम।

मां तूम इसी प्रकार ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी प्रभृति अष्टशक्ति रुप से प्रकाशित होकर हमारी घृणा लज्जा प्रभृति अष्ठपाशरूपी असुरकुलको बिलय कर देती हो। और अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य की आकांक्षा को भी विमर्दित करती हुई—सुदुर्लभ ईश्वरत्व प्राप्ति के प्रलोभन को भी विदूरित करती हुई, हमको अद्वयतत्वमें—विशुद्ध बोध स्वरूप में उपनीत करती हो। मा तुम्हारा यह अष्टविध शक्ति का प्रकाश जीवत्व के अष्टपाश को छिन्न करके, ईश्वरत्व के अष्ठऐश्वर्य को तृणीकृत करता हुआ, हमको मुक्ति के मन्दिर में पहुँचा देता है ? तुम प्रति नर में ऐसे ही भाव से स्नेहमयी जननी रूप से आत्मप्रकाश करती हो, इसीसे तुम नारायणी हो। तुम्हारे चरण में कोटि प्रणाम। आशा है—एक दिन तुम सत्य सत्य ही प्रति जीव में, इस नारायणा मूर्त्ति से दर्शन दोगी।

लक्ष्मी लज्जे महाविद्ये श्रद्धे पुष्टि स्वधे ध्रुवे।
महारात्रि महाऽविद्ये नारायणि नमोऽस्तुते ॥२१॥
मेधे सरस्वति वरे भूति वाभ्रवि तामसि।
नियते त्वं प्रसींदेशे नारायणिनमोऽस्तुते ॥२१॥

अनुवाद—तुम लक्ष्मी लज्जा महाविद्या श्रद्धा पुष्टि स्वधा महा-रात्रि एवं महा-अविद्या हो, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम। मा, तुम मेधा सरस्वती वरा भूती वाभ्रवी तामसी एवं नियता हो तुम प्रसन्न होओ। हे ईशे, हे नारायणि, तुमको प्रणाम।

व्याख्या मा, तुम लक्ष्मी-प्राणस्वरूपिणी सौन्दर्य्यरूपिणी, सम्पद्-रूपिणी हो, तुम लज्जा—निन्दितकार्य-वैमुख्यरूपा हो, तुम महाविद्या-काली तारादि दशमहाविद्या, अथवा महती श्रेष्ठा ब्रह्मविद्या हो, तुम श्रद्धा—सत्यनिष्ठा, गुरुवेदाप्तवाक्य में दृढ़प्रत्यय रूपा हो; तुम पुष्टि-पञ्चकोष की परिपूर्णता रूपिणी हो, तुम स्वधा-श्राद्धादि पितृकृत्य-रूपा हो, तुम ध्रुवा—निश्चला हो, तुम महारात्रि—प्रलयरूपा अज्ञान-रूप हो; तुम महा-अविद्या—अनात्मप्रत्ययरूपा हो, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

मा, तुम मेधा—धारणवती बुद्धि ब्रह्मविधा धारण की सामर्थ्य रूपा हो, तुम सरस्वती—विशुद्ध ज्ञानरूपा ब्रह्मविद्या हो, तुम वरा—श्रेष्ठ वरप्रदा हो, तुम भूति-सत्वगुणस्वरूपा हो, तुम बाभ्रवी—राजोगुणस्वरूपा हो तुम तामसी—तमोगुणस्वरूपा हो, तुम नियता-निश्चयात्मिका वृत्तिरूपा हो। मा तुम प्रसन्न होओ। ईशा—ईश्वरी जगत की सृष्टि स्थिति प्रलयकत्री होते हुये भी, प्रति नर में विशिष्ट भाव से नारायणी मूर्ति से विराजिता हो। तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

——

सर्व्वस्वरूपे सार्व्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवी नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अनुवाद—हे देवी! सर्व्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी एवं सर्वशक्ति-समन्विता हो। तुम हमारा भय से परित्राण करो। हे दुर्गे देवी! तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, देवतागण तुम्हारा स्तव करते करते तुम्हारी ब्राह्मी प्रभृति अष्टशक्ति, एवं लक्ष्मी लज्जा प्रभृति विशेष विशेष स्वरूप लक्ष्य करके पुनः प्रणाम किये हैं। "प्रसीद" कहकर कातर प्राणों से तुम्हारी प्रसन्नता की प्रार्थना की है। अब 'सर्व-स्वरूपे सर्वेशे कह कर तुम्हारी प्रसन्नता का लक्षण प्रकाश कर रहे हैं। तुम्हारे प्रसन्न

होने से जीवों के सामने तुम्हारे जो तीन स्वरूप उद्भासित होते हैं, अब उसे स्मरण करके देवतागण प्रणाम कर रहे हैं।

मा, तुम सर्वस्वरूपा हो। हमारा परिदृश्यमान यह जो सर्व है, अर्थात् प्रतिनियत हम जिस बहुत्व का वा सर्वत्व का अनुभव करते हैं यह सर्व ही तुम्हारा प्रथम स्वरूप हैं। यही तुम्हारी स्थूल देह है जो सन्तान तुम्हारी इस सर्वस्वरुप मूर्ति को सत्य सत्य ही तुम्हारी स्थूल देह रुप से परिग्रह कर सकते हैं, उन्ही के सामने तुम्हारी द्वितीय स्वरूप सर्वेश्वरी मूर्त्ति उद्भासित होने लगती है। इस सर्व की—इस बहुत्व की सृष्टि स्थिति प्रलयकर्त्री ईश्वरी रूप से तुम उनके सामने आत्मप्रकाश करती हो? यही तुम्हारा सूक्ष्म शरीर। इस प्रकार सन्तान तुम्हारी ईश्वरी मूर्ति का साक्षात्कार लाभ करके; जीवत्व के क्षुद्रत्व के मोह से परित्राण पाते हैं। तब तुम अपना तृतीय मूर्त्ति—सर्वशक्ति-समन्वित-स्वरूप को उद्भासित करती हो! सर्वरूप से जो शक्ति प्रकाशित है, एवं सर्व को सृष्टि-स्थित्यादिकर्त्रीरूप से—सर्वेश्वरीरूप से जो शक्ति प्रकाशित है, सो सब जहा पर समन्वय को प्राप्त होती है, जहां पर शक्ति रूप से किसी का भी विकास नहीं, अथच सर्वशक्ति जिसमें समन्वित हैं, वही है तुम्हारा तृतीय स्वरूपा सर्वरुप से जिसकी प्रतीति होती है, वह शक्ति व्यतीत अन्य कुछ नहीं है, इसे हम तुम्हारी कृपा से इससे पूर्व समझ चुके हैं। माँ यह सर्व शक्ति समन्वित स्वरूप ही तुम्हारा कारण शरीर बोला जाता है। वह ब्रह्म परमात्मा निरञ्जन इत्यादि आख्याओं से परिचित होता है। तुम्हारे ये तीनों स्वरूप ही युगपत् (एक साथ) तूल्य (समान) सत्य हैं। उपनिषत अर्थात् श्रुति वाक्य समूह ने तुम्हारे इन्हीं तीन स्वरूपों की बात ही समान भाव से कीर्तन की है। भगवद्गीता में भी क्षर अक्षर एवं पुरुषोत्तम रूप से तुम्हारे त्रिविध स्वरूप का उल्लेख किया है। तब हाँ आधुनिक मायावादीगग मात्र तुम्हारे निर्गुण स्वरूप को सत्य स्वीकार करके, अपर दो स्वरूपों का मिथ्यात्व कीर्त्तन किये हैं उससे भी हानि कुछ नहीं हुई। सत्य ही तो माँ तुम्हारे निरञ्जन स्वरूप

में जगत नामक कुछ नहीं हैं, सुतरां जगदीश्वर कहने को भी कुछ नहीं रह सकता। आचार्य भाष्यकार ने इसी निर्गुण स्वरूप को विशेष भाव से समझाने के लिये प्राणपण से अपर दो स्वरूपों का अकिञ्चितकरत्व प्रतिपादन किया है। सो जो भी हो मा। तुम हमार सामने तो त्रिविध स्वरूप से ही तुल्य (समान) सत् हो। "भयेभ्यस्त्राहिनो देवि" तुम हमारा भय से परित्राण करो। मेरे एका का नहीं, "नः"—हमारा सबका भय दूर करो मा, सबका भय दूर करो। जन्म मृत्यु विलष्ट अल्पज्ञ संसार भय से भीत निराश्रिय जीवगणों का भय हरण करने में एकमात्र तुम ही समर्था हो, माँ तुम दुर्गा—दुर्गतिहरा हो, हमारी यह जीवत्व रूप दुर्गति हरण करो। तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

——

एतत्ते वदनं सौम्यं लोचनत्रय भूषितम्।
पातु नः सर्व भुतेभ्यः कात्थायनि नमोऽस्तु ते ॥२४॥

अनुवाद—हें माँ, तुम्हारा लोचनत्रय-विभूषित यह मनोज्ञ मुख मण्डल हमारी सर्वभूतों से रक्षा करे। हें कात्यियिनी! तुमको प्रणाम!

व्याख्या—मा, त्रिलोक प्रकाशक त्रिकालदर्शी नयनत्रयभूषित केवलानन्द स्वरूप सर्व मनोहर तुम्हारा मुखमण्डल हमको सर्वभूतों से रक्षा करे। एकमात्रआनन्दस्वरूप तुम ही तो स्थूल में सर्वरूप से सूक्ष्म में सर्वेश्वरी रुप से एव कारण में सवशक्तिसमन्वित निरञ्जन स्वरूप से नित्य प्रकाशित हो, यह बात जीव जब तुम्हारी कृपा से सम्यक् रूप से उपलधि कर सकता है तभी उसका सवभूतों का धाँधाँ कट जाता है। ये सर्व भूत हैं, ऐसा अज्ञान विदूरित हो जाता है। भूत कहने को पृथक कुछ भी नहीं है, इसे समझने लगता है। आनन्दमयी तुमको ही सर्वभूतों रूपों से अभिव्यक्त हो, इसकी उपलब्धि कर सकने ही से भूतों का भय हमेशा के लिये विदूरित हो जाता है। अरी। तूम मेरी

मेरी नहीं—हमारी सवो की सर्वरूप भूत से रक्षा करो। एकमात्र आनन्द वस्तु ही तो सर्वरूप से प्रकटित है, इसे हमारे रोम रोम में समझा दो। मां! तुम कात्यायनी; ब्रह्मविद् पुरूषों की एकान्त आश्रयणीया हो। कात्यायन ऋषि ने जैसे तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त की थी, मा; हमारे प्रति भी तुम तैसे ही प्रसन्न होओ। तुमको प्रणाम।

ज्वालाककरालमत्युग्रमशेषासुरसूदनम्।
त्रिशूलं पातुनो भीतेर्भद्रकाली नमोऽस्तु ते ॥२५॥
हिनस्ति दैत्यतेजांसि स्वनेनापूर्य्य या जगत्।
सा घन्टा पातु नो देवि पापेभ्योऽनः सुतानिव ॥२६॥
असुरासृग् बसा पङ्कचर्चितस्ते करोज्ज्वलः।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम्। २७॥

अनुवाद— हे भद्रकालि। ज्वाला-कराल (अग्निशिखा द्वारा भीषण) अति उग्र एवं अशेष असुरनाशकारी, तुम्हारा त्रिशूल हमारी भय से रक्षा करे। जिसकी ध्वनि ने जगत् परिपूर्ण करके दैत्यकुल का तेज क्षय किया था, हे देवि, तुम्हारा वही अनः अर्थात् मातृसदृशी घन्टा, हमको पुत्र की नाईं पाप से रक्षा करे। असुरों के असृक् एवं वसारूप पंक से लिप्त तुम्हारे करशोभित खड्ग हमको शुभदायक हो। हे चण्डिके! हम तुमको प्रणाम करते हैं।

व्याख्या— इन तीन मन्त्रों में त्रिशूल घन्टाध्वनि एवं खड्ग, इन तीनों अस्त्रों के पास भय से परित्राण एवं मङ्गल प्रार्थना की गई है। त्रिपुटी ज्ञान, अनाहत नाद एवं अनात्मप्रतीति विलय कारक प्रज्ञा यही तीन विशेष रूप से असुरभावसमूहों का विनाश करते हैं, इसीसे देवतागण उनसे मंगल प्रार्थना करते है।

मा! तुम स्वयं हमारी रक्षा करती हो, तुम्हारे अस्त्र शस्त्र समूह भी हमारी पुत्र की न्याईं रक्षा करें। उन्हीं ने इसके पूर्व असुर भावों

के समूह को विनष्ट करके जीवत्व के महानिगड़ से हमको विमुक्त किया है। वे अब भो समस्त प्रारब्ध क्षय पर्य्यन्त ठीक इसी प्रकार हमारी असुर अत्याचारों से रक्षा करें। मा! जब तुम स्वयं चण्डिका मूर्ति से प्रकटित होती हो, तभी तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र, तुम्हारी विभिन्न शक्ति हमारी रक्षा करने के लिये असुर कुल को विनष्ट करने में उद्यत होते हैं, सुतरां तुम्हारी चण्डिका मूर्ति को ही लक्ष्य करके हम विशेष भाव से प्रणत होते हैं—"चण्डिके त्वां नता वयम्।"

साधक, इस प्रकार अस्त्र शस्त्रों से प्रार्थना अस्वाभाविक नहीं है वैदिक युग के सत्यदर्शी सरल प्राण ऋषिवृन्दों के हृदय में ऐसा प्रार्थना भाव स्वतः ही उदभूत होता था। इससे वे संकीर्णहृदय वा बद्धजीव नाम से परिचित नहीं होते थे। आजकल कैसा एक निष्काम शब्द का सुर उठा है, वह तो तामसिक-प्रकृति जीवों की अलसता ही की सूचना करता हैं! निष्काम क्या वस्तु हैं, जो उसे यथार्थ उप-लब्धि कर सकते हैं, सोई सरल प्राणों से प्रार्थना करने में समर्थ हैं। अज्ञ वा सकाम व्यक्ति की प्रार्थना ही नहीं होती। प्रार्थना से इस जगत की सृष्टि हुई है, प्रार्थना से जगत अवस्थित है, और प्रार्थना ही के फल से जगत आनन्दमय ब्रह्मसत्ता में विलीन हो जाता है। सृष्टि स्थिति प्रलय, जीव जगत् बन्धन मुक्ति, सभी प्रार्थना मूलक है। प्रार्थना भिक्षा नहीं है। प्रकृष्ट रूप से अर्थना कर सकने से, समस्त कामना ही सिद्ध होती है। जो ईश्वर सत्ता में एकांत विश्वासवान हैं, जिनका ईश्वर की सर्वशक्ति सत्ता में अविचलित विश्वास प्रतिष्ठित हुआ है, सोई प्रार्थना करने में समर्थ है। ठीक ठीक प्रार्थना कर सकने से, उसकी सफलता अवश्यम्भावी है। प्रार्थना से साधना में कुछ भी व्याघात नहीं होता। प्रार्थना ही तो यथार्थ साधना हैं। किन्तु ये सब बातें यहां अप्रासङ्गिक हैं।

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ॥

अनुवाद—मा, तुम तुष्ट होकर अशेष रोग दूर करती हो, और रुष्ट होकर समस्त अभीष्ट विनाश करती हो। तुम्हारा आश्रय लेने से मनुष्य को कोई बिपद नहीं रह सकती, जो तुम्हारे आश्रित हैं, सोई यथार्थ आश्रयता प्राप्त होते हैं (अर्थात् अन्यों के आश्रयनीय होते हैं)।

व्याख्या—मा, तुम्हारी तुष्टि रुष्टि दोनों ही हमारी मंगलदायक हैं। जब तुम्हारी तुष्टि होती है, अर्थात् नित्य तुष्टा तुम्हारे तुष्ट भाव की जब हम विशेष भाव से उपलब्धि कर सकते हैं, नित्य प्रसन्ना मा, जब तुम्हारी प्रसन्नता हमारी प्रतीतियोग्य होने लगती है, तब ही हम अशेष रोगों से विमुक्त होते हैं। स्थूल देह के रोग त्रिविध हैं। आध्यात्मिक—वात पित्त श्लेष्मा के असाम्य-निवन्धन से, आधि-दैविक—शीतोष्ण वातबर्षादि निबन्धन से एवं आधिभौतिक—व्याघ्र तस्करादि दंशमशकादि निबन्धन से स्थूल देह में जो सब विकार उपस्थित होते हैं, वही स्थूल के त्रिविध रोग बोलकर कथित हैं। सूक्ष्म देह के रोग मानसिक। इष्ट वियोग एवं अनिष्ट प्राप्ति वशतः जो सब मानसिक विकार उपस्थित होते हैं, सोई सूक्ष्म देह के रोग हैं। अज्ञानता—आत्मविस्मृति ही कारण देह के रोग का स्वरूप हैं। इन त्रिविध रोगों को लक्ष्य करके ही देवताओं ने अशेष रोग कहा है। मा, तुम्हारी प्रसन्नता की उपलब्धिके साथ-साथ ही यह सर्वविध रोग बिनष्ट होने लगते है, तुम्हारी तुष्टि-मूर्त्ति के प्रत्यक्ष करने का यही फल है। मा, जो इन वाक्यों में बिश्वास स्थापन नहीं कर सकते, उनको तुम स्वयं अपने मुख से कह दो—यह अर्थवाद वाक्य नहीं है, यथार्थ ही अशेष रोग दूर हो जाते हैं! सत्य सत्यही मनुष्य जब भगवत् प्रसन्नता लक्ष्य करने लगता है, तव समझ सकता हैं, कि उसका सभी विषयों में शुभ होता है—अभ्युदय होता है।

मा, तुम्हारे रुष्ट होने से जीव की सभी कामना, सभी अभीष्ट विनष्ट हो जाते हैं, मन्त्रमें 'कामना' एवं 'अभीष्ट' एकार्थ वाचक दो शब्दों का प्रयोग है। वर्तमान काम्य बस्तु को कामना, एवं भविष्य जब काम्य वस्तु को अभिष्ट कहा जाता हैं। सो जो हो, मनुष्य जब तुम्हारी अप्रसन्नता लक्ष्य करने लगता है—तुम्हारे रोषरक्तनयन देख कर भीत होता है, तब ही उसके यावतीय काम्य एवं अभीष्ट विनष्ट हो जाते हैं। यद्यपि स्थूल दृष्टि से ये तुम्हारे रोष का लक्षण अवश्य हैं, तथापि थोड़े धीर भाव से देखने से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं, तुम जब रोषान्वित होकर हमारे काम्य एवं अभीष्ट विनष्ट कर देती हो, तब ही हम यथार्थ मंगल के मार्ग में अग्रसर होते हैं। हमको बहुकामना, बहु अभीष्ट एवं अति इच्छाओं के संकट में से मुक्त करने ही के लिये तुमको रुष्टा चण्डिका मूर्त्ति से प्रकाशित होने होता है। हमारे काम्य और अभीष्टों के विनाश नहीं करने से, हम चिर दिन ऐसे जीवत्व के घोर अन्धकार में आछन्न रहते! तुम्हारे रुष्टा मूर्त्ति से हमारे संकीर्ण हृदय की कामनाओं को विदूरित बिना किये हम महामंगल स्वरूप हिरण्मय मन्दिर का सन्धान ही नहीं पाते, इसीसे कहता था, मा! तुम्हारे रोष और तोष दोनों ही हमारे पक्ष में तो यथार्थ मगलदायक हैं। इसीसे कहने होता है, "त्वामाश्रितानां न बिपन्नराणां"! तुमको आश्रय करने से—तुम्हारे शरणागत होने से जीवों पर फिर कोई विपद ही नहीं रहती। तुम्हारी तुष्टि से अभीष्ट लाभ, रुष्टि से अभीष्ट नाश, उभय पक्ष में हो जीवों का मंगल है। मा। तुम इन द्विविध भावों से आत्म प्रकाश करती हो तभी तो सृष्टि का इतना वैचित्र्य है, इतना माधुर्य्य है? जो तुम्हारा आश्रय लेते हैं, उनको तो फिर विपद नामक कुछ रहता ही नहीं, अधिकन्तु वे अपरों के आश्रयदाता होते हैं कितने ही जीव उनके आश्रय में रहकर स्व स्व अभीष्ट पूर्ण कर लेते हैं। यही है तुम्हारा विशेषत्व।

इस मन्त्र में "नराणां" पद नर एवं नारी उभय बोधक है। एक शेष द्वन्द्व समास करके ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है।

एतत् कृतंयत् कदनं त्वयाद्य धर्म्मद्विषां देवि महासुराणाम् ।
रूपैरनेकैर्ब्बहुधात्म मूर्त्ति कृत्वाम्बिके तत् प्रकरोति कान्या ॥६॥

अनुवाद—हे देवि अम्बिके ! यह जो तुमने अपने को बहुमूर्त्ति में प्रकटित करके धर्म्मद्वेषी महासुरों का बिनाश साधन किया, इसे तुम्हारे व्यतीत और कौन कर सकता है ?

व्याख्या—मा, तुम एका, अद्वितीया विशुद्धबोध स्वरूपा होते हुए भी बहुरूपों से आत्मप्रकाश करके—ब्राह्मी वैष्णवी माहेश्वरी कौमारी प्रभृति बहुमूर्त्ति से प्रकटित होकर, धर्म विरोधी असुर भाव समूहों का कदन (नाश) करती हो । जा इसे स्वीकार नहीं कर सकते, जो तुम्हारे केवल निरञ्जन स्वरूप को स्वीकार करके, बहुधा प्रकटित मूर्त्ति समूह को मिथ्या कहकर उड़ा देना चाहते हैं, उनको जान रखाना उचित है कि, जबतक जगत् प्रतीति है, तब तक तुम्हारे बहुरूपों को उड़ा देने का उपाय नहीं । "रूपं रुपं प्रति रूपो वभूव" कहकर उपनिषत् ने तुम्हारे सर्वरूप बहुरूप को स्वीकार किया है । हम अपनी बुद्धि की माप-सलाका लेकर तुम्हारे परिमाण करने जाते हैं इसीसे, तुममें एकत्व बहुत्व का समन्वय नहीं कर सकते । वास्तव में किन्तु तुम एक होते हुए भी बहुरूपों से विराजिता हो "कान्या"—अन्या का? तुम को छोड़कर और कौन है ? कोई भी नहीं , रह ही नहीं सकते । "एकमेवाद्वितीयम् " यही सत्य है । इस अद्वितीय सत्य वस्तु के व्यतीत फिर आगन्तुक नया कोई आकर आत्ममूर्त्ति बहुधा प्रकटित नहीं करता । सुतरां एक रूपसे भी तुम्हीं, और बहुरूप से भी तुम्ही हो मा । विशेषत्व यह है कि, बहुरूपों में प्रकटित होनेपर भी तुम्हारा एकत्व अक्षुन्न ही रहता है । यह सकोरा उदकुम्भ प्रभृति विभिन्न रूप और नाम से परिचित होनेपर भी, मृत्तिकात्व सर्वत्र अक्षन्न ही रहता है ! हमारी क्षीण बुद्धि से एकत्व और बहुत्व का समन्वये मीमांसित नहीं भी हो सकता है, तुम किन्तु एक होते हुए भी बहु, और बहु होते हुए भी एक हो । "एको बहुधा प्रकरोति रूपम" एक साधारण योगि

पुरूष यदि स्वइच्छा से अपने को बहुधा विभक्त करके भी, अपने एकत्व को अक्षुण्ण रख सकता है, और जगदीश्वरी तुम सगुणरूप से प्रकटित होकर भी निर्गुणत्व को अक्षन्न जो रख सकोगी उसमें विचित्रता ही क्या है ? इसीसे देवतागण बोले—"अनेकैंरूपैः आत्म मूर्त्ति बहुधा कृत्वा" एक आत्म मूर्त्ति तुम ही अनेक रूपों से प्रकाशित होती हो। तुम आत्मा रूप से एका अद्वितीया हो, ईश्वर रूप से स्वगत भेदमयी बहुरूपा हो। तुम धर्मद्वेषी महा-असुरों का कदन अर्थात् निधन करके हमारी रक्षा की है। मा तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

— —

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपे ष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या।
ममत्वगर्तेऽतिमहान्धकारे विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ॥३०॥

अनुवाद—मा, (एक ओर) विद्या—समस्त शास्त्र और विवेक दीप सदृश समस्त आद्यवाक्य एवं (दूसरी ओर) महान्धकारमय ममत्वरूप गर्त्त, तुम्हारे बिना उभयत्र इस विश्व को पुनः पुनः भ्रमण कराने में और कौन समर्थ होगा।

व्याख्या—हे मा ! इस विश्व को विद्या अविद्या रूप से ऊद्ध्वाधो भावों में एकमात्र तुम ही परिभ्रमण कराती रहती हो। एक ओर विद्या – ब्रह्मविद्या, तत्साधनभूत शास्त्र समूह एवं आत्मानात्म-विवेक के लिये दीप सदृश आद्यवाक्य समूह, अर्थात् वेद-उपनिषत। दूसरी ओर अविद्या—ममत्व रूप महान्धकारमय गर्त्त, अर्थात् पूर्ण अज्ञान। एक ओर विद्या पक्ष--शास्त्र विवेक उपनिषत्, दूसरी ओर अविद्या पक्ष—ममत्वरूप महान्धकाराच्छन्न गर्त्त। इन दोनों ही पक्ष में "का त्वदन्या" तुमको छोड़कर और कौन है ? मा ! तुम ही तो अनात्म पदार्थों की द्रष्टा होकर उसमें ममत्व बुद्धि स्थापन पूर्वक आत्मज्ञान हीन अन्धकारमय गर्त्त में कितने जन्म-जन्मान्तरों से लेकर भ्रमण

करती हो? और फिर तुम ही स्वयं आत्मा—स्वप्रकाश स्वरूपा होते हुए भी तुमको पाने के लिये कितने शास्त्र पाठ, कितना वेद अध्ययन एवं विवेकख्याति के कितने उपाय निर्धारण करके परिभ्रमण कर रही हो? हे मा! एक ओर देखते हैं, तुम आत्महारा (आत्मभूला) अज्ञान शिशु हो, और दूसरी ओर देखते हैं, तुम अपने को खोज पाने के लिये कितनी न अध्यबसायशील पुरुष हो? मा! तुम सर्व प्रकाश रूपिणी चिन्मयी हो, तुममें विन्दुमात्र आवरण नहीं है, तब भी यह भ्रान्ति, यह कल्पित विश्व-भ्रमण-लीला बड़ी ही विचित्र है? मा! तुम विद्या अविद्या दोनों ही की ईशिता—विद्या अविद्या दोनों ही से पृथक् वाक्य मन के अगोचर स्वरूप होने पर भी, विद्या एवं अविद्या रूप से स्वयं भ्रान्तवत् यह विश्व-परिभ्रमण लीला सम्पादन कर रही हो। एक ओर तुम ईश्वररूप से सर्वभूतों के हृदय देशमें अधिष्ठित होकर माया के वश सर्वभूतों को परिभ्रमण कराती हो, और दूसरी ओर जीव रूपसे अज्ञों की तरह उसी भ्रमण यन्त्र से स्वयं निष्पेषित होती हुई हाहाकार करती हो। एक ओर उज्ज्वल प्रकाश-विवेकदीप, दूसरी ओर महान्धकार—ममत्व-गर्त्त। दोनों ओर ही तुम्हारा अभाव परिस्फुटित है। अथच किंतु तुम को छोड़कर और कोई भी नहीं हैं, "का त्वदन्या" तुम्हारा अभाव नहीं है। धन्य है मा तुम्हारी यह आनन्दलीला।

ओ मा! "विभ्रामयति" पद के बीच में हम और तुम्हारा एक विचित्र रहस्य देखते हैं। तुम स्वयं विभ्रांत होकर—आत्मस्वरूप विस्मृत होकर, वहुरूप से आत्म प्रकाश करके, फिर वही बहुरूप को ही विभ्रान्त कर देती हो—भुला देती हो: निज ही नीज को भूलकर अज्ञान अन्धकार में निपतित हो जाती हो, अथवा विवेकदीप जला कर निज को अन्वेषण करके बाहिर करने की चेष्टा करती हो। तुम नित्य ज्ञानमयी हो, तुम्हारी यह लीला वड़ी ही विचित्र है?

साधक! यहाँ पर बहुदिन पूर्व प्रकाशित एक आत्म सम्वेदन सङ्गीत का उल्लेख शायद अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

सत्य आमार, जननी आमार, धात्री आमार, आमार प्राण !
केनो मा तोमार शुष्क वयान, केनो मा तोमार वद्धमाण ?
केनो मा तोमार हताश वक्षे, वहिछे विषाद अश्रुधार ?
तुमि जे मुक्त विराट ब्रह्म, तुमी जे सत्य सारात्सार ?
कोथाय जन्म, कोथाय मृत्यु, कोथाय बन्धन तोमार आर । १॥
तुमि ये नित्य महान् सत्य, तूमि ई जे एई विश्व-प्राण ।
तुमि जे शुद्ध अपापविद्ध, तूमि जे पूर्ण महाज्ञान ॥
आनन्द तोमार स्वरूप-तत्व, तूमि गो जननी कामचार ।
स्वेच्छाय तूमि हयेछ क्षुद्र, स्वेच्छाय वहिछ त्रितापभार ॥२॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

तूमि जे सूर्य तूमि जे चन्द्र, तूमिई धरेछ विश्व-साज,
तूमिई आवार दर्शक रूपे 'आमि" हये बहु कर विराज ।
पुण्य पूर्ण परम ज्योति तूमि गो सर्व्व विकाशकार,
तुमिई आवार तोमाय ना देखे, स्वेच्छाय हेरिछ अन्धकार ॥३॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

तोमारई आंखिर पलक मात्र, भाविछ तूमि गो युगान्तर ।
स्वप्रकाश तूमि हये प्रतिहत, हेरिछ कतई देशान्तर ।
कालदिक मागो; तोमारई व्याप्ति, स्वेच्छाय अधीन तूमिगोतार,
स्वेच्छाय तूमि हयेछ वद्ध, स्वेच्छाय वहिछ विषाद भार ॥४॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

हे आमार प्राण ! जननि ! तोमार स्वेच्छार खेला सहे ना आर,
देख चेये मागो, सन्तान तोर, कल्पित अभावे दीनेर सार !
स्नेह दयामयी जननी आमार, दाँड़ाउ स्वरूपे दाँड़ाउ एकबार,
महामायातूमिमायाय तोमार, डुवाउ आमार आमित्व भार ॥५॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

---

* झिंझिटि-एकताला : अथवा ईमन्-एकताला वा चौताल१-भाण=ठोंग ।

(पद्यानुवाद)—

सत्य हमारी, जननी हमारी, धात्री हमारी, हमारी प्राण !
क्यों मा तुम्हारा शुष्क वयान; क्यों मा तुम्हारा वद्ध भाण ?
क्यों मा तुम्हारे हताश हृदय में, वहती विषाद अश्रुधार,
तुम तो मुक्त विराट ब्रह्म; तुम तो सत्य सारात् सार ?
कहाँ हैं जन्म कहाँ है मृत्यु कहाँ है बन्धन तुम्हार फिर ॥१॥
तुम तो नित्य महान् सत्य, तुम्ही तो इस विश्व की प्राण ।
तुम तो शुद्ध अपापविद्ध तुम तो पूर्ण महाज्ञान्,
आनन्द तुम्हारा स्वरूप-तत्व तुम्ही हो जननी कामचार ॥
स्वेच्छा से तुम हुई हो क्षुद्र, स्वेच्छा से बहती त्रिताप भार ॥२॥
(कहाँ है जन्म कहाँ है मृत्य इत्यादि)

तुम्हीं हो सूरज तुम्हीं चन्द्रमा, तुम्हीं धरे हो विश्व का साज,
फिर तुम्हीं दर्शक रूपसे होकर, "मैं" बहु वनकर करो बिराज ।
पुण्य पूर्ण परम ज्योति, तुम्ही हो सर्व विकाशकार ।
फिर तुम्ही मा तुमको नहीं देखकर स्वेच्छा से हेरो अन्धकार ॥३॥
(कहाँ है जन्म इत्यादि)

तुम्हारी (ही) आँखों का पलकमात्र, मानो तुम ही युगान्तर ।
स्वप्रकाश तुमही होकर प्रतिहत, हेरो कितने देशान्तर ।
ओमा कालदिक् तो तुम्हारी (ही) त्याग्ती, स्वेच्छासे हुई हो अधीनतार
स्वेच्छा से तुमही वद्ध होकर, स्वेच्छा से ढोती विषाद भार ॥४॥
(कहां है जन्म इत्यादि)

हे मेरी प्राण ! जननी ! तुम्हारा स्वेच्छाका खेला (अव) सहा न जाय
देखो मुझे हे मा, सन्तान तेरी, कल्पित अभाव से दीनों की सार ?
स्नेह-दयामयी जननी मेरी, जागो स्वरूपे जागो एक बार,
महामाया तुम अपनी ही माया से डुबाओ मेरा मैत्व भार ॥५॥
(कहाँ हैं जन्म कहाँ है मृत्यु इत्यादि)

१—कामचार = कामना कल्पतरु । २—तार = उसके ।

रक्षांसि यत्रोग्र विषाश्च नागा यत्रारयो दस्युवलानि यत्र।
दावानलोयत्रतथाब्धिमध्ये तत्रस्थितात्वंपरिपासि विश्वम् ॥३१॥

अनुवाद—मा ! जहाँपर राक्षसकुल है, जहाँपर उग्र विष-सर्व समूह हैं, जहाँ अरिवृन्द हैं, जहांपर दस्युवल है, जहाँपर दावानल है एवं जहांपर (वाड़वानल पूर्ण) समुद्र हैं, उन सब जगहों में भी तुम स्वयं अवस्थान पूर्वक इस विश्व की रक्षा करती हो।

व्याख्या—ओ मा ! केवल जो तुम इस विश्व को पूर्वोक्त रूप से बिभ्रान्त ही कपती हो, सो नहीं सर्वत्र स्वयं अवाध भाव से अवस्थान पूर्वक इसकी यथायोग्य रक्षा भी करती हो। राक्षसरूपी विषयों के प्रलोभन, उग्रविष सर्परूपी द्वेष हिंसा प्रभृति, अरिरूपी काम-क्रोधादि, दस्युवलरुपी दम्भ दर्प अभिमान, दावानल रूपी शोक दुःखादि, एवं दुस्तर समुद्र रूपी संसार—जिन सब स्थानों में रक्षा करने को दूसरा कोई और नहीं है, जहाँपर अज्ञान का पूर्ण आवरण है, जहापर आत्म-अस्तित्व नाश की पूर्ण विभिषिका है, जहाँपर अवश्यम्भावी मृत्यु की कराल कृष्ण छाया हैं, वहाँपर भी तो मा तुम परिपालिनी मूर्त्ति से—स्नेहमयी मातृ-मूर्त्ति से प्रकाटित होकर स्नेह भरी सन्तान जीववृन्दों की रक्षा करती हो—विश्व की रक्षा करती हो ? और स्थूल जगत में भी पूर्वोक्त राक्षस सर्प शत्रु दस्यु दावानल एवं बाड़बानल पूर्ण दुस्तर समुद्रमध्य प्रभृति घोर विपद्ग्रस्त स्थानों में निपतित अपनी स्नेह भरी सन्तानों की तो कैसे अलौकिक भावों से कैसे विस्मयप्रद उपायों से रक्षा करती हो, इसे बारंवार देखते हुए भी हम मूढ़ तुम्हें नहीं जानना चाहते, जानने पर भी तुम्हारी सत्ता को नहीं मानना चाहते, मानने पर भी सम्पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते। तुम जो सत्य ही हो, तुम जो सत्य सत्य ही जीवों की रक्षा करती हो, इसे हम निःसंशय रूप से स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु हमारे न स्वीकार करने पर भी तुम्हीं जो एकमात्र रक्षाकर्त्री हो, इसमें किन्तु कोई भी संशय नहीं है मा।

पक्षान्तर में, जो पूर्वोक्त रूप विपदों में पड़ने पर हमारी दृष्टि में रक्षित नहीं होता (नहो जान पड़ता है), अर्थात् विनाश को प्राप्त होता हैं, वह भी तो तुम्हारी ही स्नेहमयी गोदी में ही चिर रक्षित है, इसमें भी किसी प्रकार के विचार वा संशय को स्थान नहीं है। कारण "तत्र स्थिता त्वं" तुम वहाँपर अवस्थिता हो। उसी विपद ग्रस्त स्थान में—उसी विनाश स्थान में और काल में (समयमें) एक-मात्र तुम्ही तो मौजूद हो, सुतरां जीवरूपी स्नेह भरी सन्तानें यदि विपदों में पड़कर साधारण दृष्टि से विनाष्ट हो भी जायें, उसमें भी उनकी कुछ भी हानि नहीं होती। तुम्हारी ही शान्तिमयी गोदी में स्थान पाती हैं ! अरी तुम तो सर्वत्र अवस्थिता हो मा, तुम तो सर्वत्र रक्षाकर्त्री जननी हो ? अतएव रक्षा वा विनाश दोनों ही स्थानोंमें तो ('परिपासि विश्वं" तुम विश्व की रक्षा करती हो, यह ध्रुव सत्य है। जो तुमको इस विश्व रक्षाकारिणी-मूर्ति से सर्वत्र अवस्थिता देखते है, सो कभी भी किसी भी विपद में ही बिणाश को प्राप्त नही होते।

"तत्र स्थिता त्वं पारिपासि' वाक्य में एक साधन रहस्य छिपा है, साधकण समझ लेंगे। हिरण्यकशिपु के आदेश से प्रज्वलित अग्नि के बीच में पढ़कर पल्हाद ने भगबान को अनलबिहारी के नाम से न पुकार कर वैकुण्ठनाथ प्रभृति नामों से पुकारा था। फिर कौरब सभा ने दुःशासन कर्त्तृक वस्त्रहरण काल में द्रौपदी ने भी इसी प्रकार प्राणनाथ प्रभृति नामों से न पुकार कर द्वारिकानाथ प्रभृति नामों से भगवान को आह्वान किया था, उभयत्र ही भगवान के आगमन में किञ्चित विलम्ब हुआ था, कारण प्रल्हाद एवं द्रौपदी 'तत्रस्थिता त्वं परिपासि" वाक्य का रहस्य उस समय बिस्मृत हो गये थे। भगवान् सर्वत्र विराजित हैं, इस अग्नि रूप से भी वही हैं, इस वस्त्र रूप से भी वही हैं, और सर्व जीवो के हृदयाधिठिष्त प्राणपति रूप से भी वही विराजित हैं। अतएव जहांपर जिस प्रकार की विपद में ही जीव क्यों न पड़े, वहींपर एवं उसी विपद रूप से भी तो मा ही उपस्थित

हो रही हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास हृदय में रखते हुए मा को स्मरण कर सकने से ही जीव विपदमें से अचिरकाल ही में परित्राण पा सकता है। मा तो सर्वदा सर्वत्र सन्निहिता हैं, इस भाव को हृदय में दृढ़ता से प्रतिष्ठित रख सकने से, फिर जीव को किसी भी प्रकार का बिपद में बिचलित नहीं होने होता है।

———

विश्वेश्वरी त्वं परिपासि विश्वं विश्वात्मिका धारयसीति विश्वं।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति विश्वाश्रया ये त्वयि भक्ति-नम्राः॥

अनुवाद—मा! तुम विश्वेश्वरी हो, तभी तुम विश्व की रक्षा करती हो। विश्व ही है तुम्हारा शरीर, इसीसे तुम विश्व को धारण करती हो। तुम विश्वेशगणों की वन्दनीया हो। जो तुम्हारे सामने भक्ति विनम्र होते हैं, सो भी विश्व के आश्रय स्वरूप हो जाते हैं।

व्याख्या—मा! तुम जो पूर्वोक्त राक्षसादि रूप महाविपदों से भी अलौकिक उपावों से जीवों की रक्षा करती हो, इसमें विस्मित होने को कुछ नहीं। अरे तुम विश्वेश्वरी—इस विश्व की अधिपति हो। जो जिसका अधिपति होगा, वह उसकी तो रक्षा करेगा ही, तो फिर देवतागणों ने "विश्वेश्वरी त्वं परिपासि विश्वं" वाक्य क्यों कहा—जो तुम को बिश्वेश्वरी हो ऐसा जानते हैं, केवल वे ही समझ सकते हैं कि, एकमात्र तुम ही इस विश्व की रक्षा करती हो। फिर तुम्ही तो इस विश्व को धारण किये हुए हो, इसमें भी विस्मय का विषय कुछ नहीं, कारण, तुम्ही तो विश्वात्मिका हो। "एकोऽहम बहुस्याम" कहकर तुम्हीं तो बहु रूपसे प्रकाशित हो रही हो। यह विश्व ही तो तुम्हारा शरीर है, सुतरां इसको धारण करना ही तुम्हारा स्वभाव है।

प्रसङ्गक्रम से यहाँपर विशिष्टद्वैतवाद सम्बन्ध में दो एक बात कहना नितान्त अन्याय नहीं होगा! उसके मतावलम्बीगण कहते हैं

यह विश्व ही भगवान का शरीर है। हमारा यह स्थूल शरीर यह मन बुद्धि आत्मा, इन सवों की समष्टि जैसे मैं हूं, ठीक उसी प्रकार यह व्यक्त विश्व, विराट मन समष्टि बुद्धि, इन सब के समन्वित परमात्मा ही एकमात्र उपास्य वा लभ्य हैं। साधना जगत में यह मत विशेष आदरणीय एवं परिग्राह्य है? यह उपनिषद् विरुद्ध भी नहीं? उपनिषत् ने भी अनेक स्थलों में इस विश्व को परमात्मा का स्थूल शरीर कहा है किन्तु इस मत की एक बात विशेष रुप से चिन्तनीय है। विशिष्टाद्वैतवादीगण इस परिदृश्यमान जड़ अंश को बिलकुल अचित्-तत्व कहते हैं। अचित् शब्द का अर्थ जड़ होने से वह श्रुति-विरुद्ध होता है। कारण श्रुति ने इस जड़ अंश को भी ब्रह्म स्वरूप कह कर कोर्त्तन किया है! अचित् शब्द को यदि चित् का ही स्वल्प प्रकाशरूप अर्थ स्वीकार किया जाय, ईषदर्थ में नञ् समास किया जाय, तो फिर किसी प्रकार के संशय को अवसर नहीं रहता।

अच्छा जो हो, मा तुम हो विश्वेशवन्द्या। विश्वेशगण--विश्वाधिपतिगण--ईश्वरगण अर्थात् ब्रह्मादि देवतावृन्द हमेशा तुम्हारी वन्दना करते हैं। वे सर्वतोभाव से तुम्हारे ही शरणागत हैं, एवं तुम्हारे शरणागत हो सके हैं इसीसे, उनने विश्वाधिपत्य प्राप्त किया है। अतएव जो "त्वयि भक्तिनम्राः" तुम में भक्तिनत हैं, सो निश्चय ही विश्व के आश्रय स्वरूप होते हैं। विश्वासी जन समूह उनका आश्रय लेकर ज्ञान भक्ति और शान्ति प्राप्त करने के लिये यत्नपरायण होते हैं।

देवि! प्रसीद परिपालय नोऽरिभीतेर्नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः।
पापानि सर्वजगताञ्च शमंनयाशु उत्पातपाकनितांश्चमहोपसर्गान ॥

अनुवाद—हे देवि! तुम प्रसन्न होओ! जिस प्रकार अभी असुर वध करके हम को शत्रु भय से सद्य मुक्त किया, उसी प्रकार नित्य हमारी शत्रु भय से परिपालन करना। और इस जगतके पाप समस्त

एवं उत्पातों के परिणाम स्वरूप महाउपसर्ग समूहों को शीघ्र प्रशमित करो।

व्याख्या—मा ! तुम प्रसन्न होओ ! तुम जो हमारे प्रति नित्य ही प्रसन्ना हो, इसे हमें सर्वतोभाव से समझने दो ! और "अधुनैव" अभी हाल में जिस प्रकार असुरों के निहत करके हमको भय से मुक्त कर दिया, इसी प्रकार नित्य—आवहमान काल (सब समय) तुम हमारी (नः)—हम कहने में जो कुछ है; इस बहु मैं की अज्ञान कल्पित मैं की (हमारी) अरिभीति—शत्रुभय अर्थात् कामादि रिपु कर्तृक जो आच्छन्न भाव है, उसे विदूरित करो; हमारी परिपालना करो।

मां ! एक बार देखो—तुम्हारी स्नेहभरी सन्ताने अरिभय से—कामादि रिपु गणों के उत्पीड़न से सदा उत्पीड़ित हैं। यह सुनो मा, वे अरियों के अत्याचार से उपद्रुत होकर तुमको सुदुर्लभ बताकर घोषणा कर रहे हैं, कोई कोई तुमको निष्ठुरा पाषाणी कहता हुआ तिरस्कार कर रहा है, और कोई अरिभय से परित्राण पाने के लिये कठोर संयम और नानारूप योग कौशलादि का अवलम्बन कर रहे हैं। मां ! शत्रु भय से भीत अपनी इन सन्तानों को तुम रक्षा करो। तुम उनसे कह दो—"मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्ति ते" मेरे शरणागत होने ही से शत्रुभय प्रशमित हो जाता है। केवल यही नहीं—"पापानि सर्वजगताँञ्च शमं नयाशु" सर्व जगत में पाप नामक जो संस्कार है उसे भी शीघ्र प्रशमित करो। जीवों को पाप बोध क्यों होता है 'मैं' कर्त्ता हूं सजजर कर्म करता है, इसीसे कर्म भलरूप पाप मैं के साथ विजड़ित हो जाता है। (साधारण भाषा में जिसे पुण्य कहते हैं, सो भी इसी प्रकार पाप के अन्तर्गत है।) मा ! जीव यदि तुम्हारी शरण में आता है, तो अल्प दिनों में ही उसका कर्त्तृत्व ज्ञान तिरोहित हो जाता है, सुतरां पाप कहने को, कर्मफल कहने को फिर कुछ भी नहीं रहता, इसीसे तो कहता हूं मा, अपनी स्नेहभरी सन्तानों से कह दो—"यह जो अहं है, वही तो पाप है अहं बोध को छोड़ो, अहं तो मैं—तुम्हारी मा हूँ। मुझे (मैं को) छोड़कर तुम अब अहं होने

मत जाना। मेरी (मैं की) ओर लक्ष्य राखो, मेरे (मैं के) शरणागत होओ, देखोगे अल्प दिनों के ही वीच में तुम्हारे—जगत के यावतीय पाप दूरीभूत हो जावेंगे।"

उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान्। उत्पात—उल्कापात, गन्धर्व नगर दर्शन, धूमकेतु का उदय, परिवेश (सूर्यके चतुःपार्श्ववर्त्ती भयंङ्कर) कृष्णवर्ण मण्डल) इत्यादि। इन उत्पात समूहो का जो पाक, अर्थात् फल-परिणति, तज्जनित जो उपसर्ग-दुर्भिक्ष महामारी जलप्लावन अकालमृत्यु प्रभृति, ये सव, पापों के ही प्रत्यक्ष फल हैं अहं बोध से कार्य करने जाने से वहिर्मुखी जीवबृन्द ऐसे विविध उपसर्गों मे निपपित होते है (पड़ते हैं) मा, तुम जगत के इन पापों के दूर करो? इन उपसर्गों को प्रशमित करो? आनन्दमयी की सन्तान फिर आनन्द का सन्धान पाकर—अमरत्व का सन्धान पाकर विषम उपसर्गों के हाथ से परित्राण प्राप्त करें!

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्त्तिहारिणी।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥३४॥

अनुवाद—हे देवि! हे विश्वार्त्तिहारिणी! तुम प्रणत जनगणों के प्रति प्रसन्न होओ। तुम त्रैलोक्यबासी जीवगणों की स्तुतियोग्या हो। तुम सब लोकों के प्रति वरदायिनी होओ।

व्याख्या—तुम देवी द्योतनशीला स्वप्रकाश-रूपिणी हो। तुम ही विश्व की यावतीय आर्ति हरण करती हो, तुमको पाने से ही जीवों की सब आर्त्ति विदूरित होती है, प्रणतजनों के प्रति प्रसन्न होना ही तुम्हारा स्वभाव है। अथवा जो यथार्थ प्रणत हो सके है, सोई तुम्हारी नित्य-प्रसन्न-मूर्ति प्रत्यक्ष करने में समर्थ हैं। मा आज हम भी तुम्हारे चरणों में प्रणत—प्रकृष्टरूप से नत होते हैं, हमारे मैंत्व का उच्च शिर तुम्हारे चरणों में अवनत हुआ है, तुमही ने अवनत करा लिया है, सुतरां अब तो "प्रसीद" अब तो तुमको प्रसन्न होने ही होगा। मा

त्रिलोकवासी सुर नर गन्धर्व, जिसकी जैसी सामर्थ्य है, निज निज वाग् यन्त्र को विशुद्ध करने के लिये सभी तुम्हारा स्तव करते हैं, इसीसे तुम "त्रैलोक्य वासिनामीड्ये" हो। तुम सभीको बरदान करती हो, इसीसे तुम "लोकानां वरदा" हो। मा! तुम वरदायिनी मूर्त्ति से खड़ी होओ! आज सन्तानगण निर्भय से अकपट से तुम्हारे पास से सत्य-वर ग्रहण करके धन्य हों? जगत् फिर सत्य के आलोक (प्रकाश) से उद्भासित होये?

देव्युवाच

वरदाहं सुरगणा वरं यं मनसेच्छथ।
तं वृणुध्वं प्रयच्छामि जगतामुपकारकम् ॥३५॥

अनुवाद—देवी बोली—हे सुरगण! मैं बरदायिनी हूँ। जगत् के उपकार के लिये तुम्हारी जिस बर की ईच्छा हो प्रार्थना करो, मैं सोई प्रदान करूँगी।

व्याख्या—देवताओं के स्तोत्र पाठ के फल से, मा हमारी विशेष भाव से प्रसन्न हुई है, वरदायिनी मूर्त्ति से अविर्भूत होकर जगन्मङ्गल-विधायक वर प्रदान को उद्यत हुई हैं। साधक? सत्य ही ऐसा होता है। अभी भी—इस अविश्वास के युग में भी ऐसे ही कर के सत्य ही मा आती है, सत्य ही सन्तानों को वराभय प्रदान करके धन्य करती हैं। उस वर से जगत का मङ्गल साधित होता है, कारण सन्तान जब जगदात्मा में एकीभूत हो जाता है, तब जगत् मङ्गल साधन ही उसका एकमात्र लक्ष्य हो पड़ता है। व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थ की ओर लक्ष्य नहीं रहता। इसीसे निष्काम साधकों की तपस्या का फल जगत के सभी लोग अल्पाधिक लाभ करते हैं निष्काम साधकों को साधना के फल से ही विश्वमङ्गल साधित होता है।

इसी प्रकार निष्काम कर्मियों के कर्मफल विभाग के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने जो कहाँ है, कहाँपर उसका उल्लेख करना भी कुछ

अप्रासङ्गिक नहीं होगा। श्रुति कहती हैं—आत्मज्ञ पुरुषों के जो सुहृत् हैं, वही उनके सुकृत को पाते हैं। और जो विद्वेषी हैं, सो उनके दुष्कृत को ग्रहण करते है, और जो पुत्रादि उत्तराधिकारी हैं, वे दाय अर्थात् धन वित्तादि लाभ करते हैं। उपनिषत् ने भी अभ्युदय कामी जनों को आत्मज्ञ पुरूषों की अर्चना करने का उपदेश दिया है। इस प्रकार विश्वमङ्गल साधन करने हो के लिये जगत में आत्मज्ञ पुरुषों का आविर्भाव हुआ करता है। किन्तु वह और बात है।

देवाऊचुः

सर्वबाधा प्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम् ॥३६॥

अनुवाद—देवताओं ने कहा—हे अखिलेश्वरि। तुमने अभी जैसे हमारे वैरिकुल का विनाश किया, उसी प्रकार त्रिलोक की सर्व-बाधाओं को प्रशमित करो।

व्याख्या—मा। और मांगने को कुछ नहीं, तुम त्रिलोकों की सर्व बाधाओं प्रशमित करो। हे अखिलेश्वरि जननि। कुछ दिनों यावत् विश्वमय यह क्या आर्त्तनाद उठ रहा है—सर्व्व ही है बाधा। सवरूप बाधा का परित्याग न कर सकने से, तुमको प्राप्त नहीं किया जायगा, यह कैसी मर्म पीड़ादयक वाणी सुन रहे हैं ? कार्यतः किन्तु देखते हैं—अति अल्प लोग ही सर्व त्याग कर सकते हैं। जो सकते हैं, सो तो सर्व को बाधा कहकर कीर्त्तन करेंगे ही। और जो अकृतकार्य होते हैं वे भी सर्व को ही मातृलाभ का अन्तराय बोलकर घोषणा करते हैं। सर्व तो वास्तव में बाधा नहीं, सर्वरूप से तो तुम ही विराजित हो, इस सत्य में प्रतिष्ठित होने ही से तो जीव तुम्हारे सर्वातीत स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ होते हैं। सर्व ही तो मा, जीव जब तक इसे नहीं समझ सकता है, तबतक ही यह सर्व मातृलाभ के अन्तराय स्वरूप दण्डायमान रहाता है। इसीसे कहता हूँ मा। जगत में फिर से

सत्य की प्रतिष्ठा करो,—एकमात्र तुम्हीं तो सर्व रूप से सत्य रूप से आत्मप्रकाश कर रही हो, इसे प्रत्येक जीव हृदय में स्वर्णाक्षरों से अङ्कित कर दो। सर्व तो वाधा नही, मातृवक्ष ही तो सर्वरूपसे सन्तान को क्रोड़ में धारण करने के लिये सर्व्वदा उन्मुक्त हो रहा है, इसको अपनी सन्तानों के रोम रोम में समझा दो ? फिर सभी सत्यप्रतिष्ठ हों ? तुम्हारी सत्ता में बिश्वास करें ? तुम्हारी सत्ता में विश्वास होने ही से, यह सर्ववाधा प्रशमित हो जावेगी। जगत का यावतीय अभाव अभियोग कातर कन्दन बिदूरित होगा। जगत् यथार्थ कल्याण लाभ (प्राप्त) करेगा।

——

देव्युवाच।

वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतिमे युगे।
शुम्भो निशुम्भश्चैवान्याबुत्स्येते महासुरौ ॥३७॥
नन्दगोप गृहे जाता यशोदा गर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी ॥३८॥

अनुवाद—वैवस्वत मन्वन्तर के अष्टाविंशतितम युग में पुनः शुम्भ निशुम्भ नामक दो असुर उत्पन्न होंगे, (तव) मै नन्दगोप के गृह में यशोदा के गर्भ से जन्म ग्रहण करके विन्ध्याचल पर अवस्थानपूर्वक उन दोनों असुरों का विनाश करूंगी।

व्याख्या – देवता वृन्दों के प्रार्थित (त्रैलोकस्य सर्व्व वाधा-प्रशमनं) वर प्रदान को उद्यत होकर, मा ने यहाँपर अनेक रहस्य प्रकटित किये ? देवीमाहात्म्य में जो तीन रहस्य वर्णित हुए हैं, मा ने स्वयं यहाँपर उनको प्रकट किया। देवी-वाक्य रूप से इस अध्याय में चतुर्दश मन्त्र है। उसका तात्पर्य्य निरूपण बड़ा ही दुरूह कार्य है। तब हाँ जिनके वाक्य हैं; वे यदि कृपापूर्वक साधकों का मोहावरण अपसृत कर दे। तभी उक्त मन्त्रो का रहस्य, निर्णय हो सकता है। आओ प्रिय साधक

गण ! हम मातृ चरणों में साष्टाँग प्रणिपात पूर्वक प्रार्थना करें—"हे मा ! अपते इन रहस्यमय वाक्य समूहों का असली तात्पर्य हमको हृदयंगम करा दो। हम जिससे "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" न्याय से भ्रान्त पथपर परिचालित न हों। जय मा। तुम उद्भासित होओ।"

वैवस्वत मनु—सप्तम मनु। एक मनु के अधिकृतकाल को मन्वतर कहते है। इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है। सत्यादि युग चतुष्टय का एक महायुग होता है। चतुर्दश मन्वन्तरों का एक कल्प वा एक बार प्रलय होती है। वर्तमान कल्प का नाम हैं—श्वेतवराह कल्प। इस कल्प के एक सत्तर महायुगों में सत्ताईस अतीत (गत) हो चुके हैं। अष्टाविंशति महायुग के सत्य त्रेता और द्वापर युग बीत चुके हैं, सम्प्रति (वर्तमान) कलियुग चल रहा है इसकी आयूः परिणाम चारि लक्ष बत्तीस हजार वत्सर है, जिसका मात्र पाँच हजार वत्सर अतीत हुये हैं। यहाँपर हम प्रसंगक्रम से भारतीय काल गणना के प्रति साधारणों की दृष्टि आकर्षण करते है। जो भारतीय सभ्यता का काल दिर्णय ग्रहण करने में, चारि पांच हजार किंवा दश बीस हजार वत्सर मात्र सिद्धान्त करते हैं, वे एकबार अनुग्रह पूर्वक हमारी पूर्वोक्त प्रकार कालगणना की प्रणाली के प्रति लक्ष्य करें। जो कहते हैं —"भारतवर्ष अधःपतन में गया है, भारत चिर पराधीन, चिरदास है इत्यादि" वे एक वार हिसाब करके देखें—भारतवष की जो आयु परिमाण निर्दिष्ट है, उसके सामने दो एक हजार वत्सर, कितनी अल्प कितनी क्षुद्र, बिन्दु सदृश हैं सुतरां भारत की दुरवस्था दर्शन करके शङ्कित वा क्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं। कुछ दिनों के बाद इस देशकी यह शोचनीय कहानी दादीकी किस्से कहानियोमें परिगणित हो जावेंगी। यद्यपि ये सब बातें यहाँ पर अप्रसाङ्गिक हैं, तथापि इसकी आलोचना में मंगल है—अवसादग्रस्त जनो के हृदय में नया उत्साह, नया बल और आशा का संचार होगा। और एक महान उपकार है—जीव के अहंकार नाश होता हैं। अनन्त काल समुद्र में

मैं कितना क्षुद्र हूँ, हमारी सत्तामात्र कितनी अल्प है—कितने अल्प समय के लिये है, ऐसी चिन्ता से जीव का अहंकार ह्रास होता है।

जो हो, मंत्र में उक्त है—मा बोली, वैवस्वत मन्वन्तरीय अष्टाविंशतितम युग में फिर शुम्भ निशुम्भ नामक असुर दोनों उत्पन्न होंगे, एवं वे भी नन्दगोपगृह में यशोदा के गर्भ से जन्म ग्रहण करके विन्ध्याचल पर अवस्थान पूर्वक उनका विनाश करेंगी। यहाँ पर मा ने जिस काल का उल्लेख किया है, उससे वर्त्तमान युग ही विशेष भाव से लक्षित होता है। यह देवीमाहात्म्य स्वारोचित अर्थात् द्वितीय मन्वतरीय उपाख्यान है। तत् कालापेक्षा वर्त्तमान काल सुदूर भविष्यत् है? इसीसे मन्त्र में "उत्पस्येते" इस भविष्त् काल बोधक क्रियापद का उल्लेख है। वर्तमान काल में अधिकांश मनुष्य ही शुम्भ निशुम्भ अर्थात् अस्मिता ममता कर्त्तृक अभिभूत निर्जित हैं। मा नन्दगोपगृहे जाता यशोदा गर्भ सम्भवा रूप से आविर्भूत होकर इन दोनों असुरों का विनाश साधन करेंगी।

नन्दगोप—आनन्दमय ब्रह्माभिमुखी मन। "गाः पाति इतिगोपः" गो शब्द का अर्थ इंद्रिय। इंद्रिय समूह का पालन एवं रक्षण करता है इसीसे मन को गोप कहा जाता है। यही मनरूप गोप जब नन्द अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्माभिमुखी होता है, तब ही उसका नाम होता है नन्दगोप। सर्वतो भाव से आत्माभिमुखी मन के आश्रय में जिस शक्ति का विकाश होता है, अर्थात् जिस प्रज्ञा के प्रभाव से अस्मिता ममता विनष्ट होती है, उसको नन्दगोप गृहेजाता कहा जाता है। ये ही हैं यशोदागर्भसम्भवा। यशोदा—यशः दानकारिणी। मातृलाभ के लिये अध्यवसायशील होने ही से मा हमारी प्रथम तो यशोदायिनी मूर्ति से जीव को अङ्क में धारण कर बैठती है। उस समय अज्ञातावस्था में उसका यश चारो ओर प्रसारित होने लगता है। संतान "यशोदेहि" कहकर मा के सामने आव्दार करता है, इंसीसे मा यशोदा रूप स प्रकटित होकर नन्दाशक्ति की परिपुष्टि का विधान करती हैं। यह यशोदा के क्रोड़ में परिवर्द्धित आनन्दमयी शक्ति ही

शुम्भ निशुम्भ का विनाश साधन करती हैं, इन्हीं का नाम है नन्दा शक्ति। ये विन्धाचल निवासिनी हैं। विन्धाचल—हृदय-देश। हृदयस्था आनन्दमयी शक्ति कर्त्तृक ही अस्मिता ममता का विनाश होता है। तन्त्र शास्त्र में सुमेरु पर्वत को मस्तक, विन्ध पर्वत को हृदय एवं कुल पर्व्वत को मूलाधाररूप से निर्द्देश किया है।

सीधी बात यह है कि, माँ ने कहा, इस युग में भी जीव जब विशेष भाव से सत्यच्युत हो पड़ेंगे, मेरा सन्धान न पाकर अहंकार विमूढ़ हो पड़ेंगे, तबही मैं जीव हृदय में यशोदागर्भ सम्भवा नन्दाशक्ति रूप से प्रकटित होकर, उनका अहंकार विनाशपूर्वक उन्हें सत्यलोक ले आऊंगी। द्वापर युग में भी माँ हमारी ने श्रीकृष्ण रूप में होकर इस नन्दगोप गृहेजाता यशोदागर्भसम्भवा नन्दाशक्ति रूप से आत्म प्रकाश किया था, एवं कंस शिशुपाल प्रभृति असुरों का विनाश करके धर्म्म राज्य की प्रतिष्ठा की थी।

मूर्ति रहस्य में ये नन्दादेवी ही विष्णुशक्ति रुप से—लक्ष्मी रूप से वर्णित हुई है। यथा—"कमलान्कुशपाशाब्जैरलन्कृत चतुर्भुजा। इन्दिरा कमला लक्ष्मीः सा श्रीरूक्माम्बुजासना" इत्यादि। ये जो विष्णु शक्ति हैं सो मधुकैटभ वध में भी उक्त हुआ है उस प्रथम चरित में यही नन्दाशक्ति एवं रक्तदन्तिका बीज का उल्लेख है। रक्तदन्तिका का विषय परवर्ती मन्त्र में ही मिलेगा। जिस शक्ति ने विष्णुरूप से प्रकटित होकर तब मधुकैटभ को निहत किया था, वही शक्ति ही इस युग में नन्दाशक्ति रूप से प्रति जीव हृदय में आविर्भूत होकर शुम्भ निशुम्भ को निहत करेंगी।

सुनो—शक्ति वस्तु अदृश्य अनुभवगम्य कारण स्वरूप है। जब वह कार्य्यरूप से—दृश्यरूप से आत्मप्रकाश करती है, तब साधारण भाव से यही कार्य ही शक्तिमान रूप से व्यवहार का विषय होता है। देखो—एक वृक्ष है। वह स्वयं ही एक शक्तिमात्र होनेपर भी, हम किन्तु "वृक्षकी शक्ति" इसी प्रकार व्यवहार एवं अनुभव करते हैं। वास्तविक यहाँ शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद ही नहीं है। ठीक

इसी प्रकार एक अखण्ड महती शक्ति चितिशक्ति वा ब्रह्म जब जिस भाव से अपने को प्रकाशित करते हैं, तब वे उसी प्रकार के भाव से विभिन्न नाम और रूप से परिचित हुआ करते हैं इससे उनके एकत्व की कोई भी हानि नहीं होती। तभी तो इस देश के लोग तेत्रिश कोटि देवता दर्शन करके भी अद्वैतवादी है। इस धन्य देश के जनगण ऐसे ही शक्तिवादी और चैतन्यदर्शी हैं कि किसी भी स्थान में कोई भी प्रकार की विशिष्ट शक्ति का विकाश देखते ही; उसे मात्र एक जड़ शक्ति न देखकर, उसीको देवता मानकर, ईश्वर मानकर पूजा करते हैं। अन्य देशों के लोग इसकी वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता न समझ कर, कोई कोई तो इन्हें पौत्तलिक कहकर उपहास करेंगे, उससे विन्दुमात्र क्षोभ नहीं। इन्हीं पौत्तलिकगणों ही ने विश्वमे सबसे प्रथम 'तत्वमसि' वाक्य से अद्वय ज्ञान की विजय•दुन्दुभि निनादित की थी। और अभी—इस पूर्ण अविश्वास के युग में भी इस देश के लोग नाना देवताओ की पूजा करके ही अभीष्ट फल-लाभपूर्वक अद्वय-ज्ञान के योग्य अधिकारी हो जाते है।

जो हो, यहाँपर फिर से साधन-समर के पाठकों को स्मरण कराये देता हूँ कि, यद्यपि इस ग्रन्थ में यावतीत देव देवी का आध्यात्मिक रहस्य ही कहा गया है, तथापि उनकी विशिष्ट मूर्त्तियों का अपलाप (खण्डन, अलीकता) नहीं किया गया है। इस नन्दाशक्ति प्रभृति की विशिष्ट मूर्त्ति जो हो नहीं सकती, अथवा अब आज ये सब मूर्त्ति दिखाई ही नहीं देती, कोई ऐसा मत समझ बैठना। साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना" इस सत्य वाक्य के उपर लक्ष्य रखने ही से, मूर्त्त अमूर्त्त विषयक संशय विदूरित हो जायगा। मूर्त्तिरहस्य "पूजातत्व नामक ग्रन्थ में विस्तृत भाव से आलोचित हुआ है।

पुनरप्यति रौद्रेण रूपेण पृथिवीतले ।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचित्तांश्च दानवान् ॥३९॥
भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान् महासुरान् ।
रक्तादन्ता भविष्यन्ति दाड़िमीकुसुमोपमाः ॥४०॥
ततो मां देवताः स्वर्गे मर्त्यलोके च मानवाः ।
स्तुवन्तो व्यहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम् ॥४१॥

अनुवाद—फिर मैं भीषण आकार से पृथिवी पर अवतरणपूर्वक वैप्रचित्त नामकदानवों को निहत करूंगी । उस उग्र वैप्रचित्त नामक असुरों का भक्षण करके, मेरे दांत समूह दाड़िमी पुष्प की न्याई रक्तवर्ण होंगे, तव स्वर्ग में देवता गण एवं मर्त्तलोक में मानवगण सतत स्तव करते करते मुझे रक्तदन्तिका कहते हुये कीर्त्तन करेंगे ।

व्याख्या—वेदविद्-ब्राह्मण को बिप्र कहते हैं—"वेदपाठात् भवेद् विप्रः" । जिनके चित्त में वेद आर्थात् आत्म-सम्वेदन प्रकाश पाता है वे ही वेदबित्, वे ही हैं बिप्र, उनका जो चित्त है सोई विप्रचित्त है । इस विप्रचित में जो भाव वा वृत्तियां सब प्रकाश पाती हैं, उनको वैप्रचित्त नामक दानवगण कहा जाता है । इनका निधन करने के लिये मा को अति उग्र रुप से प्रकटित होने होता है, कारण, आत्म-सम्वेदन-सम्पन्न पुरूषों के चित्त अतिशय वीर्यशील होते हैं, उनको विलय करने के लिये मा को भी अति उग्र रूप से आविर्भूत होने होता है ।

इसके पूर्व योगियों के निर्माण चित्त का विषय कह चुका हूं । योग शास्त्र में एक सूत्र है—"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्" आत्मवित् पुरुषगण मात्र अस्मिता से निर्माण-चित्त समूहों का संगठन करते हैं । अर्थात् चित्त विलय के बाद फिर अभिनव चित्त निर्माण करते हैं । उद्देश्य—विश्वहित—लोकैषणा । बिश्वमंगल के लिये, योगी पुरुषगण जिस अभिनव कर्माशय का गठन करते हैं, उसे भी विप्रचित्त असुर

कहा जाता है। मा हमारी यथासमय में आविर्भूत होकर उसका भी विलय साधन करती है! कारण वह भी कैवल्य का बिरोधी है।

इस विप्रचित्त नामक असुरों के विनाश के लिये, मा को विशेष भाव से पराप्रकृति के रजोगुणात्मक चित् प्रवाह रूप से आत्मप्रकाश करने होता है। जो इसके पूर्व नन्दाशक्ति नाम से अभिहित हुई थीं, वे ही फिर वैप्रचित्त नामक भीषण असुरों का विनाश करके रक्त-दन्तिका नाम से आख्यात होती हैं। दन्त ही भाव राशियों के बिलय करने को सर्वश्रेन्ठ साधन है। जब वह अति सूक्ष्म उच्चतम वृत्तियां संहार के अङ्क में विलय प्राप्त होने लगतीं हैं, तब सत्य ही जान पड़ता है—प्रलयङ्करी मा मानों रक्तवर्ण कराल दंशन-पंक्ति विस्तार पूर्वक भाव समूहों को ग्रास कर रही हैं। गीता के विश्वरूप दर्शन में अर्जुन ने भी ठीक इसी प्रकार ही दंष्ट्राकराल मुखके बीचमें सर्वभावों का विलय देखा था। गीता का वह "यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा"—प्रज्वलित अग्नि में पतङ्गों के समूह की भांति राजन्य वर्गों का विलय एवं यहाँ का दाड़िमी कुसुम सदृश रक्तवर्ण दन्त समूहों के द्वारा वैप्रचित्त असुर कुलों का भक्षण, ये उभय ठीक एक ही भाव के प्रकाशक हैं।

इसी समय से देवतागण एवं मानवगण नन्दाशक्ति को रक्त-दन्तिका बोलकर स्तुति करने लगते हैं। मा जब जैसे भाव से आत्मप्रकाश करती हैं एवं जैसा कार्य सन्पन्न करती हैं, देवतागण और मनुष्यगण मा को तब उसी प्रकार के भाव से और नामसे स्तुति करने लगते हैं, यह ही स्वाभाविक है। ये ही इसके पूर्व मधुकैटभ वध की शक्ति और बीज स्वरूप से वर्णित हुई थीं। यद्यपि वहाँपर विप्रचित के प्रलय रूप से कुछ नहीं बोला गया है, तथापि जानने होगा—बहुत्व की स्पृहा का नाश ही यावतीय चित्त विलयों का बीज स्वरूप होता है। बहुभावों की आकांक्षा की निवृत्ति होने ही से, अन्यान्य आसुरिक भावों का विलय होता है। इन रक्तदन्तिका देवी के आविर्भाव से विप्रचित्त नामक असुर एवं योगियों का निर्माण-चित्त पर्य्यन्त विनष्ट हो जाता है। निर्माण-चित्त के मूल में भी तो यही बहुत्व की

स्पृहा ही सूक्ष्म भाव से रहती है, इस बात के अस्वीकार करने का उपाय नही। यद्यपि वह बन्धनजनक नहीं है, तथापि भेद ज्ञान तो ठीक ही है। अच्छा जो हो, इस वहुत्व-स्पृहा का सम्यक् विलय साधन करके साधक को कैवल्य पद में प्रतिष्ठित करने के लिये ही नन्दाशक्ति मा रक्तदन्तिका मूर्त्ति से आविर्भाव होता है।

भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि ।
मुनिभिः संस्तुता भुमौ सम्भविष्याम्ययोनिजा ॥४२॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन् ।
कीर्त्तयिष्यन्ति मनुजा ःशताक्षीमिति मां ततः ॥४३॥

अनुवाद—फिर जब शतवर्ष व्यापी अनावृष्टिवशतः पृथिवी जल-शून्य होगी, तब मैं मुनियों द्वारा संस्तुत होकर अयोनिजा रूप में पृथिवी मे आविर्भूत होऊंगी : क्योंकि तब मैं शतनयनों से मुनियों का निरीक्षण करूंगी, इसीलिये तभी से मनुष्यगण मुझे शताक्षी नाम से कीर्त्तन करेंगे।

व्याख्या—इसके पूर्व नन्दाशक्ति एवं रक्तदन्तिका वीज रूप से प्रथम चरित का रहस्य व्याख्यत हो चुका है। अब मध्यम चरित के रहस्य वर्णन का उपक्रम हो रहा है। देवी बोली, "फिर मै आविर्भूत होऊँगी। जब शतवर्ष व्यापी अनावृष्टिवशतः जगत जलशून्य होगा, अर्थात् आनन्दमय परमात्म रस के अभाव से जीवजगत शुष्क प्राणहीन साधना की कङ्काल (ठांठर) मात्र लेकर नाड़ाचाड़ा करेंगे, मुनिगण— ब्राह्मणगण उस धर्म की ग्लानि मय अवस्था से मर्म पीड़ित होकर मेरा स्तव करेंगे, तब अकस्मात् 'भूमौ सम्भविष्यामि' भूमि मे ही मैं प्रकटित होऊंगी—भूमिका अर्थात् भौत्तिक पदार्थ समूह का जड़त्व-ज्ञान तिरोहित करके चित् सत्ता की वा सत्य की प्रतिष्ठा करूंगी। इसी समय में मुनियों को—मननशील साधकों को शतनेत्रों से निरीक्षण करूंगी, अर्थात् मननशील साधकगण तब मुझे विश्वतश्चक्षु

रूप से—विश्वव्यापी दृक्शक्तिरूप से दर्शन करेंगे। उसी समय मनुजगण आनन्द से उत्फुल्ल होते हुये, मुझे शताक्षी नाम से कीर्तन करेंगे। मनुष्य तब जिधर देखेंगे, उधर ही मेरी दिव्य दृष्टि—स्नेहमय विलोकन देखेंगे, इसीसे शताक्षी नाम कीर्तन बिना किये न रह सकेंगे। मैं तब भूमि में अर्थात् जड़पदार्थ समूहों में विशेष भाव से सत्यरूप से चैतन्य रूप से आत्मप्रकाश करूंगी, सर्वत्र अपनी सत्ता उद्भासित करूंगी, इसलिये मनुजगण—मनु की सन्तानें सर्वत्र ही मेरा विशिष्ट प्रकाश अवलोकन करते हुये अतिशय हर्ष को प्राप्त होंगे।"

ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्रणधारकैः ॥४४॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ॥४५॥

अनुवाद—हे सुरगण! तब मैं आत्मदेह समुद्भूत प्राणधारक शाक समूहों के द्वारा बृष्टि न होने पर्य्यन्त समग्र लोकों का भरण अर्थात् प्रतिपालन करूंगी। उसी समय में मैं पृथ्वीपर शाकम्भरी नाम से विख्यात होऊंगी।

व्याख्या! देवी बोली—"हें देवता बृन्दो? वह शताक्षी मैं ही फिर शाकम्भरी नामसे प्रसिद्ध होऊंगा। कारण, उस अनावृष्टि समय में आत्म-देहसमुद्भूत प्राणधारक शाक समूहों के द्वारा अखिल लोक का भरण अर्थात् प्रतिपालन करुंगी।" नागोजीभट्टने इस शाकम्भरी मूर्ति का आविर्भाव काल निरूपण किया है—चत्वरिंशत्तम महायुग। अर्थात् वर्तमान युग अपेक्षा और ऐकादश महायुग अतीत होनेपर, तब वह काल आवेगा। उस समय दीर्घकाल व्यापी अनावृष्टि वशतः शस्यादि का सम्पूर्ण अभाव होगा, तब स्नेह विह्वला मा स्वकीय शरीरोत्पन्न शाकके द्वारा पुनः वृष्टि न होने पर्य्यन्त जीव-सन्तानों की रक्षा करेंगीं। ऐसे दुःसमय के उपस्थित होने में अभी भी बहुविलम्ब

है। वर्तमानकालीय जीवों के अगणित अधस्तन पुरूषों को भी वैसे विपदापन्न होने की कोई आशन्का नहीं है।

अच्छा जो हो, हम इसके आध्यात्मिक अर्थ को समझने की चेष्टा करें। आत्मदेह समुद्भुत शाक शब्द से क्षितितत्वका रस वा जीवनी शक्ति समझ में आती है। क्षितिही आत्मा की देह है, उससे समद्भूत जो प्राण धारक शाक अर्थात् जीवनी शक्ति है, सोई आ-वृष्टिकाल जीवों की रक्षा करेगी तात्पर्य यह है कि जब तक वृष्टि नहीं होगी, अर्थात् आनन्दमय ब्रह्मप्रज्ञा की धारा से समग्र विश्व परिप्लावित नहीं होगा, (साधक समग्र विश्व शब्दसे यहाँपर समग्र बुद्धि समझना) जब तक जीव आनन्दमयब्रह्म सत्ता में पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं होगा, तब तक मा शाकम्भरी रूप से आत्मदेह समुत्पन्न प्राणधारक शाक के द्वारा जगत का परिपोषण करेंगी, अर्थात् प्राणप्रतिष्ठाका अनुशीलन करती हुई त्रिताप सन्तप्त जीवोंके हृदयमें शान्तिका उत्स खोल देनेकी चेष्टा करेगी।

सुनो—खुलाशा कहते है, मा बोली—जगत में ऐसा एक समय आवेगा, जब अनावृष्टि से अर्थात ब्रह्मरसधारा के अभाव से जीव गण अतिशय दुःखित और सन्तप्त हो पड़ेंगे, जब फिर स्थूल जगतमें आत्मरस का सन्धान नहीं पायेंगे, आत्माको जगदतीत अज्ञेय वस्तु कहते हुये परित्यागपूर्वक जीवगण एकान्त वहिर्मुख हो पड़ेंगे, तब मैं शाकम्भरी मूर्त्ति से आविर्भूत होऊँगी। यह विश्व ही तो मेरी देह है, इसे जीव को समझा दूंगी तब वे मेरे इस विश्व शरीर में प्राणधारक शाकका सन्धान पावेंगे। विश्वका प्रत्येक पदार्थ ही तो प्राणमय है—एकमात्र चैतन्य वस्तुही तो इस विश्वका उपादान है, यह तब अनायास में जीव वृन्दों के उपलब्धि योग्य होगा। तब वे जिधर ही दृष्टिपात करेंगे, उसी ओरही प्राण धारक शाक देखेंगे, अर्थात चैतन्य का सन्धान पाकर स्वयं परिपुष्टता का लाभ करेंगे।

एक प्रकार बोला जा सकता है—प्राणहीन, जड़त्वमुग्ध, संसार सन्तप्त मनुष्यों को फिर से प्राणप्रतिष्ठ करना ही मा की शाकम्भरी

मूर्ति का कार्य्य है। जड़पदार्थों में चैतन्य दर्शन ही शाक के द्वारा जीवन रक्षा का रहस्य है। जो हो, हमने समझा—माँ शाकम्भरी रूपसे हमें प्राणप्रतिष्ठ करा देती है। ये शाकम्भरी ही मध्यमचरित्र की शक्ति रूपसे वर्णित हुई हैं। शाक के द्वारा जीवगणों का भरण अथात पोषण करती है इसीसे मा यहाँ पर इसी नाम से परिचिता हैं। इस शाकम्भरी शब्दका और एकप्रकार अर्थ हो सकता है—कठोपनिषत् ने "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवति ओदनं" इत्यादि मन्त्र से जीवों को अन्न एवं मृत्यु को उपसेचन—व्यञ्जन अर्थात् शाक रूपसे कीर्तन किया है। शाक-स्थानीय मृत्यु को जो भरण करती हैं, अथवा आत्मदेह समुद्भूत शाकस्थानीय मृत्यु द्वारा ही जो जीवों को भरण करती हैं, अर्थात् पुनः पुनः मृत्युरुप आहार्य्य देकरही जो जीव सन्तानगणों को परिपुष्ट करती हैं, वही हैं शाकम्भरी, अर्थात् अमृत स्वरूप आत्माही शाकम्भरी नाम से परिचित होती हैं।

तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्।
दुर्गादेवीति विख्यातं तन्मे नामभविष्यति ॥४६॥

अनुवाद। उसी समय में दुर्गम नामक महासुर को निधन करूंगी। तभी से मेरा दुर्गादेवी यह विख्यात नाम प्रचलित होगा।

व्याख्या। मा बोली "उसी शाकम्भरी मूर्त्तिहीं से मैं दुर्गम नामक असुरको निधन करके दुर्गादेवी नाम से विख्यात होऊंगी। जो आत्मतत्व बड़ाही दुर्गम है, जिसकी उपलब्धि नितान्त दुरुह है, श्रुति ने जिसे क्षुरधारा की न्याईं निशित दुर्गपथ बोलकर निर्देश किया है। उसी दुर्विज्ञेय आत्मतत्वको सहजलभ्य कर देने ही केलिये मैं शाकम्भरी शक्तिरुप से आविर्भूत होउंगी। प्राण प्रतिष्ठा कराके आत्माका सन्धान दूंगी। तब जीवों का दुर्ग अर्थात् जीवत्वरुप दुरावस्ता अनायासमें विनष्ट होजायेगी. इसीसे उसी समय से वही शाकम्भरी मैं ही दुर्गादेवी नाम से ख्यात होऊंगी।"

दुर्ग शब्द के उत्तर हननार्थक आ धातु से दुर्गा शब्द निष्पन्न हुआ है। दुर्गा शब्द का अर्थ—दुर्गति हारिणी जननी हैं। ये दुर्गाही मध्यम चरित के उपोद्घात में शाकम्भरी शक्ति और दुर्गा वीज का विषय उल्लिखित हुआ है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें "दुर्गादेवितिविख्यातं तन्मे नाम भविष्यति" यह अंश नहीं है। प्राचीन टीकाकारों ने भी इसका उल्लेख नही किया। पुस्तकों में उल्लेख न रहने पर भी हम किन्तु प्रतिजीवों में ही माका दुर्गादेवी रूप से आविर्भाव देखने में पाते हैं—जबही जीव दुर्गत होता है, दुर्गम असुर के अत्याचार से विव्रत होकर आत्मज्ञानाभिमुखी अग्रसर होने में असमर्थ होता है, तबही मा हमारी दुर्गादेवी रूपसे आविर्भूत होकर दुर्गम असुर को निपातित करती हुई स्नेहभरी सन्तानों की दुर्गति हरण करतीं हैं, एवं आत्मज्ञान का पथ सुगम करदेती हैं। मालूम होता है भारत में विशेषतः बङ्गदेश में बहुपुर्वकाल से ही इसीसे दुर्गा पूजा का प्रचलन हुआ है। अभी—इस अविश्वास के युग में—इस श्रद्धाहीनता के युग में भी मनुष्य दुर्गापूजा करके "भूतानि दुर्गा भुवनानि दुर्गा स्त्रियोनरश्चापि पशुश्च दुर्गा, यद् यद् हि दृश्यं खलुसैव दुर्गा दुर्गा, स्वरुपादपरं न किञ्चित्'. बोलते बोलते सर्वत्र दुर्गास्वरुप देखकर धन्य होते हैं, किन्तु वह और बात हैं—

——

पुनश्चाहं यदाभीमं रूपं कृत्वा हिमाचले।
रक्षांसि क्षययिष्यामि मुनीनां त्राणकारणात् ॥४७॥
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्त्तयः।
भीमादेवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ॥४८॥

अनुवाद—फिर मैं 'जब अति भयंकर रूप धारणपूर्वक हिमाचल पर अवतीर्ण होकर मुनियों की रक्षा के निमित्त राक्षसों का क्षय करुंगी, तब मुनिगण विनम्र मूर्त्ति से मेरा स्तव करेंगे। तब मेरा

भीमा देवी यह प्रसिद्ध नाम (प्रचलित) होगा।

व्याख्या—लक्ष्मी तन्त्र के प्रमाण अनुसार इस भीमा अवतार का काल वैवस्वत मन्वन्तरीय पञ्चशत्तम चतुर्युग है। उस काल के आने में अभी बहुविलम्ब है। अभी तो हाल में अष्टाविंशति महायुग चल रहा है, अभी और इकोसत्महायुगों से अतीत होने पर, तब कहीं भीमा—आविर्भाव का काल उपस्थित होगा। हम किन्तु मा का इस भीमा मूर्ति में आविर्भाव इस युग में भी कभी कभी प्रत्यक्ष करते हैं। कुछ दिन अतीत हुये, पृथ्वी के पश्चिम भाग में मा ने भीमा मूर्त्ति से आविर्भूत होकर बहुसंख्यक राक्षस प्रकृति जीवों का विनाश साधन किया था। जड़त्व में मुग्ध जीवगण जब एक दूसरे के मुख का ग्रास अपहरण करने को उद्यत होते हैं, तभी समझ में आता है—मा हमारी ने राक्षस प्रकृति से उन्हें अङ्क में धारण कर रखा है, ऐसे जीवों के ही विनाश के लिये मा को बीच बीच में भीमा मूर्त्ति से—भयंकरी रूप से आविर्भूत होने होता है।

अच्छा जो हो आध्यात्मिक दृष्टि से देखने में आता है मुनियोंके परित्राण ही के लिये इस भीमाशक्ति का आविर्भाव होता है। मुनि-गण—मननशील साधकगण जब राक्षसी प्रकृति के द्वारा उत्पीड़ित हो पड़ते हैं, तभी मा एसे भयंकर-मूर्ति से आविर्भूत होती हैं। 'हिमाचल पर मा का आविर्भाव होता है। जड़त्व विमूढ़ जीवों ही को हिमाचल कहा जाता है। जीव जब जड़त्व में सम्पूर्ण मुग्ध हो पड़ता है, जड़ की उन्नति साधन ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य समझ बैठता है; तब ही मा भीमा मूर्ति से प्रकटित होकर, दुर्भिक्ष महामारी राष्ट्रविप्लव जलप्लावन प्रबल वात्या प्रबल भूमिकम्प प्रभृति रूप से आत्मप्रकाश करके, राक्षस प्रकृति जीवों का विनाश साधनपूर्वक, मननशील साधकों की रक्षा करती हुई, जगत में फिर से सत्य और धर्म्म का प्रतिष्ठा करती हैं। इस प्रकार की भीमा मूर्ति में आविर्भाव के समय विश्व हित के लिये धृत-व्रत मुनिगण नम्र मूर्ति से मा का स्तव करने लगते हैं। मा उस स्तव से सन्तुष्ट होकर पूर्वोक्त रूप भयन्करी मर्त्ति

परित्याग करती हैं। तब फिर प्रशान्तमूर्त्ति मे—जगद्धात्रीमूर्त्ति से आत्मप्रकाश करती हुई जगत् की अशान्ति दूर कर देती हैं।

यदारुणाख्यस्त्रैलोक्ये महाबाधां करिष्यति।
तदाहं भ्रामरं रूपं कृत्वाऽसंख्येयषट्पदम् ॥४९॥
त्रैलोक्यस्य हितार्थाय बधिष्यामि महासुरम्।
भ्रामरीति च मां लोकस्तदा स्तोष्यन्ति सर्व्वतः ॥५०॥

अनुवाद—जब अरुणाख्य असुर त्रिलोक को अत्यन्त उत्पीड़ित करेगा, तब मैं त्रिलोक के हित के लिये असंख्य षट्पद् परिवृत भ्रामरी रूप धारण करके, उस अरुण नामक महासुर को वध करूँगी। उसी समय लोक समूह भ्रामरी कहकर मेरा स्तव करेंगी।

व्याख्या—लक्ष्मीतन्त्र के वाक्य अनुसार जाना जाता है—इस भ्रामरी अवतार का काल-वर्त्तमान मन्वन्तरीय षष्टितम युग है। जोकि वर्तमान युग से इकत्रीश महायुगों के अतीत होनेपर वह काल आवेगी। वह सुदूर भविष्यत की बात है, वर्तमान में उस काल की कल्पना भी नहीं की जाती। जो हो इस मूर्त्ति के स्वरूप वर्णन में उक्त है—"तेजोमण्डल दुर्द्धर्षा भ्रामरी चित्रकान्तिभृत्। चित्रभ्रमर-पाणि सा महामारीति गीयते॥" असंख्य भ्रमर परिवेष्टित अथवा विचित्र भ्रमर-पाणि यह मूर्त्ति अरुण नामक असुर को हनन करेंगी।

अब हम इसके आध्यात्मिक रहस्य में प्रवेश करने की चेष्टा करेंगे, आत्मज्ञान उदय की पूर्वावस्था को ही अरुण नामक असुर कहा जाता है। जैसे सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय होता है, ठीक वैसे ही ज्ञान सूर्य उदयके पूर्वही चिदाभासरूप अरुण का उदय होता है। उसे देखकर जो सब साधक उसी को चरम ज्ञान मान बैठते हैं, जानलो—वे इसी अरुणासुर कर्त्तृक उत्पीड़ित हैं। उत्तम चरित में जो शुम्भासुर नामसे कहागया है, उसीका अपर नाम अरुणाख्य असुर है। यह अरुणासुर यथार्थ ही त्रिलोक का उत्पीड़क है—त्रिलोककी महाबाधा—अतिशय

उत्पीड़न संघटन करती है। अहं आत्मा सजकर अनेक कर्त्तृत्व भोक्तृत्व प्रभृति व्यापार समूहों का आश्रय हो जाता है। इसीसे मा हमारी भ्रामरी रूपसे भ्रमविनाशिनी रूप से आविर्भूत होकर चिदाभास के आत्मत्वभ्रम को बिनष्ट कर देती हैं। अन्नमयादि षाट्कौषिक देह का नाम हैं षट्पद। यहाँपर पद शब्द का अर्थ है स्थान। अनात्म वस्तु में आत्मत्वभ्रम इन्हीं छ स्थानों में ही प्रकाश पाता है इसीसे चिन्मयी मा हमारी षट्पद परिवृतारूप से भ्रामरी नामसे परिच्चिता होती हैं। जब परमात्मा मा स्वरूप से प्रकाशित होकर इस दुरपनेय भ्रमर का विनाश साधन करती हैं, अर्थात् ज्ञानाभासरूप त्रिलोक उत्पीड़क अरुणासुर को विनाश करती हैं तब लोक सब विशुद्ध चैतन्य का सन्धान पाकर निरवच्छिन्न आनन्द सत्तामें प्रतिष्ठित होते हैं एवं भ्रम विनाशिनी मा की भ्रामरी नामसे नानाविध स्तव करने लगते हैं। इसीसे मन्त्रमें "भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वतः" ऐसे देवी वाक्य का उल्लेख है। ऋषि च्छन्द में ये भ्रामरी देवीही उत्तम-चरित के बीज रूपसे राक्षसी प्रकृति को विलय करती हैं, सोई चिदाभासरूप अरुणासुर का विनाश करके भ्रामरी नामसे परिचित होती हैं आनन्द प्रतिष्ठाही उत्तम चरित का प्रतिपाद्य विषय है।

अब हम संक्षेपमें पूर्वोक्त कई एक मन्त्रोंका सारमर्म जानने की चेष्टा करेंगे। प्रथम—नन्दा शक्ति, रक्तदन्तिका बीज, यह मधुकैटभ-वध—सत्यप्रतिष्ठा वा ब्रह्मग्रन्थि भेदका सूत्र है। द्वितीय—शाकम्भरी शक्ति, दुर्गा वीज, यह महिषासुर-वध—प्राण प्रतिष्ठा वा बिष्णु-ग्रन्थि भेद का सूत्र है। एवं तृतीय—भीमा शक्ति, भ्रामरी वीज, यह शुम्भ निशुम्भ वध—आनन्द प्रतिष्ठा व रुद्रग्रन्थि भेद का सूत्र है। देवी माहात्म्य वर्णित तीन रहस्यों के यही तीन संक्षिप्त विवरण हैं। केवल अतीत यूगों में ही इस प्रकार विशिष्ट आत्मप्रकाश हुआ हो, सो नहीं वर्तमानकाल में भी प्रत्येक साधक-हृदय में ऐसेभाव से माका आविर्भाव होता है। और भविष्यत में भी मा हमारी ठीक इसी

प्रकारसे ही जो आत्मप्रकाश करेंगी। यहीं पर उसकी प्रतिश्रुति भी दे रही हैं।

वर्तमान साधन-समरमें मा हमारी ने जिन सब मूर्तियों से जिन सब असुरों का निधन किया है, भविष्यत में भी इसी प्रकार करेंगी, उस समयमें मूर्ति समूहों के नाम और रूपों की विभिन्नता एवं असुर-गणों के भी नाम और कार्य प्रणाली की विभिन्नता दिखाई देगी। पूर्वोक्त कई एक मन्त्रों से ऐसा ही तात्पर्य्य लक्षित होता है। यह एक सोचने का विषय भी ठीक है। सुदूर भविष्यतकालमें (१) सत्य सत्य ही जीव समूह वर्तमान कालीय जीवों की अपेक्षा अधिक विमूढ़ एवं अनेक विभिन्न प्रकृति सम्पन्न होंगे। तबकी आसुरिक वृतियांसब यथार्थ ही वर्तमान कालापेक्षा और भी भीषणतर होंगी। तब अज्ञान इस जीव जगत् को और भी आच्छन्न करेगा। इसी प्रकार अज्ञा-नान्धकार जब अत्यन्त धन होगा, ज्ञानमयी माभी तब अधिक सुलभा होगीं। इसी से, मन्त्रमें भी देखते हैं, भविष्यत् युगमें सर्व प्रथम ही नन्दामूर्तिसे शुम्भ निशुम्भवध है। उसके बाद शाकम्भरी मूर्त्ति से अनावृष्टि से स्वदेहोत्पन्न शाक के द्वारा देश रक्षा, दुर्गारूपसे दुर्ग-मासुर वध, भीमा मूर्तिसे राक्षस निधिन पूर्वक मुनियों की रक्षा एवं भ्राभरी रूपसे अरुणासुर वध। यही है माकी भविष्यत् कर्मसूची।

इत्थं यदायदा वाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्य्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥५१॥

इति श्रीमार्कण्डेय पुराणे सावर्णिक-मन्वन्तरे देवी माहत्म्ये
देव्याःस्तुतिः।

---

(१) वर्तमान कलियुग के बाद फिर सत्य त्रेता और द्वापर युग अतीत होने पर; द्वितीय बार कलियुग आवेगा। इसी प्रकार एकादश कलियुग अतीत होनेपर जो कलियुग आवेगा उसमें नन्दाशक्ति-इसी प्रकार इकीस कलियुग बीतने पर शाकम्भरी शक्ति, एवं इकत्रीश कलियुग बीतने पर भीमा शक्ति का आविर्भाव होगा। यह तन्त्र के प्रमाणों से जानने में आता है।

अनुवाद—इसी प्रकार जब जब दैत्य कर्त्तृक उत्पीड़न होगा तब तब ही मैं अवतीर्ण होकर अरि-संक्षय करूंगी।

इति श्रीमार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय
देवी माहात्म्य-प्रसङ्गमें देवी की स्तुति।

व्याख्या—यही है देवी वाक्य का उपसंहार। देवतागणों ने त्रैलोक्य की सर्ववाधा-प्रशमन रूप वर की प्रार्थना की थी, मा ने उस वर प्रदान को उद्यत होते हुए जो सब बातें कहीं; उसमें सुदूर भविष्यत् काल में भी जितने प्रकार के उत्पीड़न होंगे, सो भी परिव्यक्त हुये है। सर्व शेष में बोली—"जब जब ही असुर उत्पीड़न उपस्थित होंगे, तब तब ही इसी प्रकार मैं स्वयं अवतीर्ण होकर अरिकुल विनष्ट कर दूंगी।" आत्मज्ञान लाभ के मार्ग में जितने प्रकार की वाधा-उत्पीड़न ही क्यों न आकर उपस्थित हों, मातृचरणों में सर्वतोभाव से शरणागत सन्तानों के उन सब वाधा-विघ्नों को मा स्वयं स्वहस्त से विदूरित कर देती हैं। यह ही हमारे पक्ष में एकमात्र आशा की वाणी और भरोसा का स्थल है। गीता में श्री भगवान ने भी यही बात पुनः पुनः कही है। आत्म समर्पण—योगी का समस्त भार एकमात्र मातृ अङ्क में विन्यस्त है, सुतरां वे सम्यक् भाव से निश्चिन्त है, पूर्ण आनन्द-मय—मातृ अंकस्थ नग्न शिशु हैं। उनपर जितने रकम की वाधा ही क्यों न उपस्थित हो, मा स्वयं ही उसे दूर कर देती हैं, वर्तमानकाल में भविष्यत काल में एवं अतीत काल में इसका अन्यथा कभी भी नहीं होता, हो नहीं सकता। आओ साधक, हम भी "शरणागत-दीनार्त्त-परित्राणपरायणे। सर्वस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥" बोल कर मातृचरणों में शरणागत हों। मा हमारी सर्वविध असुर अत्याचार से रक्षा करके आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित कर देंगी।

मा ने यहाँ पर "अवतीर्य्याहं" कहकर जिस अवतार तत्व का आभास दिया है, परवर्त्ती अध्याय में "एवं भगवती" इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या में सो सम्यक् रूप से व्यक्त होगा।

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या में नारायणी स्तुति समाप्त।

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य।

रुद्र ग्रन्थिभेद।

फलश्रुति।

देव्युवाच।

एभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः।
तस्याहं सकलां बाधां शमयिष्याम्यसंशयम् ॥१॥

अनुवाद—देवी बोली—जो व्यक्ति समाहित होकर इन सब स्तवों के द्वारा मेरा स्तव करेगा, मैं निःसंशय रूप से उसकी सारी बाधायें प्रशमन करूंगी।

व्याख्या—देवताओं को वाञ्छित वर प्रदान करके, मा ने साधारण भावसे कुछ उपदेश प्रदान किये। इन उपदेशों को हम फलश्रुति नाम से परिचित करते हैं। माकी प्रथम बात "एभिः स्तवैः"। मधुकैटभ वध में ब्रह्मा का स्तव (त्वं स्वाहा इत्यादि), महिषासुर वध में शक्रादि स्तुति, देवी दूत-संवाद में नमस्तस्यै स्तुति एवं शुम्भ वध के अवसान में नारायणी-स्तुति, इन सब स्तवों को लक्ष्य करके ही मन्त्र में "एभिः स्तवैः" कहा गया है।

मा की द्वितीय बात—समाहित। चित्त यदि समाहित अर्थात् आत्मस्थ होता है, तबही स्तवादि पाठ का यथार्थ फल लाभ होता है। यह ठीक है कि सम्यक् भाव से आत्मस्थ होनेसे तो फिर स्तव होही नहीं सकता, उस अवस्था में तो ज्ञातृ-ज्ञेयादि त्रिपुटी ज्ञानका भी बिलय हो जाती है, यहाँ पर ऐसी समाहित अवस्था की बात नहीं

कही गई है। यहाँपर समाहित शब्द से जानने होगा—माकी ओर लक्ष्य स्थिर रखना! माकी ओर देखते हुये, चित्तकी वृत्ति मातृमुखी करके स्तुति वाक्यों का यथायथ अर्थ बोध करते हुये, उसी अर्थानुयायी भावसे और रससे स्वयं भाबुक और रसिक होकर, यथासाध्य मातृ-महत्व कीर्तन कर सकने ही से समाहित अवस्था में स्तुति पाठ होता है। महत्व कीर्तन एवं नाम कीर्तन एकही बात है। ऐसा कोई नाम नहीं है, जिसमें माका महत्व कीर्तित नहीं होता है। हरि कृष्ण राम दुर्गा श्यामा शिव शंकर प्रभृति जो कोई भी नाम उच्चारण क्यों न किया जाय, उस नामके यथार्थ अर्थ के प्रति अभिनिवेश प्रयोग करने ही से साफ समझ में आता है कि प्रत्येक नामही महत्व ज्ञापक है। यदि नाम के साथ-साथ सत्यार्थ ज्ञानरूप सद्गुरु का आविर्भाव होवे तो निश्चयही ये ही सब नाम प्राणमय और महत्वमय होकर अभीष्ट देवता को सन्निहित करदेते हैं, सुतरां जो साधक हैं, वह नाम कीर्तन के साथ साथ ही नामानुयायी भाव एवं रससे भावमय और रसमय हो जाते हैं। इसीसे सर्वाग्रे मन्त्रचैतन्य के विषयमें अभिज्ञता लाभ करना साधकमात्रका ही एकान्त (कर्तव्य है) आवश्यक है। मन्त्र-चैतन्य न होने पर्य्यन्त स्त्रव स्तुति पूजा जप उपासना सभी मानो प्राणहीन अनुष्ठान मात्र में पर्य्यबसित होजाते हैं। प्रथम खण्डमें मन्त्रचैतन्य व्याख्यात होचुका है।

जो समाहित-चित्तसे स्तोत्रपाठ कर सकते हैं, मा सत्यसत्यही उनकी सब बाधायें स्वयं प्रशिमित करदेती है। क्यों करती है? मानलो, तुम बोलते हो—समाहित चितसे सत्यज्ञान से सरल प्राणों से बोलते हो-"ध्वान्तारिं सर्व्वपापघ्नं" ऐसे बोलते बोलते अज्ञान-अन्धकार नाश एवं पापक्षय का भाव तुम्हारे चित्तमें निश्चयही फूट उठेगा। कार्य्यतः वही संघटित होगा, कारण चित्तमें जो भाव सम्यक् रूपसे आहित होता है कुछ दिन बाद फलरूपसे भी वही प्रकाश पाता है। चित्तको जैसे भाव से गठित किया जाता है, चित ठीक तैसा ही फल आनयन करता है। इन सब विषयों की युक्तियों के द्वारा समझाने

का भी कोई प्रयोजन नही, क्योंकि इसका फल प्रत्यक्ष है। जब इस प्रकार का अनुष्ठान किया जाता है तभी इसकी सत्यता भी अनुभव की जा सकती है। केवल वाक्यों में जान रखने से नहीं होता, कार्य्य में करने से निश्चय ही फल पाया जाता है।

मधुकैटभनाशञ्च महिषासुर-घातनम्।
कीर्त्तयिष्यन्ति ये तद्वद्वधं शुम्भ निशुम्भयोः ॥२॥
अष्टम्याञ्च चतुर्द्दश्यां नवाम्याञ्चैकचेतसः।
श्रोष्यन्ति चैव ये भक्तया मम माहात्म्यमुत्तमम् ॥३॥
न तेषां दुष्कृतं किञ्चद् दुष्कृतोत्था न चापदः।
भविष्यति न दारिद्र्यं न चैवेष्ट वियोजनम् ॥४॥

अनुवाद। जो एकाग्र चित्त से अष्टमी नवमी एवं चतुर्द्दशी में मधुकैटभ-नाश, महिषासुर-निधन और शुम्भनिशुम्भ वध रूप मेरा उत्तम माहात्म्य कीर्तन करता हैं, अथवा जो भक्ति के साथ श्रवण करता है, उसकी कोई प्रकार की दुष्कृति, अथवा दुष्कृत जन्य कोई आपाद नहीं रहती, एवं दारिद्र्य किंबा इष्टवियोग उपस्थिति नही होता।

व्याख्या। पूर्व मन्त्र में केवल स्तवपाठ का फल कहा गया है; इन मन्त्रोंमें समग्र देवीमाहात्म्य पाठ और श्रवण का फल कहा गया। अष्टमी चतुर्द्दशी प्रभृतिका आध्यात्मिक अर्थ कीलक स्तोत्र में व्याखात हो चुका है, पुनरूक्ति निष्प्रयोजन। इन सब मन्त्रों में जिस फल श्रुति का उल्लेख है, वह अर्थवाद मात्र नहीं है। यथार्थ ही ये सब मन्त्रोक्त फल प्राप्त होते हैं—देवी ने जो दो बातें विशेष भाव से कहीं हैं यदि साधक उनकी ओर लक्ष्य राखे।

देवी बोली हैं—'एकचेतसः एवं 'भक्तया'। प्रथमतः—एक जो वस्तु है—जिसमें कोई प्रकार का भेद नहीं, चित्तको उसके अभिमुखी करके

रखने होगा। और द्वितीयतः--भक्ती के साथ स्तोत्रादि पाठ करने होगा देवी के वाक्यमें अचल विश्वास ऐवं देवी के अभिमुख चित्त विन्यास, इन दोनों के रहने से ही देवीमाहात्म्य कीर्तन वा श्रवण का जो यथार्थ फल है, सो अवश्य ही प्राप्त होगा (होता है) दुष्कृतादि यथार्थ ही दूरीभूत हो जाते हैं। विशेष बात—हम यहाँतक देवीके इन तीन चरित्रों की जिस भावसे आलोचना करते आ रहे हैं, उस तत्वको स्थिर रखते हुए यदि कोई चण्डी पाठ वा श्रवण करेंगे, तो उनके सामने माका यथार्थ स्वरूप निश्चय ही उद्भासित होगा। उनके लिये दुष्कृत नामक कुछ नहीं रहेगा। सुतरां दुष्कृत जन्य आपदों की भी सम्भावना नहीं रहेगी। इसके बाद दारिद्रय की बात। अभाव बोधका नाम है दारिद्रय! जो "पूर्णमदः पूर्णमिदं" सत्ता में प्रतिष्ठित हैं, उनको अभाव बोध रहही नहीं सकता। इसीसे मन्त्रमें "भविष्यति न दारिद्र्यं" कहा गया है।

"न चैवेष्टवियोजनम"—इष्ट वस्तु के साथ वियोग नहीं होता। एकमात्र प्रियतम परमात्माही तो यथार्थ इष्ट वस्तु हैं। उनके साथ कभी भी बियोग संघटित नहीं होता। आशंका हो सकती है कि, परमात्माके साथ तो किसी के भी वियोग की सम्भावना नहीं, तो फिर देवीमाहात्म्य के पाठ और श्रवण के फलसे इसप्रकार इष्ट-बियोग के अभाव कहने से क्या लाभ हुआ? यह आपत्ति सत्य है। उत्तर यह है कि परमात्मा के साथ कभी भी किसीका भी वियोग संघटित जो नहीं होता है (वा न हो सकता है), इसे केवल वही समझ सकते हैं, जो समाहित चित्तसे भक्तीके साथ देवी-माहात्म्य पाठ और श्रवण करते हैं।

एकमात्र आत्माही सबका इष्ट है? ज्ञानी अज्ञान धार्मिक-अधार्मिक सभी की एक मात्र इष्ट वस्तु है आत्मा। जो समझते हैं, कामिनी काञ्चन ही उनका इष्ट है, वेभी थोड़ा धीरभाव से चित्तमें विचार करनेसे समझ सकेंगे, एकमात्र आत्माकी प्रीति साधन के लिये ही मनुष्य काम काञ्चन में आसक्त होतो है। इस जगत में कोई भी

पार्थिव वस्तु के लिये आत्मा को नही चाहता, आत्माके लिये ही पार्थिव विषयों का अन्वेषण करता है। इसीसे (करने होता) कहता हूं—आत्माही है एकमात्र इष्टदेव। उनके साथ देवी माहात्म्य-तत्वाधिगामी साधकों का किसी भी काल में बियोग नहीं घटता, घट नही सकता।

और साधारण अर्थ मे इष्टवियोग शब्दसे, पार्थिव प्रियजन वा प्रिय वस्तु का अभाव समझलेने में भी कोई हानि नहीं। कारण, देवीमाहात्म्य तत्वाधिगामी साधकगण मृत प्रियजन, अथवा विनष्ट प्रियवस्तु को इच्छामात्र से ही स्वकीय हृदय कमल में देखते हैं। छान्दोग्य उपनिषद में भी यह बात कही गई है। सुतरां कार्यतः तत्व-दर्शी साधकों को किसी भी अवस्था में इष्टवियोग नहीं होता।

और यदि "न चैवेष्टवियोजनम्" वाक्य का अर्थ करने में बोलो, कि इष्ट वियोग जन्य दुःख नहीं होता, तो और भी सुन्दर अर्थ है। श्रुति कहती है "तरति शोकमात्मवित्" जो आत्मज्ञ पुरुष हैं, सो शोक से—ईष्ट-वियोग जनित दुःखसे हमेशा के लिये परित्राण पाते हैं।

——

शत्रु तो न भयं तस्य दस्युतो वा न राजतः।
न शस्त्रानलतोयौघात् कदाचित् संभविष्यति ॥५॥

अनुवाद ! शत्रु दस्यु राजा शस्त्र अनल एवं जलप्लावन से उसकी (देवीमाहात्म्य पाठक का) कभी भी कोई भय नहीं रहता।

व्याख्या। साधारण अर्थ तो ठीक ऐसाही है। भक्ति के साथ समाहित चित्तसे देवीमाहात्म्य पाठ करने से, शत्रु दमन होता है, दस्यु दलन होता है, शस्त्र अग्नि जलप्लावनादि विपत्तियां विदूरित हो जाती हैं। और दूसरी ओर देखो—देवीमाहात्म्य के ईस प्रकार पाठ वा श्रवण करने से साधक को आत्मज्ञान लाभ होता है। उसके फल से काम क्रोधादि शत्रुगण किसी प्रकार से अनिष्ट साधन नहीं कर सकते, विवेक धन हरणकारी मोहरूप दस्युगण विपन्न नही कर सकते।

जब तक आत्म साक्षात्कार न हो, तब तक प्रवल प्रारब्ध संस्कारों के वश साधना से भ्रष्ट होने का भय रहता है—आशंका रहती है। अनेक साधक ही आशंका करते हैं कब कोन गुप्त संस्कार रूपी दस्यु अतर्कित आक्रमण से उसका अति कठोर साधनालब्ध ज्ञान भक्ति किंवा सिद्धि छीन लेंगे, यह जो दस्यु भीति हैं, यह परमात्मा साक्षात्कारी के पक्षमें उपहास मात्र हैं। कारण वे देखते हैं, आत्मा व्यतीत कहीं भी कुछ भी नही है। सत्यदर्शी साधकों के लिये फिर भय ही क्या, और पतन ही क्या ?

इसके बाद में रही राजभय की बात। इन्द्रिय वर्गो का राजा है मन उससे भी कोई भय नहीं रहता। मन की चंचलता, विषयाभिमुखिता आत्मविद् गणों के सामने अर्थ हीन वाक्य-स्वरूप है। अरे, मन चञ्चल ही रहे वा स्थिर ही रहे, आत्माभिमुखीही रहे अथवा विषयाभिमुखी ही रहे, उससे आत्माका क्या ? 'मैं' तो आत्मा मा हूँ। 'मेरा' फिर राजभय—मनकी चञ्चलता के लिये भय क्या ? जिसने मुझे (मैं को) पहचाना नहीं है, धर नही सके हैं, समझ नहीं सके हैं, सोई वोलते हैं—मन की चञ्चलता के लिये ही साधन भजन नहीं हुआ। अरे चञ्चलता के भीतर होकर ही थोड़े समयके लिये मा को—आत्मा को देखो ! उसी क्षणार्द्ध काल में हो तो जीवन धन्य हो जावेगा।

"न शस्त्रानलतोयौघात" यह वाक्य गीता के ठीक उसी "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। नचैनं क्लेदयन्त्यापः" वाक्य के साथ समानार्थक है। अस्त्र अनल एवं जलौघ से उसे कोई भय नहीं। गीतामें जो उपदेश शिक्षा और श्रवण है, देवीमाहात्म्य में उसीकी प्रत्यक्षता उपलब्धि एवं आनन्द हैं।

——

यस्मान्ममैतन्माहात्म्यं पठितव्यं समाहितैः।
श्रोतव्यञ्च सदा क्तया परं स्वस्त्ययनं हि तत् ।६

अनुवाद। अतएव समाहित चित्त से भक्ति के साथ मेरा यह माहात्म्य सर्वदा पाठ और श्रवण करे, यह ही परम स्वस्त्ययन— अतिशय मङ्गलजनक है।

व्याख्या। अतएव क्या ऐहिक सुखभोगार्थी, क्या पारलौकिक स्वर्ग-भोगार्थी, क्या मुमुक्षु, सभी को भक्ति पूर्वक एकाग्रचित्त से यह देवी माहात्म्य पाठ एवं श्रवण करना उचित हैं। एकबार पढ़कर "सकृत् कृते कृतः शास्त्रार्थः" कहकर पुस्तक उठाकर रख देने से नहीं चलेगा। देवी ने कहा हैं—"सदापठितव्यं श्रोतव्यञ्च सवदा पढ़े एवं श्रवण करे। बारंबार पठन एवं श्रवण करते करते यह चण्डीतत्व तुम्हारे जीवन के प्रत्येक कार्य के साथ समन्वित हो जावेगा। तब देखोगे, तुम्हारे जीवन की गति आत्माभिमुखी होती हुई, देवीमाहात्म्य प्रोक्त सब साधना तुम्हारे ही जीवन में अनुष्ठित होरही हैं— दिन पर दिन असुरों के साथ युद्ध चलरहा है। तवही समझोगे—देवी ने "सदा" शब्द का प्रयोग करके साधकों को कहाँ जाने के लिये कहा हैं। यह ही परम स्वस्त्ययन—अर्थाद् श्रेष्ठ कल्याण है। जागतिक सर्व विध कल्याण इस देवीमाहात्म्य के पाठ वा श्रवण से लाभ किये जाते हैं। इसीसे मा कहती हैं—यह ही स्वस्ति लाभ का एकमात्र उपाय है। इससे कोई पाठक यह न समझे कि, वेद वेदान्त परित्याग करके केवल देवीमाहात्म्य का ही पाठ और श्रवण करने होगा, नहीं तो कल्याण लाभ नहीं होगा, बात किन्तु सो नहीं है। यदि कोई यथार्थ कल्याणकामी होकर किसी शास्त्र ग्रन्थ का आश्रय ग्रहण करे, वह शास्त्र वेद वेदान्त ही हो, अथवा दर्शन पुराणादि ही हो, इसमें कुछ हानि नहीं। सभी शास्त्रों ने एक ही बात कही है, किसी शास्त्र के साथ किसी शास्त्र का कुछ भी विरोध नहीं है, इसे समझ सकने ही से शास्त्रपाठकी सार्थकता हो जाती है। वेदशास्त्र एवं ब्रह्म अभिन्न हैं। इसीसे वेद का भी एक नाम ब्रह्म है। वेदादि शास्त्रों का भी व्यक्तित्व है। वे चैतन्यमय एक जन हैं! शास्त्र रूपिणी मा कृपाकरके जब श्रद्धावान पाठक के हृदयमें सत्यार्थ का प्रकाश करती हैं, तबही

पाठक शास्त्र रहस्य अवधारण कर सकते हैं। इसीसे कहता था कि, शास्त्र की वह विशिष्ट कृपा लाभ करनी हो तो अतिशय श्रद्धा के साथ पूजादि करके शास्त्र पाठ करना कर्त्तव्य है।

शास्त्र कहने से प्रथमही श्रुति उपनिषत् इन सबको समझना अन्यान्य शास्त्रों का तात्पर्य्य जितना ज्यादा श्रुतियों के अनुगामी करसकोगे, उतनी ही उन सब शास्त्रों की गौरव रक्षा होगी। श्रुति विरुद्ध वाक्य कभी भी उपादेय नहीं। जिसमें आपाततः विरुद्धरूप प्रतीयमान शास्त्र वाक्यों को श्रुति अनुयायी एकार्थ बाची कर सको उसकी चेष्टा करोगे। ऐसी सब चेष्टओं के सफल होने का ही नाम परम स्वस्त्ययन परम कल्याण हैं। शास्त्र के वाक्य समूहों की एकार्थ वाचकता हृदयङ्गम कर सकने ही से संशयच्छेद रुप परम कल्याण लाभ होता है। इस देवीमाहात्म्यमें इसी प्रकार सर्वशास्त्र समन्वय विशेष भावसे परिव्यक्त हुआ है (कहा गया है)। इसीसे, इसका पाठ और श्रवण यथार्थही परम स्वस्त्ययन है!

व्यावहारिक जगतमें भी देखने में आता है—गुरु पुरोहितगण शिष्य यजमान के शान्ति और पुष्टि कार्यों के लिये देवीमाहात्म्य-पाठ रूप स्वस्त्ययन के अनुष्ठान करते हैं।

उपसर्गानशेषांस्तु महामारीसमुद्भवान्।
तथा त्रिविधमुत्पातं माहात्म्यं शमयेन्मम ॥७॥
यच्चैतत् पठ्यते सम्यङ् नित्यमायतने मम।
सदा न तद्विमोक्ष्यामि सान्निध्यं तत्र मे स्थितम् ॥८॥

अनुवाद। मेरा यह माहात्म्य महामारीजनित अशेष उपसर्ग एवं त्रिविध उत्पातों को प्रशमित करता है। जिस आयतन मे मेरा यह माहात्म्य नित्य सम्यक् पठित होता है, उस आयतन को मैं कदाच परित्याग नही करती मेरी सान्निध्य वहाँपर सर्वदाही रहती है।

व्याख्या। देवी माहात्म्य-पाठसे महामारी एवं तज्जन्य-उपसर्ग समूह प्रशमित होते हैं। महामारी शब्दका साधारण अर्थ है—जनपद उत्सादक व्याधि। उत्पात एवं उपसर्ग का विषय नारायणी-स्तुतिमें कहा जा चुका है? मोटी बात यह है कि, समाहित चित्तसे भक्ति के साथ देवी माहात्म्य पाठ करने से, त्रिविध उत्पात् त्रिविध उपसर्ग एवं महामारी प्रशमित होजाती है आध्यात्मिक अर्थमें महामारी शब्दसे पुनः पुनः मृत्यु जानी जाती है। मृत्युजनित भय से ही नाना-विध उपद्रव उपस्थित होते हैं, एवं मृत्यु होनेसे ही पुनः जन्मग्रहणरूप भौम नरकभोग—आध्यात्मिकादि त्रिबिध ताप अवश्यम्भावी हैं, देवी माहात्म्य का पाठ एवं श्रवण (आत्यसाक्षात्कारके द्वारा) इन सब उत्पातों के प्रशमनका हेतु स्वरूप हो जाता है।

जिस आयतन में अर्थात् गृह में नित्य यह चण्डी पाठ होता है। उस गृह में मा हमारी नित्यही सन्निहित रहती हैं। यह साधारण अर्थ है। आध्यात्मिक भाव से आयतन शब्दका अर्थ है भोगायतन क्षेत्र—देह। मा ने कहा जिस भोगायतन क्षेत्र में मेरा माहात्म्य सम्यक पठित होता है अर्थात् जो मनुष्य समाहित चित्तसे भक्ति के साथ देवी माहात्म्य पाठ करता है उस स्थान को मैं कभीभी परित्याग नहीं करती, मेरी सान्निध्य वहांपर सर्वदाही वर्त्तमान रहती है। अर्थात् देवी माहात्म्य पाठकों के अन्तरमें बाहिर में सर्वदाही मा विराजित रहती हैं। गीताके राजगुह्य योग में भी ठीक एसी ही वात है—"ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम्।"

अच्छा मा, तुमने कहा—जहाँपर चण्डीपाठ होता है, तहाँपर तुम नित्य सन्निहिता हो, और जहाँपर नहीं होता, वहाँ क्या तुम सन्नि-हिता नही हों? सुनो, मुझे (मैंको) छोड़कर वास्तव में तो कोई आयतन नहीं। सुतरां कोई आयतनहीं मेरे असन्निहित हो नही सकता। तब बात यही है कि, मैं जो सदा सन्निहित रहती हूं, इसे वेही समझ सकते हैं, जो भक्ति के साथ मेरी भजना करते है, अर्थात्

सम्यक् रूपसे देवी माहात्म्य पाठ वा श्रवण करते हैं। समझो साधक। यही है मन्त्र का रहस्य।

— —

बलिप्रदाने पूजायामग्निकार्ये महोत्सवे।
सर्व्वं ममैतच्चरितमुच्चार्यं श्राव्यमेव च ॥६॥
जानताजानता वापि बलि पूजां तथा कृताम्।
प्रतिच्छिष्याम्यहं प्रीत्या वह्निहोमं तथा कृतम् ॥०॥

अनुवाद। बलिदान पूजा याग यज्ञादि अग्निकार्य एवं महोत्सव प्रभृति में भी मेरी यह सब चरित कथा पाठ और श्रवण करे। ज्ञानतः वा आज्ञानतः बलि पूजा होमादि यदि पूर्ववत् भावों से अनुष्ठित हो, अर्थात् मेरी चरित कथा के पाठ वा श्रवण पूर्वक, अनुष्ठित हो, तो ऐसा होने ही से मैं उन सब कार्यों को अतिशय प्रीति के साथ ग्रहण करती हूं।

व्याख्या। पूजा होमादि वैध कार्य्यों में एवं महोत्सवादि लौकिक कार्यों में यह देवी माहात्म्य पाठ एवं श्रवण करना ऐकान्त कर्तव्य है? ऐसा करने से वैध एवं लौकिक कार्य समूह निर्विघ्नतासे सुसम्पन्न होते हैं। यह इस मन्त्रका साधारण अर्थ है। आज पर्य्यन्त भारत में प्राय सर्वत्र ऐसा व्यवहार प्रचलित है।

आध्यात्मिकभावमें देखा जाता है—बलिप्रदान पूजा होम प्रभृति वैधकार्य एवं महोत्सबादि लौकिक कार्य समूह यदि मेरी ओर—माकी ओर—आत्मा की ओर लक्ष्य रखते हुये अनुष्ठित हों, तबही वे सुसम्पन्न एवं शुभ फलदायक होते हैं। कारण, अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च, प्रभुरेव च" मैं ही सब कर्मयज्ञों का एक मात्र भोक्ता और प्रभू हूँ (है)! मेरी ओर (मैंकी ओर) लक्ष्य रखते हुये कार्यों का अनुष्ठान नही करने से, वह शिरहीन यज्ञ में परिणत होते हैं। मैं ही तो है शिव। कर्म रूपसे अनुष्ठानरूपसे कर्मफलरूपसे एवं कर्तारूपसे मैं ही तो नित्य

प्रकाशित हूं (वा है), इसे स्थिर रखते हुये कर्म का अनुष्ठान करने से, सभी कार्यों में होकर मेरी ही चरित कथा का अनुशीलन हो जाता है, एवं उसीके फल से कर्म सब सुसम्पन्न हो जाते हैं।

जो जानते हैं कि, यावतीय कर्मों के द्वारा एकमात्र मेरी (मैंकी) ही पूजा होती है, वेही ज्ञानी वा विधिज्ञ हैं। उन्हीं को लक्ष्य करके ही मन्त्र में 'जानता' पद प्रयुक्त हुआ है। इस विषय में एक आत्म सम्वेदन भी है—"योगध्यान जपार्च नादि नाम संकीर्त्तनानि च अर्हदेव-वियुक्तानि विकलान्याह ब्रह्मवित् ॥" योग ध्यान जप पूजा नाम-संकीर्त्तन, इन सबके साथ जब तक अर्हदेव युक्त न हों, तबतक वह विकल हैं, अर्थात् अति सामान्य फलदायक हैं। और वैध कर्मादि के अनुष्ठान समय में जो ऐसे लक्ष्य से विच्युत रहते हैं, उन्हीं को लक्ष्य करके ही मन्त्र में "अजानता" पदका प्रयोग हुआ है। देवी ने कहा—जानता किंवा अजानता, ये दोनों ही अधिकारी कर्त्तृक अनुष्ठित कर्मसमूह मैं प्रीति के साथ ग्रहण करती हूँ। कारण, मेरे (मै के) व्यतीत और तो किसीको भी यज्ञभाग ग्रहण का अधिकार है नहीं। मैं सबके सब कर्म प्रीति के साथ ग्रहण करती हूँ। किन्तु थोड़ा विशेषत्व है। जो ज्ञानी, अर्थात् मेरी ओर लक्ष्य करके कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, मात्र वेही मेरा यह प्रीति के साथ यज्ञभाग ग्रहण समझ सकते हैं। और जो अज्ञानी हैं, अर्थात् जो मेरी ओरसे लक्ष्यहीन होकर कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे मेरा प्रीति पूर्वक यज्ञभाग ग्रहण नहीं देख पाते। ज्ञानीगण जब पत्र पुष्प फल जल हविः प्रभृति मेरे उद्देश्य से अर्पण करते हैं तब उसी अर्पण-समयही प्रत्यक्ष करसकते हैं कि, सत्य सत्य ही मैं यह सब प्रीति के साथ ग्रहण कररही हूँ सुतरां कर्मों के अनुष्ठान काल में ही उनको भी तृप्तिलाभ होती है। और अज्ञानजन उस सौभाग्य से वञ्चित होते हैं। जो हो, उभयत्रही—मेरे प्रीति के साथ परिग्रहणके विषयमें कोई संशय नहीं—"प्रतीच्छिष्यामह प्रीत्या"।

बलि के सम्बन्ध में भी यहाँपर दो एक बात कहना कोई अप्रासङ्गिक नहीं होगा। जो मांस प्रिय हैं, सो छागादि (बकरा) बलि देंगे।

उनके लिये वही विहित है। उच्छृङ्खल भाव से वृथा-मांस-भोजन से संयत करने के लिये ही शास्त्रने ऐसे बलिदान का विधान किया है। राजसिक पूजामें बलिदान निषिद्ध नहीं। किन्तु जो सात्विक प्रकृति के लोग हैं, जो मत्स्य मांस-परित्यागी हैं, जो सर्व जीवों में एकही प्राणोंकी विद्यामानता देखते हैं, उनके पक्षमें छागादि-पशु-वलिदान एकान्त असम्भव है। पूजातत्व' नामक ग्रन्थ में बलिदान रहस्य सविस्तार आलोचित हुआ है। और एक श्रेणी के साधक निर्विचार से पशु बलिदान कर सकते हैं, जो अपने पुत्रकोभी निष्कम्प हृदय से देवी के उद्देश्य से बलिदान की सामर्थ्य रखते हों। जोभी हो, यहां पर मन्त्रस्थ बलि शब्द को पूजोपहार रूप अर्थ समझलेने ही से सर्व सामञ्जस्य हो जाता है।

शरत्काल महापूजा क्रियते या च वार्षिकी।
तस्यां ममैतन्माहात्म्य श्रुत्वा भक्ति समन्वितः ॥११॥
सर्वबाधा विनिर्मुक्तो धन धान्य-सुतान्वितः।
मनुष्यो मत्प्रसादेन भविष्यति न संशयः ॥१२॥

अनुवाद। शरत्काल में मेरी जो वार्षिकी महापूजा का अनुष्ठान किया जाता है, उसमें भक्ति के साथ मेरा यह माहात्म्य श्रवण और पाठ करके मनुष्य मेरे प्रसाद से सर्व वाधाओं से मुक्त एवं धनधान्य सुतान्वित होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं।

व्याख्या। अभीभी भारत के अधिकांश स्थानों में शरत्कालमें महापूजा का अनुष्ठान होता है, किन्तु मन्त्रकथित फललाभ खूब कम लोगों ही को होता है। उसका एकमात्र कारण—यही है कि, समाहित भावसे एवं भक्ति के साथ यथायथभाव से महापुजाका अनुष्ठान नहीं होता। प्रथम बात देवी के वाक्यमेंही संशय रहता है—सत्यही जो महापुजा में चण्डीपाठ के फल से सर्व वाधा विपत्ति दूर

होती हैं, सत्यही जो मनुष्य धनधान्य सुतान्वित होते हैं, इसका अनेक ही विश्वास नहीं कर सकते। ऐसा संशय एवं अविश्वास रहता है इसीसे, इसयुगके वैधकर्म आशानुरूप फलदायक नहीं होता है।

शरत्काल—क्षितितत्त्वका विशेष प्रकट-काल हैं। इसदेशकी ऋतुयें भी विशेष विशेष तत्वों के प्रकट भाव की सूचना करती हैं। प्रसङ्ग क्रमसे वे यहाँ पर कही जाती हैं। शरत्काल-क्षितितत्व। बर्षाकाल-अप्तत्व, ग्रीष्मकाल—तेजस्तत्व, वसन्तकाल—मरुत्तत्व, एवं शीत-काल··व्योमतत्व। हेमन्त ऋतु को कार्तिक मास शरत्ऋतु को एवं अग्रहण मास शीत ऋतु के अन्तर्गत है। जब जिस तत्वकी विशेष अभिव्यक्ति (प्राकट्य) होती है, विश्व प्रकृति में तब उसी तत्व की क्रिया विशेष भावसे प्रकाश पाती है। जो हो, हम यहाँपर शरत्काल की बात कर रहे थे। इस समय क्षितित्वकी अर्थात् घनीभूत जड़त्व की विशेष अभिव्यक्ति होती है। जो इस शरत्कालीय महापूजा का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् जड़त्व के आधिपत्य काल में चैतन्यमयी मा की विशेष प्रतिष्ठा करनेमें यत्नवान होते हैं—(जिस पूजामें स्नपन पूजन बलिदान-एवं होमरूप चार अङ्गों का अनुष्ठान होता है, उसे महापूजा कहते हैं) महापूजा के अङ्गरूपसे देवीमाहात्म्य पाठ वा श्रवण करते हैं, वे सर्व बाधाओं से अर्थात् आसुरिक वृत्तियों के उत्पीड़न से परित्राण पाते है और धनधान्य-सुतान्वित होते हैं। प्रेमरूप धन विश्वास रूप धान्य अर्थात् खाद्यसम्भार एवं निर्मल बोधस्वरूप पुत्र लाभ करते हैं। जो माकी पूजाकरके समाहितचित्तसे चण्डीपाठ, और श्रवण करते हैं उनको प्रेमधनका अभाव नहीं होता। विश्वासरूप शस्यसे वा खाद्यसम्भार से उनका हृदय प्राङ्गण नित्य परिपूर्ण रहता है; एवं ज्ञानमय पुत्र जन्म ग्रहण करके पुनः पुनः जन्ममृत्यु रूप संसार नरकसे उनका परित्राण करता है।

श्रुत्वा ममैतन्माहात्म्यं तथा चोत्पत्तयः शुभाः।
पराक्रमश्च युद्धेषु जायते निर्भयः पुमान् ॥१३॥

रिपवः संक्षयं यान्ति कल्याणञ्चोपपद्यते ।
नन्दते च कुलं पुँसां माहात्म्यं मम शृण्वताम् ॥१४॥

अनुवाद । मेरा यह माहात्म्य एवं शुभ आविर्भाव का विवरण श्रवण करके, मनुष्य युद्धमें पराक्रम लाभ करता है और निर्भीक होता है। मेरे इस माहात्म्य को श्रवणकारी जनगणों के रिपुक्षय होते हैं, कल्याणलाभ होता है एवं कुल आनन्दित होता है।

व्याख्या । देवीमाहात्म्यमें देवीकी विभिन्न प्रकारकी शुभ उत्पत्ति अर्थात् मङ्गलजनक आविर्भाव-विवरण वर्णित हुआ है। महाराज सुरथ ने "कथमुत्पन्ना कहकर जो प्रथम प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुये महर्षि मेधससेने नानारूप देवीके आविर्भाव विवरण वर्णन किया है। इस देवीको उत्पत्ति के विवरण को समाहित चित्तसे पाठ वा श्रवण करने से, युद्धमें पराक्रम लाभ होता है, अर्थात् आसुरिक वृत्तियों के दमन की सामर्थ्य प्राप्त होती है। और लाभ होती है निर्भीकता। आत्माही एकमात्र अभय है श्रुतियों ने पुनः पुनः इस अभयस्वरूप आत्माका प्राप्त करने के लिये उपदेश किया है। 'अभयं वै प्रतिपद्यस्व" हे वत्स! तुम अभय अमृतस्वरूप आतमा को लाभ करो।" उपनिषत् कथित यह अभयवाणी देवीमाहात्म्य में भी जो पुनः पुनः उक्त हुई है—इसीके दिखाने लिये ही लेखक की इतनी चेष्टा (अध्यवसाय) है।

अच्छा जो हो, मन्त्रमें उक्त हुआ है—देवी–माहात्म्य-श्रवणकारी जनगणों के रिपुक्षय होते हैं। रिपुक्षय शब्दसे काम क्रोधादि रिपुगणों का दमन समझने होगा। पक्षान्तर में, इन सब रिपुओं के प्रति साधकों का जो स्वाभाविक एक विद्वेषभाव रहता है, सो दूरीभूत होता है। सर्वत्र आत्मदर्शन के फलसे, रागद्वेष से विमुक्त होकर विषयसमूहोंको निर्विचार से भोग करने की सामर्थ्य पदा होती है। "कल्याणञ्चोप द्यते"—कल्याण लाभ होता है। आत्मज्ञानही यथार्थ कल्याण है। आत्मज्ञान लाभ होनेसे, जन्ममृत्युरूप अकल्याण हमेशा के लिये दूरी भूत हो जाता है।

"नन्दते च कुलं" कुल नन्दित होता है। जिसकुल में आत्मज्ञ पुरुष जन्म ग्रहण करते हैं, उस कुलके उर्द्धतनपुरुषगण आनन्द से नृत्य करने लगते हैं। कारण, उनका मुक्तिमार्ग सुगम होता है। और अधस्तन पुरुषगण आत्मज्ञ पुरुष की कृपासे और आर्शीवाद से परम कल्याण लाभ करते हैं। साधारणों के पक्षमें जो बिल्कुल दुर्लभ है, उस कुलवालो के लिये सो अयत्न लभ्य होता है, इसीसे, आत्मज्ञ पुरुष के उर्द्धतन और अधस्तन कुल के पुरुषगण सर्वदाही आनन्दित रहते हैं। *

शान्तिकर्मणि सर्व्वत्र तथा दुःखस्वप्नदर्शने।
ग्रहपीड़ासु चोग्रासु माहात्म्यं शृणुयान्मम ॥१५॥
उपसर्गाः शमं यान्ति ग्रहपीड़ाश्च दारुणाः।
दुःस्वप्नञ्च नृभिर्दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते ॥१६॥

अनुवाद। सर्व प्रकार के शान्त कार्यों में, दुस्वप्न दर्शन एवं उग्रपीड़ा उपस्थित होनेसे, मेरा यह माहात्म्य श्रवण करे। इससे सर्व उपसर्ग उपशान्त होते हैं, दारुण ग्रहपीड़ा विदूरित होती है, एवं मनुष्यों के दुःस्वप्न देखने पर भी वह सुस्वप्न में पर्यवसित होता है।

व्याख्या। देवी माहात्म्य श्रवण का यही फल है। इसके पूर्व दो मन्त्रोंमें भी श्रुत्वा' और शृन्यतां, शब्द से केवल श्रवण की ही बात कही गई है। साधक! श्रवण ही तो प्रथम एवं प्रधान साधना है। जिसका श्रवण जितना विशुद्ध एवं सत्यावगाही है, उसका फललाभ भी उतना ही शीघ्र एवं सुनिश्चित है। श्रुतिने भी श्रवण, मनन एवं निदि-

---

* भक्ति शास्त्र में भी उक्त है—
"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा स वसतीश्चधन्या।
नत्यन्दि स्वर्गे पितरोषि तेषां येषां कुले वैष्णव नामधेयम्।।
(श्री चैतन्य चरितामृत से-अनुवादक)

ध्यासन कोही श्रेष्ठ साधना कहा है ! श्रवण विशुद्ध नहीं होनेसे, मनन विशुद्ध नहीं होता, मनन ठीक न होनेसे, निदिध्यासन का फल व्यर्थ होता है। सुतरां श्रवण जिसका जितना विशुद्ध होगा फल भी उसका उतना ही सुनिश्चित होगा। इस श्रवण के अच्छे होने का उपाय क्या? सबसे प्रथम श्रोता को विनीत और श्रद्धावान होना आवश्यक है, इसके बाद जो वक्ता है अर्थात् जो आत्मतत्व के उपदेष्टा हैं, उनका भ्रम प्रमाद-शून्य होना आवश्यक है। यदि सौभाग्यवश, से, बहु पुण्यों के फलसे इसप्रकार योग्य वक्ता और श्रोता का मिलन संगठित हो, तब उस स्थान में फललाभ के विषय में कोई संशय ही नहीं रहता। इन उभयों में पूर्वोक्तरूप योग्यता न होनेसे श्रवण वा साधना विफल हो जाती है। जहाँपर वक्ता मूक एवं श्रोता बधिर हो, वहाँ पर उभय ही विड़म्बित होते हैं।

अच्छा जो हो, मन्त्रमें उल्लिखित हुआ है, शान्ति कर्मों में दुःस्वप्न दर्शन पर उग्र ग्रह पीड़ा में यह देवी माहात्म्य श्रवण करने होता है (करना चाहिये)। देखो जीव, तुमको हमेशा ही शान्ति का अभाव है, हर हमेशा विषयचिन्तारूप दुःस्वप्न दर्शन कर रहे हो, एवं इन्द्रिय रूपी विषय लोलुप ग्रहगण (१) तुमको अहर्निश उत्पीड़ित कर रहे हैं। यदि तुम यथार्थ शान्तिलाभ करना चाहो, यदि दुःस्वप्न से विमुक्त होना चाहो यदि कठिन (भयंकर) ग्रह पीड़ा से परित्राण लाभ करना चाहो, तो "माहात्म्यं शृणुयान्मम" मेरा माहात्म्य श्रवण करो! श्रवण करनेहीसे मनन और निदिध्यासन होगा! तब तुम आत्मज्ञान लाभ करके धन्य होओगे। तुमको निरवच्छिन्न शान्ति लाभ होगी, इन्द्रियों का उत्पीड़न एवं संसार दुःस्वप्न विदूरित होगा। मेरे माहात्म्य श्रवण का यही फल है।

---

(१) वृहदारण्यक उपनिषद में ग्रहशब्दसे इन्द्रियगण को ही लक्ष्य किया गया है। रवि चन्द्र प्रभृति ज्योतिषशास्त्रोक्त ग्रहों के साथ इनका वास्तव में कोई विरोध नहीं। कारण रवि चन्द्रादि ग्रहों के अधिष्ठातृ चैतन्य एवं जीव देहस्थ इन्द्रियों के अधिष्ठातृ चैतन्य अभिन्नहैं।

बालाग्रहाभि भूतानां बालानां शान्तिकारकम् ।
संघातभेदे च नृणां मैत्रीकरण मुत्तमम् ॥१७॥
दुर्वृत्तानामशेषाणां बलहानिकरं परम् ।
रक्षोभूतपिशाचानां पठनादेव नाशनम् ॥१८॥
सर्व्वं ममैतन्माहात्म्यं मम सन्निधिकारकम् ॥१९॥

अनुवाद । जैसे मेरा यह समस्त माहात्म्यपाठ मेरे सान्निध्य का सम्पादक है, तैसे ही यह बालग्रह कर्तृक अभिभूत बालकों को शान्ति प्रदान करता है, मनुष्य के परस्पर विवाद की विदूरित करके मित्रता सम्पादन करता है, दुर्वृत्तगणों को बलहानि एवं राक्षस भूत और पिशाचों का विनाश साधन करता है ।

व्याख्या । इन तीनों मन्त्रोंमें तृतीय मन्त्र हेतु रूपसे उक्त हुआ है । इसलिये पहिले उसीका उल्लेख आवश्यक है । मा ने कहा मेरा माहात्म्य मेरा सान्निध्यकारक है । पूर्व भी कहा गया है—जहाँपर देवी-माहात्म्य पाठ होता है, वहीं मा सन्निहित होती हैं । मा के सान्निध्य होनेही से अर्थात् विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माका प्रकाश होनेही से यावतीय विघ्न और विपद विदूरित होते हैं ? बाल शब्दका अर्थ है शिशु अर्थात् अज्ञान, उसके प्रति ग्रहों का जो अभिभव वा आक्रमण है, सो प्रशमित हो जाता है । विशुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्माके प्रकाश से अज्ञान जन्य (जनित) यावतीय दुःख दूरहो जाते हैं ।

"सङ्घातभेदे च नृणां" जीवोंका जो परस्पर भेदज्ञान है, सो दूर होता है एवं मैत्रीभाव उत्पन्न होता है । कारण, मनुष्य तब देखता है कि—एक मैं ही तो सबमें समभाव से विराजित है (हूं); आत्मा मनुष्य मात्र ही के प्रियतम हैं । सो सर्वत्र विराजित है, सुतरां भेद-ज्ञान रह ही नहीं सकता । परस्पर मैत्रीभाव स्वतः ही उत्पन्न होता है ।

फिर दुर्वृत्तगणों की—असच्चरित्रोंकी बलहानि होती है, अर्थात् असद् भावापन्न जो जीवप्रकृति है, सो एकान्त दुर्बल हो पड़ती है, सम्पूर्ण विनाश को प्राप्त नहीं होती । जबतक देह रहती हैं, तबतक

जीवप्रकृति रहेगी ही, तब हाँ बलहीन हो जाती हैं। और राक्षसी बृत्ति और पैशाचिक बृत्तियाँ दूरीभूत होती हैं। भूत-प्रकृति अर्थात् भूतों के प्रति जो आसक्ति—भूत और भौतिक पदार्थों में जो नित्यत्व बोध है, सोभी विलय को प्राप्त होता है। "रक्षोभूत पिशाचानां नाशनं" वाक्य का यही तात्पर्य है।

पशुपुष्पार्घ्यधूपैश्च गन्धदीपैस्तथोत्तमैः।
विप्राणां भोजनैर्होमैः प्रोक्षणीयैरहर्निशम् ॥२०॥
अन्यैश्च विविधैर्भोगैः प्रदानैर्वत्सरेण या।
प्रीतिर्मे क्रियते सास्मिन् सकृत् सुचरिते ते ॥२१॥

अनुवाद। उत्तम उत्तम पशु पुष्प धूप गन्धद्रव्य एवं दीपादि द्वारा पूजा, ब्राह्मणभोजन होम अभिषेक एवं नानाविध भोग्य वस्तु प्रदान, वे सब कार्य संवत्सरकाल प्रतिदिन अनुष्ठित होनेसे मुझे जिस प्रकार प्रीति प्राप्त होती है, मेरे इस सुचरित के एकवार मात्र श्रवण करने से तैसीही प्रीति होती है।

व्याख्या। मा कहती है वाह्य कर्मानुष्ठान अपेक्षा श्रवण का फल अधिक हैं। नानाविध-उत्कृष्ट उपचारों के द्वारा, पूजा, ब्राह्मणभोजन, अभिषेक एवं भूरिदान प्रभृति वैध कार्य नियमित रूपसे दीर्घकाल व्यापी अनुष्ठानों के फल से मनुष्य जितना शुद्धचित्त होता है-जितना मेरा स्वरूप जान सकता हैं, जितना मेरे समीपस्थ हो सकता है, समाहित भावसे श्रद्धा के साथ मेरा यह सुचरित यह माहात्म्य एकबार श्रवन करने से मनुष्य उतनी चित्तशुद्धि उतना ज्ञान और उतना सामीप्य लाभ कर सकता हैं। सद्गुरू के मुख से अद्वैत ज्ञानका रहस्य श्रवन करने से अज्ञानान्ध जीव को चाहे क्षण काल के लिये ही हो एक प्रवुद्धि भाव आता है, मैं कौन हूँ, जगत क्या है, ईश्वर किसे कहते हैं, उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध हैं, उनको पानेसे हमें क्या लाभ होगा, इत्यादि तत्त्व विषयक परोक्षज्ञान केवल श्रवण ही के फलसे

लाभ होता है। यह परोक्ष ज्ञानही तो मातृप्रीति का परिचायक है! मा जहांपर आत्मप्रकाश करती हैं, वहाँपर इसीप्रकार के भावों से उनकी प्रीति के लक्षण प्रकाश पाते हैं।

पूजा होमादि किंवा भूरि दानादि कार्य दीर्घकाल अनुष्ठानों के फलसे चित्तशुद्धि होती है, सो श्रद्धा के साथ एकबारमात्र सद्गुरु वाक्य श्रवण से सुनिष्पन्न हो जाती है; यह जानकर के ही शायद आचार्य शङ्कर ने कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों की अपेक्षा, श्रवण मननादि के ऊपर अधिक जोर दिया हैं। यहाँपर देवी-वाक्यसे भी वही भाव ही प्रकाश पा रहा है। हाँ, तत्त्वज्ञानशून्य प्राणहीन कर्मकाण्ड के दीर्घ काल अनुष्ठान की अपेक्षा, एकबार मात्रतत्त्व ज्ञानोपदेश के श्रवण का फल जो अनेक अधिक है, इसमें कोई संशय नहीं। तब यह भी खूबही सत्य है कि, इस कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के भीतर होकर ही श्रद्धा भक्ति एवं तत्त्वज्ञान धारण की उपयोगिनी धी' का विकाश होता है। प्रश्न उठ सकता है—कर्मकाण्ड परित्याग पूर्वक केवल श्रवण मनन करने से होगा नहीं क्या? नहीं, कर्मकाण्डही तो श्रवण मननादि की सामर्थ्य पैदा करता है। जब किसी को कर्मकाण्ड के त्याग की यथार्थ योग्यता आजाय, तब भी लोकशिक्षा के लिये उन्हें यथाविहित कर्मानुष्ठान करना निन्दनीय तो है ही नहीं, वरं एकान्त प्रयोजनीय है। कारण कर्मकाण्ड ही इस हिन्दूजाति की एकमात्र विशिष्टता है। इसके विलुप्त होने से, अथवा इसकी निष्प्रयोजनीयता जनसमाज में परिख्यापित होने से अदूर भविष्यत में वह देश जो म्लेच्छ देशमें परिणत हो सकता ऐसी आशंका करना भी अन्याय नहीं। साधक! यद्यपि तुम यथार्थ ही कर्मकाण्ड के ऊपर उठ चुके हो, तथापि उसी तत्त्वज्ञानरूप भित्ति के ऊपर खड़ेहोकर ही प्राणमय कर्मों का अनुष्ठान करो। गीतामें भी स्वयं भगवान ने ठीक यही बात कही है। कर्त्तव्यरूप से कुछ न रहनेपर भी केवल लोकस्थिति की रक्षा के लिये ही शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान करना उचित है। देश के पक्ष में वही

मङ्गल जनक है। जो है, उसे नष्ट मत करो, रक्षा करने की चेष्टाकरो। मृतकर्मों को प्राणमय करो, सत्य सत्य ही कल्याण लाभ होगा। किन्तु यह और बात है :—

इस मन्त्र में देखा जाता है—माने कहा, "प्रीतिर्न्मेक्रियते" मेरी प्रीति किया जाता है। मा की तो अप्रीति कुछ है नहीं, वे तो नित्य प्रीता हैं उनको फिर प्रीति क्या ? वास्तव में उनमें अप्रीति (नामक) कुछ नहीं है यह सत्य होने पर भी, वे जो नित्यप्रीता हैं इस तत्त्व को मात्र वेही समझ सकते हैं, जो श्रद्धा के साथ देवीमाहात्म्य श्रवण करते हैं।

——

श्रुतं हरति पापानि तथारोग्यं प्रयच्छति
रक्षां करोति भूतेभ्यो जन्मनां कीर्तनं मम ॥२२॥
युद्धे षु चरितं यन्मे दुष्टदैत्य-निबर्हणम् ।
तस्मिन् श्रुते वैरिकृतं भयं पुसां न जायते ॥२३॥
युष्माभिः स्तुतयो याश्च याश्च ब्रह्मर्षिभिः कृताः ।
ब्रह्मणा च कृतास्तास्तु प्रयच्छन्ति शुभां मतिम् ॥२४॥

अनुवाद। मेरे जन्म समूहों का अर्थात् आविर्भाव-विवरण समूहों का श्रवण एवं कीर्तन करने से (मनुष्यों के) पाप दूर होते हैं, आरोग्य लाभ होता है, एवं (मनुष्यगण) भूत समूह से रक्षा पाते हैं। युद्धमें दुष्ट दैत्यकुल के विनाश विषयक मेरे चरित-माहत्त्व का श्रवण करने से मनुष्यों की वैरिकृत भय नहीं रहता। (हे देवतागण !) तुमने जो मेरा स्तवन किया, ब्रह्मर्षिगण एवं स्वयं ब्रह्मा ने जो स्तव किया था, सो सब स्तोत्रपाठ मनुष्यों को शुभामति प्रदान करते हैं।

व्याख्या। फलश्रुति वाक्यों में एक ही प्रकार बात पुनः पुनः उल्लिखित हुआ करती है। अल्पबुद्धि एवं संशयापन्न लोगों के लिये इसी प्रकार की पुनरूक्ति का विशेष प्रयोजन है। हम यहाँ पर मन्त्र की

मात्र कई एक बातों ही का अर्थ करेंगे। "पापानि हरति"—पाप हरण करती है। अनात्मबोधका नाम पाप है। जबतक आत्मातिरिक्त और किसी की कुछ प्रतीति रहती है, जानना चाहिये—तबतक ही पाप है। इस मातृमहत्व एवं मातृ स्वरूप को पुनः पुनः श्रवण मनन करने से साधक "आत्मैवेदं सर्व" इस ज्ञान में उपनीत होता है, सुतरां उसका सर्व पाप दूर होता है।

"आरोग्यं प्रयच्छति" पुनः पुनः जन्म मृत्यु रूप इस भवव्याधि से आरोग्यता का लाभ होती है। "भयं न जायते," अभय अमृतस्वरूप आत्मज्ञान लाभ होने से मृत्यु भय हमेशा के लिये विदूरित होता है। "रक्षा करोति भूतेभ्यः" इस अशंका तात्पर्य्य पूर्व ही कहा जा चुका है। एतद्व्यतीत माने और भी कहा—यदि कोई समय देवी माहात्म्य के पाठ और श्रवण करने में असमर्थ होकर, मात्र स्तोत्रों का पाठ और श्रवण करे, तो उसको भी शुभामति अर्थात् आत्मज्ञान-धारणोंपयोगी बुद्धि प्राप्त होती है।

——

अरण्ये प्रान्तरे वापि दावाग्नि-परिवारितः
दस्युभिर्वा वृतः शून्ये गृहोतोवापि शत्रुभिः ॥२५॥
सिंह-व्याघ्रानुयातो वा बने वा वनहस्तिभिः
राज्ञा क्रुद्धेन वाज्ञप्तो वध्यो वन्धगतोऽपि वा ॥२६।
आधूर्णितो वा वातेन स्थितः पोते महार्णवे
पतत्सु वापि शस्त्रेषु संग्रामे भृशदारुणे ॥२७॥
सर्वत्राधासु घोरासु बेदनाभ्यर्दितोपि वा।
स्मरन् ममैतच्चरितं नरो मुच्येत सकंटात ॥२८॥
मम प्रभावात् सिंहाद्या दस्यवो वैरिणस्तथा।
दूरादेव पलायन्ते स्मरतश्चरितम् मम ॥२९॥

अनुवाद। अरण्यमे किंवा प्रान्तरमें पतित, दावाग्नि कर्तृक परिवृत, असहाय अवस्था में दस्यु अथवा शत्रुगण कर्तृक आक्रान्त, बन

मध्य में सिंह व्याघ्र वा वन्यहस्ती कर्त्तृक अनुधावित, क्रुद्ध राजा के आदेश से वध्य अथवा बन्धनदशा प्राप्त, महासमुद्र के मध्य पोतस्थ होता हुआ झड़ (तूफान) द्वारा विघर्णित, अत्यन्त दारूण संग्राम के शस्त्रपात में निपतित, सर्वविध भयंकर विपदों में पतित, एवं रोग यातना से अत्यन्त पीड़ित होकर मनुष्य यदि मेरा चरित्र स्मरण करे, तो (पूर्वोक्त) सर्वविध सङ्कटों से परित्राण पाता है (क्योंकि) मेरा चरित्र स्मरण करने से मेरे प्रभाव से सिंहादि हिंस्रजन्तुगण, दस्युगण एवं वैरिगण दूर से ही पलायन करते हैं।

व्याख्या। पूर्व में माकी चरित्रकथा कीर्तन का और श्रवण का फल वर्णित हुआ है, अब स्मरण का फल कहा जाता है। श्रवण कीर्त्तन में असमर्थ होकर यथार्थ कातरभाव से मा के इस पवित्र चरित्र का स्मरण कर सकने से भी, मनुष्य पूर्वोक्त विपदों से परित्राण पा सकता है। संसार में जिस कारणों से मनुष्यों के कातरता उपस्थित हो सकती है, उसे बताते समय, माने यहाँ पर अरण्य प्रान्तर दावाग्नि दस्यु प्रभृति अनेक बातें ही कही है! गीता में भगवान ने भी कहा है— "अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम्"। यह मनुष्यलोक अनित्य एवं असुखमय है। संसार की अनित्यता एवं असुख नित्य ही मनुष्य को कातर बनाये रखती है। उस कातर अवस्था मे भी जीव यदि भगवान को स्मरण करे, तो उस स्मरण के फल से कातरता की हेतुभूत जो विपत्ती है उससे परित्राण तो अवश्यम्भावी हैं ही, अधिकन्तु जीव धीरे धीरे भगवत् सत्ता में भी विश्वासवान होता हैं। जहाँपर ऐसे आर्त्त जीवों का कातर क्रन्दन हैं, वही पर मां हमारी का सुप्रकट आविर्भाव भी है।

देखो, जीव, तुम क्या सुखी हो! तुम्हारी अवस्था की ओर लक्ष्य करके ही माने यहाँपर "अरण्ये प्रान्तरे वापि" इत्यादि वाक्यों का उल्लेख किया है? देखो, तुम्हारे संसार क्या अरण्य किंवा प्रान्तर सदृश नहीं? असंख्य बन्धु बान्धवों द्वारा परिवेष्टित होते हुये भी यथार्थ ही तुम एका इस संसार-प्रान्तर में पड़कर, सुखकी आशामरी-

चिका में मुग्ध होकर नित्य प्रति प्रतारित हो रहे हो। फिर देखो, तुम्हारे चारोंही ओर आशान्ति की दावाग्नि जल रही है या नही ? जिसे तुम शान्ति बोलकर मान रहे हो, (लेते हो) थोड़ा धीरचित्त से लक्ष्य करने ही से समझ सकोगे तुम्हारी यह शान्ति भी अशान्ति-मिश्रित है। देखो तुम्हारी साधु वृत्तियां बहिर्मुख-विषय-लोलुप वृत्ति रूपी दस्युगण द्वारा विलुन्ठित ? या नहीं ? देखो, जिन्हें तुम मित्र समझ रहे हो, वही काम क्रोधादि मित्ररूपी वैरिगण तुम्हारी शान्ति नदी का किनारा तोड़दे रहा है या नहीं ? देखो, सिंह व्याघ्रादि हिंस्रज-तुरूपी दुर्दमनीय प्रवृत्ति-निचय कर्तृक तुम नित्य आक्रान्त हो या नहीं ? देखो तुम शून्य—एका—असहाय हो या नहीं ? इसके भी ऊपर देखो—राजाका क्रोध। जो ईश्वर है, जो इस विश्वके राजा हैं, उनके सब आदेशों को पालन करके उनकी सन्तुष्टि का विधान किसी प्रकार भी नहीं कर सक रहे हो, सुतरां उनके पास तुम्हारे उपस्थित होने का उपाय नहीं। उन्हीं के आदेश से तुम वध्य—मरण के पथपर अपसर एवं वद्ध संसार शृङ्खलों में आवद्ध हो रहे हो। और भी देखो, इस संसार महार्णव में पतित होकर तुम्हारी जोवन नौका अदृष्ट प्रारब्ध) वायु द्वारा नित्य विघूर्णित हो रही है। देखो, तुम प्रवृत्ति निवृत्तिके दारुण संग्राममें नित्य क्षत विक्षत होरहे हो। फिर शारीरिक व्याधि एवं मानसिक व्याधि द्वारा कितनी यातना भोग कर रहे हो। इस प्रकार से तुम घोर सङ्कट में पड़ेहो। अपना वर्त्तमान जीवन विशेषरूप से पर्य्यालोचना करके देखो, सत्य सत्यही तुम घोर सङ्कटों में पड़े हो। देखकर आर्त्त होओ, कातर होओ, एकबार मुझे (मैंको) स्मरण करो। जिस महूर्त्त में स्मरण करोगे, उसी महूर्त्त में ही तुम सङ्कटों से परित्राण पाओगे। पुनः पुनः स्मरण करो, पुनः पुनः इस सङ्कट परित्राण का आस्वाद पाओगे। जिनके जीवन में पूर्वोक्त सङ्कट समूह अभी तक उपस्थित नहीं हुआ है, वे मेरे स्मरण करने का सुयोग नहीं पाते। किन्तु वत्स, मैं तो तुमको बहुत प्यार करती हूं, तुमको इस प्रकार सङ्कटापन्न करके

अपने स्मरण करने का सुयोग प्रदान करती हूँ । आज हो, कलहो, कुछ दिन बाद हो, निश्चय ही तुम इस सुयोग को प्राप्त करोगे । उस शुभ सुयोग के उपस्थित होनेपर मुझे (मैंको) स्मरण करना मत भूलना । स्मरण करसकने से सङ्कटों में से परित्राण और क्रम से मेरे दर्शन पाओगे, यही हैं मेरी शेष वाणी ।

ऋषिरुवाच

इत्युक्त्वा सा भगवती चण्डिका चण्डविक्रमा
पश्यतामेव देवानां तत्रैवान्तरधीयत ॥३०॥
ते पि देवा निरातंकाः स्वाधिकारान् यथा पुरा ।
यज्ञभागभुजः सर्वे चक्रुर्विनिहतारयः ॥३१॥

अनुवाद । ऋषि बोले - चण्डविक्रमशालिनी वेही भगवती चण्डिका देवी देखते देखते देवताओं के सन्मुख ही अन्तर्हित हो गई । एवं शत्रुकुल निहित होनेसे देवतागण भी निर्भय होकर यथापूर्व यज्ञभाग-भोगरूप स्व स्व अधिकार प्राप्त किये ।

व्याख्या । सत्य सत्यही मा हमारी इसी प्रकार देखते देखते ही अन्तर्हित हो जाती हैं । मा को निरवच्छिन्न भाव से पकड़ रखने का अधिकार किसी को भी नहीं वे अपनी इच्छा से प्रकाशित होती हैं, और अपनी ही इच्छा से अन्तर्हित होजाती हैं । उनके आविर्भाव तिरोभाव के ऊपर हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य किसीको भी नहीं । तब हाँ एक बात यह है कि, मा जब चण्डविक्रमा चण्डिकामूर्ति से आविर्भूत होती हैं, तबही जीव यथार्थ धन्य होते हैं । उनके जीवत्व का अवसान होता है—बड़े आग्रह के तीनों खेला के घर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) खस पड़ते हैं, जीव तब अपने स्वरूप का सन्धान पाकर जीवत्व के मोह से हमेशा के लिये परित्राण पाता है । तब देवतागण भी असुर-उत्पीड़न से विमुक्त होकर यज्ञभाग ग्रहण रूप स्व स्व अधिकार प्राप्त करते है—परमात्म-सम्भोग जनित विशिष्ट आनन्द भोग का सुयोग पाजाते हैं ।

दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवरिपौ युधि
जगद्विध्वंसिनि तस्मिन् महोग्रेऽतुलविक्रमे
निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययुः ॥३२॥

अनुवाद। जगद्विध्वंसी अति उग्र अतुल विक्रमशाली देवरिपु शुम्भ एवं महावीर्य निशुम्भ युद्ध में देवी कर्त्तृक निहत होने पर, हतावशिष्ट दैत्यों ने पाताल में प्रवेश किया!

व्याख्या——अनुचरों के साथ शुम्भ और निशुम्भ देवी द्वारा निहत होनेपर, हतावशिष्ट दैत्यों ने पाताल में प्रवेश किया। पूर्व द्वितीय खण्ड में कहा जा चुका हैं—सप्त अज्ञानभूमिका ही सप्तपाताल हैं। ज्ञान सूर्य के उदय होने से, अज्ञान समूल नष्ट होता है, सुतरां आत्म स्वरूपविषयक अज्ञान जनित आसुरिक बृतियां उसके साथ अपने ही से विलय को प्राप्त हो जाती हैं। यहाँ पर भी देवी ने स्वयं युद्ध क्षेत्र में शुम्भ निशुम्भ रूपी अस्मिता और ममता को विलय किया, और हतावशिष्ट आसुरिकभाव सब अपने आप ही अदृश्य हो गये।

साधक! ठीक ऐसा ही होता है; जिन क्षण में विशुद्ध बोध स्वरूप आत्मा का प्रकाश होता है, उसी क्षण ही अज्ञान एवं अज्ञान जनित यावतीय द्वैत प्रपञ्च सम्यक् तिरोहित होजाता है। बाद में व्युत्थित अवस्था में फिर पूर्ववाधित अज्ञान का एव तत् कार्यका कथञ्चित् अनुवर्त्तन होता है। इस प्रकार अनुवर्त्तन होने पर भी जीवन्मुक्तता में कुछ भी व्याघात नहीं होता, ज्ञानोदय के पूर्व जैसे ज्ञान का आभास मात्र लेकर जीव जगद्भोग करता है, आत्मज्ञान प्राप्त होने पर उसी प्रकार अज्ञान का अभास मात्र लेकर साधक पूर्व वाधित-जगत में अनात्म वस्तुओं में इच्छानुकूल विचरण करने लगता है। फिर प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर अर्थात् देहावसान में जीव कैवल्य-मुक्ति लाभ करता है, हमेशा के लिये ब्रह्म में विलीन हो जाता है, उसकी फिर उत्क्रान्ति वा आवर्त्तन नहीं होता। इसीसे श्रुति कहती है "न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते", उसका पुनरावर्त्तन नहीं होता।

इस मन्त्र में देवरिपु महोग्र प्रभृति शुम्भ के जो कई एक विशेषण उल्लिखित हुए हैं, धीमान् पाठकों के सामने इन विशेषणों की व्याख्या करना निष्प्रयोजन होगा ; कारण इसके पूर्व अनेक स्थलोंपर इन सब की व्याख्या हो चुकी है।

एवं भगवती देवी सा नित्यापि पुनः पुनः।
सम्भूय कुरुते भूप जगतः परिपालनम् ॥३३॥

अनुवाद—हे भूप ! वे देवी भगवती नित्या होते हुये भी इसी प्रकार पुनः पुनः आविर्भूत होकर जगत का परिपालन करती रहती है।

व्याख्या इस मन्त्र में महर्षि मेधस ने महाराज सुरथ को अवतार तत्त्व का संकेत किया है। यद्यपि इसके पूर्व "इत्थं यदा यदा इत्यादि मन्त्र में देवी के अवतरण का विषय वर्णित हुआ है, तथापि यहाँपर विशेष भाव से सुरथ को समझाने ही के लिये ऋषि ने उसी देवी वाक्य का पुनरुल्लेख किया है—"जगत् परिपालन के लिये देवी पुनः पुनः सम्भूत अर्थात् आविर्भूत होती रहती हैं।" अवतारवाद के सम्बन्ध में यहाँपर दो एक बात कहना कोई अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

अवतार—शब्द का अर्थ है अवतरण। विशुद्ध चित् स्वरूप आत्मा शुद्ध बुद्धि में अवतरण करते हैं। जीव जब विशुद्ध बुद्धिमें स्वरूप में अवस्थान करने में समर्थ होता है, तब उसी विशुद्ध बुद्धि में ही आत्मा का स्वरूप उद्भासित होता है। आत्मा का इस बुद्धि में उद्भासित होना ही यथार्थ अवतरण वा अवतार है। इससे उनके निर्गुणत्व की कुछ भी हानि नहीं होती। वे स्वरूपतः निर्गुण रहते हुए भी स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य की नाईं निर्मल बुद्धि में उद्भासित होते रहते हैं ?

जो समष्टि बुद्धि में प्रतिभासित आत्मा हैं, अर्थात् हिरण्यगर्भ वा ईश्वर हैं, जो सत्य संकल्प सर्वकाम आप्त-काम है, जो प्रेममय स्नेहमय दयामय हैं, जो प्रभु विभु नियन्ता हैं, वे जब किसी व्यष्टिबुद्धि में उद्भासित होकर विश्वमङ्गल साधन करते हैं, तब ही वे अवतार

आख्या से परिचित होते हैं। जब किसी देश के अधिकांश लोग आसुरिक वृत्तियों द्वारा उत्पीड़ित होकर, शान्ति की आशा से ज्ञान की पिपासा में आकुल होकर कातर प्रार्थना करने लगते हैं, तभी उसी प्रार्थना के फल से दया के आधार परमेश्वर किसी जीव बुद्धि में आत्मप्रकाश करते हैं, और यथार्थ पिपासू जनसंघ उन्हीं सत्यदर्शी के संस्पर्श में आकर धन्य कृतकृत्य हो जाते हैं। यही अवतार तत्त्व का यथार्थ रहस्य है।

इस अवतार तत्त्व के सम्बन्ध में गीता और चण्डी दोनों ही ने प्रायः समान मत प्रकाश किया है। गीता कहती हैं—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम, धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।" और चण्डी कहती हैं—"इत्थं यदा यदा वाधा दानवोत्था भविष्यति, तदा तदावतीर्य्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम्"। दुष्कृतियों का विनाश एवं धर्म संस्थापन, यही गीता कथित अवतार का कार्य है, और आत्मस्वरूप-प्रकाश और अरि संक्षय, यही देवी माहात्म्य कथित अवतार का कार्य है। प्रथमोक्त अवतार द्वारा धर्म की प्रतिष्ठा होती है, और देवी कथित अवतार द्वारा आत्म प्रतिष्ठा होती है। आत्म-प्रतिष्ठा होने ही से यथार्थ धर्म की रक्षा और जगत् का परि-पालन हो जाता है। जहाँपर जितने भी अवतारों का आविर्भाव हुआ है, किसी न किसी प्रकार उनके द्वारा इसी सत्य की रक्षा हुई है। सभी अवतार ही हमारी चिन्मयी मा है, मा व्यतीत और किसी के अवतार की सम्भावना नहीं। चैतन्यमयी परमेश्वरी ही तो मानव शरीर में अवतार रूप से प्रकट होती हैं? जो यथार्थ अहं हैं, वे ही तो अवतीर्ण होते हैं। इसीसे, इसके पूर्व हमारी मा ने निज मुख से कहा है—"अहं अवतीर्य" में अवतीर्ण होकर अज्ञान रूप अरि कुल का संक्षय करती रहती हूँ।

यहाँपर प्रसंगक्रम से एक बात जना देना चाहता हूं—जो यथार्थ पिपासू यथार्थ मुमुक्षु हैं उनके हृदय में हमारी मा प्रथम ही अवतार में अविचल विश्वास रूप से प्रतिष्ठित होती हैं।

यदि किसीका अवतार में दृढ़ विश्वास होता है—अहैतुकी भक्ति होती है, तो उसको श्रेयोलाभ भी सुनिश्चित है। आचार्य शङ्कर को भी अवतार में विश्वास था, उन्होंने गीता भाष्य की भूमिका में अवतार की बात बोलते हुये—"देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्व्वन् इव" वाक्य का उल्लेख किया है। जो देहादि संघातरहित हैं, सो—वे ही शुद्ध बोधस्वरूप परमेश्वर माया के प्रभाव से देहवानों की तरह प्रतीत होने लगते हैं। नहीं तो मायिक जीववृन्द उनके निकट भी नहीं हो सकते। परमात्मा ही जीवों के कल्याण के लिये अवतार रूप से आत्मप्रकाश करते हैं। इसे अस्वीकार करने की चेष्टा न करके विश्वास करने की चेष्टा करने ही से जीवों को श्रेय लाभ होता है साथ ही साथ एक विषय में विशेष सावधान होने होगा। अवतार की मूर्त्ति ही इश्वर नहीं है, मूर्त्ति को तो मात्र आश्रय करके ही परमात्मा अवतीर्ण होते हैं। यह समझने होगा। मात्र मूर्त्ति में ही कहीं किसी का अवतार निश्चय न हो ? जो अवतार का यथार्थ स्वरूप है उसकी उपलब्धि करने होती हैं।

—

तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते।
सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति ॥३४॥

अनुवाद—(हे सुरथ !) वे इस विश्व को मोहित करती हैं, वे ही इस विश्व की प्रसवकर्त्री हैं, और प्रार्थना करने से वही सन्तुष्ट होकर (जीवको) विज्ञानरूप ऋद्धि प्रदान करती हैं!

व्याख्या—मेधस बोले—हे सुरथ! मा इतनी सुप्रकट होते हुए भी जो अज्ञात रहती है, उसका कारण, "तयैतन्मोह्यते विश्वं"—उन्होंने इस विश्व को मोहित कर रक्खा है। तो क्या वे जीव की शत्रु है ? मुक्ति दान की सामर्थ्य रहते हुये भी जो स्वेच्छा से जीवों को मोह से आच्छन्न करके रक्खें, उन्हें शत्रु भिन्न और क्या कहा जाय ? ना ना वह तो मा हैं! सैव विश्वं प्रसूयते"—वे ही तो इस विश्व को

प्रसव करती हैं। मा क्या कभी सन्तानों की अमंगल कामना करती हैं, वा कर सकती हैं! तो फिर वे जीव को दर्शन क्यों नहीं देती? क्यों नहीं देंगी? "सा याचिता विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति'— मा याचिता होनेही से,वे तुष्ट होकर ज्ञानैश्वर्य प्रदान करती हैं, अर्थात् मा को चाहने ही से वे दर्शन देती हैं। यदि कहो हम तो कितने चाहते हैं, कहाँ देखा तो देती नहीं! ना, चाह ही नहीं सकते। और भी दुःख की बात यह है कि जो चाह नहीं सकते, इस बात ही को नहीं समझ सकते,। सत्य ही कहता हूं—चाह सकने ही से वे दर्शन देती है। जीव जब तुम केवल मा के ही लिये मा को चाह सकोगे तब सत्य सत्य ही मा के दर्शन पाओगे। मा के पास जो चाहोगे मा निर्बिचार से वही देंगी। जब और कुछ भी नहीं चाहोगे, केवल मा को ही चाहोगे, तब वे विशेष सन्तुष्ट होकर विज्ञान रूप परम ऋद्धि—परम सम्पद प्रदान करंगी, जिसके प्रभाव से तुम मातृलाभ करोगे, आत्मज्ञ होओगे, ब्राह्मीस्थिति लाभ करोगे। फिर कहता हूँ साधक, केवल चाह सकने ही से मा को पाया जाता है! यह ही सुरथ के प्रति महर्षि मेधस का विशेष उपदेश है।

— —

व्याप्तं तयैतत् सकलं ब्रह्माण्डं मनुजेश्वर।
महाकाल्या महाकाले महामारी-स्वरूपया ॥३५॥
सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा।
स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी ॥३६॥

अनुवाद—हे मनुजेश्वर! प्रलयकाल में जो महामारी स्वरूपा हैं, उन्हीं महाकाली द्वारा समग्र ब्रह्माण्ड परिव्याप्त हो रहा है। प्रलय काल में वे ही महामारी, सृष्टि काल में वे ही सृष्टि स्वरूपा है, और स्थिति काल में वही भूत वर्गों का रक्षणवओर पालन करती है, अथच वे स्वयं अजा (जन्मरहिता) एवं सनातनी (नित्या) हैं।

व्याख्या—मेधस कहते हैं—हे मनुजेश्वर सुरथ ! दर्शन करो—एक मात्र प्रलयङ्करी महामृत्युस्वरूपा महाकाली इस समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त होरही हैं। प्रति जीव, प्रति परमाणु प्रति क्षण में ज्ञात वा अज्ञात अवस्था में अनिच्छा से भी महामारी की ओर मृत्यु की की ओर ध्वस की ओर अग्रसर हो रहे हैं। देखो—थोड़ी ज्ञान चक्षु उन्मीलित करके देखो, यह ब्रह्माण्ड एक विराट् ध्वंसयज्ञ मात्र है। सूतिका -गृहस्थ-सद्योजात शिशु से आरम्भ करके मुमुषु वृद्ध पर्यन्त सभी महामारी स्वरूपा महाकाली की विराट् ध्वंस यज्ञ में आत्माहुति प्रदान कर रहे हैं। जीवों की जो बाल्य यौवन वार्द्धक्य प्रभृति अवस्था वा वयःपरिमाण जो देखने में आता है, वह ध्वंस के पथ पर अग्रसर होने का परिचय मात्र है, अर्थात् कौन कितना ध्वसपुर की ओर अग्रसर हो चुका है; इसी को जना देता है। सृष्टि एव स्थिति, ध्वंस ही का पूर्वायोजन मात्र है। इसीसे महामारी स्वरूपिणी काली को ही "सेव सृष्टिः" एव "सेव स्थिति करोति" कहा गया हैं।

जीव ! तुम कौन किधर मा को अन्वेषण करने जा रहे हो। देखो, ब्रह्माण्ड व्यापिनी सृष्टि स्थिति प्रलय शक्ति रूप से एक ही महा काली मूर्त्ति नित्य प्रकटिता हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भी एक दिन "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत" कहकर महाकाल रूप से अर्जुन को आत्म परिचय प्रदान किया था। वास्तव में ये कालरूपी भगवान ही जीवों के साध्य एवं उपास्य हैं, कालातीत स्वरूप तो साध्य नहीं, वह बाक्य मन के अगोचर स्वतोगम्य है। मनुष्य इन्हीं काल के हस्तों में आत्म समर्पण कर सकने ही से, कालविजयी होता है कालातीत सत्ता में उपनीत होता है। मृत्युञ्जय होता है। आओ हम सब ही जय मा काली कहकर महाकाली की गोद में कूद पड़े, मा हमको गोद में लेकर कालातीत क्षेत्र में उपनीत होंगी। हम मृत्युञ्जय होंगे।

चित् स्वरूपा मा सृष्टि स्थिति एवं प्रलय, इन त्रिविध स्वरूपों से आत्मप्रकाश करने पर भी स्वय अजा—नित्या है। इतने बड़े कार्य में भी उनका विन्दुमात्र क्षयोदय वा विकार नहीं है। जीव ! इन्हीं के

हाथों में अपने को छोड़ दो, मैं मैं बोधको महाकाली के श्रीचरणों में अर्पण करो। अरे, जाने वा अजाने में तुम महाकाली ही की गोद में तो नित्य अवस्थान कर रहे हो! तो फिर नया क्या करोगे! जो सम्पूर्णतः सत्य है. केवल उसी को स्वीकार करने या समझने को कहा जाता है। यदि सकोगे—इस प्रकार आत्म समर्पण करने, तो निश्चय ही तुम कालातीत स्वरूप का सन्धान पाओगे। सांख्य जिसे जड़ा प्रकृति कहता है, वेदान्त जिन्हें मिथ्याभूता माया कहता है, वैष्णव शास्त्र जिन्हें लीला-विलास कहते हैं, तन्त्रशास्त्र जिनको महाकाली कहते हैं, वे—वही एक जन हैं, जो केवल चित् स्वरूप—केवलानुभवानन्द स्वरूप हैं उनमें आत्मसमर्पण करने ही से समझ सकोगे—किस प्रकार वे अजा एवं सनातनी होते हुये भी, विशुद्ध चित् स्वरूपा होते हुये भी सृष्टि स्थिति एवं महामारी स्वरूप से आत्मप्रकाश किया करती हैं।

भवकाले नृणां सैव लक्ष्मीर्वृद्धिप्रदा गृहे।
सैवाभावे तथालक्ष्मी र्विनाशायोपजायते ॥३७॥
स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूप-गन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे तथा शुभाम् ॥३८॥

इति श्री मार्कण्डेय-पुराणे सावर्णिक-मन्वन्तरे देवी माहात्म्ये

शुम्भ निशुम्भ वधः समाप्त।

अनुवाद। मनुष्यों के अभ्युदय काल में वे ही गृह में वृद्धिप्रदायिनी लक्ष्मी है, और अभाव काल में वे ही अलक्ष्मी रूप से सर्वस्वनाशिनी हो जाती हैं। वे स्तुता एवं गन्ध-पुष्पादि द्वारा पूजिता होने से, वित्त पुत्र एवं मङ्गल दायिनी धर्म-बुद्धि प्रदान करती हैं।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवी माहात्म्य प्रसङ्ग शुम्भ-निशुम्भ वध समाप्त।

व्याख्या। मनुष्य जब ऐहिक किंवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार का अभ्युदय लाभ करता है, तब समझना चाहिये—"सैव" वेही—वही चैयन्य रुपिणी मा-ही लक्ष्मीरूप से आत्म प्रकाश करती हैं। जब वे वृद्धिप्रदायिनी लक्ष्मी-मूर्त्ति से जीव सन्तान को अङ्क में धारण करती हैं, तब अभावनीय उपायों से चारों ओर उसकी वृद्धि अर्थात् सम्पत् किंवा साधन सामग्री उपस्थित होने लगती हैं और जब अभाव उपस्थित होता है, अर्थात् वे सर्वस्वनाशिनी मूर्त्ति से अलक्ष्मी रूप से मनुष्य को अङ्क में धारण करती हैं तब मनुष्य के चारों ओर से विनाश आकर उपस्थित होता है। सर्वत्र ही मा हमारी की महाकाली मूर्ति अव्याहता है अभ्युदयरूप से भी महाकालशक्ति और विनाश रूप से भी वे ही है। महाकाल चक्र जब जिस भाव से आवर्तित होता है, जीव तब तैसे ही भाव से भावान्वित हो जाता। मा जब जिस मूर्ति से जिसे गोद में लेकर बैठती हैं, तब वह वैसी ही भाव का अभिनय करने लगता है। जाने वा अजाने में जीव काल के—महाकाली के ही अङ्क में अवस्थित हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि, किस उपाय से इन महाकाल शक्ति की प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। इसके उत्तर में ऋषि ने कहा है— "स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धुपगन्धादिभिस्तथा,"—स्तव एवं पूजा, यह ही मातृ प्रीति लाभ का अव्यर्थ उपाय है। सभी उपासना-प्राणालियों में ये ही दो अवाध भाव से अवस्थित हैं। वैष्णव शास्त्र सम्मत उपासना - उच्च स्वर से नाम कीर्त्तन इस स्तव व्यतीत और कुछ नहीं हैं। योग शास्त्र-कथित ईश्वर प्रणिधान शब्द इसी स्तव एवं पूजा ही का संकेत करता है। पुराण एवं तन्त्र शास्त्र तो प्रत्यक्ष भाव से ही इन दोनों का उपदेश किये हैं। अपौरुषेय वेद समूह भी स्तुति एवं होम का आदेश किये हैं! उपनिषदों के सारभूत गीता शास्त्र में भी स्वयं भगवान् भी स्तव एवं पत्र पुष्पादि के अर्पण रूप पूजा का उपदेश दिये हैं। इस प्रकार हम सर्वशास्त्रों में स्तव एवं पूजा, इन्हीं दोनों को ईश्वरोपासना के प्रधान अङ्ग रूप से देखते हैं। श्रवण मननादि एवं

यम नियमादि यावतीय अनुष्ठान ही इस स्तव और पूजा की सम्यक् सार्थकता लाभ के लिये विहित एवं अनुष्ठित होते हैं। इस भारतवर्ष में जो आबह्मान काल चला आ रहा है, उसको—उसी स्तुति एवं पूजा को साधना का प्रधान अवलम्बन स्वरूप ग्रहण करने ही से मा की प्रीति (प्रसन्नता) होती है, एवं साधक भी अभीष्ट लाभ से धन्य होता है। नित्यतृप्ता मा की बिशेष प्रीति सम्पादन करने के लिये इस देवीमाहात्म्य कथित स्तुति एवं पूजा ही का विशेष भाव से आश्रय करने होता है।

मा की प्रसन्नता लाभ होने से क्या लाभ होता है ? ऋषि ने कहा- वित्त पुत्र एवं धर्म में शुभामति। यह व्यवहारिक जगत का फल है। और आध्यात्मिक जगत में भक्ति सम्पत् रूप वित्त, निर्मल-बोध रूप पुत्र एवं धर्म में शुभामति अर्थात् धी लाभ होती है—जिसके फल से जीव अनादि काल के जीवत्व बन्धन से हमेशा के लिये विमुक्त हो जाता है। इसीसे कहता हूं जीव ! तुम सभी यथाशक्ति मा के स्तव एवं पूजा करने मे विमुख मत होना। ज्ञान भक्ति एवं कर्मों का ऐसा अपूर्व समन्वय और किसी भी अनुष्ठान में देखने में नहीं आता।

"कलियुग में कर्मकाण्ड अनुष्ठान वृथा है।": ऐसे लोभनीय वाक्य द्वारा जो साधारण जनों को प्रतारित (ठगने) और मोहित करेने का प्रयास करते हैं, मा उनकों इस आसुरिक आक्रमण से सन्तानों की सर्वतोभाव से रक्षा करिये।

इति साधन-समर वा देवी माँहात्म्य-व्याख्या में
फलश्रुति समाप्त।

— —

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य।

रुद्र ग्रन्थिभेद।

उपसंहार।

ऋषिरुवाच।

एतत्ते कथितं भूप देवी माहात्म्यमुत्तमम्।
एवं प्रभावा सा देवी ययेदं धार्य्यते जगत्॥
विद्या तथैव क्रियते भगवद् विष्णु मायया॥१॥

अनुवाद—ऋषि बोले, हे महाराज! यह उत्तम देवी माहात्म्य तुमने जो वर्णन किया है। जो इस जगत् को धारण किये हुये हैं, सो देवी एसी ही प्रभाव सम्पन्न हैं। वेही देवी भगवती विष्णुमाया ही विद्या अर्थात् आत्मज्ञान प्रदान करती हैं।

व्याख्या—अब गुरु ब्रह्मर्षि मेधस राजा सुरथ के निकट देवी माहात्म्व का उपसंहार कर रहे हैं। उन्होंने कहा—हे भूप! जड़त्व विजयी जीव! अति पवित्र-साक्षात् ब्रह्मविद्यास्वरूप यह उत्तम देवी-माहात्म्य तुमने वर्णन किया। बहु पुण्य फल से ब्रह्म ऋषियों के आशीर्वाद से तुमने इस ब्रह्मविद्या श्रवण के उपयुक्त श्रद्धा और अधिकार प्राप्त किया है, इसीसे तुम्हारे सामने देवी के ये तीन चरित यथा यथ भाव से वर्णन किये। जो अनधिकारी हैं, जिनको अभी तक गुरू-वेदान्त-वाक्यों में दृढ़-प्रत्यय रूप श्रद्धा नहीं हुई है, उनके सामने (लिये) यह विशेष फलदायक न होने पर भी तुम्हारे लिये तो यह सम्यक रूपसे फलदायक होगी ऐसी आशा करती हूँ। तुम देवी के

इस अपूर्व महत्त्व को श्रवण करके, इसके किसी भी अंश में संशयान्वित मत होना। इसमें अतिरञ्जित वा कल्पित कुछ भी नहीं है, जो एकान्त सत्य है, सोही यथायथ भावसे वर्णित हुआ है जो इस जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री है, जो अनन्त ऐश्वर्य्य शालिनी विष्णु माया हैं, वे ऐसी ही प्रभाव सम्पन्ना हैं, सुतरां उनके अलौकिक चरित माहात्म्य के विषय में तुम बिन्दु मात्र संशय बुद्धि मत रखना। ये भगवती विष्णु माया ही तुम्हारे जैसे जीवों को विद्या दान करती हैं, अर्थात् ब्रह्मतत्व-ज्ञानका उपदेश प्रदान करके मुक्ति मार्ग में पहुंचा देती है। और मुमुक्षुओं को एकान्त आश्रयणीय मुक्ति रूपसे भी ये ही प्रकाशित होती हैं। "एवं प्रभावा सा देवी"—देवी मा हमारी ऐसी ही प्रभाव-सम्पन्ना हैं।

तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्येऽविवेकिनः।
मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ॥२॥
तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥३॥

अनुवाद—उन्हीं देवी द्वारा ही तुम यह वैश्य एवं अन्यान्य विवेकी अथवा अविवेकी, सभी मोहित हो रहे हैं (होते हैं), अतीत काल में हुये थे, एवं भविष्यत में भी होंगे अतएव हे महाराज! तुम उन्हीं परमेश्वरी के शरणापन्न होओ। वे आराधिता होने ही से मनुष्यों को भोग स्वर्ग एवं अपवर्ग प्रदान करती है।

व्याख्या—वत्स सुरथ! तुम एवं यह वैश्य समाधि, दोनों ही एकदिन बोले थे—"यन्मोहोज्ञानिनोरपि "ज्ञानी हैं हम हमको भी मोह क्यों होता है?" किन्तु आज—इतने दिनों में निश्चय ही समझ सके हो कि, उन्ही भगवती विष्णुमाया द्वारा केवल तुम एवं समाधि ही नहीं, अन्यान्य विवेक सम्पन्न व्यक्ति गण भी मुग्ध होते रहते हैं,

अतीत काल में भी मुग्ध होते थे, एवं भविष्यत काल में भी इसी प्रकार ही मुग्ध होंगे। अरे मा हमारी तो महाकाली हैं! भूत भविष्यत एवं वर्तमान, ये तीनों ही तो मा ही की मूर्त्ति हैं! मा हमारी जब तक इस त्रिमूर्ति रूप से आत्मप्रकाश करेंगी, अर्थात् स्मृति आशा और कल्पना जबतक जीव बुद्धि में प्रतिमासित होंगीं, तबतक ही जीव महामाया द्वारा इसी प्रकार मोहित होगा। जिनमें कोई कल्पित विभाग नहीं, जो अखण्ड हैं, जो पूर्ण हैं, उनको खण्ड रूप से दर्शन करना ही मोह का कार्य है। यह मोह तीनों काल ही में है, इसीसे मन्त्र में कहा है—"मोह्यते मोहिता मोहमेष्यन्ति" यह मोह ही जगत प्रपञ्च का—सृष्टि वैचित्र्य का बीज है।" आँख बिना बाँधे लोकाचोरी खेल नहीं चलता" निजस्व स्वरूप का थोड़ा विस्मृति भाव बिना आये, लीलाभिनय सम्पन्न नहीं होता; इसीसे विवेकी अविवेकी सभी को ऐसा मोह अल्पाधिक है, था एवं रहेगा।

हे सुरथ! अमात्य (मंत्री) एवं स्वजनों द्वारा हृत सर्वस्व होने पर भी उनके प्रति यह जो तुम्हारा प्रवल आकर्षण हैं, अपहृत राज्य के लिये अभी भी तुम्हारी यह जो कातरता है, यही है तुम्हारा मोह। यदि यथार्थ ही इस अजेय मोह से परित्राण पाना चाहते हो, तो, "तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्"—हे महाराज! उन्हीं परमेश्वरी के शरणापन्न होओ, और कोई उपाय नहीं है। केवल महामाया को शरण लो!

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी ठीक यही बात कही है—"यदि मेरी इस दुरत्यया मायासे परित्राण पाना चाहते हो मेरे शरणापन्न होओ।" "मेरे" (मैंके) —माँके, शरण में—आश्रय में आगत होओ, इस प्रकार शरणागत हो सकने ही से माँ हमारी आराधिता हो जाती है। माँ के आराधिता होने ही से माँ की प्रीति तुम्हारे उपलब्धि योग्य होंगीं। तब वे तुमको भोग, स्वर्ग एवं अपवर्ग ये तीनों फल प्रदान करेंगीं। सृष्टि स्थिति प्रलय रूपिणी मा की त्रिविध मूर्ति से तुम त्रिविध फल लाभ करोगे। माँ प्रथम मूर्ति से ब्रह्म ग्रन्थि-भेद करेंगी

उसके फल से तुम्हारी विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग सब अपने आप ही आकर उपस्थित होने लगेंगे, यही मा का प्रथम दान है। द्वितीय मूर्ति से वे विष्णु-ग्रन्थि-भेद करेंगी उसके फल से विश्वमय प्रियतम-प्राणसत्ता दर्शन करके तुम स्वर्ग अर्थात् देवलोक सम्भोग से अधिकारी होओगे। और तृतीय मूर्ति से वे रूद्रग्रन्थि-भेद करके तुमको विशुद्ध बोधस्वरूप में—आत्मज्ञान में उपनीत करेंगी, तब तुम अपवर्ग लाभ करोगे। इसी प्रकार केवल तुम्हीं नहीं, परमेश्वरी माके चरणों में एकान्त। (सर्वतो भाव से) शरणागत सन्तान मात्र ही माके निकट से भोग, स्वर्ग एवं अपवर्ग रूप तीन फल लाभ करेंगे वा करते हैं।

शास्त्र ने जिसे चतुर्वर्ग कहा है, सो इन्हीं तीनों के अन्तरगत हैं। धर्म एवं अर्थ भोग के अन्तर्गत, काम स्वर्ग के अन्तरगत, एवं अपवर्ग और मोक्ष एक ही बात है।

इस मन्त्र में "नृणां" इस पद का प्रयोग देख कर जानने होगा—मनुष्य मात्र ही इन भोगापवर्गों के अधिकारी हैं। आशंका हो सकती है—तो फिर सभी भोगापवर्ग लाभ कर क्यों नहीं सकते? इसका उत्तर यही है कि, सभी तो परमेश्वरी के चरणों में शरणागत होते नहीं? याद रक्खो साधक, मातृचरणों में यथार्थ शरणागत सन्तानों को भोगापवर्ग लाभ अवश्यम्भावी है।

मार्कण्डेय उवाच।

इति तस्य वचः श्रुत्वा सुरथः स नराधिपः।
प्रणिपत्य महाभागःत मृषिं संशित-व्रतम् ॥४॥
निर्विण्णोऽति ममत्वेन राज्यापहरणेन च।
जगाम सद्यस्तपसे स च वैश्यो महामुने ॥५॥

अनुवाद—मार्कण्डेय बोले, हे महामुने (क्रौष्टुकि) इस प्रकार उन (मेधस) के वाक्य सुनके हृतराज्य अत्यन्त दुःखित वह नराधिप सुरथ एवं ममत्व हेतु अति निर्व्वेद प्राप्त वैश्य, दोनों ही तीव्र-व्रतधारी उन महाभाग ऋषि (मेधस) को प्रणिपात पूर्वक सद्यः तपस्या करने के लिये प्रस्थान किये !

व्याख्या—अब ब्रह्मर्षि गुरु मेधस के वाक्यों का शेष हुआ। प्रथम "मार्कडेण्य उवाच" कहकर देवीमाहात्म्य आरम्भ हुआ था, अब फिर उपसंहार में भी "मार्कण्डेय उवाच" बोलकर उपाख्यान का शेष किया जा रहा है। यहाँ तक प्रसङ्ग क्रम से सुरथ एवं मेधस ऋषि के वाक्य चले हैं, मूल में किन्तु प्रज्ञाचक्षुरूपोमा र्कण्डेय द्वारा स्थूलाभिमानी विश्वरूपी जमिनी के निकट देवीमाहात्म्य वर्णित हुआ है। अच्छा जो हो, सुरथ हृतराज्य हैं, सुतरां अति निर्व्विण्ण हैं, वैश्य ममत्वाकृष्ट है, सुतरां वह भी अति निर्व्विण्ण—अतिशय निर्वेद प्राप्त दुःखित हैं। एक जन राजैश्वर्य्य कामी, और एक जन ममत्व परिहार कामी हैं, अर्थात् विवेकान्वेषी दोनों ही गुरुवाक्यों में परम श्रद्धावान हैं। ऋषि ने जैसे ही कहा "तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।" सद्यः तैसे ही—तत् क्षणात् वे दोनों ही ऋषि चरणों में प्रणाम पूर्वक उनका आदेश पालन के लिये, तपस्या करने को प्रस्थान किये आध्यात्मिक भाव में भी देखा जाता है—सुरथ रूपी जीव समाधि की सहायता से विनीत भाव से श्रद्धा के साथ गुरुवाक्य श्रवण पूर्वक मनन एवं निदिध्यासन के लिये यथाशक्ति अध्यवसाय प्रयोग करते हैं।

साधारण दृष्टि से देखो, सुरथ राज्यार्थी अर्थात् काञ्चनासक्त, और वैश्य स्त्री-पुत्रादिकों की ममता से आकृष्ट अर्थात् कामिनी में आसक्त है। वर्त्तमान जगत् जो दोनों वस्तुओं के प्रति विशेष आसक्त है, सोई दोनों ही इस चण्डी के उपाख्यान भाग की प्रधान भित्ति (जड़) है। घटनाचक्र में दोनो ही विताड़ित है, तथापि उन्हीं विनष्ट कामिनी काञ्चन के मोह में आच्छन्न है। सौभाग्य क्रम से

सद्‌गुरु लाभ, देवी-माहात्म्य-श्रवण एवं गुरु के आदेशानुसार से देवी के चरणों में सर्वतोभाव से शरणागत होने के लिये तपस्या। यही धर्म-जीवन लाभ का साधारण क्रम है। अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार से ही धर्म राज्य में उपनीत होते हैं। तब हां जो बाल्य काल ही से विषय विरक्त एवं साधक है, उनकी बात स्वतन्त्र है (अलग) क्योंकि वे तो पूर्व ही से प्रस्तुत हैं।

——

सन्दर्शनार्थमम्बाया नदी-पुलिन-संस्थितः।
स च वैश्यस्तयस्तेपे देवीसूक्तं परं जपत् ॥६॥
तौ तस्मिन् पुलिने देव्या कृत्वा मूर्तिं महीमयीम्।
अर्हणां चक्रतुस्तस्याः पुष्पधूपाग्नि-तर्पणैः ॥७॥
निराहारौ यताहारौ तस्मनस्कौ समाहितौ।
ददतुस्तौ वलिं चैव निजगात्रासृगुक्षिनम् ॥८॥
एवं समाराधयतो स्त्रिभिर्वर्षैं र्यंनात्मनो :
परितुष्टा जगद्धात्री प्रत्यक्षं प्राह चण्डिका ॥९॥

अनुवाद—वे राजा और वैश्य, दोनों ही मातृ दर्शनों के लिये नदीतट पर अवस्थान पूर्वक तपस्या करने लगे। श्रेष्ठ-फल दायक देवीसूक्त जप, मृत्तिका निर्मित मूर्ति स्थापन पूर्वक पुष्प धूपादि द्वारा देवी की पूजा, अग्नितर्पण (होम), निराहारे और अलपहारे तन्मनस्क भाव से (समाहित होकर) अवस्थान, एवं स्वगात्र-रूधिरसिक्त बलि प्रदान, ऐसे ही भाव से तीन बत्सर काल संयतिचित्त से आराधना करने पर, जगद्धात्री चण्डिकादेवी परितुष्ट होकर प्रत्यक्ष हुई एवं बोली।—

व्याख्या—इन चार मन्त्रों में राजा और वैश्य की तपस्या प्रणाली वर्णित हुई है। "संदर्शनार्थमन्वायाः," अम्वाके—माके दर्शन प्राप्ति

के लिये वे दोनों ही लोकालय परित्याग करके, विविक्त देश में नदी तटे अवस्थान पूर्वक नियमित भाव से देवी सूक्त (अहंरुद्रेभिर्वसुभिः इत्यादि) जप, मृण्मयी मूर्त्ति गठन पूर्वक पुष्प धूपादि द्वारा पूजा, अग्नि तर्पण—होम; अल्पाहारे वा निराहारे समाहित भाव से अवस्थान एवं स्वगात्र-रुधिर सिक्ता-उपहार प्रदान, इत्यादि नानारूप अनुष्ठान किये थे। इस प्रकार एक और दो दिन नहीं, नियमित तीन वत्सर काल प्राणपण तपस्या किये थे।

इसके पूर्व द्वितीय खण्ड के शेष भाग में ऐसी ब्राह्म पूजा के विषय में अनेक कुछ कहा गया है। सुतरां उसकी पुनः आलोचना निष्प्रयोजन है। यहां पर केवल मूर्त्ति-गठन सम्बन्ध में दो एक बात कहना आवश्यक है। पुराण एवं तंत्र शास्त्रों में मूर्त्ति पूजा का विधान बहु परिमाण में कहा गया है। और इन्हीं सब शास्त्रों में कहा गया है कि मृत्तिका शिला धातु दारु प्रभृति द्वारा मूर्त्ति गठन पूर्वक पूजा करने से कभी भी ईश्वर लाभ नहीं होता, बात विवेचना योग्य है। यदि मात्र मृत्तिकादि गठित मूर्त्ति को ही ईश्वर के स्वरूप ज्ञान से पूजा की जाय तो सत्य सत्य ही यथार्थ ईश्वर लाभ नहीं होता, किन्तु मूर्ति हो सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री महती शक्ति के घनीभूत विकाश रूप से विराट् चैतन्य सत्ता के केन्द्ररूप में—आत्म-प्रतिविम्ब रूप से परिग्रहण करतः पूजा करने से, वह कभी भी निष्फल नहीं होती। प्राचीन काल के मनीषीगण इसी भाव से विभिन्न मूर्त्तियों की पूजा करके ही अभिन्न ज्ञान में उपनीत होते थे, एवं ब्राह्मी स्थिति लाभ करके जीवन्मुक्ति का आस्वाद ग्रहण करते थे।

कोई कोई कहते हैं, स्थूल बुद्धि मानवों के लिये ही मूर्त्ति पूजा का विधान है। बात सर्वांशों में सत्य नहीं। मूर्त्ति का यथार्थ रहस्य जानकर, सत्य एवं प्राणों में प्रतिष्ठित होकर पूजा करने में एकमात्र आत्मज्ञ पुरुषगण ही समर्थ हैं। तब हाँ वर्त्तमानकाल में इस देश के अधिकांश स्थानों में जैसे भाव से पूजा अनुष्ठानादि होते हैं, सो अवश्य स्थूल बुद्धि कनिष्ठाधिकारियों ही के उपयुक्त है।

सुनो, गात्र के सर्वायवों में दुग्ध रहने पर भी जैसे स्तन व्यतीत अन्य किसी अङ्ग से दुग्ध संग्रह नहीं किया जाता, उसी प्रकार विश्व व्यापी चैतन्य सत्ता की विशेष रूप से उपलब्धि करनी हो तो, विशिष्ट मूर्त्ति के बिना आश्रय लिये अन्यत्र सम्भव नहीं होती। जो स्थूलातिरिक्त चैतन्य सत्ता का सन्धान पा चुके है, वे ही मूर्त्ति पूजा के यथार्थ अधिकारी हैं। जव तक स्थूल देह है, जब तक इस मांसपिण्ड (देह) की पूजा के लिये खाद्य पानीय वसन भूषणादि का प्रयोजन उतने दिन तक तो मूर्ति पूजा रहेगी ही अहर्निश परमात्म स्वरूप में, अवस्थान करने के पूर्व पर्य्यन्त अर्थात् योगवाशिष्ट कथित पदार्थाभाविनी एवं तुर्य्यगा भूमिका में आरोहण करने के पूर्व पर्य्यन्त जाने वा अजाने में सभी कोई किसी न किसी प्रकार से मूर्ति पूजा करते ही रहते हैं, सुतरां पूर्वोक्त रूप अवस्था लाभ करने के पूर्व में हठकारिता के वशवर्त्ती होकर मूर्ति पूजा परित्याग करना उच्छृङ्खलता का परिचायक है। जड़ज्ञान से पूजा करने ही से कुछ दिनों से इस देश में जड़त्व आ गया है। फिर से प्राण प्रतिष्टा करके मूर्ति पजा कर सकने ही से, ही देश का यह जड़त्व रूप पाप दूरीभूत हो जायेगा "पूजा तत्व" नामक ग्रन्थ में यह विषय सविस्तार आलोचित हुआ है।

जो हो, मन्त्र में कहा गया है—सुरथ और समाधि केवल मृन्मयी पूजा करके ही चुप नहीं हो बैठे, उन्होंने संयतहार से निराहार से तनमनस्क भाव से अवस्थान किया था। आहार शब्द का अर्थ है विषय ग्रहण। आचार्य शंकर ने भी कहा है—"इन्द्रियों के द्वारा विषयों का आहरण करने का नाम ही आहार है।" इस प्रकार आहार जब संयत होता है, अर्थात् 'ईशावास्य' करके—सत्यप्रतिष्ठा करके विषय ग्रहण किया जाता है तभी उसे यताहार—संयताहार कहा जाता है। और इन्द्रिय समूह के विषय हरण से सम्यक् निवृत्ति का नाम है निराहार। तन्मनस्क शब्द का अर्थ है समाहित भाव। तत् शब्द का अर्थ है ब्रह्म। उसमें मन का सम्यक् विलय होने ही से साधकों तन्मनस्क अवस्था होती है। मोटी बात—सुरथ और

समाधि ने देवीसूक्त पाठ रूप मंत्र जप एवं प्रतिमा पूजा रूप वहिरङ्ग साधनों के साथ साथ ही प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि का भी अनुशीलन किया था। केवल यही नहीं, साधना के जो प्राण हैं, जिसके नहीं होने से साधना ही नहीं होती, उसका भी सम्यक् अनुशीलन किया था—"ददतुस्तौ बलिं चैव निज गात्रासृगुक्षितम्" स्वगात्ररुधिरसिक्त उपहार मातृ चरणों में अर्पण किये थे। स्वगात्र रुधिर शब्द का आध्यात्मिक अर्थ प्राण है। ऐसा अर्थ हमारा स्वकपोल कल्पित नहीं है? उपनिषत् ने भी प्राणों को आङ्गिरस कहा है। अङ्ग का रस होने ही से प्राणों का एक नाम आङ्गिरस है। अङ्ग का रस एवं स्वगात्र रुधिर ठीक एक ही अर्थ के प्रकाशक हैं। जो हो, सुरथ और समाधि ने अपने विशिष्ट प्राणों को लेकर मातृ चरणों में अर्पण किया था। साधक! जब तक सम्यक् रूप से प्राण समर्पण न हों, तब तक बलि अर्थात् पूजा के उपहारों को ठीक इसी प्रकार स्वगात्र रुधिरसिक्त करके, अर्थात् प्राणमय करके—प्राण के प्रतिनिधि करके मातृ चरणों में अर्पण करने होता है। अभी तक भी इस देश की पूजा प्रणाली में एक विधान प्रचलित है—"अर्च्चितं अर्च्चिताय-दद्यात्"—पाद्य अर्घ्य प्रभृति पूजा के उपचारों को प्रथम गन्ध पुष्पादि द्वारा अर्चना करके तब अर्पण करते हैं। दुर्भाग्यवशतः वर्त्तमानकाल में वह एक अनुष्ठान मात्र में पर्य्यवसित हो गया है! (लीक पीटना मात्र है) इस छोटे से कार्य के भीतर जो इतना बड़ा एक गम्भीर तत्त्व निहित है, उसकी ओर अधिकांश लक्ष्य ही नहीं करते। उपचारों को निजगात्रासृगुक्षित करने के लिये ही ऐसा विधान है। स्वगात्र—असृक् द्वारा उक्षित (सिक्त रसार्द्र) नहीं होने से,—अङ्ग के रस द्वारा अर्थात् प्राण द्वारा सञ्जीवित नहीं होने से, वह मातृ चरणों में सम्यक् अर्पित नहीं होते। दीयमान पाद्य अर्घ्य प्रभृति उपचारों में स्वकीय प्राण सत्ता दर्शन करके—सत्य और प्राण प्रतिष्ठा करके, तब अर्पण करने होता है। अरे, हमारे व्यष्टि प्राण समष्टि महाप्राणों में सम्मिलित नहीं होते इसीसे तो मातृ-साक्षात्कार नहीं होता!

साधना सफल नहीं होती ! किन्तु पत्र पुष्पादि रूप क्षुद्र क्षुद्र उपचारों को इसी प्रकार से सत्यमय प्राणमय करके महाप्राण रूपिणी मा के चरणों में अपण करने में अभ्यस्त होने से सत्य सत्य ही एक दिन जीव के ये क्षुद्र प्राण ही महाप्राणों में मिल जाते हैं, जीव तब मातृ लाभ से धन्य होता है। राजा सुरथ एवं समाधि वैश्य ने इस रहस्य को समझ कर पूर्वोक्त प्रकार प्राण समर्पणके अनुशीलनरूप तपस्या की थी। इस प्रकार तीन वत्सरकाल संयत भाव से तपस्या करने पर जगद्धात्री चण्डिका देवी वरदायिनी मूर्ति से अविर्भूत हुई !

मन्त्र में "त्रिभिर्वर्षः" ऐसा उल्लेख है। आध्यात्मिक भाव में इसका अपूर्व समाधान परिलक्षित होता है। बर्ष शब्द का अर्थ केवल सम्बत्सर परिमित काल नहीं, उसका अर्थ स्थान भी हो सकता है। त्रिवर्ष में अर्थात् तीन स्थानों में पूर्वोक्त रूप उपासना करनी होती है। एक मनोमय क्षेत्र, एक प्राणमय क्षेत्र एवं अन्य ज्ञानमय क्षेत्र। इन्हीं तीन क्षेत्रों में उपासना करना ही है त्रिवर्ष व्यापक तपस्या। ऐसे भाव से आराधित होने ही से मा हमारी परितुष्टा होकर जगद्धात्री और चण्डिका रूप में आविर्भूत होती हैं। उसके फल से साधक का त्रिविध ग्रन्थि भेद हो जाता है। किस भाव से साधना करने से शीघ्र अभीष्ट लाभ होता है, उसे ही विशेष भाव से दिखाने के लिये यहाँपर सुरथ और समाधि की उपासना प्रणाली वर्णित हुई है।

देव्युवाच।

यत् प्रार्थ्यते त्वया भूप त्वया च कुलनन्दन।
मत्तस्तत् प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत् ॥१०॥

अनुवाद—देवी बोली हे भूप ! हे कुलनन्दन ! तुम्हारा जो कुछ प्रार्थनीय हो, मेरे पास से सो सभी प्राप्त होगा। मैं परितुष्टा होकर वही प्रदान करती हूं।

व्याख्या—मा ने आज वरदायिनी मूर्त्ति से आविर्भूत होकर सुरथ और समाधि को अभीष्ट वर प्रदान किया। परवर्त्ती मन्त्र में वर का विषय वर्णित होगा। मा ने यहाँ पर सुरथ को भूप एवं वैश्य को कुलनन्दन कहकर सम्बोधन किया। इन्हीं दोनों सम्बोधनों के द्वारा ही दोनों की अभीष्ट सिद्ध की पूर्व सूचना कर दी। भू अर्थात् जड़ पदार्थ समूह का अधिष्ठाता होने के कारण ही सुरथ को भूप कहा गया। और वैश्य का सम्बोधन है कुलनन्दन—कुल को आनन्द दायक। जिस कुल में ब्रह्मज्ञ सन्तान जन्म ग्रहण करती है, सत्य सत्य ही उस कुल के उर्द्ध तन एवं अधस्तन पुरुषगण शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति की आशा से आनन्द में विह्वल हो जाते हैं।

मार्कण्डेय उवाच।

ततो वव्रे नृपो राज्यमविभ्रंश्यन्यजन्मनि।
अत्र चैव निजं राज्यं हतशत्रुवलं वलात् ॥११॥
सोऽपि वैश्यस्ततो ज्ञानं वव्रे निर्विण्ण मानसः।
ममेत्यहमिति प्राज्ञः संगविच्युतिकारकम् ॥१२॥

अनुवाद—मार्कण्डेय बोले—तब राजा सुरथ ने जन्मान्तर में अस्खलित राज्य एवं इस जन्म में अपनी सामर्थ्य से शत्रुबल निधन पूर्वक स्वराज्य-लाभ की प्रार्थना की। और उस प्राज्ञ—विषय विरक्त वैश्य ने पुत्र कलत्रों के प्रति ममत्व एवं देहादि में अहंबोधरूप अज्ञान विनाशक आत्मज्ञान की प्रार्थना की।

व्याख्या—सुरथ—जीवात्मा, वह चाहे जितना ही ज्ञान लाभ करे,, उसकी स्वाभाविक वृत्ति भोगाभिमुखी ही रहती है। इसीसे उसने वर्त्तमान जीवन में शत्रुबल निधन पूर्वक गये हुये राज्य की पुनः प्राप्ति जन्मान्तर में भी निष्कन्टक राज्य की मा से प्रार्थना की। इसके पूर्व इन्द्रिय एवं वहिर्मुखी चित्तवृत्तियों द्वारा निर्जित होकर जीव आत्म

राज्य से विच्युत हो गया था, अब उसने उन्हीं इन्द्रिय ऐवं चित्त वृत्तियों के ऊपर आधिपत्य की प्रार्थना की। जिससे फिर कहीं विषयेन्द्रिये द्वारा उत्पीड़ित न होना पड़े। वे सब सम्मक् रूप से निर्जित होकर निरङ्कुश भाव से विषय भोगों के उपकरण स्वरूप होकर बने रहें। इस प्रकार केवल इसी जन्म में नहीं, जन्मान्तर में भी जिससे इसी प्रकार निष्कण्टक भाव से आत्मराज्य भोग करने की सामर्थ्य पावे। यही है सुरथ की प्रार्थना। और समाधि—वह तो पूर्व से ही "निर्व्विण्ण है" विषय-विरक्त है, सुतराँ "ज्ञान बव्रे" आत्मज्ञान की प्रार्थना की। जिसके प्रभाव से अहं ममत्व रूप संसारासक्ति समूल से विनष्ट हो जावेगी।

ठीक ऐसा ही होता है। साधक जब मा को पाता है, तब उसका मन चाहता है अवाध भोग, और प्राण चाहते हैं चिर शान्तिमय अपवर्ग—आत्मा में सम्यक् रूप से आत्म भोला होना (आत्म भूला होना अपनया-अहं जीव भावीय डुबा देना) मा के दर्शन पाने से साधक को इस प्रकार भोग एवं अपवर्ग दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। इस वात को समझाने के लिये ही मन्त्र में सुरथ की राज्य प्रार्थना एवं समाधि की ज्ञान प्रार्थना कही गई है। महाभारत में श्रीकृष्ण की कपटनिद्रा उपाख्यान में भी ठीक ऐसा ही भाव देखने में पाया जाता हैं। मनोरूपी दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के शिरोदेश (सिरहाने) में वैठकर भोगरूप नारायणी सेनादल प्राप्त किया था, एवं प्राण रूपी अर्जुन ने श्रीकृष्ण के चरण तले में बैठ कर जीवन नौका के कर्णधार रूप से स्वयं भगवान को लाभ किया था। एक जन भगवत् ऐश्वर्य्य में मुग्ध, एवं और एक जन भगवत् माधुर्य्य में प्रेम में मुग्ध है। वास्तव में इन्ही दोनों भावों को लेकर ही जीवत्व है। प्रेम एवं आत्म ज्ञान तो एक ही बात है, यह पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है। अच्छा जो हो, यहांपर सुरथ का जो पुनः जन्मान्तर का विषय कहा गया है, उसमें कोई प्रकार के संशय का अवसर नहीं है। कारण,

वह स्थूल जन्म नहीं है. सूर्य से जन्म ग्रहण और मनुत्व लाभ है। जीवमात्र ही का वह वाच्छनीय है।

जीव! तुम भी ज्ञान से वा अज्ञान से मा के निकट से यही दो प्रार्थना करते हो। ऐश्वर्य एवं ज्ञान। ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वरत्व (सर्व-शक्तिमत्ता) एवं विशुद्धबोध, ये दोनों ही जीवमात्र की अन्तर-निहित प्रार्थना हैं। सुतरां तुम समझ सको वा न समझ सको, सभी अवस्थाओं के भीतर होकर तुम भी कुछ न कुछ करके माँ के निकट यही प्रार्थना करते हो। मां भी तुम को जन्म पर जन्म अतिक्रम कराती हुई, पवित्र से पवित्रतर करती हुई उसी ऐश्वर्य्य, एवं ज्ञान लाभ के योग्य अधिकारी बनाये जा रही हैं।

सत्य सत्य ही देखो साधक, तुम्हारे अन्दर मा वराभयदायिनी रूप से स्मित मुखसे भोगापवर्ग दान करने के लिये आकुल नयनों से अपेक्षा कर रही हैं। तुम पुत्र हो, तुम मा के सामने खड़े होकर सरल प्राणों से मा कहकर ज्ञान और ऐश्वर्य्य की प्रार्थना करो, पुत्र जिस प्रकार से मा के निकट प्रार्थना करता है, ठीक तैसे ही करके प्रार्थना करो, तुम भी सुरथ समाधि की नाईं भोगापवर्ग लाभ करके धन्य होओगे।

देव्युवाच।

स्वल्पैरहोभिर्नृपते स्वराज्यं प्राप्स्यते भवान्।
हत्वा रिपूनस्खलितं तव तत्र भविष्यति ॥१३॥
मृतश्च भूयः सम्प्राप्य जन्म देवाद्विवस्वतः।
सावर्णिकोनाम मनुर्भवान् भुवि भविष्यति ॥१४॥

अनुवाद—देवी बोली—हे नृपते! अति अल्प दिनों के बीच ही तुम स्वराज्य प्राप्त करोगे, एवं रिपुओं को निहत करके उस राज्य को

अस्खलित भाव से भोग करते रहोगे। और मृत्यु के बाद सुर्य्यदेव से जन्म पाकर पृथ्वीपर सावर्णिक मनु नाम से प्रसिद्ध होओगे।

व्याख्या—साधक ! एक बार हृतराज्य सुरथ की अवस्था को याद करो, वह कितनी दुरवस्थाओं के भीतर होकर, कितने घात-प्रतिघात सह्य करते हुये, गुरु कृपा से मातृ-साक्षात्कार लाभ किये हैं। मा ने उनको अस्खलित स्वराज्य प्राप्त रूप वर प्रदान किया। स्वराज्य अर्थ से यहाँ पर मन बुद्धि इन्द्रियादि के ऊपर आधिपत्य समझने होगा। पूर्व्व में 'मैं' कहने से--मन बुद्धि इन्द्रियों का दास, देहाभिमान विशिष्ट 'मैं' जान पड़ता था। अब 'मैं' बोलते ही मा की स्मृति आती है, सुतरां इन्द्रियादि निस्तेज हो जाते हैं। यहाँ स्वराज्य लाभ है। यही मा का प्रथम दान है। और अतिरिक्त दान है मनुत्व। इसीसे मा बोली—हे सुरथ ? तुम सूर्य्य से जन्म ग्रहण करके सावर्णिक मनु नाम से मन्वन्तराधिपति होओगे—समष्टि-मानव-चैतन्य में प्रतिष्ठित होओगे।" यह मनु चैतन्य लाभ करने के लिये सूर्य को पुत्र होने होता है, अर्थात् विराट प्राणसत्ता में मिल जाने होता है, एवं सवर्णा शक्ति के—सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री के अङ्क में स्थिति होने होता है। साधकवृन्द इस प्रकार मनुत्व लाभ करके मानव जाति के ऊपर जो आशीर्वाद वर्षण करते हैं, उसीके फल से मनुजगण दिन दिन ज्ञानैश्वर्य्य लाभ के लिये लालायित होते हैं। मनुष्यों के पितृ—स्थानीय मनु की कृपा से ही मनुष्य जाति उन्नति लाभ करती है। प्रसङ्क्रम से यहाँपर एक उद्भट श्लोक की अवतारणा की जाती है।

उपासना चेन्महतामुपासना, यया मानन्याधिकमेति मानवः।
धरार्थिने यत् सुरथाय तारिणी, मनुत्वमत्यन्तसुखं ददौ स्वयम्॥

यदि उपासना करनी हो तो महत् की ही उपासना करना उचित है। (पक्षान्तर में महतत्व की अर्थात् ईश्वर की) क्योंकि, महत की उपासना करने से मनुष्य अभीष्ट के अतिरिक्त वस्तु भी लाभ कर सकता है। उसका दृष्टान्त यही राजा सुरथ हैं। उनने राज्यार्थी होकर महामाया की उपासना की थी किन्तु तारिणी—मा हमारी वे

प्रार्थित राज्य तो प्रदान किया ही, अतिरिक्त दे दिया मनुत्व—अत्यन्त सुखमय पद।

इस जगत में भी देखा जाता है—मनुष्य प्रथमतः किसी सांसारिक वा दैहिक कष्ट परित्राण पाने के लिये भगवान के शरणागत होता है। उसके फल से मनुष्यों का वह तुच्छ अभाव अभियोग तो दूरीभूत होता ही है, अधिकन्तु मा की कृपा से ज्ञान वैराग्य प्रभृति अनुत्तम वस्तु लाभ की योग्यता भी अर्जित होती है (आने लगती है) साधन पथ का यही विशेषत्व है। बालक योगी ध्रुव की भी ठीक ऐसी ही अवस्था हुई थी।

वैश्यवर्य्य त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः।
तं प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति ॥१५॥

अनुवाद—हे वैश्यवर्य! तुमने जो मुझ से वर की प्रार्थना की है मैंने वही दिया। तुम को ज्ञान प्राप्त होगा, उसके फल से तुम संसिद्धि अर्थात् मुक्ति लाभ करोगे!

व्याख्या—मा ने समाधि को मोक्ष फलप्रद आत्मज्ञान प्राप्ति का वर प्रदान किया। माँ हमारी कल्पतरु हैं। उनके निकट सत्यज्ञान से जो कोई जो प्रार्थना करता है, ये निर्विचार होकर वही प्रदान कर देती हैं। सुरथ को राज्य एवं समाधि को ज्ञान दान किया।

निर्गुण स्वरूप की उपलब्धि एवं सगुण ब्रह्म में विचरण, वे दोनों ही जीवन्मुक्ति के लक्षण हैं। जीव ईश्वर एवं ब्रह्म, इन तीनों स्वरूप में स्वइच्छा से विचरण करने की सामर्थ्य को जीवन्मुक्ति कहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद में भी "त्रयं यदा विन्दते" ठीक ऐसी ही बात कही है। क्षर अक्षर एवं पुरुषोत्तम, इन त्रिविध स्वरूपों में स्वाधीन-विचरणकारी मनुष्य को ही जीवन्मुक्त वा ब्रह्मविद् बोला जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष की जब तक स्थूल देह रहती है, तब तक उनमें कभी

जीव भाव, कभी ईश्वर भाव और कभी कभी निरंजन-स्वरूप में स्थिति, ये तीनों ही लक्षण देखे जाते हैं। तब हाँ जो जीवन्मुक्ति के विशिष्ट आनन्द में सब समय अवस्थान करने के लिये एकान्त आग्रहान्वित, अथवा इस प्रकार विशिष्ट आनन्द भोग की विशेष सामर्थ्य रखते हैं, वे जीवित काल में भी अधिकांश समय केवल निरंजन स्वरूप में ही अवस्थान करने में अर्थात् ज्ञान की षष्ठ सप्तम भूमिका में अवस्थान करने में यत्नवान होते हैं।

यहाँ पर एक विषय विशेष स्मरणीय यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष मात्र ही जो एकान्त निवृत्ति-परायण होंगे, ऐसी बात किसी शास्त्र में नहीं है; सो हो भी नहीं सकता। प्रारब्ध-वैचित्य वशतः जीवन्मुक्त पुरुषों की कर्म-प्रणाली विभिन्न हुआ करती है, एवं सोई सम्भव हैं। वेदान्तशास्त्र सनक सनन्दादि एवं जनक याज्ञवल्क्य वामदेवादि ऋषियों के दृष्टान्त द्वारा इस निवृत्ति प्रवृत्ति मूलक कर्मवैचित्र्य का प्रदर्शन किया करते हैं। तब हाँ शम दमादि रूप कुछ विषयों में अधिकांश ही जीवन्मुक्त प्रायः तुल्य रूप हुआ करते हैं।

मार्कण्डेय उवाच।

इति दत्वा तयोर्देवी यथाभिलषितं वरम्।
बभूवान्तर्हिता सद्यो भक्त्या ताभ्यामभिष्टुता ॥१६॥
एवं देव्या वरं लब्ध्वा सुरथः क्षत्रियर्षभः।
सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः ॥१७॥ ॐ

इति श्री मार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
देवीमाहात्म्यम् समाप्तम्।

अनुवाद—मार्कण्डेय बोले—इस प्रकार देवी उनको अभीष्ट वर प्रदान करके, सुरथ और समाधि द्वारा भक्ति के साथ संस्तुत होकर, तत्क्षणात् अन्तर्हित हो गई। क्षत्रिय श्रेष्ठ राजा सुरथ देवी के निकट

से इस प्रकार वर लाभ करके सूर्य से जन्म ग्रहण पूर्वक भविष्यत में सावर्णिक नामक मनु होंगे।

इति मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवीमाहात्मय प्रसङ्ग में देबीमाहात्म्य समाप्त।

व्याख्या—ठीक इसी प्रकार ही समाधि-सहाय जीव सद्गुरु की शक्ति से शक्तिमान होकर, उनके आदेशानुसार स्तव पूजादि रूप एवं प्रत्याहार धारणा ध्यानादि साधना का अनुष्ठान करके, मातृ–साक्षात्कार लाभ करते हैं—सत्य में प्राणों में और आनन्द में प्रतिष्ठित होते हैं। माँ जीव को भोगापवर्ग रूप वर प्रदान करके अन्तर्हित होती हैं। जब तक स्थूल देह रहती है तब तक इसी प्रकार मा देखते देखते अन्तर्हित हो जाती हैं; किन्तु फिर इच्छा मात्र से ही उनका स्नेहमय आनन्दमय स्वरूप प्रत्यक्ष किया जाता है।

मन्त्र में कहा गया है देवी के पास से वर लाभ करके क्षत्रिय श्रेष्ठ राजा सुरथ सूर्यतनय सावर्णिक मनु रूप से अष्टम मन्वन्तर के अधिपति होंगे। वर्त्तमान में सप्तम मन्वन्तर चल रहा है। जब सुरथ और समाधि ने मा के पास से वर लाभ किया था, तब स्वारोचिष नामक द्वितीय मन्वन्तर चल रहा था; तत्काल-अपेक्षा वह काल सुदूर भविष्यत था इसीसे मन्त्र के देवी वाक्य में—"भवान् भुवि भविष्यति" यह भविष्यत् काल बोधक क्रियापद का उल्लेख है। द्वितीय मन्वन्तर में जो सुरथ थे, अष्टम मन्वन्तर में सोई सावर्णिक मनु रूप से—स्नेहमय पितृ रूप से तत्कालीन मानव जाति का कल्याण साधन में निरत रहेंगे। अष्ट मनु, सावर्णिक प्रभृति शब्दों का आध्यात्मिक रहस्य ग्रन्थ के आरम्भ में ही वर्णन हो चुका है।

यह केवल सुरथ समाधि का उपाख्यान नहीं है। साधकमात्र ही इसी प्रकार मातृसाक्षात्कार लाभ करके धन्य हो सकता हैं। इसमें असम्भवता किंवा अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं। वरं यही एकान्त सम्भव और एकान्त स्वाभाविक है। माँ को प्राप्त करने के लिये एक

मात्र मातृ कृपा ही प्रधान अवलम्बन है। यहाँ पर संसारी वा सन्न्यासी का विचार नहीं है। मा के राज्य में सभी को समान अधिकार है। अति दुराचारी व्यक्ति भी अनन्यभाक् होकर मा की भजन कर सकता है शरणागत हो सकता है। मातृ चरणों में शरणागत होने से जीव को मातृलाभ अवश्यम्भावी है।

भगवद्गीता को जहाँपर परिसमाप्ति है, देवीमाहात्म्य का वहीं पर आरम्भ है। साधक सर्व्व धर्म्म परित्याग करके भगवत् चरणों में— एक अद्वितीय अभय पद में यथार्थ शरणागत होने के बाद जिन सब अवस्थाओं में होकर क्रमक्रम से अग्रसर होता हुआ आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित होता है, वही इस देवीमाहात्म्य में वर्णित हुआ है। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" यहींपर साधन-समर का आरम्भ है, एवं "न स पुनरावर्त्तते" यहांपर ही साधन-समर का शेष है।

आओ, अब हम सब वैदिक युग के सत्यदर्शी ऋषियों की नाईं पवित्र कण्ठ से सरल प्राणों से समस्वर में गान करें :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। हरि ॐ॥
ॐ पूर्णम्। ॐ पूर्णम्। ॐ पूर्णम्।

इति साधन–समर वा देवीमाहत्म्य व्योंख्या में
रुद्रग्रन्थिभेद नामक तृतीय खण्ड

समाप्त

———

साधन-समर कार्यालय से प्रकाशित

हिन्दी पुस्तकों का विवरण

साधन-समर वा देवीमाहात्म्य

श्री श्री दुर्गा सप्तशती की आध्यात्मिक व्याख्या

प्रथम खण्ड—मधुकैटभ वध वा ब्रह्मग्रन्थिभेद। मूल्य २०) रुपये।
द्वितीय खण्ड—महिषासुर वध वा विष्णु ग्रन्थिभेद। मूल्य २०) रु०।

ज्ञानभक्ति तथा कर्म के समन्वय से पूर्ण इस पुस्तक ने साधक समाज में एक नवीन युग की सूचना दी है।

सत्य-प्रतिष्ठा—सबसे पहले किस केन्द्र से साधना का आरम्भ करने से मनुष्य सत्य की प्राप्ति कर सकता है। इस पुस्तक में इस विषय का भलीभांति बर्णन किया गया है। मूल्य प्रति २) रुपये।

प्राण प्रतिष्ठा—साधक जब सत्ता में निष्ठावान होता है तदुपरान्त सर्व्वत्र प्राण दर्शन किस प्रकार हो, इस तत्त्व को इसके द्वारा ग्रहण कर जीवन सफल बना सकता है। मूल्य २) रुपये।

सत्यालोकम्—श्री श्री स्वामी शङ्कराचार्य्यकृत योहमुग्दर के छन्दों में कतिपय श्लोक और उनका विस्तृत हिन्दी अनुवाद। मूल्य १) रु०।

सत्य-वादिता—इस पुस्तक में सर्वदा सत्य बोलने की आदत डालने का उपाय भाँति बताया गया है। मूल्य २५) पैसे।

शोक शान्ति—अपने कुटुम्बियों तथा अन्यान्य प्रिय सम्बन्धियों की मृत्यु से जो शोकाकुल हो जाते हैं वे पढ़कर शान्ति प्राप्त करेंगे।
मूल्य ३) रुपये।

उपासना—इसमें वेद पुराण तथा तन्त्रोक्त अनेक स्तोत्रों का संग्रह तथा उनकी व्याख्या भी सरल भाषा में दी गई है। मूल्य ३) रुपये।

पूजा तत्त्व—इसमें पूजा का रहस्य भलीभाँति बताया है। इस कलि-काल में वैदिक युग के सब ही अनुष्ठान किस प्रकार प्राणमय तथा सफलतामय होकर साधक को अभीष्ट दान कर कृतार्थ करता है।
मूल्य ३) रुपये।

राजगुह्ययोग—यह गीता कः नवम् अध्याय का आध्यात्मिक व्हाख्या है पढ़ने मात्र से साधक साधनाभूति में डुबने लगता है।
मूल्य ३) रुपये।

प्राप्ति स्थान : **साधन-समर कार्यालय**
२०१ बी, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट; कलकत्ता–७